परमार्थ तत्व विवेचन एवं भक्तिभाव सद्दर्शन



मयंङ्कभूषण पाण्डेय



3-2

परमार्थ तत्व विवेचन

एवं

भक्ति भाव सद्दर्शन

परमार्थ तत्व विवेचन एवं भक्ति भाव सद्दर्शन

संस्करण :- प्रथम (2017)

संख्या :- 500 प्रतियाँ

मूल्य :- ₹ 350/-

मुद्रक :-
गोयल ऑफ़सेट, ग्वालियर

अक्षर संयोजन :-
अंचल गुप्ता, ग्वालियर
मो. : 9827571745

लेखक एवं प्रकाशक :-
मयङ्कभूषण पाण्डेय (निःशांत शिक्षक)
मलियान टोला, पुरानी बस्ती, किला चौक,
मैहर, जिला - सतना (म.प्र.)
मो. : 9806264111, 9424318583

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

- पूर्वोद्गार -

गोदावरी नदी के समीप वन स्थल में परम वैष्णव महात्मा द्वै अग्रदास और कीलहदास को रोता हुआ एक बालक मिला, जिसकी मुखाकृति में आँखों तक के निशान नहीं थे, परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि महात्माओं के कर स्पर्शन से बालक की दोनों आँखें खुल गई और आत्मस्वरूप में उसने अपना परिचय महात्माओं को निवेदित किया।

महात्माओं ने उसका नाम नारायण दास रखकर उसे वैष्णव दीक्षा से अलंकृत किया। नारायणदास ही नाभादास थे। उन्होंने भक्ति की विजयणी पताका फहराते हुए भक्तमाल की रचना की, जो मानवता को अनन्तकाल तक भगवान की महिमा और भक्ति के चरणों पर नतकर जीव को जगत के महामोह बन्धन से मुक्त कराती रहेगी।

तो उन परम प्रभु की उन पर यह अद्भुत अहेतु की कृपा थी, जिस कृपा प्राप्ति की पात्रता नाभादास के अन्तर्भूत सन्निहित थी, जो कभी एक निरीह प्राणी के रुप में वन्य जीवन जीने के लिए नेत्रहीन स्थिति में अकल्पित दुःख समूहों के मध्य जीवन धारण करने हेतु विवश थे।

वे परम प्रभु निर्गुन निराकार स्वरुप में भी कृपा सिन्धु हैं -

'जिनकी केवल कृपादृष्टि से सकल सृष्टि को पलते देखा।'

परन्तु वे ही जब सगुन साकार स्वरूप में दृश्यमान होते हैं तो -

'उनको ही गोकुल गौरस में सौ-सौ बार मचलते देखा॥'

इस प्रकार उनकी अगुन और सगुन स्वरूपधारिता अद्भुत विलक्षणता के साथ सृष्टि में विराजित होकर अर्हिनिश पारमार्थिक सिद्धियों की सापेक्षता में अपरमित कार्यों का सम्पादन करती रहती है।

इसलिए मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि उन प्रभु की असीम कृपा के परमाणुवत् कृपा मात्र से मुझमें शनैः शनैः ऐसे भावों का उद्दीपन हुआ, जो परमारथवादियों के चरणरज हेतु नत् और श्रृद्धायुक्त था। परमारथ भाव की सुसम्पत्ति जिसके पास जिस परिमाण में होगी, उसी अनुपात में वह पवित्रता और सुमति का धारक है और पुण्यमय है।

पापाचारी महानुभावों को भी उन अगुन अनन्त निराकार ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है, परन्तु वे व्युतक्रमानुपात में ही सद्पात्र बनने के लिए अधिकारी हैं।

परमार्थवाद एक गूढ़ और परमहितकारी, सनातन तत्व है, जिसके अनादि आश्रयी परात्पर परमब्रह्म परमात्मा राम है, और वे ही दशरथनंदन राम हैं, जिन पर योगी जन रमन करते हैं। वे सब स्वतंत्र हैं, परन्तु जिसके आधीन सब है।

उनके जीवन शैली में परमार्थ उसी प्रकार पिरोया हुआ है, जैसे गन्नों के पोर में मधुर रस।

परात्पर परमब्रह्म परमात्मा का पूर्ण अवतार द्वापरान्त में श्रीकृष्ण के स्वरूप में भी है और उनकी भी कार्य शैली परमारथवाद की सापेक्षता में ही सन्निहित थी परन्तु प्राधान्यतः स्व-स्वरूप में उन्होंने अपने अवतार की संघटता में उसे स्वीकार नहीं किया। इसलिए जीवों के तरण तारण के लिए उन्होंने प्रेम और अनाशक्ति योग को स्वीकार कर सरसता और सुगमता के साथ अपने में मिला लेने की स्वीकारोक्ति की। चैतन्यदेव, मीरा सदेह उनमें विलीन हो गये। गणिकायें तक अपने प्राणों के साथ उनमें मिली।

इसलिए प्रभु श्रीराम और भगवान श्रीकृष्ण के अवतार प्रयोजनीयता को अनन्ता में जो भी मेरी अल्प-बुद्धि ने परमारथ तत्व को ग्रहण किया, उसी को संजोकर मैंने पाठकों के मानस पटल तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

शरथनन्दन राम मर्यादा पुरुषोत्तम तत्व में असीम है, इसलिए उनके जीवन की समुज्वलता मर्यादाओं के अन्तर्गत ही प्रेम की असीमता के साथ सुशोभित है। राम प्रेम भरत की स्थिति -

अगम सनेह भरत रघुवर को।
जहँ न जाय मन विधि हरहर को॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा।
प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

श्रीराम-भरत मिलाप पर चित्रकूट में -

परम प्रेम पूरण दोउ भाई।
मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई॥

इसलिए ब्राह्मी स्थिति में पहुँचे हुए ज्ञानी महात्मा जन, तत्त्वदर्शी, महानुभाव, परम परमारथवादी ऋषि मुनि योगी, विज्ञानी आदि भी प्रभु श्रीराम के प्रति अपनी प्रेमोदारता के बिना नहीं रह पाते हैं। इसी भाव के अनन्तता के स्वरूपभूत परम परमारथवादी अगस्त ऋषि श्री राम से वरदान माँगते हैं -

अविरल भगति विरति सतसंगा।
चरण सरोरूह प्रीति अभंगा।।

इसी अवधारणा के स्वरूप भूत ही पुस्तक में भक्ति महिमा मण्डित उन भक्त स्वरूपों को संकलित किया गया है, जो अपनी भक्ति भावना और जीवन दर्शन से दूसरों को भी पवित्र और भक्तिमय बनाने में श्रेयष्कर रहे हैं ।

इस पुस्तक में जो भी विषय सामग्री संकलित की गयी है, वह अनेकानेक प्रकार की अध्यात्मिक पुस्तकों के ज्ञान व स्वानुभूति के आधार पर है। इसके अतिरिक्त मध्य प्रान्त के सतना मण्डलान्तर्गत मैहर नगर के एक दक्षिणमुखी हनुमान जी मन्दिर (लालकोठी) की सिद्ध प्रतिष्ठित मूर्ति के सम्मुख, जहाँ मैं वर्षों से बैठकर पूजा अर्चा और पाठ करता था, के स्थल पर से भी मुझे सम्यक ज्ञान की प्रतीति होती थी। जो उन भक्त प्रवर का कृपा प्रसाद था। इस प्रकार पुस्तक जिन भाव दशाओं में सिद्धगत हुई, उससे यह स्पष्ट है कि अध्यात्मिक भाव जगत में अनुराग रखने वाले पाठकों को यह पुस्तक उनके ज्ञान प्रकाश को विस्तारित कर उनकी परमार्थिक ज्ञान श्रृंखला को परिमार्जित करेगी और उनके जीवन धारण की अवधारणा को यथेष्ट सत्य की ओर आगे बढ़ाने में सहायक होगी।

विनीत -

मयङ्कभूषण पाण्डेय

अनुक्रमणिका

खण्ड 1 - परमार्थ तत्व विवेचन

खण्ड २ - भक्ति भाव सद्दर्शन



परम पूज्य नेह निधि
श्रीमन नारायण स्वामी (मामाजी)
के चरणों में समर्पित

परमार्थ तत्व विवेचन



1. विविध स्वरूपगत ब्रह्म तत्व सद्दर्शन

1. अनादि ब्रह्म :-

ब्रह्म, काल और उसकी गतियाँ सीमा से परे है, बल्कि ब्रह्म के उस अनादि स्वरूप में काल समाहित होकर अपने निर्वाधिक गति को प्रकट करता है। इस काल के तीन भेद हैं-

क. समय वाचक काल :- यह परमाणु लव निमेष से लेकर दिन-रात-मास-वर्ष-युग-मन्वन्तर-कल्प और परार्ध का बोध कराते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की पूर्णायु का ज्ञान कराता है।

सौर मान से मानव वर्ष 4,32,00,00,000 (4 अरब 32 करोड़ वर्ष का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही समय सीमा की रात्रि होती है, इस रात्रि को ही नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इस समय तीनों लोक लीन हो जाते हैं। इस अवसर पर ब्रह्मा सारे विश्व को अपने अंदर समेटकर या लीनकर शयन कर जाते हैं और शेषशायी भगवान विष्णु भी शयन करते हैं।

पुनः मानववर्ष के ब्रह्मा के दिन के बराबर काल व्यतीत होने पर पुनः ब्रह्मा जीवों की कालगति प्रेरणा से उनके कारण शरीर के तदानुसार सृष्टि रचना प्रारम्भ करते हैं।

सहस्त्र युग पर्यन्त महर्यद् ब्राह्मणो विदुः। रात्रि सहस्त्रान्ता ते अहोरात्रविदो जनाः॥

(गीता ८-१७)

इस प्रकार ब्रह्मा की पूर्णा आयु 4,32,00,00,000 × 360 × 100 वर्ष की जब समाप्त हो जाती है, तब महत्तत्व (समाष्टि बुद्धि) अहंकार पञ्चतन्मात्रा या सातों प्रकृतियाँ अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाती है, इसी को प्राकृतिक प्रलय के रूप में जाना जाता है। उस समय आकाश, जल, पृथ्वी वायु अग्नि और सूर्य भी नहीं रहते हैं। उस समय पुरुष और प्रकृति दोनों की शक्तियाँ काल के प्रभाव से क्षीण हो जाती है और विवश होकर अपने मूल स्वरूप में लीन हो जाती है।

इस प्राकृतिक प्रलय के अन्तर्गत एक ''आत्यान्तिक प्रलय'' या मोक्ष का भी स्वरूप है, जहाँ बुद्धि, इन्द्रियाँ और उनके विषयों के रूप में, उनका अधिष्ठान ज्ञानस्वरूप ही भाषित होता है। विषयों के नियामक तत्वों का तो आदि भी है और अन्त भी। इसलिए वे सत्य नहीं हैं। वे दृश्य है और अपने अधिष्ठान से भिन्न उनकी सत्ता भी नहीं है, इसलिए वे सर्वथा मिथ्या और माया के आवरण से पूर्ण है।

दूसरे शब्दों में जब जीव विवेक की या तत्वज्ञान की खड्ग से मायामय अहंकार का या संसारिक लगाव का बन्धन काट देता है और अपने आत्म स्वरूप के साक्षात्कार में स्थित हो जाता है। तो आत्मा की माया मुक्त वास्तविक स्थिति ही अत्यान्तिक प्रलय है।

भगवान के स्वरूप भूत अनादि अनन्त काल के कारण प्राणियों की प्रतिक्षण होने वाली उत्पत्ति और उनके विनाश का भी पता नहीं चलता। ब्रह्मा से लेकर तिनके तक जितने प्राणी या पदार्थ हर समय पैदा होते हैं और मरते हैं अर्थात् नित्य रूप से उत्पत्ति और प्रलय होता है। इसी को तत्वदर्शियों ने नित्य प्रलय कहा है।

परन्तु ये सभी उत्पत्ति और प्रलय का स्वरूपकाल के द्वारा प्राकृतिक प्रलय के होने तक कालावधि में ही सम्व्याप्त है, जो उन अनादि ब्रह्म का एक न्यून काल वेध रूप है।

ख. प्रकृति रूप काल :- प्राकृतिक प्रलय या महाप्रलय में काल की महिमा से अव्यक्त प्रकृति ही प्रकृति के गुणों को ग्रस लेती है, और तब केवल प्रकृति ही प्रकृति शेष रह जाती है। वही मूल प्रकृति ही चराचर जगत का मूल कारण है। वह अपने कार्यों को लीन करके प्रलय के समय साम्यावस्था को प्राप्त हो जाती है, और तब काल के अवयव दिन रात, वर्ष युग आदि किसी प्रकार के विकार नहीं होते हैं। यहाँ तक कि स्वप्न, जागृति और सुसुप्ति अवस्थायें भी नहीं रहती हैं। सब कुछ सोये हुए के समान शून्यसा रहता है। यही जगत का मूलभूत तत्व है। तर्क द्वारा उसका अनुमान करना भी असम्भव है।

साकार रूप में यह मूल प्रकृति अनादि ब्रह्म के साकार रूप विश्ववास के साथ परम तपस्वी मनु और सतरूपा के सामने प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया, और उनके विषय में ज्ञान का स्वरूप दर्शन अनादि ब्रह्म भगवान विश्ववास ने कहा -

वाम भाग शोभति अनुकूला। आदि शक्ति छवि जग मूला॥
जासु अंश उपजहि गुनखानी। अगणित लच्छि उमा ब्रह्माणी॥
भृकुटि विलास जासु लय होई। वाम भाग दिसि सीता सोई॥

यही ब्रह्म की मूल प्रकृति है।

ग. नित्य शास्वत विज्ञानानन्द परमात्मा :- कार्य रूप जगत के अभाव में जगत के कारण अवयव की स्थिति हो सकती है, जो काल की महिमा के अन्तर्गत जगत मूल प्रकृति में लीन हो गया था, वह काल की प्रेरणा से समयावधि में अपने दृश्यरूप में दृश्यमान होगा।

परन्तु इस प्रकृति रूप काल से भी परमात्मा रूपकाल अत्यंत सूक्ष्म पराति परं और परम श्रेष्ठ है। वस्तुतः वह देश और काल से सर्वथा रहित है। परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसार का वर्णन किया जाता है। वहाँ उनको सत्ता और स्फूर्ति देने वाले होने के कारण उन सबके अधिष्ठान रूप विज्ञानानन्द परमात्मा ही वास्तविक काल है। वे ही अक्षय है और वे ही अनादि ब्रह्म है, जिनमें काल की सर्वोच्च सत्ता अन्तर्भूत होकर संसार को प्रकाशित और उसका तिरोभाव

करती रहती है। परन्तु वह ब्रह्म न सत है और असत भी नहीं है, इन गुणों की यह विलक्षणता है। जो वस्तु प्रमाणों से सिद्ध की जाती है, उसी को विज्ञजन सत कहते हैं, परन्तु परमात्मा ही से सबकी सिद्धि होती है। परमात्मा के लिए किसी के प्रमाण की पहुँच ही नहीं है। इसलिये उसे इस रूप में कहा जा सकता है कि वह सत से परे है। और परंब्रह्म का अस्तित्व नहीं है ऐसा न मानना ही वह असत्य भी नहीं है। यह उसकी स्वरूपगत स्थिति सत असत के द्वैत से परिछिन्न नहीं है। गीता. (13-12) में "अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासद्च्यते।" या वह अनादि पर ब्रह्म न सत ही कहा जा सकता है और न असत् ही।

2. अगुन अनन्त सर्वव्यापी परमेश्वर

वही ब्रह्म जो काल के सम्पूर्ण स्वरूप राशि को अपने घेरे में लेकर उसके परे है वही परं ब्रह्म सब ओर से हाथ पैर बाला सब ओर से नेत्र, सिर और मुखवाला है, तथा सर्व ओर से कान वाला होकर संसार में सबको व्याप्त कर स्थित है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशेरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता 13-13)

या वह ज्ञेय स्वरूप परमात्मा सबको साक्षी सब कुछ देखने वाला तथा सबकी पूजा और भोग स्वीकार करने की शक्ति वाला है।

सैनगढ़ में अंगदसिंह नाम के भक्त थे, जो अपने चाचा राजा दीनसलाह सिंह के सेनानायक थे, तत्कालीन सम्राट ने उनके ऊपर चढ़ाई कर दी। परन्तु अंगद सिंह के सेनानायकत्व में विजयश्री उन्हें ही मिली और साथमें एक बहुमूल्य सोने का मुकुट मिला, जिसमें कीमती हीरा जड़ा था। इस कीमती मुकुट को देखकर अंगदसिंह ने मुकुट तो राजा को दे दिया, परन्तु उसका बहुकीमती हीरा निकालकर भगवान जगन्नाथ को समर्पित करने हेतु अपने पास रख लिया। राजा के मांगने पर भी नहीं दिया। और वहाँ से, वे महार्घ हीरा समर्पित करने के लिए सैनगढ़ से जगन्नाथ की ओर प्रस्थान कर दिये। राजा ने किसी स्थिति में हीरा प्राप्त करने के लिए अपने वीर सिपाहियों को अंगदसिंह से वह हीरा छीनकर ले आने के लिए भेज दिया। एक स्थान पर वे सिपाहियों से घिर गये।

तब अपनी विवशता को देखकर अंगदसिंह ने वह हीरा हाथ में लिया और भगवान जगन्नाथ से प्रार्थना किया "मैं यह हीरा यहीं से आपकी सेवा में भेंट करता हूँ।" यों कहकर उस अनमोल हीरे को उन्होंने पास के एक गहरे जलाशय में फेंक दिया। सिपाही यह देखकर अवाक् रह गये।? राजा ने उस जलाशय को छनवा डाला परन्तु उस हीरे का कहीं भी पता नहीं चला।

उसी रात को अंगदसिंह को स्वप्न में जगन्नाथ भगवान ने कहा ''प्यारे अंगद! जिस हीरे को तुम मेरे लिए उस गहरे जलाशय में फेंका था, उसको मैंने इतनी दूरी से उसको स्वीकार कर लिया है।'' नीलांचल पहुँचकर उन्होंने देखा कि उनका वह अनमोल रत्न भगवान के हृदय पर रत्नहार के रूप में सुशोभित हो रहा है और भगवान जगन्नाथ अपनी दिव्य मुस्कराहट के साथ स्नेहपूर्ण नेत्रों से अंगद सिंह को देख रहे हैं। अपने निर्गुन स्वरूप में भी वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का ज्ञाता है, पर वह सब इन्द्रियों से रहित है, तथा आसक्ति रहित होने पर भी सबका भरण पोषण करने वाला और निर्गुण तत्व में सम्पूर्णता से प्रतिष्ठित होने पर भी गुणों को भोगने वाला है। इस तरह वह परमात्मा सब जगह सब इन्द्रियों वाला और सब इन्द्रियों से रहित कहा गया है। वह सर्वव्यापी परमात्मा ज्ञेय स्वरूप आसक्ति के दोष से सर्वथा रहित है। तब भी प्रकृति के सम्बन्ध से सबका पालन पोषण कर्ता है। गुणातीत होने पर भी गुणों का भोक्ता है। यहीं उसकी अलौकिकता है

सर्वेन्द्रिय गुणाभाषम् सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्व भृच्चैवं निर्गुणगुणभोक्तृ च॥

(गीता 13-14)

उस परमात्मा के निर्गुण स्वरूप के दर्शन में वह चराचर के सर्वभूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है, और चर अचर रूप में भी वही है और वह अति सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी वही है।

इस प्रकार यह समस्त चराचर जगत उस परमात्मा का ही स्वरूप है। उससे भिन्न नहीं है। गीता के तेरहवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में –

बहिरन्तश्च भूतानामचरम् चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तद विज्ञेयम् दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर जगत में ऐसी कोई भी जगह नहीं है, जहाँ परमात्मा न हो। श्रद्धालुओं के लिए वह परमात्मा अति समीप है। स्वामी समर्थ रामदास शिवाजी के बोधगम्य गुरू थे। शिवाजी के मन में इस बात का अहंकार हो गया, कि अपने राज्य के सभी प्रजाजनों का पालन पोषण सुचारू रूप से वे ही करते हैं। शिवाजी के इस अहंकार युक्त भावना को समझ कर गुरूदेव ने एक बड़े पत्थर के पास शिवाजी को ले जाकर पत्थर को तोड़वाने की आज्ञा दी। बड़े हथौड़े से वह पत्थर टूटकर दो भागों में विभाजित हो गया। जिसके अन्दर दरार में देखा कि एक चींटी चावल के टुकड़े को खा रही है। उस चावल और चींटी को दिखाते हुए स्वामी जी ने कहा ''क्यों शिवा क्या तुम इस चींटी के लिए भी भोजन का प्रबन्ध करते हो।'' शिवाजी का अंहकार गल गलकर पानी हो गया, और उन्होंने गुरूजी के चरणों में गिरकर अपने भ्रमित सोच के लिए क्षमा माँगी।

समर्थ स्वामी रामदास की परमार्थिक विज्ञान की पहुँच के कारण निराकार परमात्मा ही शिवाजी को चींटी और चावल के रूप में दृष्टिगोचर हुआ।

इसके आगे भी वह विज्ञानानन्द परमात्मा विभाग रहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में भी विभक्त सा स्थित प्रतीत होता है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

(गीता 13 - 16)

अभिप्राय यह है कि जैसे महाकाश यथार्थ में विभाग रहित है तो भी भिन्न भिन्न घड़ों में घटाकाश के रूप में विभक्त सा प्रतीत हो रहा है।

अब सामर्थ्य शक्ति और शक्ति विभाजन एकरूप में उस निराकार परमात्मा की स्थिति है-

भूतभृर्त च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।

अर्थात् - वह परमात्मा समस्त प्राणियों के धारण पोषण करने से भूतभर्तृ या विष्णुरूप है। जगत का संहार करने के लिए वहीं परब्रह्म परमात्मा ग्रसिष्णु या रुद्र रूप से संहारकारी है तथा सृष्टि के उत्पत्ति के कारक के रूप में ब्रह्मा रूप से वह प्रभाविष्णु है। वही बोधस्वरूप जानने योग्य एवं तत्वज्ञान से जानने योग्य होकर भी सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है। वह ज्योतियों का भी परम ज्योति और माया से अत्यंत परे है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योस्तमसः परमुच्यते
ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यम् हृदिसर्वस्य तिष्टितम्।

(गीता 13-17)

वह निराकार परमात्मा माया से परे होने के अनन्तर भी सम्पूर्ण जगत जल से बर्फ के सदृश उसी परमात्मा से ही परिपूर्ण है, और जगत के सर्वभूत (चराचर प्राणी) मात्र उसके संकल्प के आधार पर ही स्थित है परन्तु वह उनमें स्थित नहीं है।

मया ततमिदं सर्वंजगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(गीता 9-4)

जैसे आकाश से वायु, तेज (अग्नि) जल और पृथ्वी तथा सुवर्ण से, उसी से बने गहने व्याप्त है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व इसकी रचना करने वाले सगुन परमेश्वर निराकार रूप से व्याप्त है। ईशोपनिषद में इसी प्रकार के भाव का प्रकाश प्रतिबिम्बित है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।

या इस संसार में जो कुछ जड़चेतन पदार्थसमुदाय है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है।

परन्तु उन परमेश्वर की विलक्षणता यह है कि सृष्टि में समव्याप्त होने पर भी वे उससे परे है या जिस प्रकार से आकाश में स्थित बादलों के नष्ट हो जाने पर आकाश निर्विकार रूप से ज्यों का त्यों है, उसी प्रकार जगत के नाश हो जाने पर भी वह निर्विकार परमात्मा उसी रूप में स्थित रहता है। भाव यह है कि परमात्मा जगत के अणु अणु में भी व्याप्त होने पर भी वस्तुतः उनमें नहीं है, बल्कि अपनी ही महिमा में अटल स्थित है।

उनकी महिमा के विस्तार की स्वरूप झांकी उनकी इस स्तुति से प्रगट है –

शांताकारम् भुजगशयनम् पद्मनाभम् सुरेशम्। विश्वाधारम् ....

या आकार में शान्त, भुजग (शेषनाग) पर शयन करते हुए भी जिनकी नाभि के कमलासन पर विराजित ब्रह्मा सृष्टि रचना कर उनकी महिमा से ही करते हैं वे ही प्रभु सुरों के ईश्वर भी हैं और विश्व के आधार भी।

उन निराकार अव्यक्त परमात्मा की इससे भी विलक्षणतर स्थिति का दर्शन इस प्रकार है–

न च मत्स्थानि भूतानि पश्यमे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

(गीता 9-5)

इस श्लोक का भाव इस भाव से भिन्न है कि ''जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्ण के आभूषणों में व्याप्त है उसी प्रकार निराकार परमात्मा चराचर विश्व में व्याप्त है।''

उस निराकार अव्यक्त परमात्मा और सचराचर जगत, भूत समुदाय का सम्बन्ध जो निर्दिष्ट श्लोक में है वह इस प्रकार है –

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं है, किन्तु मेरी योगशक्ति से ही भूतों का धारण पोषण करने वाला और भूतों को उत्पन्न करने वाला भी मेरा आत्मा वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी योग शक्ति की असाधारण विलक्षणता पर जोर देते हुए कहते हैं, कि आकाश में बादलों की भाँति समस्त जगत मुझमें स्थित है और स्थित भी नहीं हैं। बादलों का आधार आकाश ही है परन्तु बादल उसमें सदा नहीं रहते हैं, वस्तुतः अनित्य होने के कारण उनकी स्थिर सत्ता भी नहीं है, अतः वे आकाश में नहीं है।

इसी प्रकार यह सारा जगत मेरी ही योग शक्ति से उत्पन्न है और मैं ही इसका आधार हूँ। इसीलिए तो सब भूत मुझमें स्थित है। परन्तु ऐसा होते हुए भी मैं इनसे सर्वथ अतीत हूँ, ये मुझमें सदा नहीं रहते और इनकी सत्ता मुझसे भिन्न नहीं है, साधना की सिद्धदृष्टि में सब भगवत्मय है।

इसलिए जब तक मनुष्य की दृष्टि मे जगत है तब तक सब कुछ भवरूप मुझमें है। जब मेरा साक्षात्कार हो जाता है, तब उसकी दृष्टि में मुझसे भिन्न कोई वस्तु रह ही नहीं जाती है, उस समय मुझमें यह जगत नहीं है।

इस प्रकार सबके उत्पत्ति श्रोत, सबमें व्याप्त तथा सबका धारण पोषण करते हुए भी सर्वथा सबसे निर्लिप्त रहने की जो अद्भुत प्रभावमयी सामर्थ्य है वह 'ऐश्वरम् योगम्' के रूप में निर्विकार परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन है।

यह निर्विकार, निराकार परमेश्वर की अव्यक्त योगमाया या योगशक्ति है, जो उनमें हर क्षण विद्यमान रहती है, जिस योगशक्ति (योगमाया) को अपने साकार रूप में आने और उसके पूर्व अद्भुत कार्य करने का आदेश श्रीकृष्ण जन्म के पूर्व उन विश्वात्मा ने उन्हें दिया।

गच्छ देवि ब्रजम्भद्रे गोपगोभिरलकृतम्।
रोहणी वसुदेवस्या भार्याऽऽस्ते नन्द गोकुले॥
अन्याञ्च कंससविग्ना विवरेषु वसन्ति हि।
देवक्या जठरे गर्भम् शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् संनिकष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय।
अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायांनंदपत्न्यां भविष्यसि।

अर्थात् – विश्वात्मा ने अपनी योगमाया को आदेश दिया ''देवि तुम बृज में जाओ वहाँ नन्द बाबा के गोकुल में वसुदेव की पत्नी रोहिणी निवास करती है – इस समय मेरा वह अंश जिसे शेष कहते हैं देवकी के उदर में गर्भ रूप से स्थित है। उसे वहाँ से निकालकर तुम उसे रोहिणी के पेट में रख दो। कल्याणी! मैं अब अपने समस्त ज्ञान बल आदि अंशों के साथ देवकी का पुत्र बनूंगा और तुम नन्द बाबा की पत्नी यशोदा के गर्भ से जन्म लेना।''

योगमाया ने 'जो आज्ञा' कहकर आज्ञा शिरोधार्य किया और तदानुसार कार्य भी यिा। तो उन परमेश्वर और योगमाया के रूप में करणीय कर्त्तव्यों की योगक्रिया जो अप्रकट रूप से क्रियाशील होकर कार्य करती है, साकार रूप से प्रतिपादित हुई। यह भी उन सर्वसत्ताधारी परमेश्वर का तत्वज्ञानियों के लिए एक निराकार स्वरूप है।

परन्तु कहीं कहीं वे अपनी योगशक्ति का स्वरूप अप्रकट रखकर मात्र अपनी संकल्प शक्ति का स्वरूप दर्शन कराते है। गीता अध्याय नौ का छटां श्लोक - यथा -

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्र गोमहान।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

अर्थात् - आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरने वाला महान वायु सदा आकाश में ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से सम्पूण भूत मुझमें स्थित हैं।

अर्थात् - आकाश की भाँति परमेश्वर का यह स्वरूप कि परमेश्वर - सम, निराकार, अकर्ता, अनन्त असङ्ग और निर्विकार है। और जैसे महान वायु की उत्पत्ति आकाश से होने के कारण वह कभी किसी अवस्था में आकाश से अलग नहीं रह सकता। ऐसा होने पर भी आकाश का वायु से और उसके गमनादि विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार समस्त प्राणियों की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय भगवान के मात्र संकल्प के आधार पर होने के कारण समस्त भूत समुदाय सदा भगवान में ही स्थित तो रहते हैं परन्तु भगवान उन भूतसमुदायों से सर्वथा अतीत होने के कारण उनमें सब प्रकार के विकारों का सर्वथा अभाव है। इसलिए भूत समुदायों का भगवान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

3. विराट स्वरूप परमेश्वर

अर्जुन भगवान के परम भक्त, सखा और उनके तत्व को जानने वाले साधक महानुभाव थे। इसलिए परमेश्वर ने महाभारत युद्ध में दोनों सेनाओं के मध्य अर्जुन को मात्र अपने सर्वव्यापी विराट रूप का दर्शन उतने ही अंश में करवाया जितने अंशों में उनमें दर्शन प्राप्ति की पात्रता थी।

विराट स्वरूप दर्शन पर अर्जुन ने उनके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं, भूत समुदायों, ब्रह्मा, शंकर, सम्पूर्ण ऋषियों और सर्पों को देखा।

वह अनन्त विराट स्वरूप, अनन्त मुखों, पेटों और नेत्रों से युक्त तथा सव ओर से अनन्त रूप वाला था। वह आदि, मध्य और अन्त से रहित था।

यहीं नहीं, वह मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त तथा सब ओर से प्रकाशमान तेज के पुञ्ज प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश ज्योतियुक्त कठिनता से देखे जाने योग्य और सब प्रकार से अप्रमेय था।

देखने के पश्चात् अर्जुन ने अपने मत के अनुसार उन बिराट परमेश्वर की स्तुति किया कि "आप ही परम अक्षर, परब्रह्म परमात्मा, जगत के परम आश्रय, अनादि, धर्म के रक्षक और

अविनाशी सनातन पुरुष हैं। आप आदि, अन्त और मध्य से रहित अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त भुजा वाले, चन्द्र सूर्य नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्नि रूप मुख वाले और इस जगत को अपने तेज से सन्तप्त कर रहे हैं। यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का आकाश तथा सब दिशायें एक आपसे ही परिपूर्ण है, तथा आपके इस अलौकिक और भयङ्कर रूप को देखकर तीनों लोक अति व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।''

जब कुछ देर तक समस्त ऐश्वर्यों के निधान उन परमेश्वर के विराट रूप के दर्शनों में अर्जुन ने अपनी शक्ति में असमर्थता का स्वरूप देखा तो उन्हें प्रसन्न करने के लिये अपनी व्यथा निवेदित किया कि ''आपके मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पा रहा हूँ।'' जब अर्जुन ने कहा ''आप प्रसन्न होइये। आदि पुरुष आपको मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ।''

भगवान का अर्जुन को विराट स्वरूप दर्शन सोद्देश्य था वे किसी भी स्थिति में अर्जुन के इस मन्तव्य का कि ''मैं युद्ध नहीं करूँगा।'' को दूर करके युद्ध करने की पूर्ण प्रवृत्ति जागृत करना चाहते थे। अत: अपने विराट स्वरूप में जिस अंश का दर्शन अर्जुन को कराया उसके अनुसार ही परमेश्वर ने अर्जुन को अपने स्वरूप का परिचय कराते हुए कहा, ''मैं लोकों को नाश करने वाला महाकाल हूँ। इस समय इन लोकों को नाश करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिए प्रतिपक्षियों की सेना में जो योद्धा है, वे सब तेरे बिना भी सर्वनाश हो जायेंगे। इसलिए इस महायुद्ध में तुम तो निमित्त मात्र हो।''

पुन: जब अर्जुन ने उन अनन्तरूप जगत व्याप्त परिपूर्ण परमेश्वर की अनेकों प्रकार की स्तुतियों से उनकी महिमा का बखान किया और उनके अनेकों विधियों से अपने मानवीय और मैत्री सम्बन्धोचित पूर्व कृत्य के लिए बार बार क्षमा माँगी। और उनसे चतुर्भुजरूप के दर्शनार्थ प्रार्थना किया, तब भगवान ने अपने उस विराट स्वरूप का सम्वहन कर अर्जुन को उनकी इच्छानुसार अपना चतुर्भुज रूप दिखाया। भगवान के चतुर्भुज रूप का दर्शन करते हुए विराट स्वरूप के दर्शनों से भयभीत बने हुए अर्जुन अब शान्तचित्त हो कर भगवान से कहा - ''हे जनार्दन आपके इस अति शान्त और सौम्य मनुष्य रूप को देखकर, अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ। और अपनी स्वभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ।''

रामचरित मानस में भगवान श्रीराम के विश्वरूप के स्वरूप में मन्दोदरी अपने पति को समझाते हुए कहती है - ''कि श्रीराम चन्द्र विश्वरूप हैं, जिन विश्वरूप भगवान के चरण पाताल है और सिर ब्रह्मलोक अन्य (बीच के सब) लोगों का विश्राम (स्थिति) जिनके अन्य भिन्न भिन्न अंगों पर है। भयङ्कर काल ही जिनका भृकुटि संचालन है, सूर्य जिसके नेत्र और बादलों का समूह जिसके बाल हैं।''

पद पाताल शीश अज धामा। अपर लोक अंग अंग विश्रामा॥
भृकुटि विलास भयङ्कर काला। नयन दिवाकर कच घन माला॥
जासु घ्रान अश्वनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेश अपारा॥
श्रवन दिशा दस वेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज वानी॥

जिनकी नासिका अश्वनीकुमार, रात दिन पलक मारना, दसों दिशायें कान, वायु स्वांस और वेद ही वाणी है।

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥
आनल अनल अम्बुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥

लोभ ही जिन विश्वरूप का ओठ (अधर), यमराज दांत, माया हँसी, और भुजायें दिक्पाल है, अग्निमुख, वरुण, जीभ तथा उत्पत्ति पालन और प्रलय जिनकी चेष्टा है। उन विश्वरूप परमेश्वर में असंख्य वनस्पतियां रोमावली, तथा पर्वत अस्थियाँ और नदियाँ नसों का जाल है। समुद्र पेट और नरक जिसकी नीचे की इन्द्रियाँ है। इस प्रकार प्रभु विश्वमय है।

रोम राजि अष्टादश भारा। अस्थि शैल सरिता नस जारा॥
उदर उदधि अघगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कल्पना॥

शिव जिनका अहंकार, ब्रह्मा बुद्धि, चन्द्रमा मन और भगवान विष्णु ही जिनके चित्त हैं। उन्हीं चराचर रूप भगवान राम ने मनुष्य रूप में निवास किया है।

अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।
मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान॥

विश्व वास की महिमा सुनने पर भी रावण ने अपना हठ नहीं छोड़ा।

श्रीमत् भागवत महापुराण में परमेश्वर के विराट स्वरूप के वर्णन के अन्तर्गत सृष्टि कर्ता ब्रह्मा अपने पुत्र नारद से बताते हुए कहते हैं कि यह सम्पूर्ण विश्व जो कुछ, कभी था, है और होगा, सबको उन "परम पुरुष का विराट रूप," घेरे हुए है और उनके अन्दर यह विश्व मात्र दस अंगुल के परिमाप में ही स्थित है। वेदान्त प्रक्रिया में ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी से दसगुणा जल, जल से दस गुणा अग्नि, अग्नि से दस गुणा वायु और वायु से दस गुणा अहंकार, अहंकार से दस गुणा महत्तत्व और महत्तत्व से दस गुणी मूल प्रकृति है। वह मूल प्रकृति भगवान के मात्र एक पाद या अंश में है। **"पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।"**

सम्पूर्ण लोक भगवान के एक पाद् या अंश मात्र में स्थित है। जिस प्रकार सूर्य अपने मण्डल को प्रकाशित करते हुए ही बाहर भी प्रकाश फैलाते हैं, उसी प्रकार पुराण पुरुष परमात्मा भी सम्पूर्ण विराट विग्रह को प्रकाशित करते हुए उसके बाहर भीतर सर्वत्र एक सा प्रकाश फैला रहे हैं।

५. सगुण साकार ब्रह्म

निर्गुण निराकार ब्रह्म के लक्षणों में ऐसे तत्विक विलक्षणों का समूहन हमेशा विद्यमान है जो मन, वाणी से और बुद्धि से परे, सर्वव्यापी अकथनीय स्वरूप, अखण्ड और अनन्त नित्य अचल, अविनाशी, अनादि सच्चिदानन्द स्वरूप अन्तर्यामी सम और सर्वेश्वर है, जिन्हें वेद भी नेति नेति कह कर उनके स्वरूप का परोक्ष और आंशिक ज्ञानानुमान पाते हैं, वे ही सर्वाधारी अखिल विश्व के रचयिता, पालक, पोषक और संहारक हैं, ऐसे सर्व सत्ताधारी महाप्रभु ही लीलातनु स्वीकार कर अपना आकार मनुतन के अन्तर्गत निहित करके सर्वदेशीय के स्थान पर एक देशीय महत्ता को स्वीकार करके ससीमता को स्वीकार करते हैं।

पर यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि जब उन अनन्त सर्व दृष्टा परमेश्वर के अवतरण के अतिरिक्त पृथ्वीलोक में समस्याओं के निर्मूलन और धर्मस्थापन का और कोई अन्य माध्यम नहीं रहता है। तभी वे उस देश, जाति, कुल को पवित्र करते हुए पुत्ररूप में अवतरित होते हैं। और बहिरङ्ग दृष्टि से चाहे जो भी कारण अवतरण का हो पर पृथ्वीलोक में साकार रूप में समाहित होने पर ऐसे दिव्य कर्मों, आचरणों और धर्मों की सर्वोत्कृष्ट स्थिति का समायोजन करते हैं कि युगों युगों तक उनकी लीला में बिहार करके उनके जन उसी में सम्पूर्ण रूप से समाहित हो जाते है और उसी में तन्मय होकर परमात्म स्वरूपता का साक्षातकार करते हैं।

श्रीमद्भागवत में चौबीस अवतारों की गणना की जाती है, उनमें दो पूर्णावतार के रूप में सर्वमान्य है। जो रामावतार और कृष्णावतार हैं।

इनमें रामावतार त्रेतायुग में राजाधिराज चक्रवर्ती राजा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में और द्वापरान्त में वसुदेव देवकी के पुत्र के रूप में कृष्णावतार हैं। रामावतार की लीला मर्यादा पुरुषोत्तम तत्व को सीमा के शिखर तक की प्रस्तुति करणीयता के लिए मानी जाती है, जबकि श्रीकृष्ण का अवतार लीला में तो उन्हें योगेश्वर तत्व का प्रतिनिधित्व ससीम से असीम तक पहुँचाने में करने के लिए लोक मर्यादा को लाँघते हुए श्रेयष्कर माना जाता है।

○●○●○

2. चतुर्युग वैशिष्ट्य

सतयुग :

''प्रगट चारि पद धर्म के'', धर्म चार-पदों से युक्त है। इसमें सर्व प्रथम या प्रारम्भ का युग सतयुग या कृतयुग है, जिसमें धर्म के चारों पद विद्यमान है। ''ध्यान कृते यजन्'' या सत्ययुग में भगवान का भजन ध्यान से होता है। ध्यान से लिए यह विशिष्ट रूप से कहा गया है 'वाग्वाय नाम्नी भूयसी'। नामोच्चार से वाक् (वानी) बढ़कर है। वाक् से भी बढ़कर मन है। मन से भी बढ़कर संकल्प है। चित्त सन्कल्प से भी बढ़कर है। अतः नाम जप वाक् संयम मनो निग्रहं संकल्पोद्भव चित्त निरोध, ये सब उपासना की क्रमिक भूमिकायें हैं। तब कहीं ध्यान की परिणिति में प्रवृष्टि होती है। इसीलिए पृथ्वी ध्यानरत है। अन्तरिक्ष ध्यान मग्न है। धूलोक ध्यान में निरत है। जल ध्यान में संलग्न है।

''ध्यानम् र्निविषय मनः रागो पहन्ति ध्यानम्।''

सतयुग में मन की स्वाभाविक वृत्ति ही निर्विषयी है अतएव -

करि हरि ध्यान तरहि भव प्रानी।

(रामचरित मानस १०३/३)

शुद्ध सत्व समता विज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥

(रामचरित मानस १०३/२)

ऊर्ध्व मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता १५/१)

अनन्त आदि पुरूष परमेश्वर मूल वाले और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार रूप पीपल के वृक्ष के बेद पत्ते कहे गये हैं, इस संसार रूप वृक्ष को जो पुरूष मूल सहित तत्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है। इस संसाररूप अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर (ऊर्ध्व मूलम्) तथा शाखायें नीचे की ओर है। मायापति सर्वेश्वर ही संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष के मूल है।

इस युग में स्वभाव से ही सभी नर नारी 'सर्व भूत हितेरताः' होते हैं, सभी में पारस्परिक प्रेम होता है; तथा छल छिद्र से वे पूर्ण रूप से रहित होते हैं। वर्णाश्रम के अनुसार अपने निहित धर्मों में सर्व भावते निरत होते हैं।

ध्यायन कृते यजन यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरे अर्चयन।

(विं.पु. ६/२/१७१)

त्रेतायुग :

त्रेता युग में यज्ञों के द्वारा ही भगवान का यजन है।

त्रेता विविध जग्य नर कर ही।
प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरही॥

(रामचरित मानस १०३/२)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय भुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३/९)

श्रीकृष्ण कहते हैं – यज्ञ के निमित्त किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बंधता है, इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्ति रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भली भांति कर्तव्य कर्म कर। जो कर्म, मनुष्य के कर्त्तव्यरूप यज्ञ की परम्परा सुरक्षित रखने के लिए ही अनासक्त भाव से किये जाते हैं, किसी फल की कामना से नहीं। वे शास्त्र विहित कर्म बन्धन कारक नहीं होते, बल्कि उन कर्मों से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि ध्यान जो सत्ययुग में परमात्मा के यजन का साधन स्वरूप है। उसमें ज्ञान की प्रतिष्ठा अति सूक्ष्म है। परन्तु यहाँ वही ज्ञान की परिणिति बहद् सूक्ष्म में नहीं है क्योंकि त्रेता में कर्त्तव्यरूप कर्म को यज्ञ की स्थिति में सुरक्षित रखते हुए कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना है।

किम् कर्म किमकर्मेति कवयोःऽप्यत्र मोहिताः।

(गीता 4-16)

यज्ञ के स्वरूप को परिमार्जित करने के लिए कर्त्तव्य कर्मों में बड़े बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। इसलिये ज्ञानी जनों में पण्डित कौन हो सकता है। जो यज्ञ के भोक्ता परमेश्वर को अपने यज्ञ कर्मों के द्वारा सन्तुष्ट कर सके। अतः

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्प वर्जिता।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता 4-19)

बिना कामना और संकल्प के जिसके शास्त्र सम्मत कर्म हो, जो ज्ञानाग्नि से भगवतार्पण फलरूप है, वही यज्ञ का प्रतिरूप है और उसको जानने वाला ही पण्डित और बुद्धिमान है।

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जिसका जो कर्त्तव्य है। वही उसके लिए यज्ञ है, पर यही मात्र नहीं, बल्कि –

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेनगन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिनः ॥

(गीता 4/24)

अर्थात् जिस यज्ञ में स्त्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म हैं तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है- उस ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं।

इसका अभिप्राय कर्ता कर्म और करण के भेद से विभिन्न रूपों के प्रतीति में ब्रह्म रूप से देखने का जो अभ्यास है, वह भी परमात्मा प्राप्ति का साधन होने से यज्ञ ही है।

त्रेता युग में चतुर्पदों में एक पद धर्म से रहित है, अतः सत्ययुग के सूक्ष्मतम तत्व, ध्यान के स्थान पर यज्ञ के स्वरूप में परमात्मा प्राप्ति का विधान संयोजित किया गया।

परमात्मा द्वारा रचित इस सृष्टि में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है। जिस पर सभी जीवों के भरण पोषण और संरक्षण का दायित्व है। अतः वह इस दायित्व को समझकर मन वाणी शरीर से जो क्रियायें करता है, उन क्रियाओं से सम्पादित होने वाले सत्कर्म को ही यज्ञ कहते हैं। इस यज्ञ में हवन, दान, तप, जप, जीविका आदि सभी कर्मों का समावेष हो जाता है, यदि वे सभी सत्कर्म शास्त्र सम्मत है। अतएव यह मानना चाहिए कि यज्ञ शब्द से त्रेता के मूल धर्म यज्ञ में मात्र हवन ही संयोजित नहीं है, बल्कि लोकोपकारार्थ होने वाली समस्त क्रियाओं से यज्ञ की ही स्वरूपगत प्रतिष्ठा है।

त्रेता में मात्र एक पद से धर्म के स्वरूप में कमी की परिणिति हुई, फिर भी त्रेता का यथार्थ स्वभाव -

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा।
सव विधि सुख त्रेता कर धर्मा।

(रामचरित मानस उ. 104/4)

होने से दुःख का अत्यान्तिक अभाव रहता है।

अतः यह मानना चाहिए कि जहाँ सत्ययुग में मनुष्यों का स्वभाविक मन गुणातीत या सतो गुणी होता है, वहीं त्रेता में कुछ रजो गुण वृत्ति आ जाने से मन की सहज विमलता में आक्षेप हो जाता है।

पुष्प वाटिका में किशोरी जानकी के दर्शन से श्रीराम के मन में विचलन हुआ और वे अपने मन की सहज स्वभाविक स्थिति का वर्णन करने लगे -

मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥

यह मन की सहज विमलता का प्रतीक है, इसी प्रकार जब नारद जी हिमालय के शुद्ध सतोगुणी वातावरण में पहुँचे तो -

सहज विमल मन लागि समाधी।

रजोगणु की सृष्टि कर्म में लगाती है। इसलिए त्रेता में स्वल्प रजोगुण का सतोगुण में मिश्रण हो जाने से शास्त्रानुमोदित कर्म में या यज्ञरूप में कर्म की प्रतिष्ठा का स्वरूप परिलक्षित है। यज्ञ भगवान के रूप में प्रभु यज्ञ कर्म के भोक्ता है। इस युग में संसार माया के आवरण से मुक्त नहीं है। आश्रम धर्म - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बानप्रस्थ और सन्यास के सहचर्य से जीवन में भगवत् प्राप्ति की सहभागिता रहती है। मन संसारिकता के फेर में तल्लीन नहीं होता है। मन किसी भी प्रकार अनर्गल चिन्तन नहीं करता और न करने योग्य क्रियाओ में मन की टेक भी नहीं रहती है।

जैसे कण्यऋषि के आश्रम में जब ऋषि के न रहने पर राजर्षि दुष्यन्त की दृष्टि विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला पर पड़ी तो दुष्यन्त, उस यौवन सम्पन्न रूप लावण्य सम्पन्न शकुन्तला को देखने मात्र से मोहित हो गये और काम के वशीभूत हो गये। अपनी दशा पर आन्तरिक दृष्टि-पात करते हुए उन्होंने शकुन्तला से कहा, ''तुम ब्राह्मण कन्या नहीं हो सकती, तुम निश्चय ही किसी क्षत्रिय की पुत्री हो सकती हो तभी मेरे मन में तुम्हारे प्रति आकर्षण का भाव आया है।''

यही मन की शुचिता त्रेता का लक्षण है। मन चञ्चल नहीं रहता और वैराग्य की सहज वृत्ति मन में समाहित रहती है।

द्वापरयुग :

चारों युगों में तीसरा युग द्वापर है, इसमें धर्म के मात्र दो पद ही शेष रह जाते हैं, या पाप और पुण्य वृत्तियाँ बराबर बराबर रहती है। द्वापर में भगवत अर्चा 'द्वापरे अर्चयन्' के द्वारा भगवत प्रीत्यर्थम् काम किये जाते है। और उसी अर्चा से ही संसार के आवागमन से मुक्ति मिलती है।

द्वापर करि रघुपति पद पूजा।
नर भव तरहि उपाय न दूजा॥

(रामचरित मानस, उ. 103/3)

यथार्थ में द्वापर रजोगुणी प्रधान युग है, इसमें थोड़ा सा सतोगुण का छुआता और तमोगुण की भी स्पल्प स्थिति है। इस युग का स्वभाव हर्ष तो है परन्तु साथ में भय की संहति भी विद्यमान रहती है।

वहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥

(रा.च.उ. 104/4)

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि भगवान श्री कृष्णा का समूचा जीवन क्रम (जन्म से गोलोक गवन तक) द्वापर युग का ही प्रतिनिधित्व करता है और वह भी कर्म योगेश्वर रूप में।

रजो गुण की अधिकता में नये नये कर्मों, उद्योगों, सन्धि विग्रह, उन्नति करने की कामना की अधिकता, युद्ध, पराक्रम, नीति कुशलता आदि गुणों की भरमार रहती है। इस गुण के कारण सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। सकाम कर्म अधिक होते हं

त्रैविद्या मां सोमपाः पूत पापा, यज्ञै रिष्ट्वा स्वर्गतिं पार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्नन्ति दिव्यान्दिविदेव भोगान्॥

(गीता 9/20)

तीनों वेदों के विधान किये गये सकाम कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले, पापरहित पुरूष परमात्मा को यज्ञों के द्वारा पूज कर स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं और दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं, परन्तु पुण्यों के क्षीण हो जाने वाले पुनः मृत्युलोक में आ जाते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशान्ति।

इस युग में रजो गुण की बाहुल्यता में प्रवृत्ति मार्ग की प्रवलता रहती है तथा विभिन्न विचारों समुदायों पूजा पद्धतियों का सृजन होता है। जिसके कारण उन उपासकों के सत्य विचारों और अर्चा पद्धतियों की सत्य स्थिति को प्रमाणित करने के लिए परमात्मा को भी विविध स्वरूपों में स्वीकार करना पड़ता है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानम् बीजमव्ययम्॥

(गीता 9/18)

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, प्राप्त करने योग्य परमधाम, भरण पोषण करने वाला सबका स्वामी, शुभाशुभ को देखने वाले सबका का वास स्थान, शरण लेने योग्य प्रत्युपकार न चाहकर हित करने वाला, सबकी उत्पत्ति प्रलय का हेतु, स्थिति आधार निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ।

वे प्रभु ही सबके आधार है, इसीलिए बीजमव्ययम् है। बीज सुनियोजित प्रक्रियाओं के पश्चात् पुनः बीज रूप में हो जाता है। अतः सत्ययुग में जो ''ऊर्ध्वमूल'' की संज्ञा से प्रतिष्ठित है। वही सर्वेश्वर ''बीजमव्ययम्'' है। श्री कृष्ण गीता में कहते है -

जन्म कर्म च में दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता 4/9)

भगवान का यह कथन है कि उनके जन्म और कर्मदिव्य है, जो तत्व से उन्हें जानता है, वह देह त्यागकर पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होता है।

वे सर्वेश्वर प्रभु नित्य धाम से चतुर्भुज रूप से देवकी वसुदेव के सम्मुख प्रकट हो कर भक्तों के कहने पर छोटे शिशु बने, नन्द गाँव में नन्द यशोदा को वात्सल्य सुख देते हुए अनेकानेक दैत्यों का विनाश करते हुए बृज में गोपगोपियों को प्रेमदान दिया। गाय, बछड़े, गोप और उनकी दैनिक प्रयोग की सामग्रियों का रूप धारण कर ब्रह्मा के मोह को भंग किया। गोवर्धन धारण किया, महारास रचाया और मथुरा आ गये। जरासंघ को सत्रह बार परास्त कर, काल यवन का वध करवाया और द्वारिकापुरी का निर्माण कराकर सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के साथ उतने ही रूप बनाकर विहार किया। महाभारत के युद्ध में धर्म समर्थित पाण्डवों के सारथी बन कर अत्याचारियों का विनाश करवाया और अपने द्वारा ही संरक्षित यादवों को पृथ्वी का भार समझकर आपस की फूट से उनका विनाश भी करवाया और अन्त में पीपल वृक्ष तले अपना चतुर्भुज रूप में प्रकटीकरण करके सदेह मृत्युलोक का त्याग करके नित्य धाम में प्रतिष्ठित हो गये।

इसलिये द्वापर युग के मौलिक गुणों के स्वरूपगत श्रीकृष्ण का समूचा जीवन अत्यन्त व्यस्तगी के साथ तो बीता, परन्तु संसारिक विलासता के प्रति कहीं भी आसक्ति का लेशमात्र भी तत्व नहीं रहा।

अतः सत्ययुग और त्रेता की तरह द्वापरयुग नहीं है। धर्म की स्थितियों और स्वरूपों में बाहुल्यता है, इसलिए जीवन में ऐसी बहुत सी स्थितियों का सामना करना पड़ता है, कि उनमें कर्त्तव्य बुद्धि से किसको चुना जाय कि वह भगवत् अर्चा का स्वरूप धारण कर सके।

कलयुग :-

चार युगों में कलयुग अन्तिम युग है, इस युग में धर्म का मात्र एक पद ही बच जाता है, तीन पद अधर्म में समव्याप्त हैं। युगों के धर्म के पदाधिकार के अनुसार ही युगों का काल भोग का निर्धारण होता है। या कलयुग में धर्म का एक पद है अतः एक पद के लिए कलयुग की कालावधि मात्र 1200 दिव्य वर्ष निर्धारित है। इसी तरह द्वापर का भोग काल 2 × 1200 दिव्य वर्ष या 2400 दिव्य वर्ष और त्रेता का 3600 दिव्यवर्ष तथा सत्ययुग की उम्र 4800 दिव्य वर्ष शास्त्रों में निर्धारित की गई है। सामान्य वर्ष या पृथ्वी लोक के वर्ष से दिव्य वर्ष 360 गुणा बड़ा होता है। चारों युगो का भोगकाल कलयुग के कालावधि का 10 गुणा होता है, और चतुर्युगों की काल गणना में 1000 का गुणा करने पर कल्प माना जाता है, जिसमें 14 मन्वन्तर होते हैं।

जिस काल धर्म से समस्त सृष्टि समव्याप्त है, और सृष्टि का संचालन नियमन जिस काल के आधीन है, वह अनादि, सर्वाधार परम प्रभु परमेश्वर श्रीराम के आयुध धनुष के वान (सर) मात्र है।

लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदण्ड॥

(रामच.माल. ल./1/)

लव, निमेष, परमानु, वर्ष युग और कल्प जिस के प्रचण्ड बाण है, और काल जिन का आयुध धनुष है, उन श्रीराम का भजन करना चाहिए।

काल के इस बियावान (ओर छोर रहित) जंगल में हल्की गन्ध लेने के बराबर की जिन्दगी पाकर मनुष्य कलियुग में रह रहा है। कलियुग के लिएं स्वभाविक गुण है।

तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहु ओरा॥

सतोगुण जहाँ सभी धर्मों का प्रतीक है, वही तमो गुण अधर्म का। जिसका प्रतिनिधित्व करता है कलयुग।

रामचरित मानस में एक चौपाई के सूत्र से कलियुग की सभी अवगुणी स्थितियां प्रकाश में आ जाती है।

कलि केवल मल मूत्र मलीना। पाप पयोनिधि जिमि जल मीना॥

(बाल. 27/4)

कलियुग मलिन एवं पाप कर्मों के रति का मूल है, इस युग में मनुष्यों का मन पाप के समुद्र में मछली बनकर बिहार करता है, जिस समुद्र से अलगाव होने पर वह मृत है, या अस्तित्व हीन है। इन दुर्गुणों से कोई बच नहीं सकता। सभी युग मायापति की माया की प्रेरणा से युग धर्म से प्रभावित होते हैं।

नित जुग धर्म होहि सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥

पुराणों और रामचरित मानस में मल के मूल कलियुग के लक्षणों का विस्तार से वर्णन है, जैसे -

नर अरु नारि अधर्म रत सकल निगम प्रतिकूल।

(उत्तर. 96 ख)

सब नर कल्पित करहि अचारा। जाइ न बरनि अनीति अचारा॥

(उत्तर. 100/8)

पर द्रोही पर दाररत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥

जे अपकारी चार तिन्ह, कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लवार, तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

(उ. 98/ख)

सब नर काम लोभरत क्रोधी।
देव विप्र श्रुति सन्त विरोधी॥

(रामचरित मानस उ. 99-3)

तामस धर्म करहि नर जप तप ब्रत मख दान।

(रामचरित मानस उ./101 ख)

कलयुग मल, अवगुन आगार है, जिसके कारण इसी लोक में नर नारियों की ये दशायें है।

नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारण ही॥
नहि तोष विचार न शीतलता। सब जाति कुजाति भये मगता॥

लोगों में न सन्तोष है न विवेक है और न स्वभाव में शीतलता है। सब जाति के लोग भीख मांगने लगे हैं।

सब लोग वियोग और विशेष शोक से भरे पड़े हैं।

ऐसे नर नारियों की पारलौकिक स्थिति बहुत ही भयावह होती है। जैसे -

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोह जाल समावृताः।
प्रसक्ता काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(गुता 16/16)

आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों का चित्त अनेको विषयों में विभ्रान्त (भ्रामित) रहता है। वे मोहमाया के जाल में फँस कर उससे घिरे रहते हैं। उनका विषय भोग ही जीवन का लक्ष्य होता है, तो उनका फल भोगने के लिए उन्हें अपवित्र नरकों में गिरना पड़ता है।

यही नहीं, वे पापरत पारायण नर नारी अनेकानेक दुर्गति के समूहों में पड़े रहते हैं। जैसे-

आसुरीं योनि मापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
माम प्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता 16/20)

वे जन्म जन्म में आसुरी योनियों में जन्म लेते हैं और फिर उससे भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

कलयुग में तमोगुणी वृत्तियों की जागृति रहती है, जिसका मुख्य प्रतिफल आलस्य और मूढ़ता है। मूढ़ता की स्थिति में नर नारियों में अपने स्वधर्म के प्रति हेय दृष्टि और दूसरे के निकृष्ट और त्याज्य धर्म के प्रति स्वभाविक आकर्षण रहता है। अधर्म में ही धर्म का प्रतिबिम्ब समझ में आने से विधर्म का चलन समाज में आने से वह अपनी पैठ जमा लेता है।

इतना ही नहीं ऐसे धर्म विरुद्ध आचरित व्यक्तियों का समुदाय, दूसरों को भी जो अपने वर्णाश्रम धर्म में है, को भी जबरन अपने अधर्म मूलक संस्कार में दीक्षित करने लगता है। धीरे-धीरे समाज का एक बहुत बड़ा भाग अनिच्छा से ही सही विधर्मी बन जाता है। ऐसे विधर्मियों के पास इतनी बढ़ी चढ़ी भौतिक सामर्थ्य होती है; कि सद्धर्मियों को विधर्मियों में परिवर्तित करना उनके लिए सहज काम होता है। जो युग काल प्रभावित नर नारी अपने को विधर्मी होने से बचा लेते हैं, या वे किसी प्रकार अक्रान्त होने से बच जाते हैं। उनकी दशा का स्वरूप रामचरित मान में इस प्रकार दर्शित है :-

पाप परायण सब नर नारी।
कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दम्मिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ॥

(उ. / 97 ख)

भये लोग सब मोह बस लोभग्रसे शुभ कर्म॥

इस प्रकार पापरत कर्म परायणता में ब्रह्माण्ड ही अधर्ममय हो जाता है। जैसे रामचरित मानस में काकभुशुण्ड गरुड़ से कहते है।

सुनु खगेश कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाखण्ड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मण्ड॥

(उ. 101 क)

○●○●○

3. अज्ञान, ज्ञान व विज्ञानमय ज्ञान

क. अज्ञान :-

स्थूल शरीर जड़ महाभूतों से निर्मित होने के कारण स्वयं भी जड़ है, उसे अपनी सत्ता का अनुभव नहीं है। परन्तु जीवित शरीर में चेतन तत्व विद्यमान है, जिससे उसको जीवन का आभाष होता है। दूसरी ओर आत्म तत्व है वही चेतन स्वरूप है। परन्तु जड़ शरीर और चेतन आत्मा के संयोग से एक अन्य रचना है। जिसमें जड़ और चेतन दोनों के गुण विद्यमान है। यह देहात्म भाव है। यह देहात्म भाव ही सांसारिक विषय भोगों की कामना का रूप धारण कर आत्मा के ज्ञान को ढ़के है।

आवृतं ज्ञान मेतेन ज्ञानिनोनित्य बैरिणा।
कामरूपेण कौन्येय दुष्पूरेणानलेन च॥

(गीता 3-39)

इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाली कामनारूपिणी बैरी के द्वारा ज्ञानियों का ज्ञान ढँका रहता है। यथा -

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठान मुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

(गीता 3-40)

अर्थात - इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये कामना के वास स्थान कहे जाते है। अत: यह काम (कामना) इन मन बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करके यथार्थ ज्ञान से जीवात्मा को बाधित किये हुए है।

इसलिए गीता के तीसरे अध्याय के एकतालिसवें श्लोक में भगवान का यह उपदेश है कि-

तस्मात्त्वामिन्द्रयाण्यादौ नियम्य भरतर्षम्।
पाप्मानं प्रजहि ह्येन ज्ञान विज्ञान नाशनम्॥

(गीता 3-41)

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि "हे अर्जुन तू पहिले इन्द्रियों को बस में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान पापी काम (संसारिक कामना) को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।"

दूसरे शब्दों में जब तक व्यक्ति को मैं शरीर हूँ और यह जागतिक वैभव विलास का ही मैं सम्बंधी और भोक्ता हूँ तब तक शारीरिक घेराव के अन्तर्गत अपने को सीमित रखने वाला तत्व

ही यथार्थ अज्ञान है, जिसके बाह्य और अन्तः स्वरूपों में मन बुद्धि और इन्द्रियाँ रमन करती रहती है, और उसकी आंशिक सिद्धि ही जीवन को अपने परम पुरूषार्थ सिद्धि के रूप में भाषती है।

अज्ञानी को भी कुछ ज्ञान अवश्य है किन्तु उसका ज्ञान सीमित और असत्य होने के कारण अज्ञान है। अज्ञानी व्यक्ति को यही दिखाई देता है, कि मैं शरीर मात्र हूँ और इस शरीर के सम्बन्धी मात्र ही उसके हैं। इतना मात्र ही उसका ज्ञान है। इसी क़ो वह प्रमाणिक ज्ञान मानता है। यही अज्ञान है।

यथार्थ में देहहीन चेतन आत्मा का देह ही बड़ा भारी घर है, इसमें अहंकार को ही उसने अपना मंत्री बना रखा है। यह अहंकार रूप मन्त्री देह गेहाभिमान रूप अपने आपको चेतन आत्मा में आरोपित कर उससे एक रूप हो कर अपनी सारी चेष्टाओं को आरोप उस चिदानन्द रूप आत्मा में ही करता है। उस अहंकार से व्याप्त हुआ देही (जीव) उसी के सन्कल्प से प्रेरित होकर संकल्प रूप बेड़ियों में बंधता है, और फिर रात दिन पुत्र स्त्री और गृह के लिए संकल्प-विकल्प करता रहता है। यही अज्ञान है -

देह एवं महादेहम् देहस्य चिदात्मनः।
तस्याहंकारम् एवास्मिन मन्त्री तेनैवकल्पितः॥
देहगेहाभिमानम् स्व समारोप्य चिदात्मनि।
तेन तादात्म्य मापन्नः स्वचेष्टितमशेषतः॥
विद्धाप्ति चिदानन्दे तद्धसित वपुः स्वयं।
तेन सन्कल्पितो देही सन्कल्प निगड़ावृतः॥
पुत्रदारा गृहादीनि सन्कल्पयति चानिशम्।

(अध्यात्म रामा. उत्तरकाण्ड सर्ग 6 41-44)

इस अहंकार के सत्व, रज और तम या उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के देह है, ये तीनों ही संसार की स्थिति के कारण हैं। इनमें तामस अहंकार से तमोगुणी वृत्तियों में जीव रहकर कीड़े-मकोड़ों की योनियों में भ्रमण करता रहता है। राजस अहंकार के कारण लोक व्यवहार करता हुआ जीव संसार में पुत्र स्त्री आदि में ही अनुरक्त रहता है और सात्विक प्रवृत्तियों से युक्त जीव धर्म और ज्ञान में तत्पर रह कर सुख पूर्वक रहता है। फिर भी वह संसार की प्रवृत्तियों में ही घूमता रहता है। यही अज्ञान है।

अहंकार अर्थात् 'मैं' कार में ही उस अहंकारी जीव का संसार सीमित है। इसी अहं की षष्टी विभक्ति मम है, जिसमें ता अक्षर जोड़कर ममता भाव वाचक संज्ञा बनती है। ममता को रामचरित मानस में अति विकृत संसारिक बन्धन में अनुरक्ति के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। यथा-

ममता तरुन तमी अंधियारी।

ममता पूर्ण अंधेरी रात के समान है, जबकि ज्ञान प्रकाश का सूचक है। अर्थात् दिन के प्रकाशमय वातावरण के ठीक विरुद्ध पूर्ण अंधेरी रात होती है। जो सम्पूर्णता से अज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है।

इसके अतिरिक्त जहाँ ममता का वास है वहाँ राग और द्वेष उसके साथ अवश्य रहते हैं। उसे **''राग द्वेष उलूक सुखकारी''** या ममता के साम्राज्य में - **''जथा उलूकहि तम पर नेहा।''** के स्वरूपगत राग और द्वेष ने भी जीवात्मा के देह गेह में विशेष अनुरक्ति बनाकर संसारिक बन्धन को कड़ा और मजबूत किला बना दिया है। और इसी किला के बन्धन में अज्ञानी जीव को सुख का आभाष हो रहा है पर यथार्थतः यही अज्ञान है।

इसके भी अनन्तर रामचरित मानस की चौपाई -

सुत वित लोक ईषणा तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥

(उ.का. 70-6)

अर्थात् इस संसार में ये तीन ऐषनायें (इच्छायें, विशेष कामनायें) - पुत्र और उसके सुखी बनाने की, वित्त या धन वैभव की और कीर्ति की होती है, उनकी उपलब्धि के लिए मनुष्य सब कुछ करने में तत्पर रहता है। इस प्रकार की वृत्ति ही मति को मलिन करती है जबकि साकार ब्रह्म की यह उद्घोषणा है कि

निरमल मन जन सो मोहि पावा।

इसके ठीक विपरीत दिशा में उस जन की स्थिति हो जाती है। यही अज्ञान है। इस प्रकार-

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट दम्भ कपट पाखण्ड॥

(उ. का. 71 क)

यह माया की सेना या माया का परिवार इतना प्रचण्ड है कि -

शिव चतुरानन जाहि डेराहि। अपर जीव केहि लेखे माही॥

(उ. का. 71-8)

जबकि जीव की यह दुर्दशा है कि माया की सेना के परिवार के कोई एक अवयव ही अपने आक्रमण से जीव को समूल नष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं -

एक व्याधि बस नरमरहि ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हि सन्तत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥

(उ. का. 121 क)

यह सभी पीड़ायें अज्ञानी जन के हिस्से में सदैव सुनिश्चित है। या अज्ञान की जब तक निवृत्ति न हो कर ज्ञान की दिशा में जीव के मन का रुझान नहीं बनता है, तब तब अज्ञानी दुःख पर दुःख भोगने के लिए विवश है।

यज्जातीयस्य कमणो योविपाकस्तस्यानु गुणाया वासनाः
कर्म विपाक मनुशेरते ताषामेवाभिव्यक्तिः।

(योग सूत्र 11/8 परव्यासभाष्य)

ये वासनायें जाति देश काल के व्यवधान से युक्त होने पर भी स्मृति और संस्कार के एक होने के कारण पूर्व वासना के अनुरूप जीव जिस योनि को प्राप्त होता है, तदानुसार आचरण करता है और ज्ञान प्राप्ति के पूर्व तक बारम्बार कर्मा संस्कारानुसार श्वान मनुष्य तिर्यक उद्भिज योनियों को प्राप्त होता रहता है। देह, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अहंकार आदि कार्यकरण के संघात के सन्निधान से आत्मा में कर्त्तत्व भोगत्व की प्रतीति है। अविद्या द्वारा परं ब्रह्म परमात्मा में उद्भाषित, यह विश्व उससे प्रथक होकर सत्य नहीं है, परन्तु संसार में रहते हुए उसके प्रति भोगत्व की स्थितियों से अपने को बचा पाना बहुत ही कठिन और असाध्य है।

अतः महोपनिषद में ऋभुऋषि अपने पुत्र निताध को उपदेश देते हुए कहते है -

"सांसारिक व्यवहारों में जो जो नष्ट होता जाय, उसकी उपेक्षा करते चलो और जो जो प्राप्त होता जाय उसे त्यागपूर्वक ग्रहण करते जाओ। ऐसा करने से बुद्धि जल और कमल पत्र के समान अस्पृक्त होगी। तदन्तरभक्ति के लिए वह आनन्द (शिव) का धरातल तैयार होगा, जिस पर वह सुरसरी की भांति अवतरित होगी।"

परन्तु संसारिक प्रपञ्चों के सत्कार और सम्मान में नर नारियों के मन की रुझान और तल्लीनता इतनी बेबस हो जाती है कि अज्ञानियों को वही जीवन का सार प्रतीत होने लगता है और इसी प्रपञ्चलीला की तल्लीनता में संसार ही उसको छोड़ देता है।

जब तक मनुष्य स्वयं को शरीर के साथ तन्द्रुप समझता रहता है, तब तक विषाद का अनुभव करना ही पड़ेगा। आत्मा तो शरीर, इन्द्रियाँ और अहंकार नहीं है, अज्ञान के कारण ही वह संसारिक दुःखों से प्रभावित होता है।

जब मनुष्य स्वप्न देखता है, तो उसमें दिखने वाले दृश्य स्वप्न के चलते रहते सत्य प्रतीत होते है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सदैव इन्द्रियों और उससे मिलने वाले सुखों का चिन्तन करता है, तो उसे यह संसार सत्य प्रतीत होता है वह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए संसार में डूब जाता है। यह संसार घृणा, लोभ, ईर्ष्या आदि से परिपूर्ण है। मन ही संसार सृष्टा है और यह मन ही उसे संसार से बांधता है।

संसार में ही रमण करने वाले मनुष्य की दशा उस हिरण से भिन्न नहीं है जो जल की खोज में कुछ दूर मृगजल को देखकर एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज की ओर दौड़ता रहता है। अपनी इन्द्रियों के छलावे से पूर्ण तथा अवगत होते हुए भी मूढ़ों के समान उनके दासों की तरह वह हर आचरण कर रहा है। हास्य और अश्रु, जरा और मरण नित्य घटित हो रहे हैं।

हमारी नियति तो वायु के आकस्मिक झोंके से तहस नहस हो जने वाले पौधे की भांति है और यह सब निस्सार सुखोपभोग के झोंको के विषयों के कारण होता है। बुद्धि से हीन व्यक्ति इस स्थिति को समझने में असफल हो जाते हैं। यही यथार्थ अज्ञान है।

जो संसार हमारे सामने है, वह क्षण भङ्गुर है। जो पर्वत श्रेणियां आज बादलों का चुम्बन कर रही है, वे अल्पावधि के पश्चात समतल भूमि में परिणित हो सकती है। संसार की प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक की देहधारियों के बचपन जवानी और वृद्धावस्था को परिवर्तित होना पड़ता है। प्रत्येक वस्तु लहरों के समान एक दशा से दूसरी दशा तक चलायमान हो रही है, प्रत्येक दिन वस्तु और मनुष्य के पीढ़ियों का विनाश क्षण प्रतिक्षण हो रहा है, परन्तु यह अभिशप्त संसार कभी भी समाप्त नहीं होता है। इस प्रकार परिवर्तनशील और नष्ट प्राय संसार को चिर लगाव के रूप में बरण करना ही अज्ञान है, जिसका परिणाम दुःख पर दुःख भोगने की दशाओं का निर्माण है।

मनुष्य पशुओं के रूप में फिर से जन्म लेते हैं, निम्नतर पशु पुनः मनुष्यों के रूप में जन्मते हैं। देवताओं का पद तक तो अनित्य है, फिर संसार में नित्यशः का अवलोकन करना ही अज्ञान है।

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है यथा –

मनैव हि मनुष्याणां कारणम् बन्ध मोक्षनात्।

मन, तव ही बन्धन का कारण होता है जब वह प्रेतवत बन जाता है। मन का यह प्रेत नितान्त अस्तित्वहीन है। यह निस्सार कल्पना के द्वारा ही एक आकार ग्रहण करता है। इस प्रेत को नियन्त्रित करना अत्यंत दुष्कर है। मन व्यक्ति को अग्नि से भी अधिक जलाता है, और यह वज्र से भी अधिक कठोर है, यह इन्द्रियों के पदार्थों की ओर ठीक वैसे ही दौड़ता है, जैसे कौआ माँस की ओर। और दूसरे ही क्षण वह बालक के समान इसे छोड़ भी देता है। कहीं भी किसी भी वस्तु से बंधकर नहीं रह सकता है, यह उस मन की सहज वृत्ति ही बन जाती है, कि किसी को पकड़ना और फिर अनायास ही उसे छोड़ देना। मानसिक भ्रान्ति में रहते हुए मन अशान्त खिन्न और दूसरे के दुःख को देखकर परम प्रसन्न का आदी हो जाता है। यह मनुष्य जीवन की अति ही दयनीय स्थिति है। इसके अनन्तर उसके जीवन की अनित्यता भी साथ में लगी हुई है। किसी कवि की यह बानी शास्वत सत्य का उद्घोष करती है कि –

क्षण भंगुर जीवन की कलिका,
कल प्रात को जाने खिली न खिली।

मनुष्य के इस अनित्य स्थिति के अनन्तर भी एक और जाल उसे बांधने को तैयार है और वह है अहंकार, जो मनुष्यों के मन में विभिन्न विमोहक भ्रमों की सृष्टि करता है और मनुष्य अहंकार निर्मित जाल में फँसा-फँसा ही अपने भ्रान्तिमय मन से अपने को परम सुखी मानता है। यही वह अज्ञान है, जिसमें मनुष्य अपने को विजित समझकर खुशहाली का ही अनुभव करता है। यह सुख की भ्रान्ति उसके शान्ति के चन्द्रमा के लिए राहु है, कमलदल के लिए तुषार है। जब तक व्यक्ति अहंकार युक्त होता है, तब तक वह दुःख भोगने के लिए बाध्य है, और जब अहंकार नहीं रहता तब कोई कष्ट नहीं होता है।

प्रकृति की सुन्दरता बिजली कौंध के समान अचिर है, सभी प्राणी यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र भी ठीक वैसे ही विनाश की ओर अनुधावित है, जैसे मरुस्थल में प्रवाहित होने वाली जलधारा। सम्पत्ति और सुखोपभोग समस्त चिन्ताओं की जड़ है। इन्द्रिय सुखों की वस्तुएँ यथार्थ में हलाहल है, पर वे सामान्य रूप से ज्ञात विष के समान नहीं है, क्योंकि तथाकथित विष तो एक ही जन्म शरीर का नाश करता है, परन्तु इन्द्रिय भोगों का हलाहल व्यक्ति को जन्म जन्मांतरों में ले जाकर असंख्य योनियों में सन्त्रस्त करता है।

श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी महाराज परीक्षित को ज्ञानोपदेश देते हुए संसार के दुःखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि देहाभिमानी जीवों के द्वारा शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकार के कर्म होते रहते हैं, और उन कर्मों के द्वारा ही नाना प्रकार के शरीरों के साथ होने वाला जो संयोग वियोगादि रूप संसार है, जीव को प्राप्त होता है। उसके अनुभव के लिए ही मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। माया की प्रेरणा से जीव वन के समान दुर्गम मार्ग में पड़कर संसार वन में जा पहुँचता है। यह वन श्मशान के समान अत्यंत अशुभ है। इस वन में मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ ही अपने कर्मों की दृष्टि से डाकुओं के समान है। वे विवेकहीन बुद्धि के कारण विषय भोगों में वृत्तियों को फँसा कर उसी प्रकार लूट लेती है, जैसे बेइमान मुखिया का अनुगमन करने वाले व्यक्ति का धन, चोर डाकू लूट लेते हैं।

यही नहीं स्त्री पुत्रादि कहे जाने वाले सम्बन्धी जन, साक्षात् भेड़िये और गीदड़ों के समान हैं, जो अर्थ लोलुप कुटुम्बी का धन, उसके देखते देखते छीन लेते हैं।

गृहास्थाश्रम कर्म भूमि है, इसमें कर्मों का सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता, यह घर कामनाओं की पिटारी है। कामना और कर्मों से कलुषित हुए अपने चित्त के दृष्टिदोष के कारण यह मर्त्यलोक जो गन्धर्व नगर के समान असत् है, वह सत्य समझने लगता है। फिर स्त्री प्रसङ्ग आदि व्यसनों

में फँसकर मृगतृष्णा के समान मिथ्या विषयों की ओर दौड़ने लगता है। रागान्ध होने पर रजोगुण की धूल भर जाने से उसकी बुद्धि इतनी मलिन हो जाती है, कि कर्मों के दिशाओं के देवताओं को भी वह भूल जाता है। कभी कभी अपने आप ही विषयों का मिथ्यात्व जान लेने पर भी अनादि काल से देह में आत्मबुद्धि रहने से, विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिससे, मरु मरीचिका तुल्य विषयों की ओर वह फिर दौड़ने लगता है। पुण्य क्षीण हो जाने पर वह जीवित ही मुर्दे के समान हो जाता है। गृहस्थाश्रम के कर्मविधि का अनुष्ठान पर्वत की कड़ी चढ़ाई के समान है।

इसके अतिरिक्त अज्ञानाच्छादित मन में सुख दुःख, राग द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, ब्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि अनेकों विघ्न हैं।

वह इस विघ्नबाहुल मार्ग में भटकता हुआ किसी समय देवमाया रूपिणी स्त्री के बाहुपाश में विवेक शून्य होकर उसके लिए बिहार भवन आदि बनवाने की चिन्ता में व्यग्र रहता है, और उसी के आश्रित पुत्र, पुत्री और अन्यान्य स्त्रियों के मीठे बोल चितवन और चेष्टाओं में आसक्त होकर, उसी में चित्त फँस जाने से वह इन्द्रियों का दास अपार अन्धकारमय नरकों में गिरता है।

इस प्रकार प्रवृति मार्ग में पड़कर जीवन ''रोग रूप गिरिगुहा'' में पड़कर ''मृत्यु रूप हाथी'' से डरता रहता है। अज्ञान की स्थिति में -

तब फिरि जीव विविध विधि पावइ संसृति क्लेश।
हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ विहंगेश॥

(रा.च.मा. उ. 118 (ख)))

परन्तु ज्ञान प्राप्ति विषयक साधना और लगन भी दुस्तर है। क्योंकि -

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

(रा. च. म. 30/118 ख)

अर्थात् - ज्ञान कहने समझने और साधने में कठिनता के अतिरिक्त संयोगवश इसके मिल जाने पर भी उसे बचा रखना भी कठिन है।

ख. ज्ञान :-

मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उसका कारण हूँ, मैं न कर्ता हूँ और न कराने वाला हूँ, और न कर्ता का अनुमोदक ही हूँ।

सदाचारी व्यक्ति के लिए भी यह समझना गहन होता है, कि उसका कर्त्तव्य क्या है ? हृदय में स्थित आत्मा ही यह जान सकने में समर्थ है, कि क्या सही है और क्या गलत है ? इसलिए सदैव शान्त और निष्पाप बनते हुए उसी आत्मा को जानना श्रेयष्कर है। सदाचार और परम्परागत नियमों का पालन करना, विशेष रूप से आवश्यक है। शुद्ध ज्ञान वह है जो समस्त कामनाओं और आसक्तियों का नाश करता हैं। किसी विशेष हेतु से किये जाने वाले कर्मों का नाश कर देना चाहिए। क्योंकि वह जन्म मृत्यु के चक्र में ही आबद्ध कराता है। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में वह बाधक है।

परोक्ष ज्ञान :- जिस ज्ञान से पुरूष, प्रकृति महत्तत्व अहंकार तथा पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज), वायु, आकाश, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिव्हा, त्वचा) और उनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हस्त, पैर, गुदा, लिङ्ग तथा उनके कार्य तथा मन और 3 गुणों को या 4 + 5 + 5 + 5 + 5 + 1 + 3 = 28 तत्वों को ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त सम्पूर्ण कार्यों में देखता है और उनमें से एक परमात्म तत्व को अनुगत रूप से देखा जाता है या सूक्ष्म से सूक्ष्म लेकर महानतम् के पीछे परमात्मा की सत्ता विद्यमान है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वर।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(गीता 13-27)

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचरभूतों में परमेश्वर को नाश रहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।

इस श्लोक में आत्मतत्व जन्म और मृत्यु आदि समस्त विकारों से रहित, निर्विकार एवं सम बतलाया गया है। अतः जो इस नित्य, चेतन आत्म तत्व को असङ्ग रूप से सर्वत्र समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।

विनाश होना शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं, वह शरीरों के भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होने वाले समस्त प्राणि समुदाय में वस्तुतः एक ही है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय के 55वें श्लोक में कहा है -

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्ये वात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञ स्तदोच्यते॥

(गीता २/५५)

अर्थात् - जिस काल में पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है, और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थित प्रज्ञ कहा जाता है। क्योंकि-

यस्त्वात्म रतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता 3-17)

जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट हो, तो उस के लिए कोई कर्तव्य करना शेष नहीं है।

बीसवीं सदी के मध्य में शंकराचार्य ज्योति पीठाधीश्वर स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज, ज्योतिमठ बद्रीकाश्रम, भारतीय दर्शन परिषद की रजत जयन्ती समारोह के अध्यक्ष पद पर कलकत्ता में विराजित थे। जिसमें अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. कांगर और शिल्पभी आये हुए थे। एक दिन वे दोनों महान दार्शनिक एक गूढ़ प्रश्न के समाधान के लिए भारतीय दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् सर्वपल्ली को साथ लेकर शंकराचार्य से समाधान हेतु रात्रि में स्वामी जी के शिविर में पहुँचे। डॉ. सर्वपल्ली ने महाराज जी से कहा, ''डॉ. कांगर वेदान्त से सम्बन्धित तत्व दर्शन में कुछ सुनना चाहते हैं।''

उन तीनों की जिज्ञासा को समझते हुए महाराज जी ने कहा, ''वेदान्त प्रतिपाद्य तत्व तो स्वतः सिद्ध पदार्थ है, वह स्वयं प्रकाश है। उसको प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाशित तत्व की आवश्यकता नहीं है।'' जब डॉ. कांगर ने यह कहा कि ''वेद शास्त्र तो तत्व प्राप्ति के साधन है, वे तो व्यर्थ नहीं जा सकते है।''

तब इसके प्रत्युत्तर में स्वामी जी ने कहा - ''साधन जो हैं वे ब्रह्म को प्रकाशित करने के लिए नहीं है, उनका तात्पर्य तो अविद्या की निवृत्ति में है। साधन अविद्या का नाश करते हैं ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करते, क्योंकि जो स्वयं प्रकाश है उसको देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। जैसे अरुणोदय केवल रात्रि के अन्धकार को हटाता है, सूर्य को प्रकाशित नहीं करता। आत्मा तो स्वतः प्रकाश रूप और साक्षी है।'' स्वामी जी इस कथन से तीनों दार्शनिक महानुभाव अति प्रसन्न होकर विदा हुए।

दूसरे शब्दों में मन की जो भ्रान्ति संसारिक मूल्यों को सर्वाधिक महत्व देकर बुद्धि को उसी दिशा में लगाये रखने में अपना श्रेय समझ रही है। उसे मोड़कर आत्मा के प्रकाश में अपने को भी प्रकाशित करने में अविद्या या भ्रान्ति की गांठ खुल जाती है, यही ज्ञान की दिशा में तात्विक पदार्पण है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणिर्भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४-३७)

श्री कृष्ण ज्ञान की विलक्षणता बताते हुए कहते है, ''हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि ईधनों को भष्ममय कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।''

अर्थात् - तत्व ज्ञान रूप अग्नि, जितने भी शुभाशुभ कर्मफल है, उनका और उनके फलरूप दुःख सुख भोगों का तथा उनके कारण रूप अविद्या और अहंता, ममता, राग, द्वेष आदि समस्त विकारों के सहित समस्त कर्मों का नाश कर देती है।

इस जन्म में और पिछले जंन्मान्तरों में किये गये समस्त कर्म संस्कार रूप से मनुष्य के अन्तःकरण में एकत्रित रहते हैं, उनका नाम सञ्चित कर्म है। उनमें जो वर्तमान जन्म में फल देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं उन्हें ''प्रारब्ध'' कर्म कहते हैं। और वर्तमान जन्म में किये जाने वाले कर्मों को 'क्रियमान' कहते हैं। क्रियमान कर्मों में उनका कर्त्तत्व अभिमान तथा ममता आसक्ति और वासना न रहने के कारण उनके संस्कार नहीं बनते, इससे वे कर्म वास्तव में कर्म ही नहीं होते हैं ।

इसलिए गीता के चौथे अध्याय, ३८वें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से पुनः कहते हैं-

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि बिन्दति॥

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है, उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्म योग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।

तात्पर्य यह है कि, इस संसार में यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा, व्रत, उपवास, प्राणायाम शम, दम, संयम और जप ध्यान आदि जितने भी साधन पापों का नाश करके उसे पवित्र करने वाले हैं। उनमें से कोई भी इस यथार्थ ज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता है क्योंकि वे सब इस तत्व ज्ञान के साधन हैं और यह ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होने से साधन माने गये हैं। इससे मनुष्य परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है और वह परम पवित्र बन जाता है। क्योंकि जिसके स्वरूप का साक्षात्कार होने से ही ज्ञान की पवित्रता है। वे सब के सुहृद सर्वाधार परमात्मा तो परम पवित्र है।

परमात्मा का स्वरूप ही ''**परंब्रह्म परंधामं पवित्रम् परमं भवान्।**'' अर्थात् आप परंब्रह्म, परमधाम और परम पवित्र हैं। और परमेश्वर ''**पवित्राणाम् पवित्रं यो मंगलानाम् च मंगलम्**'' है अर्थात् वे परमेश्वर पवित्र करने वालों में अतिशय पवित्र है, और कल्याण करने वालों में अतिशय कल्याण करने वाले हैं। वह ज्ञान, जो पवित्रता और कल्याण की स्थितियों को अंतिम सीमा तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है, उस ज्ञान की स्वरूप स्थिति यह है, कि वह परंब्रह्म

परमेश्वर, जो अगुन, अखण्ड, अनन्त और अनादि है, के तत्व को, उनके प्रभाव, महात्म्य और रहस्य को जानने से युक्त हो, वही ज्ञान है।

इस ज्ञान प्राप्ति के लिए हृदय में जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसके यह महान काम (संसारिक कामना और उसके विकार) शत्रु दबाता रहता है। अर्थात् उस ज्ञान के साधनों की प्राप्ति में बाधा पहुँचाता है, इसी कारण ज्ञान की स्वरूप स्थिति नहीं बन पाती है। यद्यपि इस ज्ञान को समूल नष्ट कर देने की सामर्थ्य तो उसमें नहीं है क्योंकि काम की उत्पत्ति अज्ञान से और अज्ञान की उत्पत्ति जड़त्व से है, इसलिए ज्ञान के एक बार प्रकट हो जाने पर तो काम के मूल स्वरूप अज्ञान का ही नाश हो जाता है और ज्ञान अपने आप प्रकाशित होकर परमात्मा के तत्व प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है यही ज्ञान है।

जब मनुष्य बुद्धि मन और उसका चिन्तन नाशवान और हेय संसारिक सम्मोहकता व उसके अवयवों से अपना पूर्ण लगाव छोड़ देता है और चेतन आत्मा में रमन और चिन्तन मनन करता है तभी वह अज्ञान से छूट पाने व आत्मा के प्रकाश पाने के लिए अधिकृत हो पाता है, यही ज्ञान है। श्रीराम का स्वरूप था -

नाहिन राम राज के भूखे।
धरम धुरीन विषय रस रूखे॥

या आत्मज्ञानी राम, सांसारिक विषय भोग को रूखा समझते थे, इसलिए राज्य को तिनके की तरह छोड़ दिया।

अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वम् तत्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽन्यथा॥

अर्थात् अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्व ज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को ही देखना यही सब ज्ञान है, और जो इसके विपरीत है वह तो अज्ञान मूलक ही है।

हावड़ा जिला के बराहनगर में शशिभूषण सान्याल नाम के एक बालक थे। जिनके पिता का नाम रामजीवन सान्याल था। चौदह पंद्रह वर्ष की उम्र में बांग्ला, अंग्रेजी और संस्कृत पढ़ ली। कुछ कालान्तर में वेद, वेदान्त, षट्दर्शन, ज्योतिष तथा पुराणादि शास्त्रों के पण्डित हो गये। पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान का सम्यक अध्ययन करके योग्यता प्राप्त की। कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का आपने साथ ही अभ्यास किया। चिकित्सा विज्ञान में भी आपकी पहुँच थी। योगाभ्यास में आप समाधिस्थ हो जाते थे। आप कलकत्ता के केम्बिल मेडीकल विद्यालय में पढ़े थे। ऐलोपैथी, होमोपैथी, बायोपैथी का भी आप को ज्ञान था।

आपके तीन पुत्र और धर्मपत्नी थीं। इन सब योग्यताओं के होते हुए आप सभी प्रतिष्ठावान क्षमताओं से अपने को पूर्णनिरपेक्ष करके गृहस्थ जीवन ही बिताते थे, परन्तु अपने आत्मज्ञान के प्रकाशपुञ्ज में इतना खोये हुए रहते थे कि आपको अपने घर गृहस्थी के निर्वहन की प्राथमिक व्यवस्थाओं के लिए भी मन में कोई स्थान नहीं रह गया था। शास्त्रानुसार परिवार के सभी लोग आहार शुद्धि, सदाचार का पालन करते थे। उनके मुख मण्डल में किसी भी प्रकार के चिन्ता की रेखा नहीं रहती थी। सर्व आनन्दमय, हास्यमय मुख मुद्रा में प्रफुल्लित रहने के स्वरूप दर्शन का आभास दर्शनार्थियों को हुआ करता था। भोजन के लिए कोई दे जाता तो खा लेते नहीं तो दरवाजा बन्द करके अपने काम में लग जाते थे।

एक बार घर में अन्न नहीं रहा, किसी प्रकार साध्वी स्त्री ने दो दिन का काम चलाया, पर अन्त में उसके पास कुछ नहीं बचा। तब सतीशचन्द्र नामक एक युवक ने रसोई की सामग्री दिया और एकाधदिन इस प्रकार काम चला।

पर एक दिन पुनः यही नौबत आ गई, और घर में रसोई की सामग्री नहीं थी। तब काली कृष्णदत्त नामके एक व्यक्ति, जो गंगाजी के दूसरे पार अपने ऑफिस में काम कर रहे थे, को हठात् हवा में से आवाज सुनाई दी कि ''जिनको तुम अपना गुरू मानते हो, वे आज सपरिवार भूखे हैं।''

हवा द्वारा प्रदत्त आवाज सुनकर वे उसी क्षण उठे, अपने मालिक से छुट्टी माँगी, गंगा जी को नाव से पार कर स्वामी जी के चरणों में दो रुपये रखे। तब उसी से भोजन सामग्री आई।

श्री शिवरामानन्द से गुरू दीक्षा प्राप्त करने के बाद उनका नाम शिवराम किंकर योग त्रयानन्द हो गया था।

जब स्वामी जी काशी में थे तो बम्बई के अटर्नी श्रीयुत भाई शंकर आये और स्वामी जी के मुख से अंग्रेजी में वेदान्ततत्व को सुनकर मुग्ध हो गये।

अनेक महानुभाव स्वामी जी के रहने और उनके पारिवारिक खर्चे के लिए व्यवस्था बनाये रखते थे, पर स्वामी जी को अपने आत्मानन्द में उनकी प्रदत्तता तक का कोई ध्यान नहीं रहता था।

इस प्रकार जिस आनन्द के एक अंश के लिए साधनारत व्यक्ति लालायित रहते है, उस आनन्द का अनुभव स्वामी जी अहर्निश प्राप्त करते हुए परमात्मा में लीन रहा करते थे।

तो जिस आत्मज्ञान के आनन्द में सदा एक रस की अनुभूति प्राप्त कर स्वामी जी को संसारिकता की समग्र दुःखावृत्तियाँ स्पर्श नहीं कर पाती थी यही यथार्थ ज्ञान है।

श्रृंगबेरपुर में निषादराज श्री सीताराम को सोते जान कर वीरासन में आसीन श्री लक्ष्मण कुमार के पास जाकर बैठ गये। उन्होंने श्री सीताराम की शयन स्थिति को देखा, और तरस खाकर वनवास के कारक स्तम्भ केकई को निषादराज ने कोसना प्रारम्भ किया, जिसे सुनकर लक्ष्मण जी, जो वैराग्य की प्रतिमूर्ति थे, ने निषादराज को तात्विक उत्तर देते हुए कहा।

एहि जग जागै जामिनि जोगी।
परमारथी प्रपञ्च वियोगी।
जानहि तबहि जीव जव जागा।
जब सब विषय विलास विरागा।

(रा. च. मा. 93, 3-4)

अर्थात् - जिस सांसारिक भोग विलास मान प्रतिष्ठा के लिए संसार जागरुक रहता है उसके लिए, योगी, विरागी और परमारथी अमनस्क रहते है। असली विवेक या ज्ञान तो वह है जब समस्त संसार के विषयों से वैराग्य हो जाय और मोह का भ्रम दूर हो जाये। बिना मोह भंग और ज्ञान जागृति के परमात्मा के चरणों में प्रीति नहीं हो सकती है या यथार्थ ज्ञान प्राप्यानन्तर ही भगवत प्रीति होती है। उस यथार्थ ज्ञान के सामने संसारिक ऐश्वर्य और अन्य सुखानुभूतियाँ स्वप्नवत् है -

मोह निशा सबु सोबनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥

(रा.च.मा. 93, 2)

जिस प्रकार स्वप्न में भय शोकादि का कोई भी कारण न होने पर भी स्वप्न के पदार्थों में आस्था हो जाने से दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय, शोक, अहं, मम एवं जनम, मरणादि रूप संसार की कोई सत्ता न होने पर भी अविद्या बस विंषयों का चिन्तन करते रहने से जीव का संसार चक्र कभी निवृत नहीं होता है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि असन्मार्ग या विषय चिन्तन में फँसे हुए चित्त को भक्ति बैराग्य से धीरे धीरे सन्मार्ग में ले आने का प्रयत्न करें।

तव प्रकृति और पुरुष (चेतन तत्व) के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से, प्राप्त हुए तत्व ज्ञान के कारण स्त्री पुत्रादि सम्बन्धियों के इस देह में वह, मैं मेरे पन का मिथ्या अभिनिवेष नहीं करता है।

श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित मनुपुत्री देवहूति ने जब अपने पुत्र भगवान कपिल देव से यह प्रश्न किया - ''प्रभो! पुरुष (चेतन तत्व) और प्रकृति दोनों नित्य और एक दूसरे के आश्रय में रहने वाले है। जिस प्रकार पृथ्वी और गन्ध तथा जल और रस की पृथक-पृथक स्थिति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार पुरुष प्रकृति एक दूसरे को छोड़ नहीं सकते हैं। अतः प्रकृति के गुणों

के रहते हुए संसार बन्धन से निवृत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि निमित्त भूत, प्राकृत गुणों का अभाव न होने से यह भय फिर उपस्थित हो सकता है। यदि किसी प्रकार प्रकृति से निवृत्ति हो जाती है। तव भी उस ज्ञान की स्थिति कैसे होती है, जिसके कारण पुनः संसार वृक्ष ही न उगे। तब अपनी माता देवहुति को, महत् ज्ञान से सम्बन्धित, विशेष सत् कर्मों के अनुष्ठान का विवेचन करते हुए भगवान कपिल ने कहा -

''माताजी! जिस प्रकार अग्नि का उत्पत्ति स्थान अरणि अपने से ही उत्पन्न अग्नि से ही जल कर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्काम भाव से किये हुए स्वधर्म पालन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने से, बहुत समय तक भगवत्कथा श्रवण द्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्ति से, तत्व साक्षात्कार कराने वाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से, व्रत नियमादि के सहित किये गये ध्यानभ्यास से और चित्त की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरुष की प्रकृति या अविद्या या अज्ञान दिन रात क्षीण होती हुई धीरे धीरे लीन हो जाती है। और फिर नित्य प्रति दोष दिखने से भोग कर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित और बन्धन मुक्त हुए उस पुरूष का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती है।''

जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्न में कितने ही अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है, किन्तु जग पड़ने पर उसे उन स्वप्न के अनुभवों से किसी प्रकार का मोह नहीं होता है। उसी प्रकार जिसे तत्व ज्ञान हो गया है, और जो मुझमें ही मन लगाये हुए रहता है, उस आत्मा राम पुरुष का प्रकृति कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती है।

इसी प्रकार अत्यंत स्नेह के कारण पुत्र और धनादि में साधारण जीवों की आत्मबुद्धि रहती है, किन्तु थोड़ा सा विचार करने से ही वे उनके स्पष्टतया अलग दिखाई पड़ते हैं, इसी प्रकार जिन्हें वह अपना आत्मा मान बैठा है, उन देहादि से भी उनका साक्षी पुरूष (आत्मा) प्रथक ही है। जिस प्रकार अग्नि से ही प्रकट हुई धुएँ से तथा जलती हुई लकड़ी से अग्नि वास्तव में प्रथक है। उसी प्रकार, पञ्चभूत (छिति जल, पावक, आकाश और वायु) इन्द्रिय और अन्तःकरण से उनका साक्षी आत्मा अलग है। तथा जीव कहलाने वाले उस आत्मा से भी ब्रह्म भिन्न है, और प्रकृति से उसके संचालक पुरूषोत्तम भिन्न है। जिस प्रकार देह दृष्टि से चारों प्रकार के प्राणी (जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्‌भिज) पञ्चभूत मात्र हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों में आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण जीवों को अनुगत देखें।

जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने प्रथक प्रथक आश्रयों में उनकी विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न आकार का दिखाई देता है। उसी प्रकार देव मनुष्यादि मे रहने वाला एक ही आत्मा अपने आश्रयों के विभिन्नता के गुण दोष के कारण भिन्न भिन्न प्रकार का भाषता है।

अतः आत्मा में चित्त को समाहित करने वाला पुरुष, जीव के स्वरूप को छिपा देने वाली

कार्य कारण रूप से परिणाम को प्राप्त हुई भगवान की इस अचिन्त्य शक्तिमयी माया को जीत कर अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म रूप में स्थित हो जाता है।

जैसे तेल आदि के चुक जाने पर दीपशिखा अपने कारणभूत तेजस् तत्व में लीन हो जाती है। वैसे ही आश्रय, विषय और राग से रहित होकर मन शान्त और ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर जीव गुण प्रवाह रूप देहादि उपाधि के निवृत हो जाने के कारण ध्याता धेय आदि विभाग से रहित एक अखण्ड परमात्मा को ही सर्वत्र अनुगत देखता है। अविद्या रहित, लय रूप निवृत्ति से अपनी सुख दुःख रहित ब्रह्मरूप महिमा में स्थित होकर परमात्म तत्व का साक्षात्कार कर लेने पर वह जिस सुख दुःख के भोगत्व को पहिले अज्ञानवश अपने स्वरूप में देखता था उसे अव वह अविद्या कृत अहंकार में देखता है।

जैसे मतवाला पुरुष को अपनी कमर पर लपेटे हुए वस्त्र के रहने या गिरने की कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्था को प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुष को अपने देह के उठने बैठने अथवा दैववस कहीं जाने या लौट आने के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। उसका शरीर तो पूर्व जन्म के संस्कारों के आधीन है। अतः जब तक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है, तब तक वह इन्द्रियों के सहित जीवित रहता है। और वह ज्ञानी पुनः इस शरीर को स्वप्न में प्रतीत होने वाले शरीरों के समान फिर स्वीकार नहीं करता है।

हरिश्चन्द्र के परम सिद्धि की स्थिति का वर्णन है कि -

हित्वा तां स्वेन भावेन निर्माण सुख सम्विदा।
अनिर्देश्या प्रत क्येंण तस्थौ विध्वस्त बन्धनः ॥

(श्रीमद् भागवत 9-7-27)

अर्थात् उन्होंने निर्माण सुख की अनुभूति से उस ज्ञान कला का भी परित्याग कर दिया और समस्त बन्धनों से मुक्त हो कर वे अपने उस स्वरूप में स्थित हो गये, जो किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता है, और न अनुमान ही किया जा सकता है।

लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व तुर्किस्तान के बसरा नाम नगर में एक गरीब मुसलमान के घर में रविया नाम की एक लड़की ने जन्म लिया था। उसके माता-पिता के मर जाने पर एक दुष्ट ने रबिया को फुसलाकर एक धनी के हाथ बेच दिया। धनी स्वार्थी और निर्दयी था। मालिक के जुल्म से घबड़ाकर एक दिन रबिया छिप कर भाग निकली, परन्तु भागने से वह ठोकर खाकर गिर पड़ी। उसका दाहिना हाथ टूट गया। पर विपत्ति की सीमा पार करने पर सुख के दिन लौटा करते हैं।

जब रबिया ने अपनी नयी विपत्ति से विचलित होकर उन परम मालिक प्रभु को पुकारा तब उत्तर में रबिया ने स्वयं सुना - ''बेटी तेरे सारे संकट शीघ्र दूर हो जायेंगे - तेरी महिमा

पृथ्वी में छा जायेगी और देवता भी तेरा आदर करेंगे।''

यह सुनकर रबिया हर्षोल्फुल्ल हृदय से मालिक के घर लौट आई। कामकाज करते हुए भी उसका ध्यान प्रभु के चरणों में लगने लगा। भजन के प्रभाव से उसका तेज बढ़ गया।

एक दिन आधी रात को अपनी कोठरी में जब रबिया प्रभु से प्रार्थना कर रही थी, तो भगवत्प्रेरणा से उसी समय उसके मालिक की नींद टूटी और वह रबिया की कोठरी के दरवाजे पर आ गया। उसने रबिया के ये शब्द सुने – ''ऐ मेरे मालिक! मैं अब सिर्फ तेरा ही हुक्म उठाना चाहती हूँ। लेकिन मैं खरीदी हुई गुलाम हूँ, मुझे गुलामी से फुरसत ही कहाँ मिलती है?''

मालिक ने रबिया की भक्तियुक्त करुण प्रार्थना सुनी तो उसी क्षण उसकी तेजः पुञ्जमयी मञ्जुल मूर्ति देखकर उसके पास आ गया, और वहाँ का दिव्य प्रकाश देखकर वह भय और आश्चर्य में डूब गया, और बड़े ही कातर भाव से उसने कहा – ''देवी! मैं तुझे पहिचान नहीं पाया – आज भगवत्कृपा से मैंने तेरा प्रभाव जाना। अब तुझे मेरी सेवा नहीं करनी पड़ेगी। मैं ही तेरी सेवा करूँगा।''

उस मालिक के आश्चर्यमय बदले हुए भावों को सुनकर रबिया ने कहा – ''आपने इतने दिनों तक मुझे अपने घर में रखकर मुझ पर बड़ा उपकार किया है, अब आप दया करके मुझे कहीं अन्यत्र जाने की स्वतंत्रता दे दें।'' मालिक ने उसकी बात मान ली और वह गुलामी से मुक्त होकर अपना समय भगवान के भजन ध्यान में बिताने लगी। संसार से वह पूर्ण अनासक्त थी और उसने अपना जीवन सम्पूर्ण रूप से प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया। उसके जीवन की उपदेशप्रद घटनायें मननीय हैं।

एक दिन उदासी की स्थिति में बैठी हुई रबिया से किसी ने उदासी का कारण पूछा, तो रबिया ने उत्तर दिया आज मेरा पाजी मन स्वर्ग में चला गया, तो मेरे मालिक और सखा ने मुझे फटकारा है, मैं इसी कारण उदास हूँ कि मेरा पाजी मन दूसरी ओर क्यों गया ?

एक समय जब रबिया बहुत बीमार थी, तो सूफिया नामक एक साधक ने आकर कहा कि – ''देवी! आप प्रभु से प्रार्थना कीजिए, वे आपकी बीमारी अवश्य मिटा देंगे।'' तब मुस्कुराते हुए रबिया ने सूफियान से कहा – ''क्या इस बीमारी में मेरे प्रभु का हाथ नहीं है कि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे प्रार्थना करूँ?''

एक बार सन्त हुसैन बसरी ने पूछा, ''आपने ऐसी ऊँची स्थिति किस प्रकार प्राप्त की ?'' तब रबिया ने यह सीधा सा उत्तर दिया – ''जो कुछ मिला है सो सब खो कर उसे पाया है।''

एक धनी व्यक्ति ने रबिया की दरिद्रता देखकर, उस तपस्विनी के इशारा मात्र से उनकी

दरिद्रता दूर करने की आज्ञा मांगी। तब रबिया ने बड़े ही स्वाभिमान शब्दों में कहा – ''जब यह सारा जगत ही मेरे प्रभु का ही राज्य है, तब उसे छोड़कर मैं दूसरे किससे क्या माँगू ? मुझे जरूरत होगी तो अपने मालिक के हाथ से आप ही ले लूँगी।''

रबिया प्रेमावेष में कभी कभी जोर से चिल्लाती थी। किसी ने पूछा – ''जब आपको कोई रोग या दुःख नहीं है, तब आप क्यों चिल्लाती है?'' तब रबिया ने कहा – ''मुझे तो अन्दर का रोग है, जो किसी वैद्य, हकीम के बस का नहीं है।''

एक बार किसी परिचित स्त्री ने कहा – रबिया बाहर आकर देख कैसी खूबसूरत रात है? रबिया के हृदय में सुन्दरता का सागर उमड़ रहा था । स्त्री से तब रबिया ने कहा – ''तुम एक बार मेरे दिल के अन्दर घुस कर देखो – कैसी दुनिया से परे की अनोखी खूबसूरती है?''

हिजरी सन् 135 में रबिया ने भगवान में मन लगाकर नश्वर शरीर त्याग दिया।

ग. विज्ञानमय ज्ञान :-

उध्द्व जी साक्षात देवगुरू बृहस्पति जी के शिष्य थे। वे नीति और तत्व ज्ञान की मूर्ति थे। परन्तु उनमें अपने तत्व ज्ञान का तनिक सा गर्व था। श्री कृष्ण ने यह समझ कर ही कि उन्हें मथुरा से वृन्दावन भेजा था। उनका गोकुल, वृन्दावन में गोपियों के अलौकिक प्रेम का दर्शन पाकर तत्व ज्ञान का अहंकार तो गल ही गया, इसके अतिरिक्त वे गोपियों के प्रेम समुद्र में डूबने उतराने लगे और अपने को महान भाग्यशाली समझकर उन गोपकुमारियों की चरण वन्दना करने लगे। और चाहना करने लगे कि उनके चरण रज की, जिसके लिए स्वयं प्रभु श्री कृष्ण उनके पीछे पीछे इसलिए फिरते रहते थे, ताकि गोपियों की चरण धूल उन सर्वेश्वर के ऊपर पड़कर उन्हें भी पवित्रतर बना सके।

भगवान श्रीकृष्ण जब स्वधाम पधारने लगे। तव उद्धव जी को उनके कहने पर भी अपने साथ इसलिए नहीं ले गये, ताकि भगवान श्रीकृष्ण के स्वधाम गमन के बाद वे पृथ्वी लोक में रहकर उनके ज्ञान की रक्षा कर सके।

अपने एक स्थूल रूप से वे भगवान श्री कृष्ण के आदेशानुसार बदरिकाश्रम चले गये; परन्तु श्री कृष्ण के सजीव प्रेममूर्ति गोपिकाओं के सामीप्यता और उनकी चरण रज की प्राप्ति हेतु ही वे सूक्ष्म रूप से बृज में गोवर्धन के पास की वृक्ष लताओं में छिपकर निवास करने लगे। वे श्री कृष्ण के लीला उत्सव माने जाते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं भक्तों की प्रशंसा करते हुए उद्धव जी को उपदेश देते हुए कहा है –

न तथा में प्रियतम, आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च सकर्षणो न श्री, नैवात्मा च यथा भवान॥

(श्रीमद् भागवत 11/14/15)

अर्थात् - मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर श्री बलराम जी श्री लक्ष्मी जी भी नहीं है। अधिक क्या ? मेरा आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।

उद्धव जी भगवान श्रीकृष्ण के मन्त्री, सलाहकार और अन्तरङ्ग सखा थे। परन्तु उद्धव जी भगवान श्री कृष्ण को अपना स्वामी और सर्वाधिक प्रिय इष्टदेव ही मानते है। इसलिए उनके इन भावों के कारण ही उनकी पवित्रता, उनकी श्रेयष्कारिता की स्थिति को महानतर बनाने हेतु श्री कृष्ण उद्धव जी को बृज की यात्रा का निमित्त बनाकर गोपियों की सानिध्यता प्राप्त कराया, और उनको ज्ञानमय विज्ञान की सुयोग्यता का धारक बनाया।

भगवान श्रीराम अपने प्रति प्रियता की विभिन्न स्थितियों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि - ''सब जीवधारियों में मुझे मनुष्य प्रिय है, और मनुष्यों में जो द्विज या ब्राह्मण है वे अधिक प्रिय है। परन्तु उन द्विज समुदायों में भी जो, द्विज वेदों को जानने वाले हैं वे समष्टि द्विजों से भी अधिक प्रिय हैं। उन श्रुतधारियों में मुझे वे प्रिय है, जो वेदों के अनुसार आचरण करते हैं या जिनके क्रियाकलाप ही वैदिक स्वरूपों के अनुसार चलते है। परन्तु उन वेदों के अनुसार चलने वालों में भी जो वैराग्यवान है वे अधिक प्रिय है। परन्तु वैरागियों से भी अधिक परमात्मा राम को ज्ञानी प्रिय होते है।''

तिनमा पुनि विरक्ति पुनि ज्ञानी।
ज्ञानिउ ते मोहि प्रिय विज्ञानी॥

अर्थात् उन ज्ञानियों से भी अधिक प्रिय पात्र विज्ञानी होते हैं।

विज्ञानियों की ज्ञान श्रृंखला में ज्ञानी समाहित रहते हैं। विज्ञानियों की साधन परिधि से ही विज्ञानियों की विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। शुकदेव आचार्य बृहस्पति से वेदों, इतिहासों और अन्य शास्त्रों का अध्ययन प्राप्त करके जब अपने पिता भगवान वेदव्यास के सामने उपस्थित हुए। तब भी उन्हें ज्ञान की सम्पूर्णता में शुकदेव पर कमी का अहसास था। भगवान व्यास ज्ञान और कर्म का सन्तुलन ही शास्त्रों का उद्देश्य है। इस विचारशैली के कारण उन्हें पुनः राजा जनक के शिष्यत्व में ज्ञान प्राप्ति के लिए भेजना चाहा। राजा जनक मोक्षमार्ग के महान ज्ञाता थे, पर वे गृहस्थ होकर भी पूर्ण सन्यासी थे। देह चिन्ता से मुक्त राज्य का संचालन करते थे। राजा जनक ने शुकदेव जी को प्रसन्नचित्त और संतुष्ट देखकर कहा - ''हम आपकी क्या सेवा करें।'' इस पर शुकदेव

ने कहा, ''मैं प्रवृत्ति-निवृत्ति संयुक्त मोक्ष धर्म का रहस्य जानना चाहता हूँ, मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे आपके सान्निध्य में भेजा है।'' शुकदेव सनकादिकों जैसे भगवान के भक्त सन्यासी हैं।

जनक जी गम्भीर थे, उन्होंने कहना प्रारम्भ किया। ''मेरे पास कोई ज्ञान नहीं है। मेरा सारा ज्ञान आपके पूज्य पिताजी और मेरे परम गुरू महात्मा व्यास जी का है, मैं यहाँ सदा गुरूज्ञान की ही साधना करता हूँ। मैं सम्पूर्ण सन्सर्गों का परित्याग कर चुका हूँ, मेरी बुद्धि द्वन्द्वरहित है, विषयों के अंकुर आने की सम्भावना नष्ट हो चुकी है। मैं आप्त काम हूँ। मिट्टी के ढेले और सोने में मेरी समान बुद्धि है। मेरे ऊपर चन्दन का छिड़काव और बसूला चलाने के प्रति समान भाव है। सन्यासी के बाह्य चिन्हों से नहीं, बल्कि मन से विषयों की आसक्ति की समाप्ति ही मोक्ष है। धन और अकिञ्चनता भी मोक्ष के साधन नहीं है। मेरी बुद्धि परमात्मा को समर्पित है।''

शुकदेव जी ने देखा राजा जनक मन से विरागी किन्तु कर्म से आसक्त जैसे दिखते हैं, पर उनके कर्मों का आधार सुख नहीं लोक संग्रह है। भोगों के मध्य भी उनका मन सदा अचञ्चल रहता है। जैसे वायु रहित स्थान में दीपक स्थिर रहता है, उसी प्रकार उनका मन स्थिर और अचल है।

शत शत रूपों में फैले विश्व में वे केवल भगवान को देखते थे। नदियों में कल कल और पक्षियों के कलरव मे भी परमात्मा की अनुभूति उन्हें होती थी। विभक्त सृष्टि में अविभक्त परमात्मा का दर्शन करते थे। भोजन को भगवत् प्रसाद समझ कर ग्रहण करते। वे सदा योगयुक्त होकर भगवत वाणी ही सुनते थे।

दूर दूर के लोग वहाँ शिक्षा ग्रहण करने आते थे। ऋषिगण भी पधारकर दर्शनशास्त्र के गुत्थियों का समाधान पाते थे। उनके ज्ञान की प्रभा में भगवत अवतारों के चरित्रों का भी दर्शन होता रहता था। वे एक साथ ही ज्ञानी, विरागी, विज्ञानी, कर्मयोगी के साथ ही बाह्य स्वरूप रहित सन्यासी, और राजा थे।

इधर शुकदेव, पिता जी के पास लौट कर उनसे जनकपुर की सारी बातें बताई। अब पिता और पुत्र अलग अलग तपस्या में निरत हो गये। वही शुकदेव महाराज परीक्षित के आमरण अनशन को सुनकर गंगाजी के किनारे परीक्षित को देखने आये और रसरूप श्रीमद्भागवत की कथा के वक्ता बनकर ऋषियों, मुनियों, गृहस्थवासियों को सात दिनों तक भागवत रस से सराबोर कराया। वे योगियों के भी परम गुरू और भगवान श्रीकृष्ण के परम भक्त तो थे ही। श्रीकृष्ण की परम अल्हादिनी शक्ति स्वरूपा राधा उनकी परम आराध्या और गुरू थी। उनका हृदय स्थल राधाजी की मधुरता और उनके भावों से सरोबार रहता था। वे एक साथ योगी, भक्त, ज्ञानी, तो थे ही विज्ञानी और परमारथ स्वरूप भी थे। उनकी पवित्रता की कोई सीमा नहीं थी।

विज्ञान सहित ज्ञान वह ज्ञान है जिसके अन्तर्गत परमेश्वर के प्रभाव और महत्व आदि के रहस्य सहित निर्गुण, निराकार तत्व का, लीला, रहस्य महत्व के सहित सगुण निराकार और साकार तत्व का एवं उनकी उपलब्धि कराने वाले उपदेशों का वर्णन हो।

राज विद्या राज गुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुमुख कर्त्तुमव्ययम्॥

(गीता 9-2)

यह विज्ञान सहित ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सब गोपनियों का राजा, अति पवित्र, अति उत्तम प्रत्यक्ष फल दाता, धर्मयुक्त; साधन करने में अति सुगम और अविनाशी है।

इस विज्ञान सहित ज्ञान के अन्तर्गत उपासना विधि और उसके फल का भी निरुपण आता है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपना समस्त रहस्य खोल कर यह तत्वं समझा दिया है कि ''मैं जो श्रीकृष्ण रूप से तुम्हारे सामने विराजित हूँ, वही इस समस्त जगत का आदिकर्त्ता, हर्त्ता सबका आधार, सर्वशक्तिमान, परंब्रह्म परमेश्वर और साक्षात् परमात्मा हूँ। इसके अलावा इसकी विशेषता यह भी है कि साधक ज्यों ज्यों इसकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों ही त्यों उसके दुगुर्णों, दुराचारों और दु:खों का नाश हो कर उसे परम शान्ति और परम सुख का अनुभव होने लगता है। उस विज्ञान सहित ज्ञान की पूर्ण उपलब्धि से तो तुरन्त ही परम सुख और परम शान्ति मिलकर वह परम प्रेमी दयालु सबके सुहृद साक्षात् भगवान को प्राप्त हो जाता है, इसी से यह ''प्रत्यक्षावगम'' है। इसके अतिरिक्त वर्ण और आश्रम के जितने भी विभिन्न धर्म बतलाये गये है। उन सबका अविरोधी और परम धर्ममय होने से सबकी अपेक्षा श्रेष्ट है, इसलिए यह धर्म्य है। या धर्मरूप ही करणीय है।''

भगवान का यह विज्ञानमय ज्ञान कभी नष्ट नहीं हो सकता है, एक बार इसके प्राप्त हो जाने से यह किसी अवस्था में भूल नहीं सकता है, इसके अतिरिक्त इसका फल भी अविनाशी है इसलिए इसको अव्यय कहा गया है। यह साधन में भी अति सुगम है।

इस प्रकार जहाँ एक ओर प्रेमी भक्तों के लक्षणों का स्वरूप तो दूसरी ओर निर्गुण निराकार ब्रह्म का ज्ञान यज्ञ के द्वारा उस ब्रह्म का पूजन करने वाले उपासक ही विज्ञानी के अन्तर्गत सम्बोधित हैं। भगवान के सगुण साकार स्वरूप के भक्त उन गुणाधीस के गुणों का कीर्तन और उनके पवित्र नामों का जाप करते हैं। बार बार प्रणामादि के द्वारा अपनी श्रद्धा समर्पित कर अनन्यता के साथ ध्यान युक्त होकर उपासना करते हैं। परन्तु उनकी बुद्धि उन निराकार, विराट स्वरूप और निर्गुण तत्व में भी समाहित होती है। यह कोई आवश्यक नहीं, कि विज्ञानयुक्त ज्ञान की उपासना और भक्ति समन्वित योग एक साथ चले। शुकदेव जी महाराज तो ज्ञानी थे, परन्तु अपने पिताजी से

श्रीमद्भागवत और अन्यान्य भक्ति भावपूर्ण ग्रन्थों के अध्ययन और उपदेशात्मक ज्ञान के द्वारा उन्हें भक्ति रसायन का वह परिपक्व फल प्राप्त हुआ, कि जो पहिले ज्ञानी की सम्पन्नता में प्रभावशील होकर अपने को संसार से विरक्त बनाकर संसार के प्रभाव से सर्वथा असंलग्न और उससे दूर रहने के आकांक्षी थे। वे ही भक्तिरस भोक्ता और भक्ति रसायण दाता के रूप में सम्पूज्य हुए। और अपने लघुवय में ही वे अपने से परम वयोवृद्धों, पितृव्यों के रहते हुए भी महाराज परीक्षित के भक्ति प्रधान श्रीमद् भागवत के वक्ता के रूप में प्रतिष्ठावान हुए।

बल्कि भक्ति तो स्वतंत्र है, उसके लिए ज्ञान के साधनरूप हमें ज्ञान की श्रेयष्करी स्थिति तभी है, यदि वह ज्ञान, भक्ति की प्रधान्यता के साथ भक्ति का सहायक है, अन्यथा वह ज्ञान भी अज्ञानवत् ही मान्य है। यथा - चित्रकूट में गुरू वशिष्ट भगवान श्रीराम को सम्बोधित करते हुए यह तत्व अपने श्रीमुख से उद्घोषित कर रहे हैं -

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम तजि तात सोहात गृह जिन्हहिं तिनन्हि विधि वाम॥

(अयो. का. 290)

अर्थात् - हे राम तुम तो प्राणों की भी प्राण हो आत्मा के भी आत्मा हो और सुख के भी सुख हो, तुम्हें छोड़ कर जिन्हें घर सुहाता है, उनके विधाता विपरीत है और इसके भी आगे वशिष्ट जी का कथन है -

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परधानू॥

(अयो. का. 291, 1, 2)

अर्थात् जहाँ श्रीराम के श्री चरणों में प्रेम नहीं है, वह सुख कर्म और धर्म जल जाय और जिसमें राम प्रेम की प्राधान्यता नहीं है, वह योग कुयोग है और वह ज्ञान भी अज्ञान है। अतः अन्तःकरण के भक्तिरस के विलीनीकरण में भक्त इतना रसमय हो जाता है और इतने शान्ति के महासाम्राज्य में अपने को पाता है, कि वह ज्ञान के लिए भक्त होकर ज्ञान की सर्वाधिक महत्ता की अवधारणा को ही अपने पास आने ही नहीं देता है। परन्तु इतना अवश्य है कि ज्ञान के कपाट खुल जाने पर जिस आनन्द की उपासक को प्राप्त हो रही थी, उस आनन्द को भक्ति के द्वारा अतिक्रमित करते हुए उस अनन्यता के आनन्द में आसक्त सा हो जाता है और किसी प्रकार उससे बाहर निकलने की चाह भी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में आत्म ज्ञान की जिज्ञासा भी उसे नहीं रहती है। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई आत्म ज्ञानी है और उसे भक्ति के रस हेतु लुभाया जाय तो उसे इस लोभ में पड़ने पर उसे सिद्धि दिशा में और प्रावीण्यता में अधिक चमक आती है। क्योंकि आत्म ज्ञानी का हृदय पूर्णरूपेण निर्मल, स्वच्छ और पवित्र है, उसे अब किसी बाह्य सामंजस्यों से शुद्ध और स्वच्छ करना शेष नहीं रहा। इसलिए उसके हृदय मंदिर में उसके इष्ट

पूजाष्पद्, प्रेमाष्पद, उपास्य या सिद्धि विग्रह का स्वरूप सशीघ्र की दृष्टिगोचर, अनुभवित होने लगता है। यथा -

काम क्रोध मन मान न मोहा। लोभ न क्षोभ न राग न द्रोहा।।
जिनके कपट दम्भ नहि माया। तिनके हृदय बसहु रघुराया।।

और अन्त में ज्ञान की अन्तिम साध्य स्थिति की स्पृहा भी समाप्त हो जाती है। यथा -

मुकुति निरादर भगति लुभाई।

अर्थात् भक्ति के लाभ में मुक्ति की अपेक्षा ही नहीं यथा -

अर्थन धर्म न कामरुचि गति न चहहु निर्माण।
जनम जनम रुचि राम पद यह बरदान न आन।।

(अयो. का. 204)

इस प्रकार की स्वभाविकता रामभक्त भरत की है। यही नहीं - भक्ति की शिरोमणिता में तो यह भी सार कथन है कि -

सगुन उपासक मोक्ष न लेही। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देही।।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि आत्मज्ञानी के विज्ञानी भावों के अवतरण में वह अपने को श्रेयष्कर समझकर तीव्रता से अपने लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त करता है, क्योंकि तब परम प्रेमाष्पद स्वरूप प्रभु प्रेमी के भावानुकूल साधक को स्वयं ही अपनी ओर आकर्षित करके उसके शान्तिमय आनन्द में वृद्धि करते हैं। इसके विपरीत विज्ञानरहित ज्ञानी अपने ज्ञान के परिमार्जन में स्वयं के या आत्मिक प्रकाश के माध्यम से अपने लक्ष्य को बड़े कष्ट से प्राप्त कर पाता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।

(गीता १२/५)

अर्थात् सच्चिदानन्द घन निराकार परमेश्वर में आसक्त चित्त वाले पुरूषों को साधन में परिश्रम विशेष है। क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जा सकती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

(गीता २/५९)

अर्थात् - इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के केवल विषय तो निवृत्त

हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति से निवृत्ति नहीं होती है। परन्तु परमात्मा का साक्षात्कार करने पर विषयों से आसक्ति भी मिट जाती है। इस प्रकार आत्म ज्ञान के लक्ष्य सिद्धि की प्रतीति उसे सहज मिल जाती है। इसलिए आत्मानन्द में लयलीन महानुभावों के लिए भक्ति भावना की उत्प्रेरणा से उपलब्धि उसके जीवन की सारनिधि है।

ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज में जिन सच्चिदानन्द का स्वरूप दर्शन ज्ञानी को होता है, उससे वह विज्ञानमय ज्ञान के माध्यम से उनमें इतना घुल मिल कर अभिन्न होने का आकांक्षी हो जाता है कि आत्मानंद के रहते हुए ज्ञान के प्रति तिरष्कार भावना से युक्त नहीं बल्कि सत्कारिक भावना के साथ ही उन सर्वगुण सम्पन्न साकार रूप में अवतरित स्वरूप को अपना बनाकर परमानन्द के रस को लूटना उसका मुख्य ध्येयिक साध्य हो जाता है।

आदिकाल से ही मानव जाति के व्यवहारिक, सामाजिक, नैतिक और अध्यात्मिक उत्थान का प्रतिनिधित्व महाराज मनु करते थे। वे इतने सार्थक प्रतिनिधि, राजधर्म के महानुभाव थे कि उनकी पुत्री देवहूति के गर्भ से सांख्यशास्त्र के प्रबर्तक भगवान कपिलदेव ने अवतार लिया था।

महाराज मनु के लिए मुक्ति तो सहज थी परन्तु वे अपने ज्ञानकोष को मनुष्य जाति के लिए अमूल्य और अक्षय बहुदूरदर्शी उपहार देकर कृतार्थ करना चाहते थे। मनुस्मृति सदाचार और मानव धर्म की अमूल्य निधि तो थी परंतु अपने को अपूर्ण स्थिति में देखकर अर्जुन की तरह ही विषादयोगयुक्त होकर तुरन्त उसके निवारणार्थ उसके उपचार करने का उद्योग उन्होंने किया था।

हृदय बहुत दुःख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु।

महारानी सतरूपा के साथ तपस्या में रत होकर परमार्थवादियों के लिए साधन सिद्धि रूप में उन अखण्ड अनन्त अनादि अखिलात्मा का यजन किया और उनकी साकार रूप में दर्शन प्राप्ति की अभिलाषा किया। जिनके अंश से ब्रह्मा विष्णु और शंकर प्रकट होकर सृष्टि का उत्पादन नियमन पालन व विनाश करते है।

जब विश्ववास भगवान राम अपनी आदिशक्ति योगमाया के साथ मनु–शतरूपा के सामने प्रकट हुए और राजा मनु से वर मांगने को कहा तो सांसारिक बंधनयुक्त ममता तत्व को ही सर्वाधिक महत्व बनाते हुए यह तो न कह सके कि "तुम मेरे पुत्र बन जाओ" पर

"चाहऊँ तुम्हहि समान सुत"

का वर मांगा। जब करुणानिधि ने यह वचन दे दिया कि –

आप सरिस खोजौ कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई॥

तब राजा मनु ने मनुष्य जाति के अति हितार्थ मोह के उजागर स्वरूप को जो पुत्र भाव में अपने आप सिद्धतत्व है, को अति महत्व देते हुए पुनः वर माँगा कि ''आपको पुत्र रूप में पाने पर पुत्र सम्बन्ध का आपके प्रति मेरा 'पुत्र प्रेम' इतना मोह रूप में गहन हो'' कि -

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मन जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥

अर्थात् पिता के जीवन और मरण का आधार ही पुत्र प्रेम पर आश्रित हो।

या जो अखिलात्मा परमेश्वर समाधि में ध्यान का विषय था, कालान्तर में मनु के वरदान स्वरूप दशरथ के आंगन में विचरने वाला राजकुमार हो गया। तात्विक दृष्टि से वरदान में पुत्र वियोग से अपना मरण भी राजा मनु ने मांग लिया था। दूसरे शब्दों में मनुष्य जाति के लिए जो मात्र ज्ञान की पराकाष्ठा में ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन मात्र ध्यान के द्वारा उर स्थली में होता था, वह अब प्रत्यक्ष नेत्रों का विषय बनकर विज्ञानमय ज्ञान या विज्ञान के रूप में सरलीकरण के साथ प्रत्यक्ष हो गया।

उन परंब्रह्म परमात्मा ने राजा मनु के वरदान और उस भाव के अनुकूल ही अपने आचरण को विज्ञानमय ही बनाकर लोकरञ्जन किया। या वे सगुन स्वरूप में राम रूप धारण करके मनुष्य की स्वाभाविकता और गुणवत्ता मात्र का आचरण सार्वभौम स्थिति में करते रहे, और उनके निर्गुण निराकार अनन्तता व्यापकता का गुण असमञ्जस स्थितियों में सरोकारिक हुआ। यही श्रीराम के विज्ञान प्रधान जीवन शैली का स्वरूप है। जो उनके नामकरण में भी प्रत्यक्ष परिलक्षित है। गुरू वशिष्ट जी ने उनका नामकरण उनके स्वरूपभूत लक्षणों के आधार पर किया।

जो आनन्द सिन्धु (निर्गुन निराकार) सुखरासी (सगुन साकार) सीकर ते त्रैलोक सुपासी (निर्गुण) सो सुख धाम (सगुन ब्रह्म) राम अस नामा अखिल लोक दायक विश्रामा (निराकार) या आनन्द (अद्वैत) सुख द्वैत है। सिन्धु - पारावार रहित निराकार का सूचक है परन्तु धाम एक निश्चित विशालता का प्रतीक है, जो सगुन साकार है। इसलिए इस नामकरण में भी विज्ञानमय ज्ञान पद्धति का ही निरूपण है। इससे भी अधिक सरलतर साधना का स्वरूप विज्ञान सहित ज्ञान में यह हुआ कि उपासना के तीन स्वरूपों में परमात्मा का साक्षात्कार निहित हो गया।

(1) ज्ञान के माध्यम से जहाँ सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन ध्यान योग में, मन वाणी और बुद्धि का विषय नहीं है, साध्य था। निर्गुण निराकार दर्शन।

(2) निराकार निर्गुन और साकार सगुन में निर्गुन या सगुन दोनों प्रकार के स्वरूपों का साक्षातकार सम्भावित है - निर्गुन सगुन दर्शन।

(3) मात्र सगुन साकार का स्वरूप दर्शन जिसमें ज्ञान की गौणता है और भक्ति की की प्राधान्यता है। सगुन साकार दर्शन।

सगुन साकार की भक्तिमयी उपासना में ज्ञान के स्वरूप की स्थिति परमात्मा के प्रसाद से स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। यथा -

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगम् तम् येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०-१०)

अर्थात् उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्व ज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

इससे सगुन साकार रूप परमेश्वर को प्रीतिपूर्वक भजने वाले उपासकों को भी ज्ञान जो पवित्र करने वाला संज्ञक है, वह भी उन्हें मात्र सगुण परमात्मा की भजन प्रियता से सुलभ हो जाता है, इस तथ्य के तहत ही इस मनोवृत्ति की प्रतीति होती है कि सगुन साकार रूप में भी वह परमात्मा अपने अखण्ड ज्ञान से परिपूर्ण है, और वह ज्ञान उस स्वरूप में भी ठीक उसी प्रकार उनमें अन्तर्निहित है, जैसा निराकार और निर्गुण रूप में। अन्तर तो दृष्टा को केवल यह दर्शाता है कि निराकार में जो परमात्मा सर्वदेशीय था वह अब ससीम से सर्वदेशीय नहीं है, परन्तु यह भी दृष्टा की अवधारणा मात्र है जो भ्रम मूलक, पर सत्य तो यह है कि उस समय भी वह अनादि अखण्ड परमेश्वर है और सर्वकालिक सर्वदेशीय और अखण्डता के गुणों से ही पूर्ण है। रामचरित मानस में वर्णित है कि -

ज्ञान अखण्ड एक सीता वर।

या अपनी योगमाया के सहित श्रीराम का श्री विग्रह ही अखण्ड ज्ञान है। और जीव उस योगमाया सीता के मायिक आवरणों से ढंका होने से वह अज्ञान तिमिराछन्न है मायावस्य जीव सचराचर। परन्तु माया आवरण से मुक्त जीव की संज्ञा है - चेतन अमल सहज सुखरासी और वह ईश्वर का अंश तो है ही।

इसलिए भजन करने, नाम जपने और अन्य भगवत् प्रीत्यर्थ की क्रियाओं में भी उस सगुण रूपधारी परमात्मा में ज्ञानियों के लिए निराकार निर्गुण परमात्मा के सभी सापेक्ष गुणों की स्थिति बराबर बनी रहती है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान विज्ञान के संयुक्त जो स्थिति साधक की होती है, वह अतिशय प्रबल और उच्च होती है। गीता अध्याय 6 के श्लोक 8 में वर्णन है -

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म काञ्चनः॥

अर्थात जिनका अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति विकार रहित है और जिसकी इन्द्रियाँ भली-भांति जीती हुई है, और जिस के लिए मिट्टी पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योग युक्त भगवत प्राप्त है।

अर्थात् जिस पुरुष को परमात्मा के निर्गुण, सगुन, निराकार, साकार तत्व का भली भांति ज्ञान प्राप्त हो गया है और जिसका अन्तःकरण दोनों तत्वों (सगुण निर्गुण) के यथार्थ ज्ञान से तृप्त है, और जिसमें अब कुछ भी जानने की इच्छा शेष नहीं रह गयी है, वह ज्ञान विज्ञान से तृप्तात्मा है इसलिए वह पुरुष ज्ञान दृष्टि से इतना अचल और स्थिर रहता है कि बड़े से बड़े दुःखों के आ पड़ने पर भी वह अपनी मानसिक स्थिति से तनिक भी विचलित नहीं होता है और न उसके अन्तःकरण में तनिक भी विकार उत्पन्न होता है क्योंकि वह सदा सर्वदा परमात्मा के स्वरूप में स्थित है। इसके अतिरिक्त वह विजितेन्द्रिय है। अर्थात् जिसकी इन्द्रिया विषयों में रस न पाकर उस से निवृत्त हो गई है तथा लोक संग्रह के लिए वह उन्हें अपने इच्छानुसार यथायोग्य जहाँ लगाता है, वहीं लगती है, न तो स्वच्छन्दता से कहीं जाती हैं और न उसके मन में किसी प्रकार का विकार ही उत्पन्न करती हैं या सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियाँ उसके आधीन रहकर ही कार्य करती हैं।

ज्ञान विज्ञान से तृप्त आत्मा वाला पुरुष अपने परमात्म भाव में इतना एकीकार रहता है कि

सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु।
साधुष्वपि - च पाषेपु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६/९)

अर्थात् वह पुरुष सुहृद, मित्र, बैरी, उदासीन, मध्यस्थ द्वैष्य (द्वेष करने वाला) और बन्धुगणों में, धर्मात्माओं में और पापियों में समान भाव रखने वाला होता है।

इस प्रकार सर्वत्र परमात्म बुद्धि हो जाने से उस अत्यन्त विलक्षण स्वभाव वाले पुरूष की अभेद दृष्टि सिद्ध रहती है और वह किसी भी परिस्थिति और किसी भी निमित्त से अपने समत्व भाव से विलग नहीं होता है।

ज्ञानी विज्ञानी व तत्वदर्शी परम भक्त काक भुशुण्डि उस विज्ञान की महिमा बताते हुए संक्षेप में श्री गरुड़ से कहते हैं -

बिनु विज्ञान की समता आवइ।
कोउ अवकाश कि नभ बिन पावइ॥

या जिस प्रकार आकाश के बिना कहीं भी अवकाश (सन्धि) नहीं हो सकती उसी प्रकार से बिना विज्ञान सहित ज्ञान के समता नहीं आ सकती। यह विज्ञान की परमोत्कृष्ट स्थिति है।

ईश्वर के वास्तविक दर्शन के लिए यह समझ लेना चाहिए कि ''न द्रष्टुरन्यः परमः।'' या परमात्मा द्रष्टा आत्मा से अन्य या भिन्न नहीं है। आत्मा ही परमात्मा, ईश्वर या ब्रह्म है। इसलिए आत्म दर्शन ही ईश्वर दर्शन है। आत्मा से सर्वात्मा का दर्शन ही परमात्म ज्ञान है। परन्तु इस तथ्य में भी सगुनोपना की सुगंध नहीं है। विदेह राज जनक ब्रह्म ज्ञान के परिपूर्ण थे। परन्तु साकार ब्रह्म राम के प्रथम दर्शन के पश्चात् उनकी आत्म दर्शन की स्थिति में बदलाव आ गया। उन्होंने यह अनुभव किया कि -

बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।

ब्रह्म सुख का बरबस त्याग हो जाना तभी सम्भव है जब भगवान श्रीराम के दर्शन मात्र से उन्हें अत्याधिक सुखानुभूति हुई। जिस सुख की अनुभूति ने उन्हें सहज विरागी ब्रह्म सुख अनुभवित मन को उस सुख से हटा दिया। और उन्होंने तुरन्त मुनि विश्वामित्र से पूछ लिया कि -

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय वेष धरि की सोइ आवा॥

इस उपाख्यान का यह तथ्य है कि ब्रह्म ज्ञानी या ब्रह्म सुख से ओतप्रोत सिद्ध महापुरूष को भी सगुन साकार रूपधारी ब्रह्म का दर्शन उसकी सिद्धावस्था के अनन्तर भी अपेक्षित है, और इस परम मार्मिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए विज्ञानमय ज्ञान को सोद्देशीय बनाकर उपासना या साधना को गतिशील करना चाहिए। जनकपुर में सगुण ब्रह्म बपु श्रीराम को अयोध्या के लिए विदा करते समय श्री जनकराज के उद्गार का स्वरूप दर्शन था -

व्यापकु ब्रह्म अलखु अविनाशी। चिदानन्दु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहि सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एक रस रहई॥

नयन विषय मो कहु भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबहि लाभ जग जीव कह भए ईश अनुकूल॥

इस उत्कृष्ट भावों से श्रीराम की स्तुति करने के पश्चात् दैन्य भाव में अपने भावों को दर्शाते हुए उनसे वर की प्राप्ति की उत्कण्ठा करते हैं -

मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम रीझँहु सनेह सुठि थोरे॥
बार बार मागउँ कर जोरे। मनु परिहरै चरन जनि भोरे॥

तो परमात्मा श्रीराम के प्रति इस भाव से आत्म समर्पण करने के अनन्तर उन ब्रह्मसुख के भोक्ता विदेह राज को अपने भावों की सम्पूर्णता की ओर विकास का भान हुआ। तो विज्ञान मय ज्ञान का साध्यस्वरूप है – सगुण स्वरूप के प्रति अन्तोगत्वा आत्म निवेदन हो।

इसी विज्ञानमय ज्ञान के स्वरूप को अध्यात्म रामायण में 'रामहृदय' के रूप में संजोया गया है। जो श्रीराम के श्रीमुख से प्रवर भक्त हनुमान के लिए उद्धरित हुआ।

सर्वप्रथम तो श्रीराम ने सीता जी को हनुमान को सुयोग्य पात्र समझकर ज्ञानोपदेश के लिए कहा। सीता जी के ज्ञानोपदेश के अनन्तर गूढ़ रहस्य की सिद्धि रूप में पुन: श्रीराम ने हनुमान जी को ज्ञानोपदेश से गौरवान्वित किया।

आत्मा, अनात्मा और परमात्मा के तत्व को समझाते हुए श्रीराम ने कहा जलाशय में आकाश के तीन भेद महाकाश, जलावच्छिन्न आकाश और प्रति बिम्बाकाश है। उसी प्रकार चेतन के तीन भेद सर्वत्र परिपूर्ण चेतन बुद्धयविछिन्न चेतन और आभाष चेतन। इसमें चिदाकाश के सहित बुद्धि ही सब कार्य करती है किन्तु भ्रान्तिवस साक्षी आत्मा में कर्तव्य का आरोप किया जाता है। आभाष चेतन तो मिथ्या है और बुद्धि भी अविद्या का कार्य है। परं ब्रह्म परमात्मा वास्तव में विच्छेद रहित है परन्तु कल्पना से उसका विच्छेद मान लेते हैं।

इस प्रकार ''तत्वमसि'' तू वह है आदि वाक्यों द्वारा पूर्ण चेतन ब्रह्म के साथ एकता बतलाई जाती है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उस समय अपने कारण सहित अविद्या नष्ट हो जाती है और मेरा भक्त इस तथ्य को समझकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होने का पात्र बन जाता है। परन्तु जो लोग मेरी भक्ति छोड़कर शास्त्र रूप गढ़े में भटकते रहते हैं, उन्हें न तो ज्ञान ही मिलता है और न मुक्ति ही।

इस आशय से यह स्पष्ट है कि जब निर्गुन सगुन या निराकार साकार की उपासना साथ साथ चले तभी उपासना की सिद्धि स्थिति शीघ्र आती है। यही भगवान श्रीराम का आत्म स्वरूप ''राम हृदय'' है। इससे ज्ञान की उपाधियों से ज्ञान प्राप्त हो और उसके साथ परमात्मा श्रीराम या किसी सगुन ब्रह्म की सगुणोपसना से भक्ति की जाय। जो पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप से होने के कारण परम आनन्द स्वरूप उत्तमोत्तम और अनुकरणीय है। विज्ञानमय ज्ञान का परिलक्षण प्रगट करने पर श्रीराम उपयुक्त अधिकारी हनुमान को पाकर अति संतुष्ट हुए।

भगवान श्रीराम ने सार्वजनिक रूप से प्रजाजनों को भी उपदेश देकर कृतार्थ किया उनका आदेश दु:ख की अत्यन्तिक निवृत्ति हेतु सार तत्व स्वरूप है। उनके अनुसार – ''जो कोई एक बार भी मानसिक रूप से मुझे सगुण के साथ साथ निर्गुण मानते हुए मेरी सेवा करता है, वह मेरी चरण रज से ठीक वैसे ही पवित्र हो जायेगा जैसे सूर्य की किरणें तीनों लोकों को पवित्र

करती हैं। यह उपदेश महत्वहीन नहीं है, यह तो श्रुतियों में जो कुछ कहा गया है, उस सबका सार है। श्रीराम कहते हैं – ''मैंने तुमको जो उपदेश दिया है, वह ऐसा ज्ञान है जो वेदान्त के अध्ययन से ही उपलब्ध किया जा सकता है, जो भी मुझ पर तथा मेरे वचनों पर अटल श्रद्धा और भक्ति रखते हैं, साथ ही इसका अनुशीलन करते हैं, वे निश्चित रूप से मुझमें एक रूप हो जाते हैं।'' प्रभु श्रीरामभक्त विभीषण से कहते हैं –

तुम्ह सारिखे सन्त प्रिय मोरे।
धरहु देह नहि आन निहोरे॥
सगुन उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

अत: परमार्थिक जीवन निर्माण में – इन्द्रियों की शुद्धता के लिए – सदाचार, मन की शुद्धता के लिए – संकल्पों का त्याग, बुद्धि की शुद्धता के लिए – विषमता का त्याग, अहंकार की शुद्धता के लिए – असत् अनित्य के सङ्ग का त्याग, शास्त्रों में वर्णित है। परन्तु अध्यात्म में विज्ञान सहित ज्ञान द्वारा सभी प्रकार की शुद्धि सुगम हो जाती है।

नेत्र होने पर भी अंधकार में अपना मार्ग देखने के लिए दीपक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, भले ही पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, फिर सम्यक पथ का अवलोकन करने के लिए श्रीराम के प्रति भक्ति आवश्यक है। अगर हृदय में भक्ति का सामंजस्य है, तो अन्य किसी बात की भी आवश्यकता नहीं है। श्रीराम कहते हैं कि मेरा भक्त ज्ञान विज्ञान और वैराग्य को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। सन्त ऐसा ही बतलाते हैं। इस समस्त संसार को मुझसे व्याप्त देखते हुए पूर्ण श्रद्धा के साथ मेरी सेवा करने से वह शुद्ध आनंदयुक्त, बुद्धिप्रधान और स्वस्थ हो जाता है।

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकी भाव से स्थित प्रसन्न मन वाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाव वाला वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है। यथा –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता 18-54)

ऐसे योगी का, जो ज्ञान योग का फल है, या जिसको ज्ञान की परानिष्ठा और तत्वज्ञान भी कहते हैं, वह प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कराकर उनमें अभिन्न भाव से प्रविष्ट करा देता है।

पराभक्ति की प्राप्ति के अनन्तर उसका जो यथार्थ फलस्वरूप है वह गीता में (18-55) में इस प्रकार वर्णित है -

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यस्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

यथार्थ पराभक्ति रूप तत्व ज्ञान की प्राप्ति होने के अनन्तर वह योगी उस तत्व ज्ञान के द्वारा मेरे इस यथार्थ स्वरूप को जान लेता है कि मेरा निर्गुण निराकार रूप क्या है, और सगुण निराकार रूप क्या है तथा सगुण साकाररूप भी क्या है?

इसके अतिरिक्त उसकी ज्ञानपरिधि में यह भी समाहित रहता है कि मैं निराकार से साकार कैसे होता हूँ, और पुनः साकार से निराकार कैसे हो जाता हूँ? फिर उसकी दृष्टि में कोई भेद भाव नहीं रह जाता है, और न कुछ जानना ही शेष रहता है।

प्रवर, रामभक्त और कवि, ज्ञान विज्ञान तथ्यों के ज्ञाता तुलसीदास ने श्रीराम प्रेम की सर्वोत्कृष्टता ही उजागर किया है -

दोहावली में तुलसीदास जी कहते हैं -

परौ नरक फल चारि, शिशु मीच डाकिनी खाउ।
तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥

अर्थात् यदि राम प्रेम का फल अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष है, तो इन चारों पुरुषार्थों को शिशुओं की मौत डाकिनी खा जाये। मुझे तो केवल राम प्रेम चाहिए। यदि राम प्रेम का कोई फल होता हो तो उसमें आग लग जाये।

इसी भाव को जनकजी ने राम प्रेम मूर्ति भरत के लिए उद्धरित किया है कि

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

महर्षि भारद्वाज ने श्री भरत के भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप प्रगट किया जिसमें श्रीराम के प्रति उनका प्रेमार्णव समर्पण तत्व झलक रहा था।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥

इस प्रकार विज्ञानमय ज्ञानी शरीर धारण करके या बिना शरीर के सृष्टि को मंगलमय बनाते हुए अथवा उसकी अमंगलता नष्ट करते हुए सृष्टि में अपनी करणीय स्थिति आभाषित होने पर कार्य करते रहते हैं।

●○●○●

५. आत्म तत्व विवेचन

सतयुग में जब धर्म की स्थिति सम्पूर्ण होती है तब –

कृत जुग सब जोगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहि भव प्राणी॥

जब कि कलयुग की स्थिति इसके विपरीत लक्षणों में निर्दिष्ट है –

व्याप्त रह्यो ब्रह्माण्ड महुँ माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि खल दम कपट पाखण्ड॥

फिर भी आत्मनिष्ट महात्माजन इस धरा में विद्यमान रहकर अज्ञानी और भूले भटके प्राणियों की रक्षा करके पतन से गिरने में बचा लेते हैं।

विशालापुरी में गोवर्धन नामक एक नवयुवक पंडित थे, जिनकी पत्नी बड़ी साध्वी थी। उनका श्री भगवान के प्रति विश्वास था और भक्ति थी। पति पत्नी के बीच पवित्र प्रेम सम्बन्ध था। इनके घर में यदा कदा एक पहुँचे हुए महात्मा आया करते थे, जिनकी सन्निधि से दम्पत्ति प्राणियों में भक्ति सदाचार और सत्संगति के शुभ आचरण विद्यमान रहते थे।

इधर काफी समय से महात्मा जी नहीं आये, और गोवर्धन के कुसंग ज्वर ने उसे पछाड़कर वेश्यागामी और मदिरा व्यसनी बना दिया। अब वही गोवर्धन मदिरा के नशे में चूर, आधी रात के बाद आता और अपनी साध्वी पत्नी को गाली गलौच देता, और कभी कभी मारता भी था। भक्त हृदया पत्नी आर्तभाव से भगवान से प्रार्थना की कि "आप दीनबन्धु है, मुझ अबला पर दया कीजिए और महात्मा जी को यहां भिजवाइये और मेरे पति का जीवन सुधारिये। आप सर्वसमर्थ है, कृपा सागर और जीव मात्र के सुहृद है, प्रभो मैं आपको सर्वसुहृद मानती हूँ। पति का जीवन सुधार कर मुझे शान्ति दीजिए।"

गोवर्धन की साध्वी पत्नी के आर्त प्रार्थना समय में वे महात्मा जी सुदूर समाधिस्थ अवस्था में एक नदी तट पर एकान्तवास कर रहे थे। अकस्मात् उन्हें अपने सेवक गोवर्धन की याद आई, उनका हृदय तिलमिला उठा। मन ही मन गोवर्धन की स्थिति, उन्हें अधीर बनाकर उद्वेग पूरित कर दिया था, जबकि महात्मा जी के मन से जगत की सत्ता का सर्वथा अभाव था, फिर सत्ता के संकल्प करने वाले मन का भी अभाव हो गया था, पहिले दृश्य का अभाव था अब दृष्टा भी खो गया। रह गया वही जो है, वह क्या, कैसा है, कौन बतावे? उसी में एकात्मता प्राप्त करके महात्मा निर्विकल्प समाधि में स्थित थे। पर आज गोवर्धन की स्मृति ऐसी थी जो भुलाये नहीं भूलती थी। मानो किसी आसक्ति बस कुछ हो रहा है।

सर्वशक्तिमान सर्वनिहन्ता और सर्वद्दष्टा भगवान की प्रेरणा, जो गोवर्धन की साध्वी पत्नी ने प्रार्थना की थी "महात्मा जी को भेजकर मेरे पति का जीवन सुधारिये।"

आधी रात का समय था जैसे लक्ष्यवेधी का बान सीधे लक्ष्य की ओर ही जाता है, उसी प्रकार महात्माजी की सर्वगत द्दष्टि ने यह जान कर कि गोवर्धन उस समय विशालापुरी के उत्तर की ओर बसे हुए मोहल्ला में मायावती वेश्या के घर पर है, तो वे वहीं पहुँच गये, बाहर का दरवाजा खुला था उसे पार कर महात्मा जी ने कमरे के किवाड़ खटखटाए और कहा "गोवर्धन किवाड़ खोलो।" मद्य के नशे में चूर होने पर भी गोवर्धन महात्मा जी के सिद्ध शब्दों की अवहेलना नहीं कर सका, और दरवाजा खोल दिया। सामने एक तेज पुञ्ज जटाधारी महापुरुष को देखकर पहिले तो वह सकपका गया। परन्तु फिर दूसरे ही क्षण उसने महात्मा जी को पहचान लिया। उसका मद एकदम उतर गया और वह चीख मारकर महात्मा जी के चरनों में गिर पड़ा। महात्मा जी के दर्शनों से मायावती का हृदय भी द्रवित हुआ। पश्चाताप की प्रचण्ड आग जल उठी और वह भी महात्मा जी के श्री चरणों में गिर पड़ी। दोनों के नेत्रजल की धाराएँ महात्मा जी के चरण पखारने लगी।

महात्मा जी के वरदहस्त उठे, दोनों के मस्तकों का स्पर्श किया और बोले, "मेरे बच्चों उठो। घबराओ नहीं, भगवान की कृपाशक्ति के सामने तुम्हारे पापों की क्या बिसात है। भगवान की कृपा कभी न छिपने वाला प्रचण्ड और सुशीतल सूर्य है। पापान्धकार में कितनी शक्ति, जो क्षणभर भी उनकी कृपा सूर्य के सामने ठहर सके। उनकी अनुपमेय कृपाशक्ति की प्रेरणा से मैं आधी रात के समय यहाँ आया हूँ। तुम दोनों पवित्र हो गये, उठो।" दोनों उठे और कठपुतली की भाँति सामने खड़े हो गये। नेत्र झरने बने हुए थे।

महात्मा जी ने कहा "गोवर्धन, तुम घर जाओ, अपनी साध्वी पत्नी को सांत्वना दो। तुमने तो आज भी भगवान को नहीं पुकारा, पर तुम्हारी पत्नी बड़ी भक्तिमती थी। उसका अटल विश्वास और आर्त पुकार ने भगवान का आसन हिलाया और उन्हीं की प्रेरणा ने समाधि से उठाकर मुझको यहाँ भेजा है। मैं भगवान की सद्प्रेरणा से ही यहाँ आया हूँ। आज मेरे साथ आई हुई भगवान की प्रेरणा का अविच्छिन्न दर्शन करके ही तुम कृतार्थ हो गये। यह भगवान की अनन्त कृपा का दिग्दर्शन है और इस कृपा में कारण है तुम्हारी साध्वी पत्नी। उसने तुम्हारे जन्म जन्मान्तरों के पापों से छुड़ा कर अनन्त मृत्युयों में जाने से तुमको बचा लिया।"

"यह मायावती पूर्व जन्म की बड़ी भक्ता है, पर माता-पिता और स्वामी के परलोकगामी होने से दुराचारी व्यक्तियों ने इसे अपने फन्दे में फँसा लिया। मायावती भी कुसङ्ग में पड़कर गिर गई। मायावती ने अभी कल ही रो-रो कर भगवान को पुकारा था। भगवान ने उसकी भी पुकार सुन ली।"

दोनों के नेत्रों में उसी प्रकार की अश्रुधारा बह रही थी। दोनों ने भाई बहन की भाँति महात्मा जी के आगे हाथ जोड़े। मायावती को महात्मा जी ने एक तुलसी की माला दी और उसको अनेकों आशीर्वादों के साथ कावेरी के तट में जाकर भजन करने का आदेश दिया। गोवर्धन को प्रात:काल स्वयं के पधारने का आश्वासन देकर घर जाने का आदेश दिया। दोनों के सामने से माया का पर्दा हट गया।

गोवर्धन ने घर आकर किवाड़ खड़खड़ाये तथा आवाज दी। आवाज से ही गोवर्धन के स्वभाविक स्थिति का साध्वी पत्नी को पता चल गया। आवाज सुनते ही वह निहाल हो गई, वह पति के चरणों में गिरकर रोने लगी, और कृतज्ञ हृदय गोवर्धन के नेत्रों में भी आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। समस्त रात्रि संत चर्चा और भगवत चर्चा में व्यतीत हो गई।

प्रात:काल के समय में महात्मा जी पधारे, दोनों महात्मा जी के चरणों में गिर पड़े। महात्मा जी ने दोनों को भगवत् भक्ति का उपदेश दिया और षोडशाक्षर मन्त्र का उपदेश किया। और कहा ''अब तुम्हारा कभी पतन नहीं होगा। तुम दोनों भगवान के दिव्यधाम और स्वरूप को प्राप्त करोगे।'' तदन्तर भिक्षा आदि के बाद महात्मा जी अपने स्थान को पधार गये।

इस कथा के भावानुसार गोवर्धन और मायावती की मानसिक स्थिति गीता के अनुसार -

अनेक चित्त विभ्रान्ता मोह जाल समावृता:।
प्रसक्ता: काम भोगेषु पतन्ति नरके अशुचौ॥

(गीता 16-16)

या - मछली जैसे जाल में फँसी घिरी रहती है वैसे ही असुरी वृत्ति के मनुष्य मोह माया जाल में फँसकर अपवित्र नरकों में गिरते हैं एवं -

आसुरी योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि। (गीता 16-2)

अर्थात् - वे मूढ़ पुरुष जन्म जन्म में आसुरी योनि में प्राप्त होकर नीच योनियों; जैसे - साँप, बिच्छू, सिंह, बाघ, सुअर, कुत्ते, कौए, कीट-पतङ्ग योनियों में अपने कर्मफल भोग हेतु जन्मते और मरते हैं। क्योंकि -

त्रिविध नरकस्येदम् द्वारनाशनमात्मन। (गीता 16-21)

काम क्रोध तथा लोभ तीन प्रकार के नरक के द्वार है, जो आत्मा का नाश करने वाले और आत्मा को अधोगति में ले जाने वाले हैं।

अब दूसरी स्थिति उन महात्मा जी की है जिन्होंने साधनों से अपनी आत्मा को परमात्मा से जोड़कर आत्म-ज्ञान का अभ्युदय रूप प्राप्त किया, और उनकी स्थिति गीता के अनुसार -

सर्व भूतस्थ मात्मानम् सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६/२९)

सर्वव्यापी अनन्त चेतना में एकीभाव से स्थिति योग से युक्त आत्मावाला तथा सबमें सम भाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है।

इसी आशय में ईशोपनिषद् का यह मन्त्र है -

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मान्येवानु पश्यति।
सर्व भूतेषुचात्मानम् ततो न विजुगुप्सते॥

(मंत्र ६)

जो सब प्राणियों को आत्मा में और सब प्राणियों में आत्मा को ही देखता है वह फिर किसी से भी घृणा नहीं करता है।

आत्म ज्ञानी महापुरुषों में इससे भी श्रेष्ठतर स्थिति यह होती है -

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं चमयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणस्यामि स चमे न प्रणस्यति॥

(गीता ६/३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सब के आत्मस्वरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता है।

इसलिए आत्मज्ञान में परिपक्व योगी की दशा

सर्वभूतस्थिम् यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

गीता ६/३१

जो योगी पुरुष एकीभाव में स्थित होकर सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझ सच्चिादानन्दघन वासुदेव को भजता है, वह योगी सब प्रकार से बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

या सम्पूर्ण चराचर विश्व में एक भगवान ही परिपूर्ण हैं, इस प्रकार का जानना और प्रत्यक्ष देखना ही सब भूतों में स्थित भगवान को भजना है और अन्त में ऐसे आत्मज्ञानी योगी महापुरुष स्थिति गीता में स्पष्ट है -

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सु दुर्लभः॥

गीता ७/१९

बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्व ज्ञान को प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

या सम्पूर्ण जगत ही वासुदेव का स्वरूप है, वासुदेव के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जिसे इस प्रकार का प्रत्यक्ष और अटल अनुभव होता है, और वह उसी की नित्य स्थिति में रहकर भगवान का भजन करता है, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।

यह है आत्मज्ञान का परम दुर्लभ साध्य और मनुष्य जीवन की परम श्रेयस्कर प्रतीति जो मात्र मनुष्य के स्वरूप गत ही प्राप्तव्य है, क्योंकि यही एक योग योनि है। मात्र भोगयोनि नहीं।

आत्म ज्ञान अपने प्रकार का अद्‌भुत ज्ञान है, उसकी अपनी विशेषता है। बल्कि यह कह सकते है कि वह ज्ञान, ज्ञान अज्ञान से परे बोध स्वरूप है, उसमें ज्ञाता ज्ञेय का भेद भी नहीं है। परन्तु अहंकार से ग्रसित संसारी व्यक्ति जिसकी चित्तवृत्तियाँ बिव्‌भ्रान्त है, वह अशान्त प्रधान व्यक्ति, आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता, परन्तु उस समय भी उसकी आत्मा में स्वयं प्रकाशवानता का लक्षण विद्यमान रहता है, इसलिए आत्मा, ज्ञान स्वरूप है। जीवन की सभी समस्याओं का समाधान आत्मज्ञान में है। आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है।

आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है इसलिए आत्मज्ञान पाने के लिए अहंकार से छुटकारा पाने का प्रयास साधक की अहं भूमिका के अन्तर्गत है। अहंकार के रहते हुए आत्म ज्ञान हो ही नहीं सकता है। इसलिए जहाँ अहं का उदय नहीं होता, वहीं सत्यत्व की स्थिति है।

इसीलिए भक्ति योग में भी परमात्मा के लिए सर्वाधिक प्रिय अति दीन, आर्त होते हैं, कहा गया है – केहि अति दीन पियारे,

भरत जी के लिए विशेषता रूप में – दीनता भरी है, जो अहंकार का निर्मूल तत्व है।

दीनबन्धु सुनि बन्धु के वचन दीन छल हीन।

परन्तु अहंकार तब तक नष्ट नहीं होता, तब तक उसकी गवेषना (खोज) नहीं की जाती। उसको तो नष्ट होना ही चाहिए, तभी तो 'स्वात्मैक्य' रूप निष्ठा हो सकती है।

अहं की वृत्ति इतनी सूक्ष्म है कि इसके मूल तत्व से अपने को छुटा पाना कठिन तो अवश्य ही है। बकरी में भी उसके बकरीपन का अहं है, क्योंकि वह अपने बकरीपन के संस्कारों से उत्पन्न और पलित पोषित है।

परन्तु विचार करने पर अहंकार की अद्‌भुत प्रकृति का ज्ञान होता है। वह कुछ न होते हुए भी बड़ा शक्तिशाली है। उसके अधिष्ठान स्वरूप कारण की खोज करते ही वह विलीन हो जाता है। यह स्वयं अरूप है, परन्तु जो रूपों में ही अनेक रूप धारण करता रहता है। सत् रूप से विचार करते ही वह पिशाच की भाँति भाग जाता है -

स्वयं विरूपः स्व विचार काले धारत्यहंकार पिशाच एषः ।।

मन में भूत का आकार उत्पन्न होकर हमें भयभीत करने लगता है, अहंकार पिशाच भी बहुत कुछ ऐसा ही है। उसके अरूप होने पर भी वह वृत्ति रूप से सब में विद्यमान रहकर अपना कार्य करता है।

जब तक हम अहंकार के स्वरूप और उसके अधिष्ठान का विचार नहीं करते, बाहर जगत की और देखते है, यह अहंकार अपनी लीला करता रहता है किन्तु जैसे किसी प्रकाश में भूत नहीं ठहरता उसी प्रकार विवेक विचार के शुद्ध प्रकाश में अहंकार विलुप्त हो जाता है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में संसार को पीपल वृक्ष का रूपक देकर और स्पष्ट रूप से समझाया गया है, यथा

न रूपमस्येह तथो पलभ्यते, नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वस्थमेनन् सुविरूढ़मूलम सङ्गशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा।।

अर्थात् - इस संसार पीपल वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा गया है, वैसा यहां विचार काल में नहीं पाया जाता है। क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न तो अच्छी प्रकार से इसकी स्थिति ही है। इसलिए इस अहंकार, ममत्व पूर्णवासना वाले अति दृढ़ मूल वाले पीपल के वृक्ष संसार को दृढ़ वैराग्य रूप शस्त्र से काटकर उस परम पद रूप परमात्मा को खोजना चाहिए।

''ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं''

और उस परमात्मा का आवास शुद्ध अन्तःकरण से युक्त हृदय है। यथा -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

गीता १८/६१

यथार्थ विचार करने पर यह संसार नाशवान और क्षणभंगुर प्रतीत होता है तथा तत्वज्ञान होने पर तो उसका सदा के लिए साथ छूट जाता है।

परन्तु इस संसार में दो प्रकार के पुरुष है एक नाशवान और दूसरा अविनाशी, इनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान है परन्तु जीवात्मा अविनाशी है।

गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में -

द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षर श्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

इसलिए जो शरीर नाशवान है उसकी स्थिति को शाश्वत रूप में मानकर मन को भ्रान्ति के मूल में भटकने के लिए छोड़ देना यह विचार पूर्णरूप से उपेक्षित और निष्काषित योग्य है।

इसलिए अहं बुद्धि के शोध के लिए -

न वक्ति देहोऽहमिति प्रसुप्तौ
न कोपि ना भूवमिति प्रवक्ति
ययोदिते सर्व मुदेति तस्य
धियाऽहमः शोधय जन्म देशम्॥

अर्थात् यह कोई नहीं कहता है कि मैं देह हूँ और यह भी कोई नहीं कहता कि सुषुप्ति में मैं नहीं रहता। जिसके उदय से सब का उदय होता है। उस अहं बुद्धि के जन्म स्थान का शोध होना चाहिए।

कोई भी आस्तिक नास्तिक दर्शन यह नहीं मानता कि मैं शरीर हूँ। शरीर से पृथक जीवात्मा की सत्ता मानी जाती है और वह सत्ता सुषुप्ति अवस्था में भी बनी रहती है, यह कोई नहीं कह सकता कि मैं उस समय नहीं था, जब मैं पन का बोध नहीं रह जाता, उस अवस्था में अहंकारी की वृत्ति भी नहीं रह जाती, किन्तु हम अपना अभाव अनुभव नहीं करते।

इससे स्पष्ट है कि न तो मैं स्थूल शरीर हूँ और न सूक्ष्म शरीर और नाही मैं कारण शरीर ही हूँ, पर मैं इससे कुछ भिन्न अवश्य हूँ। किसी अवस्था में मेरा अभाव नहीं होता है।

परन्तु जागृत और स्वप्नावस्था में जब मैं भाव उत्पन्न होता है, तब अपने से भिन्न नानात्वकामी अनुभव ''मैं'' आने लगता है; स्वप्न में स्वप्नलोककादृश्य और जागने पर जगत का अन्तःबाह्य स्वरूप मैं की अभिव्यक्ति कराता है।

अतः ''ययोदिते सर्वमुदेति'' जिसके उदित या प्रकट होने पर नाना रूपों की उत्पत्ति होती है वहीं अहं वृत्ति है। यह वृत्ति सदा नहीं रहती। अवस्था देश, काल, संग के अनुसार इसकी परिणिति होती रहती है।

यहीं से आत्म तत्व के लिए खोज की दिशा निर्देश का सूत्र मिल जाता है। दूसरे शब्दों में अहं वृत्ति और विषय ममता वासना सब अनित्य है और परिवर्तनशील है, तो उसके मूल में

कोई ऐसी सत्ता, जो नित्य और सत्य है, उसका विद्यमान रहना नितान्त आवश्यक है, जिसकी नित्यता व सत्यता के बल पर अहं वृत्ति की उत्त्पत्ति सम्भव हुई।

अहंकार का जन्म देश आत्मा ही है इसलिए उसे पहिचान कर उसके आश्रयभूत न बनने पर ही आत्म तत्व की प्राप्ति होगी। तभी साधक आत्मा से एकीकार का अनुभव करता है।

अहंकार नित्य और सद्‌वस्तु न होने पर भी वह तरंग की भाँति उठता और लीन होता है। जो इसके होने और न होने की अवस्थाओं का ज्ञान रखते है, वह इसे आत्मा से भिन्न समझते हैं।

स्थूल शरीर में जड़त्व है। मृत शरीर की जड़ता स्पष्ट है। जीवित शरीर में चेतन तत्व विद्यमान है जिसके कारण जीवन का आभास होता है। दूसरी ओर इस जीवित शरीर में आत्म तत्व है, जो चेतन स्वरूप है किन्तु उसका जन्म नहीं होता।

क्योंकि आत्मा का स्वरूप अव्यक्त, अचिन्त्य और विकार रहित है।

अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयम विकार्योऽयमुच्यते।

गीता २/२५

इतना ही नहीं आत्मा के स्वरूप का दर्शन इस रूप में स्पष्ट है कि -

देही नित्यम्‌वध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।

गीता २/३०

या समस्त प्राणियों के जितने भी शरीर है, उन समस्त शरीरों में एक ही आत्मा है शरीरों के भेद से अज्ञान के कारण आत्मा में भेद प्रतीत होता है, पर यथार्थ में भेद नहीं है, इसलिए उसका कभी किसी भी साधन से नाश नहीं हो सकता है आत्मा अविनाशी है।

इस प्रकार स्थूल शरीर और आत्मा के लक्षण एक दूसरे के विपरीत है, परन्तु इन दोनों के संयोग से इनके मध्य कोई तत्व विद्यमान है और वह है देहात्मभाव, यह न तो जड़ शरीर है और न आत्मा या यह दोनों जड़ और चेतन की ग्रन्थि (गाँठ) है।

इसी को तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में इस रूप में उद्धृत किया है -

जड़ चेतनहि ग्रन्थि पर गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

यह ग्रन्थि ही अहंकार वृत्ति है। जो एक ओर आत्मा की चैतन्यता से प्रकाशित होकर चेतन सी प्रतीत होती है और दूसरी ओर शरीर के जड़त्व को धारण करती हुई अपनेजन का भाव प्रतिबिम्बित करती है। यही अहंकार है।

इस आत्मा में तीन शरीरों का आवरण है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का संघात ही मनुष्य का शरीर है। सञ्चित कर्मों का भोग कराने के लिए सूक्ष्म शरीर के सत्रह अंग है :- पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि। अहंकार इन सब अगों का स्वामी है।

इसी अहंकार को ''भव'' भी कहा जाता है, भव का अर्थ 'होना' है, इसलिए उत्पन्न होने वाली जो चेतना है, वह भव है या अहंकार है। इसी कारण से संसार भी उत्पन्न होने के कारण भव कहा जाता है।

इसलिए श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस में कथन है -

तब से जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
जीव हृदय तम मोह विशेषी। ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी॥
अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥
सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौ हरि कृपा हृदय बसआई॥

इसका यह तात्पर्य स्पष्ट है कि अहंकार की ग्रन्थि संयोगात्मक है, जब हृदय में सात्विक श्रद्धा का उदय होता है और उस हरि कृपा की पात्रता हृदय में निर्मित होती है। तुलसीदास का कथन तो यह स्पष्ट है कि अहंकार की ग्रन्थि को छोड़ पाना अति कठिन और दुष्कर है।

ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकाशा। बुद्धि विकल भई विषय बताशा॥

अर्थात् आत्मानुभवरूपी प्रकाश, जो कुछ प्राप्त हो सका था, वह जीव के विषय रूपी हवा ने आकर बुद्धि को बिकल या बाबला बना दिया।

इससे वह आत्मानुभव का प्रकाश भी मिट गया इतना ही नहीं बल्कि दुष्करता तो यहाँ तक है कि -

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तव माया॥

या अहंकार के ग्रन्थि को छोरने के किये गये उपाय और उपाय सिद्धि की दशा में जो स्थिति निर्मित होती है - उसका स्वरूप दर्शन रामचरित मानस् में -

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहि जाई॥
कल बल छल करि जाहि समीपा। अञ्चल बात बुझावहि दीपा॥

इस प्रकार पुनः आत्मानुभव के प्रकाश का तिरोभाव हो गया।

इसके भी आगे आत्मानुभव रूपी प्रकाश को मिटाने के लिए देवतागण भी जो अपने ही शरीर में सूक्ष्म रूप से विराजित है, वे भी प्रकाश को मिटाने के लिए पूर्ण उद्योगशील रहते है-

इसलिए रामचरित मानस में तुलसीदास का कथन स्पष्ट है कि -

इन्द्री द्वार झरोखा नाना। जहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उधारी॥

अत: विषय रूपी बयार या तेज हवा कपाट के खुल जाने से हृदय रूपी घर में प्रवेश करती है और आत्मानुभव रूपी विज्ञान के प्रकाश बुझाने में सक्षम हो जाती है।

जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहि दीप विज्ञान बुझाई॥

क्योंकि इन्द्रियों और उनके अधिष्ठान देवताओं को ज्ञान विज्ञान और आत्मप्रकाश अच्छा नहीं लगता है।

इन्द्रिय सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई।

या उनकी सहज ही प्रीति विषय भोग के लिए विनिर्मित है। इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं, या मन ही इन्द्रियों के स्वामी है पहिले जब मन प्रभावित होता है, तो वह अपने आधीन इन्द्रियों को विषयों की ओर ढकेलने का भाव विनिर्मित करता है और मन के अधिष्ठान देवता चन्द्रमा है। यथा -

अहंकार शिव बुद्धि अजं मन शशिचित्त महान

और शशि (चन्द्रमा) की प्रसिद्धि लोक में इस भाव की है कि -

''शशि गुरू तिय गामी।''

या वे देवगुरू बृहस्पति के पत्नी में परनारीगामी होकर बुधदेव के पिता कहलाते हैं।

इसलिए रामचरितमानस में यह अपेक्षित निर्देश है कि यदि किसी प्रकार आत्मानुभूति के प्रकाश का उदय हो तो साधन काल में उस दीपतेज राशि को विज्ञान मय बनाते हुए -

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीपशिखा सोइ परम प्रचण्डा॥

या सोहऽमस्मि (वह ब्रह्म मैं हूँ) यह अखण्ड तैल धारावत कभी न टूटने वाली वृत्ति है, जो बनी रहे, तव -

आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। तव भव मूल अविद्या नाशा॥

अर्थात् - उसके पश्चात् आत्मानुभव के सुख का सुन्दर प्रकाश फैलता है, तब संसार के मूल या अहंकार के मूल रूपी भ्रम का सर्वदा नाश हो जाता है।

भ्रम तो यही है कि जो आत्मा मैं हूँ, उसको मैं से न जोड़ कर भ्रम बस अहंकार (भव) में अपनापन का भ्रम पालकर जिस परिणाम को पहुँच जाते हैं उसका स्वरूप रामचरित मानस में निर्दिष्ठि है -

तब फिरि जीव विविध विधि पावइ संसृति क्लेश।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाय विहगेश॥

परन्तु दूसरी ओर आत्म ज्ञान की साधना सरल नहीं है।

कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौ, पुनि प्रत्यूह अनेक॥ ११८ख॥

या ज्ञान कहने में कठिन समझने में कठिन है और साधन में भी कठिन है, यदि संयोग बस हरिकृपा से यह ज्ञान हो भी जाय तो फिर उसे बचाये रखने में अनेकों प्रकार के विघ्न उपस्थित हो होकर बाधा डालते रहते हैं।

इस प्रकार सोऽहमास्मि वृत्ति की अखण्डता का उपदेश साधनावस्था के लिए युक्तियुक्त है।

एक बार अहंकार के आत्मा में विलीन हो जाने पर सर्वत्र एक अखण्डता का भेद रहित वृत्ति का अनुभव होने लगता है पर मन को संसयरहित करने के लिए केवल तन्द्रूप निष्ठा की आवश्यकता है। निष्ठा विनामन फिर बेकाबू हो सकता है। वेद स्पष्ट घोषणा करते हैं कि "वह तुम हो।" फिर भी परमात्मा में निष्ठा न कर पुनः विचार करना मन की दुर्बलता है। क्योंकि वह परमात्मा तो सर्वदा आत्म रूप से प्रकाशित है। महर्षि रमन के अनुसार -

आह स्फुटम् तत्वम् सीति वेदः, तथाप्य संप्राप्य परमात्म निष्ठाम्।
भूयो विचारो मति दुर्बलत्वम् तत्सर्वदा स्वात्मतया हि भाति॥

वेदों, उपनिषदों की यह स्पष्ट घोषणा तो है कि "अहं ब्रह्मास्मि।" मैं ब्रह्म हूँ, फिर भी "हरि माया अति दुस्तरम्" के स्वरूप भूत साधना की सिद्धि समझते हुए उपनिषदों के महा वाक्यों को दुहराते हुए उनके भावानुसार वृत्ति निर्मित कर सिद्धि की दिशा में चलते रहना चाहिए।

ये महावाक्य एक महान सत्य का प्रतिपादन करते हैं। "***वेदान्त का सबसे महान सत्य यही है कि आत्मा और परमात्मा एक अखण्ड तत्व हैं***", इसी 'ब्रह्मात्मैक्य' का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्य महावाक्य के रूप में प्रतिष्ठावान हैं। ऐसे महावाक्य उपनिषदों में अनेक है, उनमें चार महावाक्य उद्धृत हैं,

(1) ऋग्वेदान्तर्गत एतरेय उपनिषद के (३,१,१) का महावाक्य ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' या प्रज्ञाज्ञान ही ब्रह्म है उसी का आत्मज्ञान से भी सम्बोधन है।

(2) सामवेदान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् (६,८,१५) का महावाक्य 'तत्वमसि' है - इसमें तीन पद है, तत्, त्वम् और असि। तत् पद का अर्थ वह सत्स्वरूप परमात्मा जो अपनी मायिक शक्ति के उपाधि से जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण है। त्वम् का अर्थ वह परमात्मा जो मलिन सत्व की उपाधि धारण कर जीव भाव को प्राप्त होता है और कामादि विकारों से संलग्न होकर दूषित कर्मों को करने में संलिप्त हो जाता है और असिपद वाच्य कहकर परमात्मा और त्वम् पद वाच्य कहकर परमात्मा की एकता का निरूपण उपाधियों को अलग करके किया गया है।

इस महाकाव्य के वेद प्रमाणिक तत्थ से यह निश्चय किया गया है, कि आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्म है। इसलिए हमें आत्मज्ञान में परमात्मा की उन्मुखता बनाये रखना चाहिए। यह नहीं समझना चाहिए कि परमात्मा के दर्शन के लिए हमें अभी कुछ और विचार करना अपेक्षित है। यदि आत्मज्ञान प्राप्ति हो जाने और आत्म स्वरूप में तदात्म्यता होने पर परमात्मा के प्राप्यर्थम् पुनः विचार करते है तो यह आत्म भाव से प्रकाशित मन की दुर्बलता समझना चाहिए। यथार्थ तो यह है कि परमात्मा तो हमेशा हमारे आत्मरूप में हमारे हृददेश में प्रकाशित है। इसलिए आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है।

(3) यजुर्वेन्तान्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् (१,४,१०) का महावाक्य ''अहम् ब्रह्मास्मि'' है जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि ''मैं आत्म स्वरूप जीवात्मा ब्रह्म हूँ।'' इस महावाक्य के अन्तर्गत ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन है। जिस महावाक्य के स्वरूप को रामचरित मानस में

ईश्वर जीवहि नहि कछु भेदा। वारि बीचि इमि गावहि वेदा।।

के स्वरूप भूत निरुपित किया गया है।

(4) अथर्ववेदान्तर्गत माण्डूक्य उपनिषद् (२) का महावाक्य ''अयमात्मा ब्रह्म'' है।

इस महावाक्य को मूल से समझने के लिए गीता के सातवें अध्याय का चौथा और पाँचवा श्लोक उद्धरित है। यथा -

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

अपरेयमित स्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।
जीव भूतां महावाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

अर्थात् - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार से विभाजित प्रकृति है, इस को जड़ प्रकृति कहते है या अपराप्रकृति है।

दूसरी ओर जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है वह जीवरुपी सचेतन ही परा प्रकृति के रूप में जानी जाती है।

इसलिए जीवात्मा यहाँ परा प्रकृति के अन्तर्गत है, जो श्रीकृष्ण के श्रीमुख से व्यक्त है। परन्तु

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्यु पधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले है और मैं (श्रीकृष्ण) सम्पूर्ण जगत का प्रभव और प्रलय हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।

अतः आत्मा परमात्मा का अंश उसका स्वरूप होते हुए भी ईश्वर या परमात्मा तो इन दोनों प्रकृतियों सहित समस्त जगत का भी महाकारण है। अतः परमात्मा आत्मा से अभिन्न होते हुए कुछ उपाधियों से श्रेष्ठतर है। इसी कारण से महावाक्य ''अयमात्मा ब्रह्म'' से सुशोभित है।

इससे यह तथ्य भी सम्पूर्ण रूप से उजागर होता है कि जड़ प्रकृति के अन्तर्गत ही अहंकार की स्थिति है, परन्तु अहंकार के वैभव विलास से वह अपने को सर्वोपरि जैसी मान्यता प्रदान कर चेतन को भी अपने आधीन किये हुए है और जड़ जगत तथा चेतन जीवात्मा के मध्य ग्रंथि का रूप धारणकर जड़ जगत में ही चेतन आत्मा को समाहित कर रहा है। जबकि सुलटी स्थिति तो यह होना चाहिए कि चेतन के आधीन जड़ हो। इसलिए इसे उल्टी प्रक्रिया को विवेक की सूक्ष्मधार से काटकर अपरा प्रकृति को पराप्रकृति के आधीन बनाए जाने का सतत् प्रयत्न होना चाहिए।

आत्मज्ञानी की ज्ञानदृष्टि ही इस प्रकार की हो सकती है जो जड़त्व में जड़त्व को ही मानकर कर चेतन तत्व में तब चेतकर अपने भाव को अपने आत्म स्वरूप में देंखे।

देहात्म भावे ज्ञजड़ौ समानौ, एकस्य देहे हृदि दीप्त आत्मा।
आक्रम्य देहं त गगच्च पूर्णः, परस्य मेयम् तनुमात्रमात्मा॥

देहात्म भाव में ज्ञानी और अज्ञानी समान है। परन्तु ज्ञानी के लिए हृदय में आत्म प्रकाश समाहित है, जो देह और जगत को व्याप्तकर पूर्ण है जबकि अज्ञानी के लिए देहमात्र ही आत्मा प्रतीत होती है।

अज्ञानी व्यक्ति अपनी ससीम ज्ञान दृष्टि से इस धारणा को प्रमाणिक ज्ञान मानता है और वह यह भी कह सकता है कि मैं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखता हूँ कि मैं शरीर हूँ, मुझे अपने

शरीर में स्वयं का आत्म भाव अनुभव में आ रहा है। यदि देहात्मभावित व्यक्तियों को या देहात्म आश्रितों को उनके कुज्ञान की उपेक्षा करके देहात्म भाव से ऊपर उठाने सम्बन्धी ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन भी किया जाय तो वे अपनी देहात्म बुद्धि की धारणा से ऊपर जाने को तैयार नहीं है क्योंकि भाव में रमन करते करते उसी भाव प्रतिष्ठा में उन्हें सुख की अनुभूति हो रही है।

एक बार नारद जी मृत्युलोक के अपने भ्रमण में एक सुअर को मल और कीचड़ से सने हुए स्थल में आनन्द मग्न देखा तो उनको उस स्थिति में उसे उबारने और स्वर्ग लोक के सुख दिलाने की स्पृहा हुई। उन्होंने सबसे पहिले स्वर्गीय सुख का बखान किया। जिससे आकर्षित होकर सुअर उनके पीछे पीछे तो चल पड़ा, परन्तु कुछ ही दूर जाने पर उसने मुनिराज से पूछा "मुनि श्रेष्ठ क्या स्वर्ग में भी मुझे आनन्दप्रिय कीचड़ और मल के संयोग से बना रसायन लोटने को मिलेगा या नहीं।" जब देवर्षि ने इस निकृष्ट और त्याज्य रसायन के अभाव की बात स्वर्गीय सुख में बतायी तो वहीं से सुअर देवर्षि नारद के साथ जाने को मना कर दिया और कहा कि मेरे लिए पृथ्वीलोक के मल और कीचड़ से बने रसायन के समान दूसरा सुख हो ही नहीं सकता है।

परन्तु आत्मज्ञानी व्यक्ति अपने अन्तर्मन में प्रवेश कर अपने हृदय में स्थित सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है। "हृदि दीप्त आत्मा" आत्मा हम सब के हृदय में प्रकाशित हो रहा है। शुद्ध चित्त ज्ञानी, शास्त्रों के प्रमाण से उसे अपने हृदय में दर्शित होने का अनुभव करते है।

परन्तु हृदय में प्रकाशित होने से वह ज्ञानी की दृष्टि में एक देशीय नहीं है। वह आकाशवत् व्यापक है। इस प्रकार जैसे आकाश सबके शरीर में स्थित तो है परन्तु वह पंचमहाभूत के रूप में व्यापक भी है। वायु आदि महाभूतों में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा समस्त जीव और जगत में व्याप्त होकर उनका भी अतिक्रमण कर रहा है, इस प्रकार ज्ञानी के लिए आत्मा का स्वरूप अनन्त और व्यापक अनुभव में आता है।

इसलिए ज्ञानी, शरीर को देखते हुए और उसमें अहं बुद्धि का अनुभव करते हुए भी उसे मिथ्या जानता है क्योंकि उसे अपना निरुपाधिक अनन्त आत्मा ही सत्य दिखाई देता है। जिसको आत्मा की सत्यता का अनुभव हो गया उसे मिथ्यत्व स्वरूपधारी जगत को सत्य रूप में देखने की धारणा हो ही नहीं सकती है।

इसलिए आत्मज्ञानी के लिए जगत और जागतिक सम्बन्धों की तत्विक असत्यता के कारण नाम रूप स्वप्न के समान प्रतीत होते है। जगत का अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा है। वह सब एक अखण्ड पूर्ण और अरूप है। इन लक्षणों का विचार करके आत्मज्ञानी अब इस निष्कर्ष में रहता है कि सत् वस्तु वही होती है जो एक अखण्ड है। जहाँ अनेकता, पृथकता और सीमायें होंगी,

वे पूर्ण नहीं हो सकती। अतः अपने अस्तित्व से पूर्ण अरूप वस्तु ही पूर्ण होगी और पूर्ण वस्तु ही नित्य और सत्य होगी। अतः इन तमाम लक्षणों से रहित होने के कारण जगत को सत् स्वरूप पूर्ण और नित्य समझना और तदानुसार व्यवहार करना ही ज्ञान नहीं है।

हृदयस्थं आत्मा की खोज करने पर अहंकार तो रह ही नहीं सकता है, वह तो संसार के प्रति सत्यत्व बुद्धि रखने वालों के लिए ही अपने पुरुषार्थ से उन्हें पराजित करता है और उसके न रहने की दशा में कर्त्ता भाव भी समाप्त हो जाता है। आत्मज्ञान होने पर स्पष्ट अनुभव होता है कि आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता। एक आत्मज्ञानी कर्मबन्धन का अनुभव ही नहीं करता है। आत्म ज्ञानी में कर्त्तव्य भाव न रह जाने से उसका सम्बन्ध सञ्चित और प्रारब्ध कर्म से भी नहीं रहता है।

आत्मज्ञान होते ही उस पुरुष का शरीर नष्ट नहीं होता। उसका शरीर रहता है और उससे कर्म भी होते है। किन्तु आत्मज्ञानी अब अहंकारी जीवभाव में नहीं जी रहा है, इसलिए उसके कर्म भी आत्मभाव से होते हैं। उसे जीवन मुक्त पुरुष का कर्म कह सकते हैं। इसे एक प्रकार से अगामी कर्म कहते हैं, इस कर्म में कर्त्ता भाव न होने के कारण ज्ञानी के लिए न वह बन्धनकारी है और न सुख दुःख का फलदायी ही। आत्मज्ञान रहित, यद्यपि जीव भाव रहने पर जीव कर्म बन्धन के फल का भोक्ता है। परन्तु उस समय भी उसकी आत्मा मुक्त है। पर जीव इस बात का किञ्चित भी अनुभव नहीं करता है। परन्तु आत्मज्ञान के होने पर तो वह कर्म बन्धन से अपने को मुक्त मानता ही है पर यथार्थ में उसके लिए बन्धन या मुक्ति का भी कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि

बध्दत्व भावे सति मोक्ष चिन्ता। बन्धस्तु कस्येति विचारणे न॥
सिध्ये स्वयं स्वात्मनि नित्य मुक्ते। क्व बन्धचिन्ता क्व च मोक्ष चिन्ता॥

कर्मबन्धन अहंकार युक्त जीव अनुभव करता है इसलिए उसे बन्धन से मुक्त होने की चिन्ता रहती है। जीव में वैयक्तिक अहं होने से उसमें कर्त्ता भोक्ता भाव का होना स्वाभाविक है, लेकिन यदि वह अहं भाव को देखकर उसका विश्लेषण करे तो उसे एक ओर स्थूल शरीर तो दूसरी ओर आत्मा की शुद्ध चेतना ही मिलेगी। अहं वृत्ति तो एक लदी हुई मिथ्या प्रतीति मात्र है।

यह विचार करने पर ही अपना वास्तविक स्वरूप आत्मा प्रतीत होता है और उसमें कर्त्ता भाव का परिलक्षण ही नहीं है फिर बन्धन का प्रश्न ही नहीं और इसलिए उसे मुक्ति की भी कामना का आत्यान्तिक अभाव रहता है। क्योंकि आत्मज्ञान का लक्षण ही नित्य मुक्त अनुभव करना है।

अद्वैतवादी, जीव का मुक्त ह्रोना मुक्तरूप आत्मा मानते है और आत्मा एक अखण्ड होने के कारण शरीर रहित है परन्तु जीववादी विद्वान मुक्त होने पर भी शरीर की आवश्यकता समझते

हैं, क्योंकि शरीरों की विविधता के कारण ही वे एक दूसरे से पृथक रहते हैं परन्तु जीवों में भेदाभेद स्वीकार करने वाले विद्वान स्वभावतः मुक्त जीव को शरीर रहित या शरीर सहित दोनों अवस्थाओं में रहना स्वीकार करते हैं। इसी कारण जब पृथ्वीलोक में जीवनमुक्त को भी धर्म स्थापन या किसी सत्य की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यकता समझी जाती है तो वे अपने उसी कार्य के निमित्त शरीर धारण कर काम करते हैं और बन्धन मुक्त स्थिति में ही नियत कार्य की सिद्धि पर पुनः पृथ्वी लोक से विसर्जित हो जाते हैं। बल्कि यह ही अवतारवाद के अन्तर्गत उनका शरीर धारण करना है।

पुराण इतिहास और महाकाव्यों में भी इस तथ्य के भाव को अनेकों स्थलों में परिलक्षित करके जीवात्मा परमात्मा और अहंकार युक्त जीव को समझाने का प्रयास किया गया है।

श्रीरामचरित मानस में वर्णित है कि एक बार जब प्रभु श्रीराम पञ्चवटी में सुखासीन थे तो उनके समीप लक्ष्मण जी ने जाकर प्रश्न किया –

कहहुँ ज्ञान विराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

(अरण्य. १३/८)

ईश्वर जीवन भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जाते होइ चरण रति शोक मोह भ्रम जाइ॥

(अरण्य. १४)

तब प्रभु संक्षेप में ही लक्ष्मण जी को समझाते हुए कहते हैं – तब सबसे प्रथम तो संसार के स्वरूप या मायिक संसार का वर्णन –

मैं अरु मोर तोर तै माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

(अरण्य. १४/२,३)

या इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन की पहुँच है यह संसार या माया का स्वरूप है इसके पश्चात् माया के दो स्वरूपों का विवेचन करते हुए कहते हैं –

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ॥

(अरण्य. १४/४)

एक विद्या माया और दूसरी अविद्या माया है इसके पश्चात् प्रभु उस अहंकार के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते -

कि अविद्या माया के परिवार में एक दुष्ट है जो अत्यन्त दुःखरूप है, जिसके वशीभूत होकर जीव संसार रूपी कुएँ में पड़ा हुआ है वह अतिशय दुःखरूप दुष्ट ही अहंकार है

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा।
जा पर जीव परा भव कूपा॥

(अरण्य. १४/५)

अब आत्मा के स्वरूप का वर्णन

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥

(अरण्य. १४/६)

इस भाव में ''प्रभु प्रेरित'' या आत्मा और परमात्मा का स्पष्ट प्रतिपादन है। जीव स्वरूप के प्रतिपादन में -

माया ईश न आपु कह, जान कहिअ सो जीव।

या जो माया को, ईश्वर को और अपने स्वरूप को नहीं जानता है वही जीव है और

बन्ध मोक्ष प्रद सर्व पर, माया प्रेरक जीव॥

ईश्वर वह है जो कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देने वाला सबसे परे और माया का भी प्रेरक है। रामचरित मानस में एक स्थल पर श्रीमद् तुलसीदास ने जीव के यथार्थ स्वरूप का वर्णन संक्षेप में किया हैं : -

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

यह स्वरूप शुद्ध बुद्ध आत्मा का प्रतीक है। जिसमें चार गुणों की अभिव्यक्ति है। (1) अविनाशी (2) चेतनता (3) अमलता और (4) सुख की राशि का स्वरूप

भगवान श्रीराम के नामकरण के समय गुरू वशिष्ठ ने दशरथ भवन में पधारकर श्रीराम का उनके लक्षणों के अनुरूप नामकरण किया। भगवान श्रीराम के नामकरण में -

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सी कर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा॥

अब इनके गुण और लक्षणों पर विचार करने पर

(1) आनन्द सिन्धु और सुख की राशि

(2) आनन्द सिन्धु के एक बिन्दु से तीनों लोकों को सुपास या सुखी बनाने का गुण

(3) सुख के धाम

(4) सम्पूर्ण लोकों के शान्ति प्रदाता

इसमें जीव (आत्मा) के जिन गुणों का लक्षण सन्निहित है वह ब्रह्म राम के गुणों से मेल खाता है जैसे सुख की राशि की तदात्मता दोनों में हैं – क्योंकि प्रभु राम तो

सुख स्वरूप रघुवंश मणि मंगल मोद निधान।

या ब्रह्म राम में आनन्द सिन्धु की भाँति सभी प्रकार के सुखों की अनुभूति मूलक तत्वों की निधानता विद्यमान है क्योंकि वे सुख के प्रदाता है। यही ब्रह्मकी स्थिति है जब कि जीवात्मा में उसके मात्र अंश तत्व ही विद्यमान है। अतः सुखधाम नहीं बल्कि सुख राशि में है। दूसरी बात जीवात्मा में सहज अमलता का गुण है। या इसी को निर्मलता या विमलता कह सकते हैं।

या जीवात्मा की जो सहज स्थिति है उसमें संसार के मायिक तत्वों का सन्निवेश नहीं है, इसलिए अमलता है और ब्रह्म की प्राप्ति हेतु निर्मलता ही अभीष्ट है जब मन निर्मलता से अच्छादित हो जाता है तो ब्रह्म राम का कथन है –

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।

दूसरे शब्दों में जीवात्मा जो अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित है वह सुख की राशि स्वरूप है और दूसरी ओर जब वही मायिक दुर्गुणों से आच्छादित हो जाता है तो अपने यथार्थ गुणों से रहित हो जाता है। उसमें अहंकारकी वृत्ति तो सबसे भयावह और दुःखदायी है –

मानस रोग के वर्णन में अंहकार के लिए कहा गया है –

अहंकार अति दुखद डमरुआ।

या अहंकार अत्यन्त दुःख देने वाला गाँठ का रोग है गाँठ का कोई भी रोग बड़े मुश्किल से ठीक होता है या अहंकार के आच्छादित होने पर दुःख ही दुःख है और अहंकार से छुटकारा पाना मुश्किल है या जीव की मनोवृत्ति ही इस प्रकार की ही बनी है तो दुःख भोगने के अनन्तर भी उससे छुटकारा पाने का कोई भी उपाय कारगर नहीं है। यही अहंकार ही अमूर्तरूप में जीव की दुर्गति का कारक है।

महाभारत इतिहास ग्रन्थ में वर्णित महाभारत युद्ध की तैयारियाँ कौरव और पाण्डव दलों में सहजोरियों में चल रही थी। अर्जुन भी युद्ध का निमंत्रण देने के लिए द्वारिकाधीश के यहाँ द्वारिका

पहुँचे। भगवान श्रीकृष्ण के भवन कक्ष में जाकर देखा कि श्रीकृष्ण शयन में है, अतः उन्हें प्रणाम कर उनके चरणों की ओर उनके जागने की प्रतीक्षा में बैठ गये। इसके पूर्व दुर्योधन भी अपने पक्ष से युद्ध निमंत्रण के लिए वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण के सिरहाने तरफ उनके जागने की प्रतीक्षा में आसीन थे।

भगवान श्रीकृष्ण नेत्र खुलते ही उनकी दृष्टि चरणों की ओर बैठे पार्थ पर स्वाभाविक रूप से पहिले पड़ी। कुशलक्षेम के वार्तालाप के अनन्तर पार्थ ने अपनी युद्ध निमंत्रण संबंधी प्रार्थना भगवान को निवेदित कर दी। तभी दुर्योधन ने यह बताते हुए कि, वह अर्जुन से पूर्व ही वहाँ पहुँच चुके थे, अपना भी निमंत्रण अभिप्राय श्रीकृष्ण को बता दिया।

तब श्रीकृष्ण ने दोनों पक्षों का सम्मान करते हुए दोनों का निमंत्रण स्वीकार किया और कहा– ''एक तरफ एक अक्षौणी सेना अपने अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित युद्ध करेगी और दूसरी ओर मैं अकेले निहत्था मात्र सारथी का काम करूँगा। इस विभाजन की प्रक्रिया में मैं दोनों को संतुष्ट करना चाहता हूँ। परन्तु सबसे पहिले मैंने अर्जुन को देखा है इसलिए विभाजन के इन दोनों स्वरूपों में अर्जुन की चाह पहले रहेगी।''

अर्जुन स्थितप्रज्ञ थे और भगवान के ऐश्वर्य सामर्थ्य के रूप में भी अज्ञ थे अतः बिना किसी सोच विचार के उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण को सारथी के रूप में युद्ध के लिए वरण कर लिया।

इस पर दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ क्योंकि वह अहंकार का मूर्तिमान स्वरूप था। भगवान श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप के दर्शन करने के बाद भी वह उनमें भगवत्ता आरोपित करने का भावदर्शन अपने में नहीं जुटा पाया था।

इस कथा में श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा और अर्जुन आत्मज्ञानी के रूप में प्रतिष्ठित होकर दुर्योधन को अहंकार का प्रतीक बनाया गया। एक प्रकार से यह अर्जुन के मनोबल की ही नहीं आत्मबल की भी परीक्षा थी जिसमें वे उत्तीर्ण हुए और उन परमेश्वर श्रीकृष्ण से अनेकानेक न टल सकने योग्य विपत्तियों को श्री कृष्ण कृपा बल से झेलकर महाभारत के युद्ध में विजयी हुए।

पर परोक्ष रूप में इस परीक्षा के अनन्तर ही उनको भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से गीता का योगतत्व सुनने का और उन्हीं के विराट स्वरूप के दर्शन का अधिकारी श्रीकृष्ण के द्वारा उन्हें सुलभ किया गया।

इतना ही नहीं सञ्जय ने तो महाभारत युद्ध के पूर्व ही युद्ध के परिणाम की घोषणा तक कर दी। जो गीता के अन्तिम श्लोक में है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णोयत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्री विंजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

इस प्रकार जीवात्मा रूप में अर्जुन ईश्वररांश आत्मा का वरण कर अपने इष्ट फल की प्राप्ति सहजता से कर पाते है, तो दूसरी ओर दुर्योधन अपनी अहंकार की वृत्तियों में इतने सहजोरी से आच्छादित हैं कि उन्हें अपनी आत्मा के विषय में आभास ही नहीं है कि उस तरफ भी वे कुछ सोच तो सकें। बल्कि वह अपने अहंकार वृत्ति के कारण अपनी अनुकूलताओं में श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त ''नारायणी सेना'' पाकर अर्जुन को मूर्ख और अपने को चतुर मानते हैं।

इस तरह दुर्योधन अहंकार का प्रतिनिधित्व करता है और उसका परिणाम भोगता है तथा अर्जुन अपने अमल और अचल मन से शुद्ध आत्मा के प्रतिनिधि बनकर, भगवान के परम ऐश्वर्य के ज्ञाता बन कर उभरते हैं। दुर्योधन का अहंकार तब अतिक्रमित स्थिति में देखने को मिलता जब वे भीमसेन के साथ गदा युद्ध में घायल स्थिति में होकर मरनासन्न स्थिति में पहुँचकर अपनी साँसे गिन रहे हैं और अपने दल के बचे मात्र तीन महारथियों अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य के बल पर ही अश्वत्थामा को सेनापति के रूप में वरण कर पाण्डवों के सिर काटकर ले आने का आदेश देते है।

दूसरी ओर भगवान कृपाबल पर आश्रित धर्मात्मा आत्मज्ञानी पाँचों पाण्डव अश्वत्थामा के क्रूर और रूद्र रूप के आक्रमण में भी अपने को बचा लेने में सक्षम होते हैं। क्योंकि उन्हें परमात्मा श्रीकृष्ण रक्षा कवच के ही स्वरूपभूत सुलभ हैं इसका ज्ञान पाण्डवों को है।

तुलसीकृत रामचरित मानस में वर्णित मिथिलापुरी में धनुष भंग के पश्चात सीता जी द्वारा श्रीराम को जयमाला की प्रक्रिया हुई उसके तुरन्त बाद ही अहंकार से भरे हुए क्रोधावेष में भगवान परशुराम का आगमन हुआ। इस स्थल में परात्पर ब्रह्म श्रीराम है, आत्मज्ञानी लक्ष्मणजी, और अहंकारी परशुराम है। अहंकार के वशीभूत होकर परशुराम राजा जनक से कहते हैं –

अतिरिस बोले वचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥

और – **वेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तब राजू॥**

परन्तु ब्रह्म अनुगामी अभय ल़क्ष्मण जी ने परशुराम को उनके बढ़ते क्रोध में आहुति बनकर उत्तर दिया। क्योंकि रामानुगामी आत्मज्ञानी लक्ष्मण इस बात को समझते हैं कि राम ब्रह्म को उनके (परशुराम) अहंकार मात्र का दमन करना है और उनको अपने ऐश्वर्य का ज्ञान कराना है, ताकि अहंकार के वशीभूत होने से वे अपने को बचा सके इसलिए परशुराम के बारम्बार ललकारने और युद्ध करने की चुनौती पर भी ब्रह्म को यह अभीष्ट है कि उन्हें श्रीराम के ऐश्वर्यरूप का ज्ञान हो और अन्त में श्रीराम के संकल्प स्वरूप भगवान परशुराम अपने क्रोधावेश का परित्याग कर दिया। श्रीराम को जानकर परशुरामं आत्मज्ञानी और परमात्मा के आश्रयी बनकर उन दोनों से अपने अहंकारवश किये कृत्य के लिए क्षमा माँगने को बाध्य हुए।

अनुचित बहुत कहेऊ अज्ञाता। क्षमहु क्षमा मन्दिर दोउ भ्राता॥

तात्पर्य यह कि जब अहंकार अपने स्वरूप को परमात्मा या आत्मज्ञानी को श्रेयस्कर समझ कर विसर्जित कर देता है, तो इसके पश्चात् उसके दु:ख भोक्ता के रूप में उसकी स्थिति नहीं बनती है और वह किसी प्रकार से आत्म तत्व के लिए सद्पात्रता के अंतर्गत मान्य है। इसलिए परशुराम ब्रह्मराम की जयकार कहकर वन गये।

कहि जय जय जय रघुकुल केतु। भृगुपति गये वनहि तप हेतु॥

यथार्थ तो यह है कि अहंकार का समूल नाश तो सम्भव ही नहीं है, उसके स्वरूप को बदला जा सकता है या जब अहंकार आत्मा में लीन हो जाता है तो उसकी वैकारिक स्थिति अपने आप उसी आत्मा में ही समाहित हो जाती है और वह अहंकार भी आत्मस्वरूप होकर गौरान्वित हो जाता है। अहंकार के अधिष्ठान देवता तो भगवान शंकर है इसलिए अहंकार को बस में हो जाना तो स्वभाविक नहीं है अहंकार को अपने वश में कर पाना यह तो असंभव ही है तब उसकी सामर्थ्य को पद दलित करने के लिए केवल आत्मा में उसका विलय ही है।

भगवान शंकर अहंकार के अधिष्ठान देवता तो है परन्तु जब वे आत्मा में लीन हो जाते हैं तब उनकी स्थिति में मूलभूत स्वभाविकता का सृजन होता है वे बोधमय स्थिति में समाधिस्थ होते हैं या उस ज्ञानामृत का पान करते हैं जो ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे हैं और जिनकी गुरू रूप में वन्दना की जाती है।

वन्दे बोधमयं नित्यम् गुरुं शंकर रुपिणम्॥

और वे ही भगवान शंकर बोधमय स्वरूप में जब श्रद्धा के साथ होते हैं तो विश्वास रूप बनकर सिद्धजनों के लिए परमात्म दर्शन के लिए सिद्धि प्रदान करते हैं। यथा

भवानी शंकरौ वन्दे श्रृद्धा विश्वास रूपिरौ।
याभ्याम् विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥

अहंकार की वृत्ति विनाशकारी है यदि वह संसारिक विलास की आवृत्तियों के घेराव में कार्यशील है। परन्तु वही अहंकार जब परमात्मा के लिए कार्यशील बनकर अपना स्वरूप दर्शन करता है, तब वह वन्दनीय हो जाता है जैसे रामचरित मानस में मुनि सुतीक्ष्ण भगवान श्रीराम से कहते हैं -

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इसमें भी अहंकार की वृत्ति है, परन्तु वह प्रभु राम के प्रति सेवकत्व की है, अतः यहाँ

वही अहंकार भाव शिरोमणि बन जाता है। तब प्रभु श्रीराम ने उनके इस अभिमान जनित भाव का स्वागत करते हुए -

सुनि मुनि वचन राम मन भाये। बहुरि हरषि मुनि वर उर लाये।।

तो इस प्रकार का अभिमान तो अपने प्रभु के प्रति अनन्यता है। इसी प्रकार भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त गोस्वामी तुलसीदास ने अपने भाव दर्शित किया था। वृन्दावन में सूरदास के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के श्री विग्रह को साष्टांग प्रणाम करने के अनन्तर भी वे नहीं झुके तब श्रीराम को ही तुलसीदास की इस अनन्यता के सामने भक्त के भाव को रखना पड़ा और उन्हें धनुष-बाण के साथ श्रीराम का श्री विग्रह बनकर गोस्वामी तुलसीदास को दर्शन देकर कृतार्थ करना पड़ा।

अतः आत्मा के संदर्भ में निरापद सत्य यह है कि मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और अहंकार, साक्षी आत्मा के दृश्यमात्र है, आत्मा स्वयं प्रकाशवान हैं, जब अहंकार मन बुद्धि की वृत्तियाँ जो प्रकृति निर्मित है, आत्मा को अपने वैभव विलास से आच्छादित कर देती है तभी अज्ञान की वृष्टि होती है।

अहंकार वृत्ति की न तो अवहेलना वाञ्छनीय है और न उसको समूल नष्ट करने की अवधारणा। वह तो आत्मा के प्रकाश के प्रकाशित होकर उसी में लीन होने पर अपनी वृत्ति को बदल सकता है और जीव के लिए विधायनी शक्ति का स्वरूप ले सकता है।

और आत्मा की स्वरूप स्थितियाँ तो अपनी ही है, उसे कहीं दूर नहीं खोजना है, हम आत्मा स्वयं हैं, अपनी सत्ता हम सहज ही अनुभव करते हैं, तो उसे यह सिद्ध करने के लिए किसी बाह्य प्रमाण की ही आवश्यकता नहीं है।

हृत्प्राप्य सद्धाम निज स्वरूपे। स्वभाव सिद्धेऽनुपलभ्य निष्ठाम्।।
माया विलासः सदसत्सरूप। विरूपना नैक मुख प्रवादः।।

अर्थात् हृदय में प्राप्य अपना स्वरूप स्वतः सिद्ध है और वही सद्धाम है, उसमें निष्ठा प्राप्त किये बिना आत्मा सत है या असत् है, साकार है या निराकार इत्यादि नाना प्रकार के विवाद माया विलास ही है।

अतः सद्वस्तु के कभी अभाव होने का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए वह सदा उपलब्ध है। इसीलिए सनकादिक इसी आत्मा के आनन्द में लयलीन होकर छोटे बालक के रूप में दिखलाई पड़ते है, इस आनन्द में कोई विघ्न उपस्थित होने के डर से उन्होंने अपने को पाँच वर्ष के बालक होने का वरदान प्राप्त किया।

ब्रह्मनन्द सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥

श्री शुकदेव जी महाराज गर्भस्थ स्थिति में अपने आत्मानन्द में इतने तल्लीन थे कि उसके विक्षेप के डर से गर्भ से बाहर आने की उनकी मनःस्थिति नहीं होती थी। भगवान श्रीकृष्णा के गर्भ में ही दर्शन देने और इस आश्वासन के बाद कि जन्म लेने के अनन्तर उन्हें संसार की माया व्याप्त नहीं करेगी और उनके आत्मानन्द में कोई व्यवधान नहीं होगा तब उन्होंने उदरस्थ स्थिति से बाहर आने में अपने को सक्षम पाया।

जन्म लेने पर उनके आत्मस्थ स्थिति की परिपक्वता इस स्थिति में संजोई हुई थी कि अपने अखण्ड ज्ञान के अंतर्गत उनमें भेद रहित ज्ञान की परिपक्व स्थिति का समूचा भान था और इस स्थिति में लिंग भेद तक का सांसारिक ज्ञान उनमें विद्यमान नहीं था। उनके ज्ञान के अन्तर्दृष्टि को जानकर सरोवर में नग्नस्थिति में स्नान करती हुई देवाङ्गनायें, उनके पास से गुजरने पर अपने शरीर के गुप्त अवयवों को ढकने की भी आवश्यकता नहीं समझती थीं। फिर सांसारिक सम्बन्धों की क्या बिसात है कि उनके आत्मज्ञान के सम्मुख अपने प्रभाव को तनिक भी स्थापित कर सके।

तो यह आत्मा तो सभी जीवधारियों में प्रकाशित है, पर उसकी ओर सम्मुखता न होने पर उसका तेज प्रकाश सांसारिक अनर्गल लौकिक आवरणों से ढक जाता है और वह संसारी जीव दुःख के अथाह सागर में गिरने के लिए बाध्य हो जाता है।

करोमि कर्मेति नरो विजानम्। बाध्यो भवेत्कर्मफलं च भोक्तुम्॥
विचार धूता हृदि कर्त्तृता चेत्। कर्मत्रयं नश्यति सैव मुक्तिः॥

अर्थात् "मैं कर्म करता हूँ" ऐसा मानकर मनुष्य समुदाय कर्मफल भोगने के लिए बाध्य होता है। यदि विचार करने से कर्त्ता भाव नष्ट हो जाय तो तीनों प्रकार के कर्मफल (सञ्चित प्रारब्ध और आगामी) नष्ट हो जाते हैं और जब कर्मफल भोग ही शेष नहीं है तो बन्धनकारी शरीर नहीं है और यही स्थिति मुक्तावस्था है और यही जीव की परमोत्कृष्ट स्थिति है और जीव की कृतकृत्यता का स्वरूप है, जिसके लिए जीव को इस संसार में वे अहैतुकी कृपासिन्धु परमेश्वर ने भेजा है।

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ॥

उत्तरकाण्ड ४४

अर्थात् जो मनुष्य ऐसे साधन पाकर भी भव सागर से न तरें या मुक्त नहीं हुए, वे कृतघ्न और मंदबुद्धि हैं और वे आत्म हत्या करने वाले की गति को प्राप्त होते हैं।

○●○●○

5. वैष्णव धर्म स्वरूप दर्शन

वेद, वेदांग, शास्त्र, पुराण, मनीषियों के तत्व चिन्तन का सार वैष्णव तत्व है, जिस तत्व का बोध एवं दर्शन कराने के लिए स्वयं भगवान शंकर परम वैष्णव है (वैष्णवाणां यथा शम्भुः) जिस वैष्णवता के कारण भगवान अगस्त समूचे समुद्र का जल पी गये। जिनके नाम प्रसाद से प्रह्लाद भक्तों में शिरोमणि माने जाते हैं। जिन वैष्णव गुणों के धारक श्री हनुमान जी महाराज अपने आराध्य श्रीराम को बस में किये हुये हैं। राक्षस कुलोद्भव बलि जिस वैष्णव धर्म से समन्वित होकर त्रैलोक्य विजयी रावन को लड़कों से बँधवा कर घुड़साल में रखवा दिया। जिस धर्म के पालक महाराज अम्बरीष का, तनिक अपमान करने के कारण परम तेजस्वी और उग्र तपोनिष्ठ दुर्वासा ऋषि त्राण पाने के लिए लोक लोकान्तरों में भटके परन्तु कहीं भी शरण न पाने से परम वैष्णव अम्बरीष ने ही उन्हें अभय किया।

शूद्र कुल में उत्पन्न, जिसकी छाया तक छूने मात्र से पुनः स्नान करके पवित्रता लाई जाती है उसी नीच जाति में जन्मे भक्त रैदास के चरणों की धूल राजा महाराजा तक अपने सिर में धारण कर अपने को पवित्र धन्य और कृतकृत्य मानते थे, क्योंकि रैदास परम वैष्णव थे, विधर्मी और यवन जाति में पलित होकर वैष्णव धर्म की स्वीकारोक्ति और उसके आचरण से भक्त हरिदास को भोजन कराने का लाखों ब्राह्मणों के भोजन कराने से भी अधिक पुण्यफल था। परम भागवत जड़ भरत को बलि देने के लिए जैसे ही डाकुओं के सरदार ने हाथ उठाया कि देवी के शरीर में दाह होने लगा और उन्हीं ने अपनी ही खड्ग से सभी डाकुओं के सिर काट लिए। इस प्रकार जड़ भरत की रक्षा अव्यक्त रूप से उन्हीं के वैष्णव होने और वैष्णव धर्म में आरूढ़ होने से हुई। अतः भगवद् धाम में जाने के लिए यह धर्म राजड़गर के समान सीधा और सरल है।

विष्णु शब्द का अर्थ व्यापकतया है जो वेदों में बार-बार उद्धरित किया गया है। यह शब्द परात्पर पूर्णत्तम् परब्रह्म परमात्मा का ही स्वरूप वाचक है। अस्तु उस वेद उद्धृत परब्रह्म को सर्वव्यापी होने से विष्णु कहते हैं। यही नहीं विष्णु के सभी अवतारों का भी यह मूल कारक है, या अवतार काल में भी अव्ययात्मा और व्यापकता से यह प्रथक नहीं होता तथा जिन विशेष गुणों से आविर्भूत हो कर अवतार का स्वरूप गत लक्षण है, वह विशेष रूप से प्रकट होता रहता है, जैसे श्रीराम का पुरुषोत्तम स्वरूप और भगवान भी कृष्ण का योगेश्वर रूप।

तुलसीकृत रामचरितमानस के अनुसार उस परं ब्रह्म का स्वरूप, जो परमार्थवादियों के लिए धेय अगुन अखण्ड अनन्त अनादि है। वही परं ब्रह्म स्वरूप है, परन्तु इसके अनन्तर

शम्भु विरञ्चि विष्णु भगवाना।
उपजहि जासु अंश ते नाना।।

रामचरित मानस १/४४/६

इस प्रकार जब श्रीराम की अनन्त महिमा का वर्णन अव्यक्त से व्यक्त हुआ, तो वर्णन है,

विष्णु कोटि सम पालन कर्त्ता।

दूसरे शब्दों में जैसे यह बात कही जा रही हो कि श्रीराम की सत्ता से श्री विष्णु भगवान की सत्ता अलग और श्रीराम की पालनकारिणी सामर्थ्य विष्णु के कोटि सम है।

परन्तु पालनात्मिका शक्ति समन्वित रमा-लक्ष्मी बैकुण्ठ के अधीश्वर भगवान का नाम विष्णु विशेष ही है। वे सर्वाधीश्वर ही सृष्टि की पालनशक्ति को अपने आधीन किये है और सृजन तथा संहार शक्ति को क्रमशः ब्रह्मा और शिव को समर्पित किए हैं। अतः निराकार ब्रह्म स्वरूप ही अपने विष्णु स्वरूप में सृष्टि पालन का कार्य संचालित करते हैं। अतः सृष्टि नियमन के साथ वे ही सर्वव्यापक, सर्वाधार है।

या - कह सकते हैं, वे ही परात्परपरं ब्रह्म परमेश्वर सर्व व्यापी होकर सृष्टि संरक्षण के लिए सगुन रूप में चतुर्भुज रूप धारण कर विष्णु शब्द का विशेषण जोड़ कर विशेष्य की महत्ता अर्थात् व्यापकता प्रकट करते हैं। अस्तु यह निर्विवाद है कि व्यापक होने से ब्रह्म को विष्णु कहा जाता है।

अतः सृष्टि का पालन नियमन भगवान विष्णु के अनन्त शक्ति सामर्थ्य के एक अंश मात्र का ही कार्याधिकार है। इसी प्रकार जब वे ही विष्णु ब्रह्मा और भगवान शिव के समान प्रतीतमान है तब तो उसी प्रकार के कार्याधिकार के अन्तर्गत ही उनको समझना है। श्रीराम अखण्ड अनन्त भी हैं और भगवान विष्णु के अवतार भी। भगवान विष्णु अनादि और निर्गुन है, उसी प्रकार उनका बैकुण्ड धाम भी उन्हीं के समान गुणों के तन्द्रुप प्रतिष्ठित है भगवान श्री कृष्णा का गीता में कथन है कि -

न तद्भासायते सूर्योन शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाभं परमं मम।।

श्री कृष्ण कहते हैं कि उस स्वयं प्रकाश परम पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता, न चन्द्रमा और न अग्नि ही, वही मेरा परम धाम है। जिस परमपद को प्राप्तकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं।

यत्र न सूर्यस्तपति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदा शिव ब्रह्मादि वन्दितं योगिध्येयं परपदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः।

(बृहज्जवाल उपनिषद् ८/६)

अर्थ – जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है, जहाँ दुःख प्रवेश नहीं करते हैं, और जहाँ जाकर योगी जन लौटते नहीं है, वह सदानन्द, परमानन्द, शान्त, सनातन, सदा कल्याण स्वरूप, ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा वन्दित योगियों का ध्येय परम पद है।

श्रुति में भी कहा गया है –

तमेव मान्त मनु भाति सर्वंतत्य भासा सर्वमिदम् विभाति।

वे (सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र) सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित होने पर उनके पीछे पीछे प्रकाशित होते हैं और उनके प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है।

कठोपनिषद् २/२/२५

इस प्रकार भगवान विष्णु का परम धाम सच्चिदानन्द स्वरूप अप्रमेय, अचिन्त्य, और अनिर्वचनीय है। इसलिए ब्रह्मोपनिषद् में उस धाम के विषय में तो यहाँ तक कहाँ गया है –

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

या – जहाँ से मन के सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती हैं, अर्थात् उसका स्वरूप किसी प्रकार भी बतलाया या समझाया नहीं सकता है।

उस अनिवाशी परमपद को जिन लक्षणों से युक्त योगीजन प्राप्त करते हैं, श्रीकृष्णा गीता में कहते हैं :-

निर्माण मोहाजित सङ्ग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्त कामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः दुःखसुख संज्ञैर्गच्छन्त्य मूढ़ाः पदमव्ययम् तत्॥

गीता १५/५

अर्थात् – जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है। जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनायें पूर्णरूप से नष्ट हो गईं हैं, वे ज्ञानी जन उस परमपद को प्राप्त होते हैं।

यह तो ज्ञानियों की प्राप्य स्थिति का स्वरूप है परन्तु वैष्णव धर्मावलम्बी उस ज्ञान की पराकाष्ठा को सहज में ही प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

गीता अध्याय ..., श्लोक ९,१०,११ में भगवान श्री कृष्णा कहते हैं :-

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यम् तुष्यन्ति चरमन्ति च॥
तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहम ज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

अर्थात् - निरन्तर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले वैष्णव प्रेमी भक्तजन भक्ति की चर्चा के द्वारा वापस में मेरे प्रभाव को जनाते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझे में ही रमन करते हैं, यो उन प्रेम पूर्वक भजने वाले को मैं वह तत्व ज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझे ही प्राप्त होते हैं। ध्यान में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वालों भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए उनके अन्तःकरण में मैं स्वयं ही उनके अज्ञान जनित अंधकार को प्रकाशमय तत्व ज्ञान रूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ। ऐसे परम वैष्णव या भागवत धर्मारूढ़ जन जो किसी प्रकार की फलाकांक्षा की चाहना न करते हुए अनन्य प्रेमभाव से निरन्तर भगवान विष्णु या उनके अवतारों की निरन्तरता से भजन करते हैं। उनका भाव सर्वतोभावेन श्रीमद्भागवत (६/११/२५) में दर्शित है -

न नाकपृष्टं न च पारमेष्ठयं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीर पुनर्भवं व समञ्जसत्वा विरहय्यकांक्षे॥

ऐसे भक्त भगवान से कहते हैं, आपको त्याग कर न तो मैं स्वर्ग में सबसे ऊँचा निवास चाहता हूँ, न ही, ब्रह्मा का पद चाहता हूँ, न समस्त पृथ्वी का राज्य, न पाताल लोक का अधिपत्य, योग की सिद्धि,-अधिक क्या कहें, मैं मुक्ति भी नहीं चाहता हूँ।

भगवान विष्णु का परमानन्द स्वरूप वह धाम वैष्णव धर्म परिपालक भक्तों के लिए अति सुगम है। जिसे इस जगत में ज्यों का त्यों रहते हुए भी वैष्णव पद सा ही भासित होता है, मन में संसार की वासना का पूर्णरूप से तिरोभाव हो, वही वैष्णव है।

जिसके समीप पहुँचने पर पापी के हृदय में भी भगवत्भक्ति का स्फुरण होने लगता है वह वैष्णव है।

वैष्णव का हृदय श्रद्धा की साकार मूर्ति होता है, श्रद्धा से ही आस्तिक भावना का उदय होता है और उसका हृदय सद्गुणों का भण्डार होता है।

वैष्णव जन 'भागवत धर्म पाराङ्गत सद्गुरू' की शरणागति ग्रहण करके विशुद्ध वैष्णव बनते हैं। भगवद्धर्मों का प्रशिक्षण सदाचार्य के संरक्षण, प्रभु सामीप्यता में ही सहज भाव प्राप्त कर उनके अनुगत होते हैं। भगवन्नाम पूर्वक दासान्त नाम वैष्णवों को आवश्यक है, ताकि उन्हें यह अभिमान

हमेशा बना रहे कि मैं भगवान के आश्रित हूँ, तथा उनक़ा नित्य ही सहज दास हूँ। नाम जैसे रामदास, रामचरण दास, आदि।

वैष्णव भक्त और भगवान में भेद नहीं मानते हैं, बिना सन्त सेवा के भगवान की सेवा का कोई भी मूल्य नहीं है, भक्तो के सेवन से ही भगवान को तुष्टि पुष्टि समझते हैं। सन्तों का सम्मान, समागम और अनुरक्ति यह वैष्णव का साध्य है; सन्त सम्मिलन के आनन्द में वे भगवान को भी भूल जाते हैं और तब उस वैष्णव पर भगवत कृपा का विशेष प्रसाद सहज हो जाता है। यथा-

मानत सुख सेवक सेवकाई।

रामचरित मानस, अयोध्या ११८/३

भक्तों का भोजन वैष्णव प्रदत्त भगवत प्रसाद ही सानुकूल होता है, किसी प्रकार शारीरिक निर्वाह में ही उन्हें प्रसन्नता रहती है, इसलिए अपनी देह यात्रा में वह चिन्तित नहीं रहता है। वैष्णव के कर्म प्रभु प्रीत्यर्थ एवं प्रेम के पुट से परिपक्व हरिस्नेह को वृद्धिगत करने वाले होते हैं।

भक्त वैष्णव के हृदय कोष में धर्म स्वयं रहने में सुख का अनुभव करता है। या धर्म ही भगवत पारायण वैष्णवीय भेषों को धारण कर वैष्णव धर्म के साक्षात् विग्रह हो जाते हैं।

वैष्णवों के हृदय देश में अज्ञान का दर्शन अलभ्य रहता है। यथा -

भरत हृदय सिय राम निवासू।
तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासू॥

उसका मन अचञ्चल और आत्मा का मित्र होता है, तथा बुद्धि भगवत भागवत के विमर्श में ही लगी रहकर परमार्थ तत्व में विलीन हो जाती है और वैष्णव को सच्चिदानन्दमय बनाकर कृत कृत्य हो जाती है।

वैष्णव की आत्मा भगवान के दिव्यातिदिव्य गुणों का अनुभव करके प्रेम आधिक्य के कारण परमानन्द में समाहित रहती है, उस आनन्द से एक क्षण से भी अलग होना उसके लिए परम दुष्कर हो जाता है।

वैष्णव जनों की भक्ति भगवदनुकूलता तथा तद्विरोधी वर्ग के उदासीनता ग्रहण किये हुए अहंकार शून्य होती है।

वैष्णवों का अनुराग अपने इष्टदेव के आनन्दमय मुखोल्लास का अवलोकन कर प्रतिक्षण वृद्धिगत होता रहता है। वैष्णव धर्म में अनन्यता का पूर्णभाव निहित होता है, या समूचे संसार को ही भगवत स्वरूप समझना यही अनन्यता है। यथा -

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त।

रामचरित मानस, किष्किंधा (3)

बिना अपनत्व के प्रेम के दर्शन सम्भव नहीं है। इसलिए वैष्णव वैष्णवीय गुणों का धारक बनकर अपने स्वभाविक रुचि के अनुकूल भगवान से भक्ति प्राप्त्यर्थ भगवान को अपना पुत्र स्वामी पिता, माता, शिष्य, गुरू, सखा, भक्त, भर्ता मानकर रसोपांसना करता है। जीव का ईश्वर के साथ तो सहज सम्बन्ध है, यह वैष्णव समझकर रसोपासना करता है।

इस प्रकार के दृढ़ ज्ञान से संयुक्त वैष्णव, रसोपासना पद्धति को स्वरूपतः अपना लेते हैं। वैष्णव अपने भगवन्त प्रभु के प्रेमाधिक्य के कारण भगवान के सौन्दर्य और माधुर्य में जब प्रवेश करते हैं, तव प्रेमास्पद के प्रति वैष्णवों के हृदय पटल से ऐश्वर्य का अभाव होने लगता है और शनैः शनै वैष्णव रसिक बन जाते है रागात्मिका भक्ति ही रसात्मिका है। इस प्रकार प्रेमास्पद के प्रेमाधिक्य के कारण ही पूर्णारूपेण रस का परिज्ञान रखते हुए परम रसिक बनकर भक्ति के पर्यावसान से स्वयं रसमय बन जाते हैं। और ब्रह्म ही रस और रस ही ब्रह्म है, ऐसे अभेद अन्तर्दृष्टि में सराबोर रहकर नित्यशः अपने प्रेमास्पद से मिलन की स्थिति में लयलीन हो जाते हैं। यही रस की प्राप्ति ही परमानन्द है। इतना ही नहीं बल्कि जो परम वैष्णव हृदय प्रधान होते हैं, उन्हें स्वयं प्रेमास्पद प्रभुरस पद्धति से मिलने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, और वे उस वैष्णव भक्त के हृदयस्थल में उसी प्रकार के सम्बन्ध का स्फुरण उत्पन्न करते हैं, जिस सम्बन्ध रस का उन्हें अस्वाद लेना होता है। इस प्रकार वे वैष्णवी भक्ति धारक, उत्तरोत्तर रस पाक प्रक्रिया से अपने भगवान का भोग्य बन जाना, ही चरमोत्कर्ष पुरुषार्थ समझते हैं।

जब परम प्रेमास्पद प्रभु के चरण कमलों की प्रीति चरम सीमा में आ जाती है, तब तत्क्षण प्रेमी वैष्णव परबस भगवान, उस परम भक्ति पारायण भक्त के आँखों के विषय बन जाते हैं और वह रूपोपासक रसिक वैष्णव भक्त रूप रस पीते पीते भी तृप्ति का अनुभव नहीं करता है।

भगवान का सौन्दर्य माधुर्य महोदधि सौकुमार्य सुधा सिन्धु, शारदीय शत शत चन्द्र विजित, करोड़ों कन्दर्प दर्पदलन कारी बरानन के साथ रूप रस रसिक परम ऐकान्तिक प्रिय वैष्णव एक क्षण के लिए भी इस परमानन्द सिन्धु सार के परमानन्द को नहीं छोड़ता।

वृन्दावन में एक प्राचीन मन्दिर के कुञ्ज में ब्राह्मण कूलभूषण परमरसिक सन्त सखी भाव में भगवान राधारमण की अपने नाक में नथ धारण किये हुए उपासना करते थे। नथुनी बाबा के नाम से ही उनकी प्रसिद्धि थी। छः माह बीतने पर एक बार उनके कुञ्ज का द्वार खुलता था। उसी समय वृन्दावन के सभी भक्त सन्त सखी जी का दर्शन करने जाते थे। उन भक्त सन्तों में सखी भाव में रागानुगा भक्ति में लयलीन साहजी भी थे। साहजी को देखकर प्रेमप्रवाह अश्रु

विमोचित आँखों से देखकर नथुनी बाबा गद्‌गद् वाणी में बोले, ''दारी आई क्या? जीवन सफल करने में किसी को पास न रखना।'' तब शाह जी ने कहा ''हाँ जी आप के पास आई हूँ। अभिलाषा पूरी कीजियो।''

नथुनी बाबा द्वारा प्रस्तुत रसिक मोहन का विरह गीत सुन कर सन्त मण्डली आनन्द मग्न हो गई। पुनः जब साहजी उनसे बोले ''कभी ललित कुञ्ज में पधारो।'' इस अन्यत्र पधारने की बात पर नथुनी बाबा ने अपने प्रत्युंत्तर में कहा ''यदि गोड़ा छोड़े तो।'' तात्पर्य यह कि एक क्षण के लिए भी उन मदन मोहन के मिलन का तार ही नहीं टूटता। तो उसको छोड़कर बाहर कैसै जाया जा सकता है।'' यह सुनकर साह जी गद्‌गद् हो गये और पुनः प्रणाम कर अपने ललितकुञ्ज में वापस आ गये।

श्रीमद्‌भागवत महापुराण के प्रणयन कर्त्ता भगवान वेदव्यास ने परम भागवत देवर्षि नारद के परामर्श से ही अपनी मानसिक अशान्ति के प्रवृत्ति से मुक्ति पाने के लिए इस महापुराण की रचना की और नामकरण में ही श्रीमद्‌भागवत या भक्तिरस का रसायन या वैष्णव धर्मपालकों का सुधारस या भक्तों के और भगवान के गुणों का गायन यही तो श्रीमद्‌भागवत है। इस महापुराण संहिता की रचना के पश्चात् भगवान वेद्‌व्यास को आत्मिकतुष्टि का भान हुआ।

श्रीमद्‌भागवत में वैष्णव धर्म के लक्षणों का स्वरूप भगवान ऋषभदेव के पुत्र योगेश्वर कवि के श्रीमुख द्वारा उद्धरित है जो उन्होंने मैथिल वंश के पूर्वज महाराज निमि के प्रश्न करने पर उत्तर रूप में राजा को उपदेश स्वरूप में दिया था। योगेश्वर कवि ने राजा निमि को सम्बोधित करते हुए कहा राजन! ''भगवान विष्णु अच्युत की नित्य उपासना ही परम कल्याण का साधन है। यह भागवत धर्म का साधन अति सुगम है - असत् मायिक पदार्थों से अहंता ममता के कारण जिनकी चित्तवृत्ति उद्धिग्न हो गई है, उनका भय भी इस उपासना में पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। वह शरीर से, वाणी से, मन से और इन्द्रियों से अहंकार वश अनेक जन्मों के संस्कारित स्वभाव से जो जो करे वह सब परम पुरुष भगवान विष्णु को समर्पित कर दें।''

ईश्वर से विमुख पुरुष को, उन्हीं की माया के कारण अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस प्रकार इस देह गेह आदि अन्य असत् वस्तु में तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, रोग, मृत्यु आदि अनेकों भय होते हैं, इसलिए अनन्य भक्ति के द्वारा आराध्यदेव और परम प्रियतम् भगवान विष्णु या उनके अन्य नाम का भजन करना चाहिए और लाज संकोच छोड़ कर उन परम प्रभु के गुणों, लीलाओं का गान करना चाहिए।

जो इस प्रकार का विशुद्ध व्रत ले लेता है, तो मात्र नाम कीर्तन के अनुराग से प्रेम का अंकुर उग आता है और उसका चित्त द्रवित होकर वह साधारण लोगों से ऊपर उठ जाता है। कभी

वह ऊँचे स्वर से अपने प्रेमास्पद प्रभु का गान करने लगता है। और स्वभाव से ही मतवाला सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी उन प्रभु की सन्निधि का अभाव होने पर फूट-फूट कर रोने लगता है, तो कभी कभी वह अपने प्रियतम को रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है।

इस प्रकार भजन के प्रत्येक क्षण में उसे भगवान के प्रति प्रेम, उनके स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में वैराग्य इन तीनों की उसे एक साथ प्राप्ति होती है और इस प्रकार वह वैष्णव परम भागवत हो जाता है और परम शान्ति का अनुभव करने लगता है।

राजा निमि के द्वारा भक्तों के लक्षणों का प्रतिपादन करने के लिए उत्तर स्वरूप दूसरे योगेश्वर श्रीहरि जी ने कहा - आत्म स्वरूप भगवान समस्त प्राणियों में आत्म के रूप से, निहन्ता रूप से स्थित हैं, इसलिए जो वैष्णव कहीं भी न्यूनाधिक न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ता को ही देखता हैं और साथ ही समस्त प्राणी ही आत्म स्वरूप भगवान में ही आधेय रूप से अथवा अध्यस्त रूप से स्थित है अर्थात् भगवत् स्वरूप है, इस प्रकार जिसका अनुभव है वह भगवत्प्रेमी ही उत्तम भागवत है।

सन्त नामदेव ने एक निर्जन स्थान में रोटियाँ बनाई और जैसे ही लघुशंका के लिए वहाँ से हटे वैसे ही एक कुत्ता रोटियों को मुँह में दबाकर वहाँ से भागा। नामदेव यह दृश्य देखकर घी की कटोरी लेकर उसके पीछे पीछे दौड़े। नामदेव यह कहते कहते कुत्ते का पीछा कर रहे थे कि ''प्रभु उन रोटियों में घी नहीं लगा है, उनमें घी तो लगा लेने दीजिए। फिर खाइये, भगवन!'' ऐसी स्थिति में नामदेव जी देखते हैं कि वह कुत्ता भगवत् रूप हो गया।

इस प्रकार जो भगवत् चरण कमलों से एक क्षण के लिए भी नहीं हटता वही पुरुष यथार्थ में वैष्णवों में अग्रगण्य है, और अपने आराध्य को प्रिय है। भगवान श्री कृष्ण जब परमधाम पधारने लगे तो अपने परम भक्त उद्धव जी को भावी विरह वेदना से अत्यन्त व्यथित और अशान्त देखकर अपने स्वरूप प्राप्ति के साधन रूप वैष्णव धर्म का ही उपदेश दिया, जिसे सुनकर परम भागवत उद्धव जी सर्वत्र ही अपने प्राणप्रिय भगवान श्री कृष्ण के दर्शन का अनुभव करने लगे और अपने विषम वियोग ताप से अपने को सम्हालते हुए भगवान श्री कृष्ण के आदेश पर बद्रिकाश्रम क्षेत्र चले गये।

गोस्वामी तुलसीदास परम वैष्णव थे। रामचरित मानस में उन्होंने अनेकानेक स्थलों में वैष्णव धर्म के लक्षणों का निरूपन तो किया ही है, साथ ही वैष्णव धर्म के विपरीत आचरण पर होने वाले असह्य दुःख का परिज्ञान कराते हुए कहीं भगवान श्रीराम के श्रीमुख से उपदेश स्वरूप या कहीं स्वतंत्र स्थिति में उपदेशात्मक विवेचना किया है।

एक बार अपने भाइयों सहित सुन्दर उपवन में आसीन श्रीराम ने श्रीभरत के प्रश्न करने पर उत्तर स्वरूप उपदेश देते हैं -

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अघमाई।।
निर्णय सकल पुरान वेद कर। कहेउ तात जानहि कोविद नर।।
नर शरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते सहहि महाभव भीरा।।

शरीर धारियों में नर नारियों के लिए परम प्रभु कहते हैं -

काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता। शुभ अरु अशुभ कर्म फल दाता।।

वैष्णव धर्म से समन्वित एक गीत महात्मा गाँधी को बहुत रुचिकर था, वे स्वर लय के साथ अपने आश्रम में उसे नित्य सुना करते थे -

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाने रे,
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक महँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।
राम नाम शुँताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमाँ रे।

श्रीराम प्रजा जनों को उपदेश देते हुए कहते है कि वैष्णवों का स्वरूपगत भाव बहुत सरल होता है, यथा -

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।।
बैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।।
प्रीति सदा सज्जन सन्सर्गा। तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा।।

इस प्रकार के आचरण से प्रभु परम प्रसन्न होते हैं उनका स्वयं कथन है -

यहि आचरण बस्य मैं भाई।

इसी प्रकार देवर्षि को उपदेश देते हुए वैष्णव गुणों के लक्षणों को प्रभु श्रीराम कहते हैं -

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।।
सम शीतल नहि त्यागहि नीती। सरल सुभाव सबहि सन प्रीती।।

श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।।
गावहि सुनहि सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला।।

जब वैष्णव में श्रीराम के द्वारा कथित लक्षणों का स्वरूप परिलक्षित होने लगता है तो उसके लिए स्वयं वे प्रभु ही यह प्रमाण पत्र देते हैं कि -

करहु सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसहि धन जैसे॥

श्रीमद्‌भागवत गीता में भी वैष्णव स्वरूप के गुणों और लक्षणों का भगवान श्री कृष्णा के श्रीमुख से बखान हुआ है। जो निम्न श्लोकों में वर्णित है -

अद्वैष्टा सर्व भूताणाम् मैत्रः करुण एव चः।
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखः क्षमी॥

(गीता १२/१३)

वह सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, स्वार्थ रहित सब का प्रेमी और हेतु रहित दयालु होता है तथा ममता से रहित दुखसुख की प्राप्ति में सम और क्षमावान होता है और -

सन्तुष्टा सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः।
मरयार्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः समे प्रियः॥

(गीता १२/१४)

वह हमेशा सन्तुष्ट मनइन्द्रियों के सहित शरीर को बस में रखता है और मुझमें दृढ़ निश्चय वाला होता है। ऐसा भक्त मुझको प्रिय है।

परन्तु मल के मूल, मलिन कलियुग में मन बुद्धि को द्वेष रहित बनाना कठिन साध्य इसलिए भी है कि इस काल में छलछिद्र और कपटजाल का चतुर्दिक नग्ननृत्य ही दृष्टि गोचर हो रहा है और भगवत्‌वाणी का यह निर्देश है कि -

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

●○●○●

6. परमार्थ का निर्गुणोपसना में एकत्व

परंब्रह्म परमात्मा का स्वरूप वाणी के द्वारा न तो विधि मुख से बतलाया जा सकता है, और न निषेध मुख से ही। उसके विषय में जो भी कहा जाता है, वह केवल शाखा चन्द्र न्याय से उसे लक्ष्य कराने के लिए। श्रुति का कथन

''यतो वाचो निबर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''

अर्थात् मन सहित वानी भी जिसे न पाकर वापस लौट आती है। वह ब्रह्म है। इसी कारण से भगवान ने गीता में कहा है - वह परमात्मा न सत कहा जा सकता है और न असत ही। परन्तु न सत् और न असत् के अतिरिक्त कुछ अवश्य है। वह जो कुछ भी है, वही परमात्मा तत्व को संकेत करने के लिए ही है।

काठोपनिषद का एक मन्त्र इस प्रकार है -

श्रवणायपि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि बहवोयं न बिदुः।
आश्चर्योवक्त कुशलोऽस्यलब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

जो बहुतों को सुनने के लिए भी नहीं मिलता, और बहुत से सुनने वाले भी जिसे नहीं जान पाते, उस आत्मा परमात्मा का वर्णन करने वाला कोई आश्चर्यमय पुरुष ही होता है। उसे प्राप्त करने वाला निपुण पुरुष भी कोई एक ही होता है तथा उसका ज्ञाता भी कोई कुछल आचार्य द्वारा उपदिष्टं आश्चर्य मय पुरुष ही होता है।

बहुत कठिनता से प्राप्त होने वाले इस तत्वदर्शन के अनंतर केनोपनिषद में यह भी आया है-

''इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा वेदी न महती विनष्टि''

अर्थात् - यदि इस मनुष्य शरीर में भगवान को जान लिया तो अच्छी बात है, यदि इस शरीर में न जाना, तो बड़ी भारी हानि है।

महाप्रलय या प्राकृतिक प्रलय के महाकाल में भी जो है, वही महाकाल की सत्ता भी जिसके अधीन रहकर कार्य करती है, वह अनादि ब्रह्म के स्वरूपभूत श्रुतियों के द्वारा गायन किया जाता है। या जिसकी सर्व सत्ता समग्ररूप से सर्वकालिक और अबाध है, वही सर्व सत्ताधारी परमेश्वर है। जिसका ज्ञान अपरोक्ष रूप से ही मननीय है। जिस अपरोक्ष साधन ज्ञान, ज्ञानमय विज्ञान के द्वारा उसका अप्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वही परमार्थ ज्ञान है, और वह परमार्थ ज्ञान एक होता है।

यथार्थ में ब्रह्म एक हैं, चाहे उसे मत मतान्तर धर्म सम्प्रदाय और मान्यताओं के द्वारा अनेक

रूपों में परिभाषित किया जाता हो। पर यथार्थ तो यह है कि एक से अनेक और अनेक से बहुसंख्यक स्वरूपों में भले ही उसकी मान्यताओं को समझ कर उसमें अनेक या एक की मान्यता को स्वीकार किया जाय, पर परमार्थ सत्य तो यही है कि वह एक है। जो दूसरा होगा वह सत्य का मात्र आभाष हो सकता है। इसलिए ब्रह्म में एक की ही अवधारणा ही परमार्थ तत्व का भाव दर्शन है।

इसको इस प्रकार समझने में अस्पष्ट ही सही, पर कुछ न कुछ प्रतीति की झलक तो स्पष्ट आभाषित होती है।

आदि नृप महाराज मनु ने यह अभिलाषा किया कि जो अगुन अखण्ड अनादि और अखण्ड ब्रह्म एक है। एक के अतिरिक्त न कभी था और न हो ही सकता है, उसे ही अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखने की महाराज मनु ने इच्छा किया। परन्तु जो अगुण अखण्ड और अनन्त है, वह तो वस्तुतः निराकार का स्वरूप है, और उस आकार रहित परमात्मा को नेत्रों के सामने नहीं प्रत्यक्ष किया जा सकता। नेत्रों का काम तो है रूप और आकार को ग्रहण करना। अर्थात् वह स्वरूप साकार ही हो सकता है।

अतः जब राजा मनु ने इसके आगे यह संकेत किया कि –

जो सरूप बस शिव मन माही।
जो भुसण्डि मन मानस हंसा॥

है, उन्हें –

"देखहि हम सोरूप भरि लोचन।"

परन्तु शिव जी और काक भुशुण्डि के मनमानस हंस स्वरूप तो श्रीराम हैं :-

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः सः भगवान
अद्वैत परमा नन्दात्मा यत्परं ब्रह्म स्वतस्मै नमो नमः॥

'ॐ' जो जगत प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र है, वे निश्चय ही भगवान है, अद्वितीय परमानन्द स्वरूप है जो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म तथा भूर्भुवः स्वः ये तीनों लोक है, वह सब कुछ वही है, उन श्रीराम चन्द्र जी को, मेरा निश्चय ही बारम्बार नमस्कार है।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः सः भगवानयश्चखण्डैकर
सात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै नमो नमः

(अथर्वशाखायाम् रामोत्तरतापिन्याम्)

एवं

राम नित्यम् परम ज्योति राम नित्यम् परात्परम्
रामनित्यम् परमज्ञानम् रामनित्यम् परमतपः

(अगस्त्य वचनम्)

श्रीराम शास्वत परम ज्योति है, श्रीराम ही परम नित्य परात्पर तत्व है, श्रीराम ही परम ज्ञान है, श्रीराम ही परम तप है।

उन ज्ञान स्वरूप परंब्रह्म श्रीराम को, राजा मनु के मानसिक उद्देश्य की पूर्ति में परमार्थ तत्व के विस्तारण की सम्पूर्ण स्थितियों का ज्ञान उन्हें था उन्हें। इसलिए शिव और काक भुशुण्ड के मन मानस हंस वे श्रीराम अपनी योगमाया सीता के साथ प्रगट हो गये। और अन्त में योगमाया सीता के स्वरूप दर्शन में श्री विश्ववास भगवान कहते हैं -

आदिशक्ति जेहि जग उपजाया।
सो अवतरहि मोरि यह माया।

पर राजा मनु शतरूपा तो द्वादशाक्षर मन्त्र का ही जाप करते थे, उनकी अभिलाषा में भी योगमाया के दर्शनों की कोई उत्कण्ठा समझ में नहीं आती है। फिर भी -

वाम भाग शोभति अनुकूला।
आदि सृष्टि छवि निधि जग मूला।।

इसके अतिरिक्त गीता के तेरहवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भगवान श्री कृष्ण का स्पष्ट कथन है -

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धय नादी उभावती।
विकारश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिं सम्भवान।।

अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तू अनादि जान, और रागाद्वैषादि विकारों को तथा त्रिगुनात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान।

इन तमाम स्थितियों के अनन्तर भी उन दोनों ही स्थितियों में विरोधाभाष नहीं है। क्योंकि परमार्थिक सत्य तो यही है कि योगमाया या प्रकृति या परमेश्वर की माया अनादि है। यही तो परमेश्वर की मूलशक्ति है, जो प्राकृतिक प्रलय में भी उन निराकार ब्रह्म के साथ ही अमूर्त रूप में ही विद्यमान रहती है, उसी को तुलसीदास ने जनकपुर के पुष्पवाटिका में श्रीराम और सीता के प्रथम मिलन में एक दूसरे के प्रति अध्यधिक प्रेमाकर्षण होने के कारण लिखा है -

प्रीति पुरातन लखै न कोई।

पुराण पुरुष तो एकमात्र ब्रह्म है, जो प्रलयान्तर में भी अपने स्वरूप में ही वह निरावरण और निराकार हो सकता है। तो योगमाया के साथ का सम्बन्ध तो पुराना या अनादि है। परन्तु वह अनादि शक्ति साकार रूप भी तभी से सम्भव है जब से संसार की उत्पत्ति हुई, दूसरी बात मनु तो यह समझ सकते थे, कि अनादि निर्गुण अखण्ड अनन्त ब्रह्म तो एक ही है, यदि योगमाया को आदि न कहा जाता तो मनु यह कह सकते थे कि मैं तो यह जानता था कि अनादि मात्र ब्रह्म है पर यह दूसरी जो आपकी योग माया है, यह भी अनादि है, तब तो आप दो अनादि हो गये।

अतः आदिशक्ति कहने में ही मनु के उनके दर्शन के तारतम्य में अभीष्ट परमार्थिक सत्य है, क्योंकि आदि की अलग से एक विशेषता भी तो है कि आदि शक्ति (कौन) जेहि जग उपजाया। या जग के उत्पत्ति की कारणभूता जो शक्ति है; वही योग माया है। अतः जग उत्पत्ति के आरम्भ में जो अस्तित्व में आने से आदि शक्ति के रूप में वन्दनीय है।

अनादि ब्रह्म का चिरसंग तो अनादि शक्ति से है, इसलिए अनादि श्रीराम और अनादि सीता जी का विवाह हुआ और पुनः वनबास हुआ। परन्तु तात्विक लीला विस्तार के लिए पंचवटी में श्रीराम सीता जी से कहते हैं –

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुशीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।
तुम पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौ निशाचर नाशा॥
जबहि राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरिहियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता। तैसइ शील रूप सुविनीता॥
लछिमन हूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥

परन्तु यह भगवान का लीला विलास का हेतु है, जो और तो क्यों शेषावतार लक्ष्मण जी से भी अप्रगट है।

लक्ष्मण समेत सभी जानते थे कि रावण के द्वारा सीता जी का हरण हो गया और जो सीता प्रभु श्रीराम के पास पंचवटी में रहती थी, वे अब रावण के आधीनस्थ लंका के अशोक वाटिका में की गई अपहृत नारी के रूप में लंका में ही है।

पुनः लंका में रावण वध के बाद श्रीराम ने सीता जी की अग्नि परीक्षा ली। लीला परिदृष्य के पश्चात् अग्नि से ही सीता को प्राप्त किया, और उन्हीं के साथ राजतिलक हुआ और उन्हीं का पुनर्वनवास भी। तथा बालमीक के आश्रम में निर्वासित होकर वहाँ रहने के बाद इस बार लीला

की सार्थकता और समग्रता के आधारभूत उनका पृथ्वी प्रवेश हुआ। भगवान श्रीरामचन्द्र जो दशरथ सुत है, वही राम का अखण्ड अनन्त ब्रह्म का लीला विग्रह का साकार ब्रह्मरूप है, जिसमें बाह्य लीला भक्तों के लिए है, जो लोकोपकारी रूप से चल ही रही है।

परन्तु एक अभ्यन्तर लीला है जो तत्वदर्शियों एवं पारमार्थवादियों के लिए अत्यानन्द के रूप में अपनी विशेष मार्मिकता के साथ ही समझी जाती है और वही परम सत्य रूप से ही परमार्थ है कि ब्रह्म अनादि की योग माया भी अनादि है। साधारण जीवधारियों की तरह उनका बिलगाव और मिलन नहीं होता है। अतः तत्व से सीता जी का पृथ्वी में प्रवेश होने पर भी अनादि ब्रह्म राम और अनादि उनकी योगमाया सीता विलग नहीं है।

कोकिल नाम के एक परम भक्त सीता जी के वनवासिनी स्वरूप के उपासक थे। इनके सद्गुरू स्वामी अविनाश चन्द्र जी महाराज एक उच्चकोटि के गुरूतत्व समन्वित महात्मा थे। इनको (कोकिल जी) उचित अधिकारी समझकर एक दिन उनके गुरू महाराज ने एक दिव्य झांकी का प्रत्यक्ष दर्शन कराया कि ''वाल्मीक आश्रम में गंगा जी का तट है और वहाँ हरे भरे वृक्षों की पंक्ति है, सब ओर करुणामयी हाहाकार की ध्वनि छा रही है, क्योंकि अवध की राजराजेश्वरी जनकनंदनी सीता आज पति परित्यक्ता हो कर वहाँ विलाप कर रही है। हा प्राणनाथ! हा रघुकुलचन्द्र! की पुकार उठ रही है, उनके आर्त्त कण्ठ से उनके अग्नि स्फुलिङ्ग के समान श्रीराम श्रीराम की अनाहत ध्वनि हो रही है। वे असहाया की भांति देख रही है, देखते देखते उनके मुख से एक चीत्कार निकलती है और वे बेहोश हो जाती हैं।''

झाँकी के दर्शन से कोकिल की दशा ही विक्षिप्त हो गई, शरीर में रोमाञ्च हो आया और वे अपने देह की सुध बुध भूल गये। सद्गुरू की आज्ञा से 'झाँकी ही उनकी ध्येय हो गई।' जनकपुर जाने में उन्हें यह अनुभव हुआ कि खण्डि दासी नामक बालिका के रूप में रह कर ये स्वामिनी जू की सेवा कर रहे हैं। ये दिव्य कोकिल पक्षी के भाव में स्वामिनी जूँ को उनके प्रियतम का प्रेम सन्देश सुनाते थे। और वहाँ से अयोध्या में पहुँच कर प्रिया जी की विरह वेदना सुनाकर भगवान श्रीराम का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट करते थे। उसी कारण ये भक्त कोकिल कहे जाते थे। अयोध्या आने पर इन्हें बड़ा उद्वेग होता था। वे कहते थे – ''जहाँ मेरी स्वामिनी नहीं है, वह अयोध्या किस काम की ? मेरी हृदयेश्वरी माता सीता को तो महाराज ने वन में छोड़ दिया है।''

तब अनेकों बार दर्शन देकर युगल सरकार सीता राम ने इन्हें समझाया कि ''हम लोग सदा एक साथ रहते हैं, यह त्याग और वनवास तो प्रजारञ्जन की एक लीला मात्र है।'' फिर भी उनका भावावेश कम नहीं होता था।

दूसरे शब्दों में लीला, जो लोकोपकारी है, वह तो आनन्ददायी है, परन्तु परमार्थिक सत्य तो यह है कि –

श्रुति सेतु पालकराम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुखपाइ कृपानिधान की॥

अनादि माया है, यदि ब्रह्म श्री कृष्ण है तो उनकी आज्ञा पालिका वे ही उनकी योगमाया है। प्रलय काल में वे ही उनकी योगनिद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है, और वही प्रलय समन होने पर आदि शक्ति के रूप में जग को उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में -

गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

के समान उनकी अभिन्नता है।

यही अभिन्नता आत्मा और परमात्मा की भी है, आत्मा परमात्मा का स्वरूप ही है -

उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥

(गीता १३/२२)

अर्थात् इस देह में स्थिति यह आत्मा, वास्तव में परमात्मा ही है। यही साक्षी होने से उपद्रष्टा, और सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सवका धारण पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीव रूप से भोक्ता और ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से परमात्मा ऐसा कहा गया है। इस प्रकार एक ही परमात्मा भिन्न भिन्न निमित्तों के कारण भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है, पर वस्तुतः उसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक है।

●○●○●

7. धर्मराज के सत्य धर्म में परमार्थ धर्म भारी, मैत्री भाव में श्रीराम और महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण का परमार्थ दर्शन

परमात्मा में अभेद दृष्टि ही परमार्थ ज्ञान की प्रतीति है। जब हम शास्त्रों के ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर इस तत्व का दर्शन पाते हैं, तब यह समझ में आता है कि वह परमार्थ तत्व परमात्मा की तरह न सत्य है और न असत्य।

महाभारत के युद्ध में पाण्डवों को यह ज्ञान था कि श्री कृष्ण साक्षात् परमेश्वर और परमार्थ तत्व स्वरूप ही हैं। भीष्म पितामह के शरशैय्या में लेट जाने के पश्चात् कौरवों के दल के सेनापति द्रोणाचार्य भी अपराजेय हैं, जिन्हें जीतना तो असम्भव स्वरूप दिख रहा था, परन्तु भगवान श्री कृष्ण के युद्ध के परिणाम का अन्तिम साध्य तो यह है कि समाज में सत्य की धर्म की स्थापना हो। यह परम सत्य और परमार्थ स्वरूप है, जिसे प्राप्त करने के लिए युधिष्ठिर को राज्य पद पर अभिषिक्त करने के लिए द्रोणाचार्य चट्टानवत रूकावट के रूप में है। जिन्हें किसी भी रूप में हटाया ही जाना चाहिए। तभी लक्ष्य की सिद्धि सम्भावित हो सके। युद्ध में उन्हें जीत पाना सम्भव नहीं हैं। इसलिए भगवान श्री कृष्ण यह जानते है कि इस युद्ध में द्रोणाचार्य की महत्त्वाकांक्षा अपने पुत्र अश्वस्थामा को महत्वपूर्ण पद प्राप्ति की ही है। द्रोणाचार्य कौरवों के विजयाकांक्षी बनकर अपने शौर्य बल के साथ युद्ध में रत है और अश्वस्थामा अमर है। उसका मृत्यु के रूप में वरण ही सम्भव नहीं है, तब उन्होंने भीम के द्वारा अश्वस्थामा नाम के एक हाथी का वध कराया और द्रोणपुत्र को कहीं छिपाकर द्रोणाचार्य के श्रवणपथ व दृष्टिपथ से बहुत दूर करवा दिया। समूचे युद्ध में यह घोषणा करवा दी गई कि अश्वस्थामा मारा गया, ताकि इस घोषणा में अश्वस्थामा की मृत्यु विषयक सूचना से द्रोणाचार्य शिथिल हो जाये और युद्ध में जीते जा सके। श्रीकृष्ण यह भी जानते थे, कि द्रोणाचार्य, अश्वस्थामा के मृत्यु की सूचना की प्रणाणिकता जब तक धर्मराज युधिष्ठिर से न करा लेंगे, तब तक उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास नहीं हो सकता था, कि "सचमुच में ही अश्वस्थामा मारा गया है।" अतः श्री कृष्ण युधिष्ठिर को अश्वस्थामा के मारे जाने का असत्य बोलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, परन्तु युधिष्ठिर हार जीत के द्वन्द से तो अतीत थे, उनकी दोनों में समान बुद्धि थी, फिर अपने गुरू द्रोणाचार्य के मारे जाने का हेतु मात्र युधिष्ठिर का असत्य सम्भाषण कारण बने यह भी युधिष्ठिर के लिए सम्भव नहीं था।

ऐसी स्थिति के द्वन्द में परमार्थ सत्य क्या है या उस पर परमार्थ की प्राप्ति के लिए क्या किया जाना है? यह श्रीकृष्ण जानते थे। तब भगवान श्री कृष्ण ने युधिष्ठिर को समझाया,

''धर्मराज! यथार्थ सत्य और परमधर्म तो वह है जिस धर्म के पालन में बहुसंख्यक समाज में सत्य धर्म और दैवी गुणों की प्रतिष्ठा हो सके। वर्तमान में सत्य धर्म के परिपालक मात्र आप माने जाते हैं यदि आप अल्प रूप से इस प्रतिष्ठात्मक पदवी को उतारकर समाज हित हेतु सत्य धर्म की स्थापना करने में लगा दे तो यह आपका व्यक्ति का समष्टि के लिए त्याग माना जायेगा, न कि एक अल्प राज्य सुख की प्राप्ति हेतु सत्य का त्याग। क्योंकि समाज यह अनुभव कर चुका है और कर रहा है कि युधिष्ठिर राजा बनने पर धर्ममय राज्य होगा। प्रजा सुखी और धर्मनिष्ठ होगी। इस प्रकार एक धर्मयुक्त राज्य स्थापन में आपका अल्प असत्य भाषण तो बहुत ही स्वल्प त्याग है।'' यह श्री कृष्ण के द्वारा उच्चारित परमार्थ तत्व जो सत्य का भी अतिक्रमण करके परमात्मा के द्वारा अभिप्रेत है और सत्यासत्य के परिधि के परे है और न असत्य है और न सत्य।

जो पुरुष अपने बोधस्वरूप आत्मा को ही नहीं जानता है उसका कोई भी बोध परमार्थ नहीं हो सकता है, परमार्थ तो परम अर्थ ज्ञान है, इसका यह भी शाब्दिक स्वरूप है कि जो ज्ञान अल्पभाव की दशा में महानतम् अर्थ सिद्धि या परमात्म तत्व को पाने तक का कारक है, वह ज्ञान एक हैं। यह द्वैत का निष्काषक है, क्योंकि ब्रह्म भी एक ही है। लक्ष्मण जी निषादराज को समझाते हुए कहते हैं कि -

सखा धर्म पर मारथ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥

भगवान श्रीराम बोध स्वरूप आत्मा में रमन करते है। अतः ''रीति नीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'' के रूप में उनका परमारथ अविछिन्न है। उनकी परमारथ ज्ञान शैली अति अगम है। - यथा सीता अपहरण के अनन्तर श्रीराम लक्ष्मण को, शबरी से यह पता चला कि सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर इसलिए रह रहे हैं कि उनके प्रबल बलशाली ज्येष्ठ भ्राता बालि ने उनको राज्य से निष्काषित मात्र ही नहीं किया बल्कि सुग्रीव की पत्नी रूमा को भी अपने अधिकार में करके उसका उपभोग कर रहा है, और किसी प्रकार सुग्रीव को मार डालने की इच्छा होने से सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर इसलिए छिप कर रह रहे हैं कि ऋष्यमूक पर्वत जाने पर बालि के लिए मतङ्ग ऋषि का उसे शाप था कि वह वहाँ जाने पर प्राणहीन हो जायेगा। इससे बालि वहाँ नहीं जा सकता है।

भगवान राम को सीता खोज के लिए, वानरों की सहायता की आवश्यकता का तथ्य उनका स्वधर्म है। स्वारथ के रूप में बालि मैत्री में यह काम तो सहज है, क्योंकि बालि के पास तो राजा होने के रूप में, लाखों करोड़ों वानर उनके आज्ञाकारी सेना के रूप में सहज ही मिल सकते थे। परन्तु राम उस सबल बालि के साथ अपने कार्य सिद्धि हेतु मैत्री करने में सहज समर्थ नही थे, क्योंकि इससे उनको परमारथ रूप में मिलने वाला अर्थ सुलभ नहीं हो रहा था। अतः अति निर्बल होने पर भी उन्होंने सुग्रीव के साथ मैत्री करने का मार्ग प्रशस्त किया, क्योंकि सुग्रीव के

साथ मैत्री करने को परम योगिनी शबरी का भी श्रीराम के लिए संकेत था। तथा निर्बल और डरे हुए को सबल और निर्भी बनाया जाना भी परमारथ धर्म है। तो शबरी ने कहा –

पंपा सरहि जाउ रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।
सो सब कहहि देव रघुवीरा। जानतहूँ पूछहु रघुवीरा॥

दूसरी बात सूर्यवंश के आदि, सूर्य, जो हनुमान जी के गुरू है, के ही अंश सुग्रीव हैं। और उन्हीं गुर्वादेश से ही हनुमान जी सुग्रीव की सेवा में है। इसलिए श्रीराम के लिए सुग्रीव की मैत्री सब प्रकार से अभीष्ट थी। तीसरी बात रिष्यमूक पर्वत में सुग्रीव के रहने का कारण उन पर उनके भाई बालि के द्वारा किया गया अत्याचार ही समझ में आया। जो सुग्रीव से मिलनोपरान्त सुग्रीव से ही ज्ञात हुआ कि –

रिपु सम मोहि मारेसि अतिभारी। हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी॥
ताके भय रघुवीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरउँ बिहाला॥

श्रीराम तो गये थे सीता खोज के निमित्त मैत्री करने सुग्रीव के पास, परन्तु उन्हें राजनीति में भी परमार्थ मिल गया और मैत्री धर्म की कर्त्तव्यनिष्ठा में उन्होंने बालि वध की ही भीषण प्रतिज्ञा कर डाली – यथा

सुनु सुग्रीव मारिहऊ बालिहि एकहि बान।

इसके बाद तदानुसार कार्य भी किया। अपने इस परमारथ को साधने के लिए राम ने अपने ऊपर यह कलंक भी लिया कि बालि यह आक्षेप करते हुए कह रहा था कि

मारेहु मोहि ब्याध की नाई।

परन्तु जैसे ही बालि का गर्व उसकी घायल-अवस्था में ही गल गल कर बह गया, बालि ने यह कहा कि –

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोरि॥

तो इतना सुनते ही प्रभु श्रीराम वर्णनातीत कृपालु हो गये। यथा –

सुनत राम अति कोमल वानी।
बालि शीश परसेउ निज पानी॥

और कृपालुता की शब्दावली उनके मुख से मुखरित हो चली –

अचल करौ तन राखौ प्राना।

अर्थात् ''तुम अपने शरीर को अचल करो और शरीर में प्राण रखो, मैं तुम्हें मरने नहीं दूंगा।'' अन्त में बालि को उसके ही प्रार्थना करने पर –

राम बालि निज धाम पठावा।

ऐसा करके श्रीराम ने उसके पाप पुण्यमय कर्मों का ही अन्त कर दिया।

पत्नी तारा को ज्ञानोपदेश से और भक्ति प्रदाय से उसके दुःख का समन किया तथा अंगद को किष्धिन्धा का युवराज पद दिलाकर बालि के उत्तराधिकारी का भी राजनैतिक प्रभाव अक्षुण्य रखा। इस प्रकार बालि के द्वारा आत्म समर्पण मात्र पर ही बालि की सभी अभीष्ट सिद्धियों की प्राप्ति हो गई।

दूसरे शब्दों में परमार्थी महापुरुषों में कहीं अपने द्वारा किये गये कर्मों में हीनता का तत्व समाहित नहीं होता है। पर श्रीराम के परमार्थ स्वरूपता का असली दर्शन तो मैत्री धर्म में परमार्थ की सूक्ष्म व्यवहारिकता में मिलता है जो मैत्री का दृढ़ भाव है। यथा –

जेहि अघ वधेउ ब्याध जिमि बाली।
फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूत विभीषण केरी।
सपनेउ सो न राम हिय हेरी॥

इसका तात्पर्य यह है कि सुग्रीव अपने राजमद में उन्मत्त होकर अपने अग्रज की पत्नी तारा को भी अपनी पत्नी रूप में ही व्यवहार करने लगे थे। और यही हाल विभीषण का भी था कि उन्होंने अपनी भाभी मन्दोदरी को भी पत्नी बनाकर ही रखा था। ''सच्ची रामायण'' में तो यहाँ तक लिखा है कि रावण की मृत्यु के पश्चात् विभीषण ने अपनी पत्नी को त्यागकर अपनी बड़ी भाभी मन्दोदरी के घोर विरोध के अनन्तर भी जबरदस्ती बलात्कार करके अंगीकार किया था। विभीषण के इस दुष्कृत्य के सन्दर्भ में मन्दोदरी ने श्रीराम से अनुनय विनय भी की थी, परन्तु श्रीराम ने कहा कि रक्ष संस्कृति की यही परम्परा है।

इसके बाद जब एक बार विभीषण के द्वारा किसी ब्राह्मण की हत्या हो गई और उनका आकाश मार्ग गमन की क्रिया का गुण अवरुद्ध हो गया तथा वे बन्दी बना लिए गए। तब श्रीराम वहाँ जाकर विभीषण के सभी अपराधों को अपने ऊपर ले लिया और अपने को ही दण्डित किये जाने की प्रार्थना किया। उनके मैत्री धर्म के इस परमारथ स्वरूप के दर्शन कर दण्डाधिकारीगण द्रवीभूत हो गये और विभीषण को उन्होंने मुक्त कर दिया।

इसका तात्पर्य यह है कि मैत्रीतत्व की प्रारम्भिक स्थितियों में जिन भावों की संघटता से मैत्री को **''बल अनुमान सदाहित करही।''** के भाव में रखा गया था, वही भाव जो एक था, उसी का निवर्हन ही होना चाहिए। जैसे श्रीराम ने मैत्री करते वक्त सुग्रीव से यह कहा था कि–

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब विधि घटव काज मैं तोरे॥

सुग्रीव के अपने मैत्री धर्म के चूक पर भी प्रभु श्रीराम का मैत्री धर्म उनके प्रति पूर्व स्थिति के मैत्री धर्म के आधार की सम्बद्धता के स्वरूपभूत ही रहा। अर्थात् उस मित्रता में अन्य पक्ष के अत्याचार, शत्रुता, अनाचार या द्वेष बुद्धि पर भी वही एक पूर्व का ही मैत्री भाव बना रहना ही परमार्थ तत्व निष्पादन है।

आत्म ज्ञान केवल बुद्धि से आत्मा का ज्ञान नहीं है, बल्कि बुद्धि की वृत्तियों के शान्त होने पर आत्मा में अनुभूति ही वास्तविक परमारथ ज्ञान है। ऐसी स्थिति में व्यवसायिक बुद्धि नहीं हो सकती है, या वह परमार्थिक है –

विद्या कथं च चेद विद्या। विद्या बिना किम् प्रविभात्य विद्या॥
द्वयं च कस्येति बिचार्य मूल। स्वरूप निष्ठा परमार्थ विद्या॥

अर्थात् विद्या अविद्या या ज्ञान अज्ञान की दो वृत्तियाँ है, ये दोनों सापेक्ष हैं, एक वृत्ति के उदय होने पर दूसरी वृत्ति की सम्भावना प्रतीत होती है। विद्या का न होना ही अविद्या है और अविद्या का नाश ही विद्या है, विद्या में ही निषेधात्मक ''अ'' उपसर्ग लगाकर अविद्या शब्द बना है, इसलिए विद्या न होने पर अविद्या भी नहीं हो सकती है। इसी प्रकार विद्या का काम केवल अविद्या नष्ट करना है, यदि अविद्या न हो तो विद्या का कोई सार्थक प्रयोजन नहीं है। बौद्धिक स्तर पर हमें कुछ बातों का ज्ञान हैं, और कुछ बातों का ज्ञान नहीं है।

परन्तु इस बौद्धिक सापेक्षता के ज्ञान के अतिरिक्त एक ज्ञान और है, जो मूल स्वरूप से प्राप्त निष्ठा से सम्बद्ध है, यही परमार्थ विद्या या परमार्थ ज्ञान है। यह ज्ञान आत्मा से ही होता है। क्योंकि वह स्वयं चेतन स्वरूप है, उस ज्ञान के प्राप्यार्थ में किसी मन बुद्धि नेत्रादि इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है।

इसलिए परमार्थ ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा परे हैं, और भिन्न है। परमार्थ ज्ञान यथार्थता नित्य वस्तु के बोध का ज्ञान है। अनित्य वस्तु का ज्ञान तो अयथार्थ और अनित्य है और उसकी सामर्थ्य बौद्धिक सीमा है।

उदाहरण के लिए घट बोध्य है, जिसे जानना है। नेत्र और मन बुद्धि के द्वारा घट का ज्ञान होता है। इस ज्ञान का ज्ञाता अहंकार ''मैं'' है, जो तीनों एक दूसरे से पृथक प्रतीत होते हैं, किन्तु

इनका एक आत्मा है, उसी का आश्रय पाकर ही अन्त:करण की वृत्तियाँ विस्तार पाती हैं, अहंकार की वृत्ति ज्ञाता, मन की विषयाकार वृत्ति ज्ञेय और बुद्धि में उत्पन्न होने वाली ज्ञप्ति ही ज्ञान है। परन्तु ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का आश्रय आत्मा है। इसका ज्ञान तभी होता है, जब अन्त:करण की त्रिपुटी उस आत्मा में लीन हो जाती है, और तब उस प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाश से नानत्व की भ्रान्ति मिट जाती है। यह परमार्थ ज्ञान की पहिचान है।

समस्त द्वन्द और त्रिपुटियाँ मानसिक रचनायें हैं, आत्मा अनात्मा, जड़ और चेतन, राग द्वैष, दु:ख सुख आदि द्वन्द है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, भोक्ता भोग्य और भोग आदि त्रिपुटी हैं, इन सब में भेद है। भेद सदा ससीम वस्तुओं में ही होता है। किसी सीमाके घिरी वस्तु दूसरे से भिन्न होगी। यही नहीं, वह आदि अन्त वाली होगी, आदि अन्त वाली वस्तु के मूल में अनादि अनन्त वस्तु होना चाहिए, तभी तो उसका नित्य आधार हो सकता है, जिसका अन्वेषण करने से द्वन्दादि भेद नहीं रह जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि जब तक द्वैत है तब तक अखण्ड वस्तु नहीं दिखलाई देती है और जब हम एक अखण्ड अनन्त वस्तु का अनुभव करने लगते हैं, तब द्वन्द विलीन हो जाता है।

इस प्रकार हमारे एक ओर सतत् प्रभावशील मानसिक वृत्तियाँ हैं, जिनमें तादात्म होकर हम द्वैत का अनुभव करते हैं, और दूसरी ओर उन मनोवृत्तियों का आधार एक अनन्त सत् वस्तु है, वह अखण्ड और एक रस है। जब उस तत्व का अनुभव होता है, तब द्वैत अपने आप तिरोहित हो जाता है और अद्वैत की प्रतिष्ठा समझ में आने लगती है। तब वह द्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता है, और न उसके आकर्षण में ही आता है।

महाभारत के युद्ध में भीष्म पितामह के भीषण युद्ध कौशल से पाण्डवों की सेना का सतत् विनाश हो रहा था। युधिष्ठिर ने अपना यह दु:ख भगवान श्री कृष्ण से निवेदित किया। पुन: पाण्डवों ने भीष्म के द्वारा प्रदत्त पाण्डवों को विजय का आशीर्वाद सुनाते हुए पितामह से ही अपनी विजय का ''कैसे मैं'' उत्तर की याचना किया। तब दशवें दिन के लिए भीष्म ने बताया, कि जब तक भीष्म कौरव पक्ष में है, तब तक पाण्डवों को विजयश्री के दर्शन दुर्लभ ही नहीं असम्भव है। और विजयश्री पाण्डवों को ही मिलना चाहिए, क्योंकि वे परम धर्मात्मा है। इसलिए दशवें दिन के लिए भीष्म ने अपनी पराजय का मूल मंत्र पाण्डवों को यह बतलाते हुए कहा कि अर्जुन के रथ पर यदि भगवान श्रीकृष्ण के स्थान पर शिखण्डी (जो जन्म से लड़की था और कालान्तर में लड़का बना) सारथी बनकर युद्ध भूमि में रथ हांकें, तो वे (भीष्म) अपने अस्त्र शस्त्र नहीं उठायेंगे, उस समय अर्जुन उनको मारने में सफल हो सकते हैं। अन्यथा कोई दूसरा उपाय भीष्म पितामह के पराजित होने का नहीं था। भीष्म पाण्डवों को विजय दिलाने के पक्ष में अस्त्र शस्त्रों

से सुसज्जित रथासीन स्थिति में अपने पराजय हेतु कपट युद्ध कर नहीं सकते हैं। अतः शिखण्डी का सारथी बनकर अर्जुन का रथ हांकना, यह श्री कृष्ण जैसे परम परमार्थी के लिए भी सहमति पूर्ण रहा। परन्तु अब अर्जुन के इस प्रकार के युद्ध में, युद्ध की क्रियाशीलता का सवाल था। जिन भीष्म पितामह के हृदय में अर्जुन के प्रति वात्सल्य का सागर लहराता रहता था और समस्त पाण्डवों में भी अर्जुन, पितामह भीष्म को सर्वाधिक प्रिय थे। जिन भीष्म पितामह को देखकर, दस दिन पूर्व ही अर्जुन, पितामह पर अपने शस्त्रों से सुसज्जित स्थिति में भी बाण न चलाने और युद्ध न करने की अपनी विचारधारा के कारण ही विषादग्रस्त होकर शिथिलावस्था में रथ के पिछले भाग में बैठ गये थे। वही अर्जुन युद्ध के दशवें दिन, निहत्थे भीष्म पितामह पर दिव्यास्त्रों का प्रयोग करने को तैयार है। इस प्रकार परमात्मा श्रीकृष्ण की परमार्थिक सहमति पर परमज्ञानी भीष्म, ज्ञानी अर्जुन और शिखण्डी इस प्रकार के अधर्ममय युद्ध करने को तैयार है। इसमें पितामह की स्थिति विचारणीय है, अंतरङ्ग में वे है - महान ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, भक्त, अपने गुरू भगवान परशुराम को भी युद्ध में स्तम्भित करने की क्षमता वाले महान योद्धा तथा मृत्यु भी जिनके आधीन है। देवताओं के लिए भी अपराजेय, भक्ति के आचार्य तथा दिव्यता में पापियों को भी तारने वाली गंगा के गर्भ से उत्पन्न महानुभाव। परन्तु उनकी भोग (भुक्तावस्था) स्थिति है कि वे साक्षात कलियुग के अवतार दुर्योधन के आधीन रहकर उसके अधर्ममय कार्यों को हस्तिनापुर के राज्य सिंहासन के हित साधन में बँधे हैं, प्रतिज्ञा का बंधन है, जिसके कारण अनिच्छा से ही अपने पवित्र मन को उन कार्यों के किये जाने के लिए बाध्य है। इस प्रकार महात्मा भीष्म पाण्डवों के प्रति पूर्ण अन्तरङ्ग पक्षधर होने के अनन्तर भी उन्हीं के विरुद्ध महाभारत युद्ध में युद्धरत हैं। वे दुर्योधन की अपने प्रति पूर्ण विश्वसनीयता प्राप्त करने हेतु अधिक से अधिक पाण्डव दल की सेना का विनाश करने को भी बाध्य हैं। इसके अनन्तर भी दुर्योधन की उनके प्रति पाण्डवों के पक्षधर होने की फटकार तक सहनी पड़ती है। एक दिन तो दुर्योधन ने भीष्म पर पाण्डवों की अप्रत्यक्ष रक्षा करने तक का कलंक उनके सिर पर मढ़ दिया, जिससे प्रभावित होकर पितामह भीष्म ने रात्रि में अपने शिविर पर पाण्डवों का वध करने के लिए पाँच बान ही निकाल कर अलग रख लिये। यह है - भीष्म के लिए विषम स्थिति का सामना कि वे ही भीष्म जो उनके (पाण्डवों) के पिता पाण्डु के मरणोत्तर में उन पाण्डवों का जन्म से ही पितृवत लालन पालन कर रहे थे, और उनकी धर्म में विशेष रुचि के कारण भीष्म में वात्सल्य भावों की सुप्रतीति ही जिनका स्वभाव बन चुका था। वही भीष्म पितामह मात्र दुर्योधन को सन्तुष्ट करने के लिए उन पाँचों पाण्डवों का वध करने के लिए तैयार थे। भीष्म पितामह की यह स्थिति दयनीय थी, कि राजनैतिक सामाजिक और वचन बध्यता की आड़ में, जो सत्य बन कर अपने विकृत रूप में भीष्म पितामह के सामने उपस्थित होकर परमार्थिक सत्य का गला घोंटने को तैयार है। वह सत्य स्वरूप में परमात्मा का स्वरूप नहीं हो सकता, परन्तु परम भक्त भीष्म अपनी बाध्यताओं के कारण

इस सत्य की टेक को धारण किये हुए है, कि वे पाँचों पाण्डवों का वध करके पाप परायण दुर्योधन को संतुष्ट कर सके। परन्तु यहीं तक जीवात्वा की सीमा है, कि जिस असत्य को सत्यवत् समझकर पितामह अनर्गल कार्य करने को तैयार हैं। इसके पश्चात् उस परम परमार्थ स्वरूप परमात्मा ही अपने निराकार साकार विग्रह से कर्त्ता की अनुकूलता में सामर्थ्यानुसार परमार्थ सत्य की दिशा में उनसे कार्य कराने के लिए कार्यशील रहता है। तब परमार्थ शिरोमणि भगवान श्रीकृष्ण ने रात्रि के समय ही भीष्म के प्रपौत्र वधू या कुल वधु द्रोपदी को आभूषणों से सुसज्जित कराकर भीष्म पितामह के शिविर में भेजा। कि वे (द्रोपदी) अपनी सौभाग्यपूर्ण स्थिति में उन कुल श्रेष्ठ पितामह को अन्तिम प्रणाम दर्शन कर आवे, क्योंकि दूसरे दिन तो भीष्म के प्रतिज्ञानुसार द्रोपदी का सौभाग्य पाण्डवों के वधोपरान्त छिन जाना है। भगवान श्रीकृष्ण पितामह के शिविर के पास ही छिपकर रहे। भीष्म के शिविर में द्रोपदी को भेजा। भीष्म ने जैसे ही यह आभाषित किया कि कोई स्त्री उनके शिविर में प्रवेश कर रही है तो पूछा कि ''कौन'', वैसे तत्क्षण ही कौन के प्रत्युत्तर में द्रोपदी ने झुककर पितामह के श्रीचरणों में प्रणाम किया और कहा - ''मैं आपके ही कुल की कुलवधू द्रोपदी आपके श्री चरणों में प्रणाम कर रही हूँ।'' द्रोपदी के ये शब्द भीष्म के कर्ण पुटों पर जैसे ही सम्बेदित हुए, वैसे ही प्रभु प्रेरणा से पितामह के श्रीमुख से शब्द मुखरित हुए कि, ''सौभाग्यवती हो देवि।'' अपने श्रीमुख से उच्चरित इस आशीर्वाद का जब भाव पितामह ने समझा तो उनको श्रीकृष्ण के द्वारा कराये गये द्रौपदी के कार्यशैली पर बहुत प्रसन्नता हुई कि प्रभुकृष्ण ने आभाष सत्य की टेक पर होने वाले महान अनर्थ और परमार्थ विरोधी कार्य से उन्हें बचा लिया।

परन्तु परं ब्रह्म परमात्मा श्री कृष्ण के अवतरण के जो तीन हेतु बतलाये गये हैं - (1) साधु जनों का परित्राण, दुष्टों का संहार और धर्म स्थापना, तो उसमें अपनी सहभागिता पाने के लिए भीष्म पितामह को अपनी शारीरिक बलिदान ही परमार्थिक धर्म के अन्तर्गत अभीष्ट आभाषित हो रहा था। परन्तु यह उनका अलग ही धर्म संकट ही था कि कोई भी उनके हाथों में अस्त्र शस्त्र रहते हुए उनको जीत नहीं सकता था। अतः धर्म की स्थापना के लिए युद्धोपरान्त ''धर्ममय राजा द्वारा प्रजा का पालन हो।'' तो इस कार्य की सिद्धि हेतु उन्होंने अस्त्रों शस्त्रों के अप्रयोग में ही अपनी पराजय को परमार्थ धर्म के रूप में स्वीकार किया कि अन्य कोई उनको इतना घायल कर दे कि वे अपनी घायल स्थिति के बाद किसी भी प्रकार युद्ध करने के हेतु में अपने को सुयोग्य न समझ पावें। इसका कारण यह भी था कि वे मारे जा नहीं सकते थे उनके पिता के द्वारा प्रदत्त इच्छा मृत्यु का वरदान उन्हें घायलावस्था में ही पड़े रहने के लिए विवश कर रहा था। परन्तु उनकी ज्ञान, भक्ति, स्वधर्मपालन, पितृभक्ति और देवत्व सब मृत्युदशा हेतु विधायनी शक्तिस्वरूप ही थे। तात्पर्य यह कि भीष्म को उनके बनाये गये साध्य में पहुँचाये जाने के लिए सभी तैयार हैं। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ में प्रारथी कर्म शिखण्डी को सौंपने के लिए, भीष्म के सामने अर्जुन के

रथ पर शिखण्डी को सारथी कर्म में रत होकर देखने के लिए और उसके बाद अस्त्र शस्त्रों को अपने हाथों से छोड़ देने के लिए तथा अर्जुन भी तैयार हैं कि भीष्म पितामह को युद्ध से विरत हो जाने की दशा में भी उनको घायल बनाये जाने के लिए व उनकी घायलावस्था में भी तब तक बानों का प्रहार जारी रखना है जब तक वे अन्य दिनों के लिए किसी भी प्रकार युद्ध करने के लिए योग्य ठहराये ही न जा सके।

अब वह अधर्ममय युद्ध प्रारम्भ हुआ, शिखण्डी के दर्शन मात्र से पितामह ने अपने हाथों से शस्त्रों को त्याग दिया। और कठोर से भी अति कठोर बनकर अर्जुन अपने हाथों से पितामह को घायल करने लगे। युद्ध स्थल में हाहाकार मच गया। दर्शक अर्जुन को धिक्कारने लगे, परन्तु पार्थ अपने परमारथ साध्य को ही सामने देखते हुए पितामह के घायलावस्था में ही बान पर बान मारे जा रहे थे और अन्त में उन पितामह की घायलावस्था इस स्थिति तक आ गयी, कि कोई भी अंग उनका शेष नहीं रहा जहाँ अर्जुन के बाण न छिदे हो और अन्तोगत्वा वे बाणों की ही बनी शैय्या पर ही लेट कर अर्जुन का हस्त कौशल देख कर प्रसन्न हो रहे थे। उनका सिर नीचे को लटका हुआ था जिसे अर्जुन ने अपने बाणों के प्रहार से ही उनके सिर को ऊपर उठा दिया और उन बानों के प्रहारों ने भीष्म को तकिया का स्वरूप धारण करवा कर सिर को उतना ही ऊँचा किया।

तो अर्जुन का यह कार्य परमद्दष्टा भगवान श्रीकृष्ण देखकर अति प्रसन्न थे, जिन्होंने प्रारम्भ में ही गीता का उपदेश देकर अर्जुन को युद्ध करने को तैयार किया था और क्षात्र धर्म के स्वधर्म पालन हेतु युद्ध करने को परमारथ धर्म में निरुपित किया था। उन्होंने कठिनतर कार्य में भी लगा देखकर अप्रत्यक्ष रूप से अपने ही स्वधर्म रूप से अर्जुन के द्वारा निराकार परमात्मा की पूजा मानी। क्योंकि अर्जुन का योजनाबद्ध युद्ध का स्वरूप परमारथ धर्म से सन्निहित था। पितामह के द्वारा निष्पादित परमारथ धर्म से इस पूजा को प्राप्त कर श्रीकृष्ण अति प्रसन्न थे, इसीलिए वे स्वयं अनेकों दिव्याति दिव्य उपहारों से उन्हें विभूषित करने लगे। शरशैय्या पर पड़े पितामह को देखने के लिए वहाँ देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षि आये। वहीं बैठे हुए जगदीश्वर श्रीकृष्ण की, जो हृदय में विराजित थे, भीष्म ने बाहर तथा भीतर दोनों जगह पूजा की। तब श्रीकृष्ण की आज्ञा से तत्ववेत्ता भीष्म ने वर्ण और आश्रम के अनुसार पुरुष के स्वभाविक धर्म, और वैराग्य तथा राग के कारण निवृत्ति तथा प्रवृत्ति रूप द्विविध धर्म, दान-धर्म, राज-धर्म, मोक्ष धर्म, स्त्री धर्म और भगवद्धर्म का वर्णन किया। इसके साथ चार पुरुषार्थों तथा उनके प्राप्ति के साधनों का विभागशः वर्णन किया। उसी समय उत्तरायण का समय आ पहुँचा या सूर्य मकर राशि में आ विराजे। तब मृत्यु ही जिनके आधीन थी, ऐसे मनस्वी भीष्म ने वानी का संयम करके मन को सब ओर से हटाकर अपने सामने स्थिति परमात्मा के ध्यान में लगा दिया। भीष्म की आँखें भगवान श्री कृष्ण के चतुर्भुज विग्रह

पर टिकी हुई थी। उनकी शारीरिक और मानसिक पीड़ा तो उन श्री कृष्ण के दर्शनमात्र से ही दूर हो गई थी। और विशुद्ध धारणा से उनके सभी अशुभ संस्कारों का क्षय हो चुका था। समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर उन्होंने भगवान श्री कृष्ण की स्तुति किया और कहा कि ''देवाधिदेव चतुर्भुज रूप से, जिसका और लोगों को केवल ध्यान में दर्शन होता है, तब तक यहीं रह कर प्रतीक्षा करें जब तक मैं इस शरीर का त्याग न कर दूँ।'' और अन्त में उन्होंने मन, वाणी और दृष्टि की वृत्तियों से आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण में अपने आपको लीन कर दिया। उनके प्राण वहीं विलीन हो गये, और वे शान्त हो गये। ऐसी श्लाघनीय मृत्यु, श्री कृष्ण की कृपा प्रसाद से ही प्राप्त हुई थी। जो परमार्थ धर्म की अति प्रावीण्यता से उनके ही स्वरूप की पूजा भीष्म ने की थी।

अब भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा प्रदत्त उन उपहारों का भी दर्शन करें जो उन्होंने अर्जुन को परमार्थ धर्म में अति कठोरता की अपनी स्थिति में, पार्थ ने निराकार पूजा को सम्पादित किया था।

अर्जुन को देवता और वसुओं ने गंगा जी की सहमति से गंगातट पर यह श्राप दे दिया था कि वसु अवतार भीष्म को जिस प्रकार से अधर्म युद्ध का सहारा लेकर अर्जुन ने उनको घायल किया है, तो उन्हीं अर्जुन की उनके पुत्र द्वारा ही मृत्यु हो जायेगी। परन्तु श्री कृष्ण की कृपा से अर्जुन की पत्नी नागकन्या उलूपी भी उस समय गंगा तट पर ही थी तब अपने दामाद अर्जुन की प्राण रक्षा के लिए उलूपी के पिता नागराज स्वर्गलोक गये और देवताओं तथा वसुओं से अनेकों प्रकार से अनुनय विनय किया। तब प्रसन्न होकर वसुओं ने यह बताया कि मणिपुर का राजा और अर्जुन का पुत्र बुभ्रवाहन ही युद्ध में अर्जुन को मार गिरायेगा, तभी अर्जुन भीष्म वध के पाप से दोषमुक्त हो पायेंगे। देवताओं ने अर्जुन के पुनःजीवन प्राप्ति का उपाय भी नागराज को सुझाया।

अतः दिग्विजय के लिए, महाभारत युद्ध के समाप्ति पर जब अर्जुन के साथ उनके पुत्र बुभ्रवाहन से घमासान का युद्ध हुआ तब पुत्र के प्रहार से अर्जुन मार गिराये गये और उनकी मृत्यु हो गई, पर वहाँ पहिले से ही उपस्थित नागकन्या उलूपी के आदेश से बुभ्रवाहन ने जैसे ही अपने पिता की छाती पर दिव्य मणि का स्पर्शन कराया, त्यों ही अर्जुन सोये हुए से जाग कर उठ बैठे। वहाँ पर अर्जुन ने उलूपी को भी देखा। उलूपी के द्वारा वहाँ पर खुद को उपस्थित होने का कारण जानकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई कि उलूपी के कारण ही उनके प्राणों की रक्षा हो पाई।

महाभारत के अंतिम दौर में श्रीकृष्ण के द्वारा ही उनको उस रात्रि शिविर के अतिरिक्त अन्य स्थल पर रहना पड़ा। जिसके कारण अश्वस्थामा के भीषण संहारिक प्रहार शक्ति, जो उसे भगवान शंकर की कृपा से प्राप्त थी, से समूचे पाण्डवों को बचा लिया गया। जब अश्वस्थामा ने अर्जुन

के पुत्र वधू उत्तरा के गर्भ में पलित गर्भ को ही नष्ट करना चाहा, तो श्री कृष्ण ने ही उस आततायी द्वारा प्रयोग किये गये ब्रह्मास्त्र से उस शिशु की रक्षा गर्भ में प्रवेश कर सुदर्शन चक्र से किया।

इसके अनन्तर वे महाभारत युद्ध के पश्चात द्वारिका तो आये परन्तु उत्तरा के गर्भ की रक्षा करने हेतु शीघ्र ही हस्तिनापुर आ विराजे। उस समय तो पाण्डव भी वहाँ पर नहीं थे। उत्तरा के गर्भ से मृत शिशु के पैदा होने पर उन्होंने अपनी अमोघ दृष्टि से, सिद्ध वचनों का माध्यम बनाकर उत्तरा पुत्र को जीवित कर दिया और अपने मित्र पार्थ के कुल परम्परा को आगे बढ़ाने में उत्तम कार्य करके और अन्य भी उनके जीवनकाल में अव्यक्त उपहारों से उन्हें विभूषित किया।

अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर पाने के कारण अर्जुन दो बार चिता पर जलकर प्राण त्यागने को तैयार हुए थे परन्तु भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से ही उनकी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और वे चितारोहण से अपने को बचा पाये।

इस प्रकार परमार्थ धर्म जो सत्य धर्म का भी अतिक्रमण कर ऐसे स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, जो मात्र एक निर्विकार की ही सम्पूर्ण रूप से आराधना है। लौकिक कार्य व्यवहार में भी परमारथ तत्व का दर्शन होता है। यथा दक्षिण भारत के एक ग्राम में एक मजदूर को दिन भर काम करते रहने पर भी उसको उसके परिवार के लिए मज़दूरी पूरी नहीं होती थी। इसलिए एक दिन वह आश्रम में जाकर वहाँ के कार्यवाहक एक सन्त से अपने परिवार के भूखे रहने की दशा का हाल बताया। सन्त ने उसे एक दुधारू लगने वाली गाय दे दिया। परन्तु मजदूर के पास अब उस गाय के रखरखाव के लिए अव्यवस्था थी जिसे सन्त ने ही आश्रम के द्वारा ही बनवा दिया। पुनः गाय के लिए मजदूर के कहने पर आश्रम से ही घास और भूसा की भी व्यवस्था हो गई। गाय अच्छा दूध देने लगी। परन्तु कभी कभी दूध बिकता नहीं था इसलिए उसका मूल्य नहीं मिल पाता था। मजदूर ने यह परेशानी भी सन्त जी से निवेदित किया। तब सन्त ने इसका भी समाधान किया कि वह प्रतिदिन आश्रम में ही दूध दे दिया करें और उसका भुगतान भी तुरन्त प्राप्त कर लिया करे। ऐसी स्थिति पर मजदूर का और उसके परिवार का भरण पोषण सुचारू रूप से चलने लगा। पर इस व्यवस्था की तह में जाकर देखा जाये तो सब कुछ तो आश्रम का था परन्तु उसका उपयोग उस मजदूर के लिए था जिसका परिवार भुखमरी से गुजर रहा था।

इस प्रकार का कर्म जिसमें अहंकार और उस के अंग मोह, ममता, लोभ, मद का कहीं भी आश्रय नहीं था। तो ऐसा कर्म भी परमारथ धर्म का रूप है जिस कर्म के आश्रयी आश्रम कार्यवाहक सन्त थे।

○●○●○

४. श्रीमद्भागवत महापुराण, गीता व महाभारत में परमार्थ तत्व दर्शन

श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी महाराज ने राजा परीक्षित के समक्ष ब्रह्म के विभिन्न स्वरूप - अनादि, अनन्त, विराट, निर्गुन, सगुन और सूक्ष्मादि तत्वों का वर्णन किया। सृष्टि की रचना आदि के पश्चात ज्ञान और वैराग्य भक्ति तथा योग तत्व को भी बताते हुए अन्त में सार तत्व के रूप में परमार्थ का भी विवेचन किया तथा इसके बाद यह कहा कि अब कुछ भी समझाने की आवश्यकता नहीं है।

यह परमार्थ तत्व अन्ततः एक की प्रतीति या अद्वैत का ही निरुपण है, क्योंकि जो जगत परिवर्तनशील है, कभी इसका अन्त होगा, और इसके अन्तर्गत जो इसके संग की सत्यता का भान है, वह अनित्य और असत्य है। और जब इसी सत्य का भान आत्मिक रूप में हो जाता है, तो वह आत्मा के प्रकाश से अपने देहादि सभी वस्तुओं को मिथ्या समझ कर परमात्मा में अपने को आरोपित करते हुए परमार्थ स्वरूप हो जाता है। उसके ज्ञान के शान में इतनी सूक्ष्मता आ जाती है, कि वह ज्ञान की दृष्टि में विश्व की जो सृष्टि हो रही है, उसका परमात्मा ही निमित्त और उपादान कारक समझने लगता है, या वही विश्व बनता है, वही बनाता है, वही रक्षक है और वही रक्षित भी है, जो सर्वात्मा इसका संहार करते हैं वे भी वही हैं, जिसका संहार हो रहा है, वे भी वही हैं।

इसलिए एक परमात्मा के अतिरिक्त उसके ज्ञान दृष्टि में कुछ भी नहीं रहता है, अर्थात् प्रलय की स्थिति में जिस एक सर्वाधार परमात्मा का बोध होता है, वह संसार के रहते हुए इसका बाध कर देने पर वही शेष रह जाता है। जो दो नहीं हो सकते। उस एक ही सर्वातीत सर्वाधार परमात्मा के तत्व को इस प्रकार समझना ही परमार्थ तत्व है, जो ज्ञान की सीमा है, और निर्गुन निराकार के स्वरूप की ही मूलभूत सर्वात्म निष्ठा है, जिस ज्ञान की स्थिति को प्राप्त करके परमार्थवादी अपनी उत्तमोत्तम स्वरूप स्थिति में रमन करते हैं।

गीता के सातवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में -

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७/१९)

अर्थात् - बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में, तत्व ज्ञान को प्राप्त पुरूष सब कुछ वासुदेव

ही है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत वासुदेव देव का ही स्वरूप है, वासुदेव के सिवा और कुछ हैं ही नहीं। इस बात का प्रत्यक्ष और अटल अनुभव हो जाना और उसी में नित्य स्थिति रहना कि यही सब वासुदेव हैं, इस भाव से भगवान का भजन करता है।

यह भी समझना चाहिए, कि जगत में भगवान को तत्व से समझने वाले महापुरुष कोई बिरले ही होते हैं, अतएव, यही समझना चाहिए कि इस प्रकार के महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे महात्मा यदि मिल जाये, तो यह समझना चाहिए कि पुण्यों का उदय हो गया -

पुण्य पुञ्ज बिन मिलहि नहि सन्ता।

इसलिए देवर्षि नारद ने कहा है -

महत्सङ्गास्तु दुर्लभोऽगम्यो अमोघश्च।

अर्थात् महापुरुषों का संग दुर्लभ अगम्य और अमोघ है।

परन्तु इस सृष्टि में जन्म के प्रारम्भ से इस प्रकार के ज्ञानवान महात्मा भी हुए हैं। सनकादिकों में ज्ञान की निष्ठा जन्म से ही इतनी बृहद् रूप में विद्यमान थी, कि अपने पिता ब्रह्मा के यह कहने पर कि प्रजावृद्धि में वे पिता का सहयोग दें, तो सनकादिकों ने प्रवृत्ति मार्ग के इस प्रपञ्च में फँस जाने के डर से अपने पिता को स्वयं के लिए प्रपत्ति मार्ग में जाने से ही इंकार कर दिया और इस प्रकार निवृत्ति मार्ग का ही अवलम्बन लिया।

इतना मात्र ही नहीं संसार के प्रति आकर्षण होने के डर से उन्होंने दिगम्बर भेष में ही हमेशा पाँच वर्ष के बालक के आयु स्वरूप में बने रहने का वर माँगा। बालक भेष में भी वे ज्ञान की गहराई में इतने महानतर है कि कभी कभी तो तत्व ज्ञान के प्रश्नों का उत्तर उनके पिताजी ब्रह्मा नहीं दे सके थे, तव ब्रह्मा जी ने भगवान को मात्र सनकादिकों के प्रश्नों का समाधान युक्त उत्तर देने के लिए स्मरण किया था और तव भगवान नारायण हंस रूप में आकर उनके प्रश्नों का उत्तर दिया और अंतर्ध्यान हो गये थे।

परन्तु सम्पूर्ण जगत वासुदेव का ही स्वरूप है ऐसी स्थिति की साधना का फल एक जन्म में सम्भव नहीं है, जब एक जन्म का सञ्चित ज्ञान दूसरे जन्म में ज्यों का त्यों मिल जाता है और इस प्रकार के इकाई की बहदतर स्थिति होती जाती है। तब भी उनकी साधना का लक्ष्य मात्र ज्ञान ही होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भेद भक्ति के उपासक भगवान और अपने में भेद रखकर सगुनोपासना के लिए लालयित रहते हैं और वे अपने आनन्द में ही छके रहकर किसी अन्य प्रकार के सुखों के प्राप्ति की लालसा भी नहीं करते हैं। उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति की

लालसा के लिए न तो साधक यह चाहते है कि उस ज्ञानार्जन में उन्हें कोई विक्षेप हो और न वे यह भी चाहते कि वे उस ज्ञान के रहने में परंब्रह्म में समाहित या एकीकृत भाव में रहे। मुक्तावस्था तो उनकी सहज रहती ही है और वे ज्ञान स्वरूप ही रहते हैं। वे साधक नहीं सिद्धावस्था में रहते हैं और सृष्टि पर अनुग्रह करने हेतु संसार में बने रहते हैं और निर्गुन निराकार ब्रह्म की सन्निधि का अनुभव अपने ज्ञान के स्वरूप से प्राप्त करते रहते हैं, इस प्रकार के ज्ञानी महापुरुष संसार के बहुत महत्त्वपूर्ण तत्व हैं जो अपने ज्ञान प्रकाश से, किसी अज्ञानी, अज्ञानियों और अज्ञान स्थलों में अपनी सन्निधि से अज्ञानियों की अज्ञान श्रृंखला में ज्ञान का परिमार्जन करते रहते हैं।

परन्तु ज्ञान का स्वरूप अपनी अल्प स्थिति में ही सही, जब किसी भी नर या नारी में विद्यमान रहता है, तो वह उसी अल्पज्ञान के दायरे से ही संसार में अपनी ज्ञानमयी वृत्तियों का उपयोग जड़ चेतन पर करता है और उसमें उसको आनन्द और शान्ति का अनुभव होता है। दूसरे शब्दों में उसकी परमार्थिक अन्तदृर्ष्टि में इन भावों की संक्रियता विद्यमान है कि उसका विकास सम्भव हो सकता है और सच कहा जाय तो ऐसे परमार्थिक भावों से सन्निहित व्यक्तियों का वही रस और आनन्द है, जो महान तत्व ज्ञानी के रूप में कभी न कभी पाये जाने की स्थितियों के लिए वे प्राथमिक स्थिति में थे।

सगुणोपासना में ज्ञानी भक्त भगवान को अत्यधिक प्रिय हैं – **'ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा॥'**

और इस तत्व को गीता में भी विशेष रूप से सर्वोत्तम स्थिति में माना गया है।

तेषाम् ज्ञानी नित्य युक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं सच मम् प्रियः॥

(गीता 7-17)

अर्थात् भक्तों में, नित्य मुझमें एकी भाव से स्थित अनन्य प्रेम भक्ति वाला ज्ञानी अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यंत प्रिय हूँ, और वह ज्ञानी मुझे अत्यंत प्रिय है।

ज्ञानी भक्त वे हैं, जो परमात्मा को प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी दृष्टि में एक परमात्मा ही रह गए हैं। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं और इस प्रकार परमात्मा को प्राप्त कर लेने से जिनकी समस्त कामनाएँ निःशेष रूप से समाप्त हो चुकी है, तथा ऐसे जो सहज भाव से ही परमात्मा का भजन करते हैं, वे ज्ञानी भक्त है। इस प्रकार ज्ञानी भक्तों में शुकदेव जी, नारद जी, सनकादिक, भीष्म पितामह तथा प्रहलाद आदि हैं।

पतिव्रता धर्म स्वरूपणी माता अनुसुइया के दर्शनों के लिए जब सीता जी उनके आश्रम में गई थी, तो पतिव्रत धर्म के सन्दर्भ में अनुसुइया ने अपने उपदेश में सीता जी से कहा था –

उत्तम के बस अस मन माहीं।
सपनेउँ आन पुरुष जग नाहीं।।

अर्थात् उत्तम स्थिति की पतिव्रता के यह लक्षण होते हैं कि उस स्त्री के लिए स्वप्न में भी कोई दूसरा पुरुष नहीं होता है, अर्थात् उनकी मन, बुद्धि चित्त में इतनी एकात्मता रहती है कि उनके एकपति के अतिरिक्त अन्य पुरुष संसार में है ही नहीं।

यह मात्र एक का होना ही अपने भाव की सर्वोत्तम निष्ठा है जो परमार्थवादियों के लिए उनके निर्गुण निराकार परमात्मा में एकीभाव से प्रतिष्ठित है।

द्वैतरहित होना, अद्वैत में अपने स्वरूप को दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करना या एक की निष्ठा- यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी की स्थिति है। यह एक भी ऐसी गिनती की संख्या है जो सब संख्याओं में अपने आप ही शामिल है। जैसे परमात्मा अपने स्वरूप में सृष्टि में समाहित है। इसलिए यह संसार परमात्म स्वरूप है और सृष्टि परमात्मा सब एक है।

तो जब ज्ञान की उच्च स्थिति में उसे एक के अतिरिक्त किसी अन्य के आभास की विशेष स्थिति नहीं है तो उस एकनिष्ठता की स्थिति में ज्ञान की शिखर स्थिति मन, वचन और बुद्धि से परे है।

भगवान अगस्त के आश्रम में जब सीता, राम और लक्ष्मण पधारे तो उनकी अनेकों भावों से पूजा सम्पन्न करके, अगस्त ऋषि ने भगवान श्रीराम से कहा –

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहि जेहि सन्ता।।

ब्रह्म के इस प्रकार निर्गुन निराकार स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात ऋषि पुनः कहते हैं-

अस तब रूप बखानउ जानहु।

अर्थात् परमात्मा को जानने और उसके वर्णन करने की इच्छा परम ज्ञानी अगस्त ऋषि में बराबर बनी रहे। यही उनकी निराकार ब्रह्म के प्रति प्रियता थी। इसलिए ज्ञानियों के लिए तो यह अभीष्ट मंजिल ही मान्य है कि उनका ज्ञान ही निर्गुण निराकारमय ब्रह्म हो जाये।

तभी तो आदि नृप महाराज मनु उन निर्गुन निराकार ब्रह्म को अपने नेत्रों का ही विषय बनाना चाहते थे या जो अगुन अखण्ड अनन्त अनादि हैं। अर्थात् परमार्थवादी जिस निर्गुन ब्रह्म को ही अपने चित्त में समाहित किये रहते हैं।

तो मनु अब अपनी भक्तिमय तपस्या के द्वारा उनको अपने नेत्रों से देखने के अभिलाषी थे।

मनु के ही पौत्र राजकुमार ध्रुव ने भी तपस्या के द्वारा उसी द्वादश मन्त्र के निरन्तर जाप से उन्हें प्रसन्न करना चाहा था परन्तु उनकी साधना साकार में देखने की मात्र थी और उनको मात्र अपनी सौतेली माँ से बदला लेने के लिए ऐसे उच्च आसन में आसीन होने की थी, जो तब तक किसी को भी सुलभ नहीं हो पायी थी। इसलिए उनका साध्य संकुचित और अल्प था। जिससे उन्हें मात्र छः माह में ही भगवान के दर्शन सुलभ हो गये और अभीष्ट वर की प्राप्ति भी हो गई।

परन्तु महाराज मनु का बहुत बड़ा काल बीत गया और उनके शरीर की दशा -

अस्थि मात्र होइ रहे शरीरा।

अंततोगत्वा मनु शतरूपा के अभिलाषा की सम्पूर्ति हुई और वे अखण्ड अनन्त अनादि ब्रह्म श्रीराम और योगमाया सीता के स्वरूप में प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया।

इसका यह भी तात्पर्य है अगुण अखण्ड की जो महानतम शक्ति स्वरूपा योगमाया है। वह इतनी शक्ति सम्पन्न है कि जिनके

भ्रकुटि विलास जासु लय होई। वाम भाग दिशि सीता सोई॥

यह परमार्थिक सत्य है कि

परित्राणाय साधूणाम् विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

या साधु स्वभाव के महानुभावों का परित्राण और दुष्ट व्यक्तियों का संहार करने के लिए परमात्मा का अवतरण पृथ्वी लोक पर होता है। दूसरे शब्दों में जब शक्ति का उपयोग अहंकारी व्यक्तियों को सबल बनाने के लिए हो तो उनके शक्ति का क्षरण किया जाना भी परमार्थ है। यथा - कौरवों की माता गान्धारी अपने पतिव्रत धर्म के कारण शक्तिपुञ्ज स्वरूपा ही थीं, परन्तु उनकी शक्ति का उपयोग समय समय पर कौरव करते रहते थे। महाभारत युद्ध के समाप्ति पर भगवान श्री कृष्ण ने विचार किया कि सौ पुत्रों की माता गंधारी अपने सभी पुत्रों के विनाश को भूल नहीं पायेगी और उन सब को मारने वाले पाण्डवों में ही एक भीमसेन ही थे, इसलिए उन्हें यह आशंका हुई कि गान्धारी किसी भी समय अपने शक्ति का दुरुपयोग, अपने पुत्रों के संहारक भीमसेन पर कर सकती हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने गान्धारी के शक्ति सञ्चय को विखण्डित करने पर विचार किया। यह कि समूचे महाभारत युद्ध का कारण गान्धारी के मन में श्रीकृष्ण की योजना

सिद्धि के रूप में बैठ गई। और गान्धारी ने अन्त में यह कह दिया कि, "श्रीकृष्ण तुममें यह सामर्थ्य थी, कि यदि तुम चाहते कि महाभारत का युद्ध न हो तो यह युद्ध रुक सकता था परन्तु तुमने यह नहीं चाहा और इस समय कौरवों के कुल का नाश हो गया।" इसलिए गान्धारी ने अपने शक्ति से यादवों के कुल का भी नाश होने का श्राप छत्तीसवें वर्ष में घटित होने के लिए दे दिया। श्राप देने पर भी श्रीकृष्ण प्रसन्न हो गये और उन्होंने पाण्डवों के भावी संकट को ही अपने कुल पर ही घटित होने का श्राप ले लिया और अपने प्रिय भक्त पार्थ के वंश को बचाने के लिए उनके पौत्र परीक्षित को जीवित किया। पर अन्त में श्रीकृष्ण ने गान्धारी से कहा – "माता आपने श्राप देकर मात्र अपनी शक्ति को ही नष्ट किया है, श्राप भी मेरी इच्छा के प्रतिकूल घटित नहीं होगा। मेरी ही इच्छा होगी तभी यादव कुल का विनाश होगा।"

परन्तु जब भगवान श्रीकृष्ण महाभारत के युद्धोपरान्त द्वारिका जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें उतंक मुनि के दर्शन हुए। उन्होंने भी महाभारत के युद्ध का कारण श्रीकृष्ण पर ही थोपा, और श्राप देने को उद्धत हुए। परन्तु श्रीकृष्ण यह जानते थे कि उन मुनि की शक्ति का सदुपयोग समाज हित में होगा, इसलिए श्रीकृष्ण ने उनके शक्ति को श्राप रूप में नष्ट किये जाने से बचाने के लिए अपने विराट स्वरूप का दर्शन तक मुनि उतंक को कराया ताकि उतंक मुनि यह समझ सके कि श्रीकृष्ण परमात्मा है और उनका काम धर्म के ही अनुकूलन में होगा। परमात्मा का काम द्वेष, राग और रोष से रहित होता है।

इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण की एक पटरानी जामवन्त की पुत्री जामवती थी जो श्रीकृष्ण को अत्यंत प्रिय थी, जामवती ने भगवान श्री कृष्ण से एक सौन्दर्य, शीलगुण सम्पन्न और महान शूरवीर पुत्र प्राप्ति के लिए प्रार्थना किया। तब भगवान श्रीकृष्ण कैलाश पर्वत जा कर भगवान शंकर की आराधना किया और सविधि साधना करके उनको प्रसन्न कर लिया। तब उन आशुतोष ने स्वामी कार्तिकेय के अंश से मनवान्छित गुणों से परिपूर्ण पुत्र होने का वरदान श्री कृष्ण को दिया। वर से प्राप्त पुत्र ही जामवती नन्दन साम्ब थे, जो गुणों में अग्रगन्य तो थे ही रूप में वे अन्य सभी राजकुमारों से अद्वितीय थे। परन्तु साम्ब को अपने रूप सौन्दर्य होने का गर्व था। इसलिए उन्होंने एक दिन द्वारिका में नारद के आने पर उनको प्रणाम नहीं किया था, जबकि अन्य राजकुमारों ने यथोचित नमन किया था।

एक अन्य दिन भी नारद जी द्वारिका पधारे और उन्होंने साम्ब को अपने आने की सूचना भगवान श्री कृष्ण को देने के लिए अन्तःपुर भेजा। भगवांन उस समय रानियों के मध्य विराजित थे। साम्ब ने तो अन्तःपुर में जाकर पिताश्री को नारद जी के पधारने की सूचना दी, परन्तु साम्ब के सौन्दर्य को देख कर रानियों में कुछ चञ्चलता का भाव देखा गया, तब नारद जी ने उसका कारण साम्ब को बताया, तब साम्ब के सौन्दर्य गर्व को दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने

श्राप देते हुए साम्ब को कहा कि तुम को अनावसर पर मेरे पास नहीं आना चाहिए था। इसलिए तुम कुष्ठ रोग से आक्रान्त हो जाओ। घ्रणित रोग के भय से साम्ब कांप गये। जब श्रीकृष्ण ने अपने पुत्र को निर्दोष समझा, तब दुर्दैववश प्राप्त रोग की विमुक्ति हेतु साम्ब को काशी जाकर सूर्य की आराधना करने की आज्ञा दी जिससे साम्ब का कुष्ठ रोग हमेशा के लिए उनके शरीर से चला गया। यहाँ पुत्र को दण्ड देने और पुनः उससे निवृत्ति होने में श्रीकृष्ण की क्रिया शैली मोहरहित थी।

जहाँ मोह के कारणभूत पक्षपात की पूर्ण र्निवृत्ति होती है वहाँ परमार्थ तत्व विद्यमान रहता है, जिसका महानतम् स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण के भाव दर्शन में यदुकुल के संहार की लीला में दृष्टिगोचर होता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने बलराम जी और अन्य यादव वीरों के साथ मिलकर बहुत से दानवों और अधर्मियों का विनाश किया। महाभारत युद्ध को निमित्त बनाकर ही उन्होंने पृथ्वी के लिए भार रूप राजाओं का वध करवा कर धर्मराज को ही सर्वश्रेष्ठ राजा बनाकर पृथ्वी के अन्य राजाओं को उनके अनुकूल करवाया। यह करके पृथ्वी को भारमुक्त तो कर दिया था, परन्तु उनके ही कुल में पलित यादव कुल अब भी उन्हें पृथ्वी के लिए भार स्वरूप ही लग रहा था, श्रीकृष्ण के पृथ्वी पर रहने की स्थिति में तो यदुकुल उनके आधीन था, परन्तु इस लोक से सम्वहन के पश्चात वे यदुकुल अपने प्रभाव से पृथ्वी में अराजकता फैलाकर अन्याय, अत्याचार पर उतारू हो सकते थे, अतः **'विनाशाय च दुष्कृताम'** के स्वरूपभूत उन्होंने अपने ही कुल को नष्ट करने का संकल्प किया। उनके संकल्प करने से ही यदुकुल के विनाश का बीजारोपण प्रारम्भ हो गया।

द्वारिका के समीप ही पिण्डारक क्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए आये हुए ऋषि मुनि वही रुकते थे। परन्तु एक दिन यदुकुल के कुमारों ने अपने छद्म भाव से उन्हें क्रोधित कर दिया। हुआ यह, कि सभी राजकुमारों ने साम्ब को ही एक गर्भवती स्त्री के रूप में तैयार कर उसके पेट को बड़ा कर के ऋषियों से सभी राजकुमारों ने जा कर पूछा कि ''गर्भवती स्त्री लड़की जनेगी या लड़का?'' पेट में कड़ाही लोहे की बांधी गई थी।

तब भगवत प्रेरणा से क्रोध के वशीभूत होकर उन्होंने अपने सिद्ध वचनों से यह कहा कि ''इसके पेट से एक मूसल निकलेगा जो समूचे कुल का विनाश का कारण होगा।'' कुछ ही कालान्तर में साम्ब के पेट को खोला गया तो उसके अन्दर सचमुच एक मूसल निकला। राजकुमारों ने समूची घटना द्वारिका में आकर महाराज उग्रसेन को बता दिया, परन्तु उन्हीं श्रीकृष्ण की प्रेरणा से ही श्रीकृष्ण से यह बात छिपाई गई। अन्त में उस मूसल का चूर्ण बनाकर समुद्र में फिकवा दिया गया परन्तु श्राप के प्रभाव से वह समुद्र के किनारे एक झाड़ी के रूप में उत्पन्न होकर बढ़ गया और अन्त में आपस की कलह में उसी झाड़ी के तने के प्रहारों से यदुकुल का संहार हुआ।

इस तरह भावी समाज की संरक्षा हेतु ही भगवान श्रीकृष्ण अपने कुल का संहार कराते हैं और यह समझकर कि अब पृथ्वी सम्पूर्ण रूप से भारमुक्त हुई तो अपने को भी पृथ्वी लोक से गमन करने के लिए उसी लोहे के कण को एक बहेलिया के द्वारा धोखे से प्रहार किये जाने पर उसे स्वीकार करते हैं।

बाण लगने पर बहेलिया से प्रभु श्रीकृष्ण ने कहा, ''जरे, तू डर मत तूने तो मेरे मन का काम किया है, मेरी इच्छापूर्ति की है, जा मेरी आज्ञा से तू उस स्वर्ग में निवास कर जिसकी प्राप्ति पुण्यवानों को होती है।'' मारने की क्रिया करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति। परमात्मा श्रीकृष्ण के तो ये परमार्थ के ऐसे महान कर्म तत्व है, जिनको समझकर मानव में परमार्थ कार्यों के प्रति जागृति होती है। अनन्त निर्गुण निराकार परात्पर परं ब्रह्म के सगुण साकार नित्य परिपूर्ण श्री कृष्ण है ये सभी कलाओं ये युक्त बृजभूमि में सदा विद्यमान रहते है, श्रीकृष्ण का प्रकाश प्राप्त किये बिना किसी को भी अपने स्वरूप का बोध नहीं हो सकता है कि वे प्रेमी भक्त श्री कृष्ण के विराट, सम्पूर्ण वैभव सम्पन्न, अखण्ड, अनन्त स्वरूप में किस जगह पर स्थित है।

श्रीकृष्ण की पत्नियाँ ब्रजनाभ के राज्य शासन स्थल मथुरा मण्डल में निवास कर रहीं थीं। वे सभी अपने को वैधव्य स्थिति में श्री कृष्ण की वियोगावस्था का दारुण दुःख झेल रही थी परन्तु उद्धव जी के एक माह तक चलने वाली श्रीमद्भागवत पारायण में भगवतमयी रसधारा बह चली। उस रस के आस्वादन करने पर श्रोताओं को भगवान की सच्चिदानन्दमयी लीला प्रकाशित हो गई और सर्वत्र श्री कृष्ण का साक्षात्कार होने लगा। उसमें रोहणी आदि श्री कृष्ण की रानियाँ तथा अन्य श्रोताओं को भी जिन्हें योगमाया के कारण ही अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई थी, उन सभी ने अपने को भगवान श्रीकृष्ण के दिव्याति दिव्य स्वरूप में देखा। इस प्रकार सभी श्रीकृष्ण पत्नियों को श्रीकृष्ण विरह जन्य दुःख से छुटकारा तो मिल ही गया, बल्कि वे भगवान के अन्तरङ्ग लीला में प्रविष्ट होकर इस स्थूल और व्यवहारिक संसार से ही मुक्त हो गई।

इस प्रकार परमार्थ तत्व में लयलीन महानुभावों को अपने स्वरूप का स्वतः ही ज्ञान रहता है और वे निर्गुण निराकार ब्रह्म में ही तदात्मता के कारण एक रस स्वरूप में ही रहकर एकात्मता का बोध करते हैं, उनकी भेद दृष्टि तो हो ही नहीं सकती है। तव उस ब्रह्म से अलग अस्तित्व का भ्रम भी उन्हें नहीं होता है। अपने बोध स्वरूप में रहते हुए कब क्या किया जाना है ? उसे वे अपने परमार्थिक ज्ञान के अन्तरङ्गता में ही प्राप्त करते रहते है उनके लिए समूचा ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर है।

गीता में भगवान श्री कृष्ण का कथन है कि ''**जन्म कर्मच मे दिव्यम्।**'' जन्म की दिव्यता तो स्पष्ट है कि मथुरा के बन्दी गृह में अपनी ही योग माया से वे चतुर्भुज स्वरूप में प्रकट हुए

और पुनः माता देवकी के कहने से अल्पाकार के शिशु रूप बन कर रुदन करने लगे और अँधेरी रात्रि में गोकुल के नन्द बाबा के गृह में यशोदा जिन्होंने अभी हाल ही में एक कन्या स्वरूपणी योगमाया को जन्म दिया था, के बगल में यशोदा की अचेतावस्था में पड़ा दिये गये।

अब उनके दिव्य कर्मों का दर्शन करने से यह प्रतीत होता है कि जैसे प्रज्वलित अग्नि में छोटे पतङ्गे आकर उस अग्नि की ज्वाला में गिरकर भस्म होते हैं, वही स्थिति कंस के अनुयायी अनुचरों की हुई।

परन्तु दूसरी ओर श्रीकृष्ण का रूप विन्यास इतना अद्‌भुत था कि जिसके दर्शनों से उनके प्रेमी नर-नारियों का समूह ही ऐसे महाभाव के स्वरूप में डूब गया, जिनमें डूब जाना ही जीव की सर्वोत्कृष्ट और सर्वोत्तम गति है, वह वृन्दावन प्रेमपयोनिधि के रूप में ही परिवर्तित होकर अनन्तकाल के लिए भक्त और प्रेमी सन्तों का पुण्य स्थल बन गया।

परन्तु भगवान श्री कृष्ण की अथाह वृत्तियों में अन्य परमार्थिक कार्यों के लिए अपने को लगाया जाना स्वीकार था, इसलिए बारह वर्ष की अवस्था के पूर्व ही प्रेमार्णव को छोड़कर मथुरा आ गये। सम्भव है गोकुल वृन्दावन फिर कभी इसलिए गये ही नहीं ताकि वे पुनः वहाँ किसी प्रकार से न जाने में, मोह की दुर्गन्ध से अपनी सम्पूर्णता को बचा सके।

तात्पर्य यह है कि परमार्थिक तत्व का यह भी स्वरूप है, कि जब कोई स्थल किसी भी प्रकार यदि छूट जाय तो उसी के राग में समाहित रहे आना मोहवत् है। जिस निर्विकार सर्व सत्ता ने उन सगुन परमात्मा को मथुरा में पहुँचा दिया तो मथुरा स्थल को अपनी परमार्थिक सेवायें प्रस्तुत करना है। परन्तु सत्रह बार जरासंघ के पराजित होने और अन्त में मगध नरेश जरासंघ और काल यवन से घिर जाने पर अनन्त समर्थ होने पर भी युद्ध स्थल ही छोड़कर भागने का अभिनय किया और रण छोड़ के नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई। अर्थात् जहाँ के रहवास में सुरक्षा का अहसास कम हो, वह स्थल त्याज्य योग्य है। या निश्चित कार्य सिद्धि के पश्चात दूसरे प्रकार के कार्यों की सिद्धिदायी योजना में देश परिवर्तन हो, इसलिए श्री कृष्ण ने सव प्रकार से सुरक्षित समुद्र के मध्य में द्वारिकापुरी का निर्माण कराया। और अपने पूर्व स्थलों के व्यवहारिक सम्बन्धों को ऐसे ही भुला दिया जैसे वहाँ उनका कोई सम्बन्ध ही न रहा हो। संसार में इसी प्रकार की कटी छटी जिन्दगी बिताना ही श्रेयष्कर है। इस संसार को मन से ही छोड़ते जाना है, ताकि धीरे धीरे उसका आकार ही इतना छोटा हो जाय कि मृत्यु के पूर्व ही वह सम्पूर्णता से ही छूट जाये।

भगवान श्रीकृष्ण का जीवन दर्शन ही अद्‌भुत है, जिन्हें जीवन के अन्तिम समय में सोलह हजार से अधिक रानियों, अपने पुत्र पौत्रों और द्वारका नगरी तक की तो कोई चिन्ता नहीं है, बल्कि ऊपर से पृथ्वी के भाररूप में होने की सम्भावना से उसी यदुकुल का ही संहार कराये

जाने के मानसिक रुझान में उनकी तैयारी की जा रही है कि यदि बाह्य शक्तियों से यदुकुल का संहार सम्भव नहीं था तो आपस् की फूट और परस्पर की लड़ाई से यदुकुल को नष्ट किया ही जाना चाहिए।

पुनः जब भगवान श्रीकृष्ण ने अपने जीवन को झाँका तो वहाँ स्वल्प भी मानसिक पार्थिव ठहराव की न तो गुंजाइश थी, और न उनके परमार्थिक कार्यों में छिद्र ही दिखा, जिसे किये जाने के लिए उनके ऊपर मानसिक भार, पूरा करने के लिए शेष रहा हो। उनका जीवन ही परमार्थ तत्व की दिव्य पाठशाला थी, जिसमें शिक्षा ग्रहण करने के लिए अनन्त समय तक परमार्थिक महानुभाव अपने जीवन को माँज माँज कर परमार्थ विरोधी तत्वों को बाहर करेंगे और उस दिव्य पाठशाला की प्राप्त की गई शिक्षा से जीवन की सजावट करेंगे।

अन्त में श्री कृष्ण ऐश्वर्य सम्पन्न पृथ्वी का परित्याग करने के लिए पूर्ण तैयार हो कर एकान्त स्थल में अश्वस्थ वृक्ष तले बिराजित हो गये तथा अपने परम प्रेमी भक्त उद्धव को भागवत धर्म और परमार्थ तत्व का उपदेश देते हुए उस घड़ी की प्रतीक्षा में थे, कि जब उन्हें पृथ्वी लोक को छोड़ देना है।

●○●○●

9. विभिन्न प्रकार के सुखों के अनुभूति में परमार्थ के दर्शन

रामचरित मानस में लक्ष्मण जी निषादराज से परमार्थ तत्व के दर्शन का बोध कराते हुए कहते हैं।

जनम मरनु जहँ लगि जग जालू।
सम्पति विपति करम अरु कालू॥
धरम धामु धन पुर परिवारू।
सरगु नरक जहँ लगि व्यवहारु॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माही॥
मोह मूल परमारथ नाही॥

मोह की स्वरूपगत स्थिति यह कही जाती है कि जंहाँ तक संसार का माया जाल है, यहाँ तक कि स्वर्ग नरक के सम्बन्धों का, सभी प्रकार के व्यवहारिक ज्ञान, जो मन के द्वारा मनन होते हैं, इन्द्रियों के द्वारा देखे और सुने जाते हैं, वह सब मोह की परिधि के अन्तर्गत ही है। और जहाँ यह मोह का मूल संसार है और अन्य उसके विस्तारित अवयव है वहाँ किसी प्रकार परमारथ तत्व नहीं हो सकता है, अर्थात् एक ओर संसारिकता का भटकाव और दूसरी ओर परमारथ पूर्ण शान्ति का भव्य संम्राज्य।

थोड़ी और गहराई से विचार करने पर अहंकार की वृत्ति की जागृति ही संसारिकता के इर्द-गिर्द ही रहकर उसी में ही समाहित रहती है और उसी की प्रेरणा से कार्य व्यवहार होते हैं या वहाँ परमारथ की भनक भी नहीं रह सकती है। इस प्रकार वृत्तियों के रहते हुए भी जब स्वभाव बस या किसी सुसंस्कार बस ऐसे कार्यों का सम्पादन होता है। जिनकी कार्यशैली में ही इस बात की स्पष्ट सन्निहितता है कि वह कार्य परमार्थिक है।

यथा - एक शहर के पास एक गाँव में एक शूद्र जाति का (कोरी या बुनकर) दम्पति निवास करता था। दोनों वृद्ध तो थे, परन्तु शरीर से स्वस्थ और हष्ट-पुष्ट थे। संयोग से उनके एक मात्र पुत्र को कोई बीमारी हो गई। पति पत्नी उसे एक चिकित्सक के पास ले गये। परन्तु डॉक्टर का जो समय था वह पहिले से ही खेल के लिए था। इसलिए चिकित्सक ने उस बीमार लड़के को देखने से इंकार कर दिया। कुछ समय के बाद लड़का मर गया। मृत पुत्र को दम्पति अपने घर ले आये।

इस घटना के एक वर्ष के अन्दर ही उसी चिकित्सक के एक मात्र पुत्र को एक सर्प ने काट दिया। चिकित्सक ने अपनी क्षमतानुसार बहुत कोशिश किया कि उसका पुत्र मरने से बचाया जा सके, परन्तु उसकी सभी क्रियायें नाकाम सिद्ध हुई और उसका पुत्र मृतप्राय: हो गया।

वृद्ध कोरी को सर्पदंश से मृतप्रायः की परिचर्या विषय में अच्छा ज्ञान था और अनेकों बार अपनी चिकित्सा पद्धति से अनेकों सर्पदंश के पीड़ितों को वह जीवित कर चुका था। उस ग्राम में भी डॉक्टर के लड़के के मर जाने की खबर पहुँच चुकी थी, परन्तु कोरी की पत्नी ने उसे चिकित्सक के पुत्र हेतु जाने के लिए सख्ती से मना कर दिया था, फिर भी कोरी का मन तो कब का उस चिकित्सक के घर पहुँच चुका था।

अंत में बारह बजे रात्रि को जब कोरिन गहरी निद्रा में हो गई, तब कोरी चुपचाप अपनी चारपाई से उठा, चोरों की भाँति धीरे-धीरे बाहर आया, बिना आवाज के बाहर से दरवाजा बन्द किया और जोर लगाकर दौड़ पड़ा। थोड़ी देर में चिकित्सक के पुत्र के पास पहुँच गया उसे देखकर मृतप्राय लड़के के ऊपर ठण्डा जल डलवाना शुरू किया। वह अपनी अन्य चिकित्सा पद्धति से चार बजे भोर तक उस लड़के को सचेत कर दिया। जब उसकी परिचर्या के लिए अपनी आवश्यकता उसको समझ में नहीं आई तभी वह दबे पाँव ही वहाँ से निकला और चुपचाप अपनी चारपाई पर लेट गया।

चिकित्सक के आनन्द का तो कोई ठिकाना ही नहीं था, परन्तु कोरी भी अपने पुत्र के हन्ता उसी चिकित्सक के आनन्द रस में ही खुश था।

कोरी के द्वारा किया गया यह कार्य अहंकार के अवयवों लोभ मोह से अभिप्रेरित नहीं है, इसलिए उसके द्वारा सम्पादित चिकित्सक के पुत्र की संरक्षा यह परमारथ स्वरूप ही है।

कठोपनिषद् में वर्णन है कि पृथ्वी लोक का एक यौवन सम्पन्न सम्राट हो, जिसके वशवर्ती अन्य राज्य भी हों। अभेद्य दुर्ग हो, सभी प्रकार के आमोद प्रमोद के साधनों का सेवन सुलभ हो। सुसज्जित सेना और सौन्दर्यशीला रानियाँ अपने आधीन हो तो इस स्थिति में जिस आनन्द की अनुभूति ऐश्वर्य सम्पन्न और यौवन सम्पन्न राजा को प्राप्त हो सकती है, उससे सौ गुणा आनन्दानुभूति मनुष्य गन्धर्व को (जो मनुष्य स्वरूप में तो है परन्तु जो अपनी साधना की सिद्धि से गन्धर्वत्व को प्राप्त कर लिया है) उससे भी सौ गुना आनन्द गन्धर्व को होता है। गन्धर्व से सौ गुणा आनन्द देवताओं को और देवताओं से सौ गुणा आनन्द इन्द्र को होता है। इन्द्र से सौ गुणा आनन्द ब्रह्मा को और ब्रह्मा के आनन्द की जो अनुभूति है, वह भगवान श्री कृष्ण के प्रेमार्णव में लयलीन उन गोपीभाव के प्रेमानन्द के समक्ष तुच्छ है।

इस प्रकार यदि देखा जाये तो भौतिक सम्पदा से प्राप्त आनन्द बहुत ही तुच्छ और नगन्य है इसलिए इस संसार के स्वरूप को ही दुःखालय के रूप में देखना और उससे अधिक से अधिक छुटकारा पाने की प्रवृत्ति ही यथार्थ आनन्द की ओर अग्रसर होने की स्थिति है।

मनुष्य योनि की यह विशेषता है कि –

मानस तन गुन ज्ञान निधाना।

इस स्थिति में मनुष्य अपने को भी ज्ञान और गुणों का निधान बना सकता है।

एक समय महापुण्यात्मा राजा महामिष अन्य देवताओं और राजर्षियों के सहित ब्रह्मा की सभा में विराजमान थे। तभी श्रेष्ठगंगा, जो चाँदनी सदृश उज्जवल वस्त्र धारण किए हुए थी, भी ब्रह्मा जी के समीप आई, सहसा गंगाजी का उज्जवल वस्त्र ऊपर को उठ गया। इस स्थिति में सभी ने तो अपने मुँह नीचे को कर लिए परन्तु महामिष नरेश निःशङ्क हो कर देवनदी को एकटक देखते ही रह गये।

यह देखकर ब्रह्माजी ने मनुष्य लोक में जन्म लेने का श्राप महामिष को देते हुए यह भी कहा कि जिस गङ्गा ने तुम्हारे चित्त को चुरा लिया है, वही मनुष्य लोक में तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी। तभी तुम इस श्राप से मुक्त हो जाओगे। गङ्गा ने भी महामिष को अपना धैर्य खोते देखकर उन्हीं का चिन्तन करते हुए लौट गई। लौटने पर उनकी आठ वसुओं से भेंट हुई, उनको भी ऋषि वशिष्ठ के द्वारा मनुष्य लोक में जन्म लेने का श्राप मिला था, यह जानकर गङ्गा जी ने उन्हें अपने गर्भ में धारण करने का आश्वासन देते हुए यह भी कहा कि वह उन्हें जन्म लेने के तुरन्त बाद ही गंगा जी में बहा देगी। परन्तु एक को तो संसार में ही रहना पड़ेगा। इसका यह कारण था कि वशिष्ठ के आश्रम से कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को द्यौ नाम के वसु ने अपनी पत्नी के कहने पर अपहरित कर लिया था। द्यौ के इस काम का अनुमोदन तो शेष सात वसुओं ने किया था परन्तु अपहरण करने की समूची भूमिका तो द्यौ वसु की ही थी।

कालान्तर में महामिष पृथ्वी में जन्म लेकर शान्तनु नाम के प्रसिद्ध राजा हुए जिनकी हस्तिनापुर नाम की राजधानी थी। यहीं राजा शान्तनु गङ्गा जी के रूप लावन्य पर इस प्रकार मोहित हो गये कि गंगा जी के यह शर्त रखने पर कि वे जो चाहेगी, वही करेगी। पर राजा शान्तनु उन्हें कभी टोकेगे नहीं, परन्तु जैसे ही उनके कार्य की टीका टिप्पणी करेंगे तभी वे (गंगा) उन्हें छोड़ देगी।

शान्तनु ने सभी शर्तें मन्जूर कर ली। भौतिक सम्पदाओं से परिपूर्ण हस्तिनापुर के राजमहलों में अद्‌भुत रूप सौन्दर्य से सम्पन्न गंगा जी के साथ शान्तनु अपने को महान सुखी अनुभव कर रहे थे। परन्तु देवी रूप में ही गंगाजी की भावनाओं में दिव्यता है, वे तो किसी प्रकार उस समय की प्रतीक्षा में थी कि कब वसुओं का उद्‌धार हो और कब इस श्रापित स्थिति से छुटकारा पाकर वे ऊर्ध्वलोकों को जाकर देवी स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाये। वसुओं का उद्धार होगा कम से कम यही उनके लिए श्राप की स्थिति में एक परमार्थिक कार्य करने को मिला।

शर्त के अनुसार गंगा जी के गर्भ से जैसे ही पुत्र जन्म लेता था, गंगा जी उसे तुरन्त उठाकर गंगा जी की धारा में बहा देती थी। इस प्रकार करते हुए उन्हें अपने ही गर्भ से उत्पन्न सात पुत्रों को बहा दिया जिनका श्राप वशिष्ट जी के द्वारा सौम्य कर दिया गया था। परन्तु जैसे ही आठवें पुत्र को लेकर गंगा जी उसे भी बहाने के लिए चली वैंसे ही राजा शान्तनु ने कहा – ''अरी, इस बालक का वध न कर, तू किस की कन्या है, क्यों अपने ही बेटों को मारे डालती है।'' शान्तनु के इस प्रकार कहने से और अपने को ब्रह्मा के श्राप से मुक्त समझने पर गंगा जी ने सभी तथ्यों को उजागर करते हुए वसुओं के उद्धार की और खुद को गंगाजी कहते हुए अन्तिम पुत्र को धरोहर के रूप में लेकर चली गई। शान्तनु मनुष्य है, अतः गंगा का संग उन्हें संसारिक सुख की अतिशयता में अनुभवित है, परन्तु गंगा जी की दिव्यता में वही सुख उनके लिए हेय है।

इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान की भी एक सीमितता है। अतः मनुष्य भी जब सम्पूर्ण रूप से संसारिकता के आधीन हो जाता है तब उसके अज्ञान की भी एक सीमा है, परन्तु मनुष्य यदि संसार की समूची आधीनता को न मानते हुए ज्ञान भक्ति वैराग्य आत्म संयम में अपने संसारिक तादात्मता को बदल देता है, तभी देवत्व की शक्ति को प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य तक पा लेता है और इसके आगे भी उसकी गति है कि वह ब्रह्म स्वरूप तक हो सकता है।

ब्रह्मा ने एक बार अपने शरीर से ही एक अद्वितीय परम सुन्दरी नारी को उत्पन्न किया और उसका नामकरण किया अहिल्या। जब उसको अपने साथ लेकर ब्रह्मा इन्द्रलोक पहुँचे तो इन्द्र ने अपने लिए यह समझा कि ब्रह्मदेव उस सुन्दर नारी को उपहार स्वरूप में देने के लिए स्वर्ग लोक आये है। ब्रह्मा, इन्द्र की इस कामलोलुपता को समझ गये और वहाँ से उस रमणी के साथ ही वे गौतम ऋषि के आश्रम में पहुँचे। परन्तु अहिल्या को देखकर गौतम ऋषि के मन में किसी भी प्रकार का विकार नहीं हुआ, इसलिए ब्रह्मा ने अहिल्या को वहीं छोड़ कर अपने लोक चले आये। कालान्तर में जब ब्रह्मा जी पुनः गौतम ऋषि के आश्रम में पहुँचे, तो गौतम ऋषि का अहिल्या के प्रति उसी प्रकार की निर्विकार स्थिति में उन्होंने पाया। तब उन्होंने अहिल्या को पत्नी रूप में वरण करने का उन्हें आदेश दिया और तभी से अहिल्या उन जितेन्द्रिय गौतम की पत्नी हुई, जिसको इन्द्र ने अपनी काम लोलुपता के कारण ऋषि की पत्नी होने पर भी अपने कामवासना की तृप्ति हेतु गौतम का रूप धारण करने पर उनका उपभोग किया था और इस प्रकार गौतम ऋषि से ही श्रापित हुए थे।

गौतम ऋषि भी मनुष्य हैं, परन्तु वे अपनी साधना, संयमता और यौगिक सिद्धियों के कारण इतने महान थे कि उनके सामने देव स्तर के होते हुए भी इन्द्र की ज्ञानेन्द्रिय तुच्छ है और सात्विक गुणों को भी धारण करने में समर्थ नहीं थीं।

नर नारायण की तपस्या में विघ्न डालने के लिए इन्द्र ने कामदेव को उनके आश्रम में भेजा कामदेव अपने पूरे काम उद्दीपन के शस्त्रों के साथ अपने पुत्र बसन्त को भी लेकर वहाँ पहुँचे। परन्तु अपनी समूची शक्ति लगा देने के अनन्तर भी जब नर नारायण के मन पर कामदेव के आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं हुआ और उसके सभी क्रियाकलाप नाकाम सिद्ध हुए, तब उसको अपने स्वरूप पर लज्जा आई और वह नर नारायण के निर्विकार स्थिति को देखकर हत्प्रभ हो गया।

जब नर नारायण ने कामदेव को लज्जित स्थिति में पाया, तब कामदेव ने देखा कि नर नारायण के शरीर से ही रति और अपसराओं की सौन्दर्य प्रभा को भी प्रभाहीन बनाने वाली बहुत ही सुन्दर रमनियां निकल रही थी। तब स्वयं नारायण ने ही कामदेव से कहा, कि इन रमणियों में किसी एक को तुम स्वर्गलोक ले जाओ, वह तुम्हारे स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं में होगी। उनके आदेश पर कामदेव ने उर्वसी नाम की रमणी रत्न को लेकर स्वर्गलोक आ गये। तब से उर्वसी ही सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं में मानी जाने लगी, जो भरतवंश की आदि जननी मानी जाती है, क्योंकि किसी समय उर्वसी को श्रापवश पृथ्वी के राजा पुरुरबा के आधीन रहना पड़ा था।

भगवान नारायण तो परमार्थ तत्व के परम आश्रय हैं। जिनके इस कर्तव्य से उस परमार्थ की महानतम् झलक दृष्टिगोचर होती है कि कोई आक्रमण कर्ता भी है तो उसे भी तथ्य से सम्बद्ध पुरस्कार भी दो। तात्पर्य कि परमार्थ धर्म में जहाँ वह निर्विकार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है सब एक रस है वहाँ दण्ड का विधान तो किसी भी प्रकार हो ही नहीं सकता है, क्योंकि वहाँ तो विरोध तत्व ही नहीं है।

जिस प्रकार सविशेष ब्रह्म में अपने को लयलीन करने वाले काकभुसुण्ड को लोभश ऋषि से श्राप तो काक होने का दे दिया, परन्तु उनके श्राप देने के अनन्तर भी उनमें -

नहिं कछु भय न दीनता आई।

क्योंकि उनकी स्थिति श्रीराम में इतनी एकीकृत थी कि -

निज प्रभुमय देखहि जगत।
केहि सन करहि विरोध।

यह भक्ति योग के प्राधान्यता की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, जो श्राप देने वाले लोमस ऋषि में और उनके दिये गये श्राप में भी वे अपने प्रभु श्रीराम का ही दर्शन करते हैं और यह सोचते हैं कि श्राप भी उन्हें हितकारी रूप में प्रदत्त किया गया था।

अक्रोधी एकनाथ स्वामी को उनके गोदावरी के स्नान करने पर लौटने पर एक यवन रास्ते

में पेड़ पर चढ़कर उनके ऊपर थूक देता था। थूक पड़ने से वे पुनः गोदावदी स्नानार्थ चले जाते थे। इस प्रकार करते करते शाम हो गई, पर न तो एकनाथ स्वामी को क्रोध हुआ और न उन्होंने रास्ता बदला। तब अन्त में यवन ही पेड़ से नीचे उतर कर उनसे अपने किये की क्षमा माँगी।

इस पर भी एकनाथ स्वामी प्रसन्न होकर ही कहते हैं कि "प्रतिदिन तो मैं एक बार ही गोदावरी स्नान करता था, आज तुमने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की जो मुझे बावन बार गोदावरी स्नान करने का सुअवसर प्रदान किया।"

इतना मात्र ही नहीं बल्कि जब कभी उस पड़ोसी यवन को कष्ट होता था तो उस कष्ट के निवारण हेतु सब से पहले एकनाथ ही वहाँ पहुँच कर उस यवन की समस्या का समाधान करते थे।

इस प्रकार एकनाथ स्वामी के अन्तर्भूत निर्विकारता की स्थिति उनके परमार्थ भाव का दर्शन कराती है, जो यवन के द्वारा सताये जाने पर भी उन एकनाथ स्वामी को उस यवन के दुःख दर्द की ही चिन्ता रहती थी।

10. श्रीराम का सम मृदुल और कठोर स्वरूपों में परमार्थ

निर्गुण निराकार ब्रह्म में लयलीन महानुभावों को अपने स्वरूप का स्वतः ही बोध होता है। और ब्रह्म में तदात्मता की स्थिति प्राप्त करने पर उनमें भेद दृष्टि का तो सर्वथा अभाव ही रहता है, तब उस ब्रह्म से अलग अस्तित्व का भ्रम भी उन्हें नहीं होता है। अपने बोध स्वरूपता में रहते हुए कब क्या किया जाना है ? उसे वे अपने परमार्थिक ज्ञान के अनन्तता में ही प्राप्त कर तथावत कार्य की संचालनता पर विचार करते है।

परमात्मा के निर्गुण निराकार उपासक परम ज्ञानी जब सगुण स्वरूप के दर्शन करते हैं, तब उनके दर्शन में भी ज्ञान परक स्थिति ही समाई रहती है। भले ही बाह्य लीला दर्शन के स्वरूप में उन सगुण स्वरूप परमात्मा की जो भी दर्शन के समय स्थिति रही हो। इस प्रकार भगवान के द्वारा उद्धरित लीला का वे आनन्द तो लेते हैं, परन्तु उनके दर्शनों में वही सच्चिदानन्द की स्वरूपता का ही तत्व रहता है।

एक बार जब भगवान शंकर सती जी के साथ रामकथा सुनकर अगस्त ऋषि के आश्रम से कैलाश की ओर लौट रहे थे, तभी श्रीराम के वियोग की लीला के दर्शन उन्हें मार्ग में हुए। सीताजी का हरण रावण के द्वारा हो चुका था और प्रभु राम की दशा उस समय थी -

यहि विधि खोजत विलपत स्वामी। मनहु महा विरही अति कामी॥

लक्ष्मण जी उन अखण्ड ज्ञानी श्रीराम को अनेक विधियों से समझा रहे थे। भगवान शंकर जी तो यह देख रहे हैं -

विरह विकल नर इव रघुराई। खोजत विपिन फिरत दोऊ भाई॥

परन्तु भगवान शंकर को श्रीराम के जिस स्वरूप के दर्शन हो रहें - वह स्वरूप है -

कबहू जोग वियोग न जाके। देखा प्रगट विरह दुःख ताके॥

अति विचित्र रघुपति चरित, जानहि परम सुजान।
जे मति मन्द विमोह बस, हृदय धरहि कछुआन॥

शम्भु समय तेहि रामहि देखा। उपजा हिय अति हरषु विशेषा।
भरि लोचन छवि सिंधु निहारी। कुसमय जान न कीन्ह चिन्हारी॥

तात्पर्य यह कि श्रीराम के वियोग की दशा में भी भगवान शंकर उन छवि सिन्धु के दर्शन पर आनन्दित तो होते है परन्तु भगवान शंकर की बोधमयता में जो स्वरूप श्रीराम जी का है, उसके ठीक विपरीत ही उनका लीला बिहार हो रहा है जिसके कारण भगवान शंकर की भाव दशा में – **कुसमय जान न कीन्ह चिनारी** है। परन्तु श्रीराम के सच्चिदानन्द स्वरूप में ही शंकर जी रमते हैं क्योंकि भगवान शंकर का स्वरूप है –

चिदानन्द सुखधाम शिव विगत मोह मद काम।
विचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम॥

ऐसी स्थिति में भगवान शंकर उनके निराकारी स्वरूपगता में ही अपने श्रीमुख से शब्दोच्चारण करते हैं –

जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥

तुलसीदासजी ने जो भगवान शंकर के नाम में मनोज नशावन शब्द का प्रयोग किया वह विचित्र ही भावों की सृष्टि करता है – यथा – परं ब्रह्म परमेश्वर श्रीराम रूप में अपनी पत्नी के विरह व्यथा में रूदन कर रहे, जो शिव जी के इष्ट है, और ''सेवक स्वामी सखा सिय पिय के॥'' के अनुसार शिवजी भी अपने को उन श्रीराम का सेवक और सखा भी मानते हैं, जो इस रूप में श्रीराम के वियोगवस्था के दर्शनार्थी है। मनोज नशावन या कामरि, काम को ही नष्ट करने वाले और दृश्य है काम (कामना, कामभोग) की शक्ति पत्नी के वियोग की विरह व्यथा का; परन्तु परम परमार्थवादी बोध स्वरूप भगवान शंकर के लिए श्रीराम है

जय सच्चिदानन्द जग पावन। ही है

श्रीराम के विरह व्यथा के समय के ही दूसरे दर्शनार्थी है – नारद जी – नारद जी का स्वरूप है –

नारद विष्णु भगत पुनि ज्ञानी।

परन्तु नारद जी ने ही अपनी क्रोधावस्था में ही उन्हीं विष्णु को कहा था –

नारि विरह तुम होव दुखारी।

पर श्रीराम के वियोगवस्था को जब उन्होंने देखा और उसका कारण भी अपना श्राप ही समझा तो उसके दर्शनों की उत्कण्ठा नारद जी को हुई और

बिरहवन्त भगवन्तहि देखी। नारद मन भा सोच विशेषी॥
मोर साप कर अङ्गीकारा। फिरत राम नाना दुःखभारा॥

तात्पर्य यह है कि नारद जी भक्त है और जिस वियोग की विभिन्न दशाओं में प्रभु राम विलाप करते हुए वन वन में सीता की खोज कर रहे है, उसी दशा में ही उनको दर्शन भी हो रहा है, तो

ऐसे प्रभुहि बिलोकऊँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसर पाई॥

ऐसा विचार करके ही नारद जी वहाँ पहुँचे जहाँ प्रभु राम एक तालाब के तट पर तरुवर की छाया में अपने अनुज लक्ष्मण के साथ सुख से आसीन है -

यह विचार नारद कर बीना। गये जहँ प्रभु सुख आसीना॥

यहाँ प्रभु श्रीराम उन्हें सुख की स्थिति में आसीन स्वरूप से मिल रहे है, तो यहाँ भी प्रभु के दर्शन देने की शैली में उनके परमार्थतत्व का ही स्वरूप परिलक्षित होता है - क्योंकि वे अपने परमभक्त को अपनी वियोगावस्था के दर्शन कराकर दु:खी नहीं बनाना चाहते।

परन्तु इस बार देवर्षि नारद की भाव शैली ही सन्त और भक्त स्वरूप की है, इसलिए अपने इष्ट मिलन के पूर्व

गावत राम चरित मृदुबानी। प्रेम सहित बहु भाति बखानी॥

जबकि अपने क्रोधावेश की स्थिति में जब मार्ग में ही भगवान से, जो अकेले नहीं थे (**संग रमा सोइ राजकुमारी**), तब भी दर्शन करते ही नारद जी उनका दुर्वचनों से स्वागत कर रहे हैं -

परसम्पदा सकहु नहि देखी। तुम्हरे इरिषा कपट विशेषी॥

अनेकों रूपों में दुर्वचनों के प्रयोग करने पर भी जब तीन प्रकार के श्राप नारद जी के श्रीमुख से उच्चारित हो गये, जिनकी उन भगवान विष्णु को आवश्यकता थी। तब

जब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहँ रमा न राजकुमारी॥

परम प्रभु यह जानते थे कि माया के निवारण के पश्चात् ही नारद के मन में पश्चाताप की भावना जागृति होगी और उनकी पश्चाताप की भाव दशा को अन्य कोई न देखें, इसलिए वे ही अकेले रह गये - **नहि तहँ रमा न राजकुमारी।**

जब नारद जी कहते हैं- **मृषा होठ मम श्राप कृपाला।**

तब प्रभु का नारद जी को संतोष दिलाने का उत्तर -

मम इच्छा कह दीन दयाला।

नारद जी अपनी पश्चाताप की स्थिति में ही -

मैं दुर्वचन कहे बहु तेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे।।

तब प्रभु का सांकेतिक उत्तर था कि नारद जी ने भगवान शंकर के मना करने पर कि

बार बार बिनवऊँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनावहु मोही।।
तिमिं जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ।।

तब भी -

काम चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि शिव राखे।।

तो सांकेतिक उत्तर यह था -

जपहु जाइ शंकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत विश्रामा।।

अर्थात् - जिन भगवान शंकर की आज्ञा की अवहेलना किया उन्हीं भगवान शंकर के शत नामों का ही जाप करो।

इसके अतिरिक्त नारद जी में सैद्धान्तिक एक कमी और थी कि भगवान विष्णु और भगवान शंकर के प्रति उनकी भेद दृष्टि थी जबकि -

शिवपद कमल जिनहि रति नाही। रामहि ते सपनेहु न सोहाही।।
बिनु छल विश्व नाथ पर नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू।।

तो इसी सैद्धान्तिक स्थिति में अपने भक्त के रक्षणार्थ पालनीय, भगवान विष्णु देवर्षि नारद से कहते हैं -

कोउ नहि शिव समान प्रिय मोरे। अस परतीति तजहु जनि भोरे।।

और -

जेहि पर कृपा न करहि पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी।।

अब भगवान विष्णु जी के परमार्थ तत्व के सूक्ष्मदर्शन में विचार करे तो उनका साध्य तो मात्र यह था-

करुण निधि मनदीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी।।
बेगि सो मैं डारिहऊँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी।।

तो "पन हमार सेवक हितकारी" के कारण ही करुणानिधि ने तीन श्राप स्वीकार किये और

उन श्रापों में ''नारि विरह तुम होउ दुखारी'' की भुक्तावस्था में नारद जी प्रभु श्रीराम से मिल रहे है। परन्तु नारद जी की विचारधारा में भी अब परमार्थवादिता का स्वरूप दर्शन हो रहा है क्योंकि अब नारद जी अपने निहित स्वार्थ के वशीभूत होकर वरदान माँगने की चाह नहीं रख रहे हैं बल्कि लोकोपकारी वरदान की ही इच्छा है। अतः अब इतने नम्र होकर वे प्रभु से विनीत प्रार्थना कर रहे हैं, जैसे अपनी भाव दशा में वे दबे जा रहे हो।

पहिले उन प्रभु की सविशेष और निर्विशेष स्वरूपों में स्तुति किया -

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम वरदायक॥
देहु एक वर माँगउ स्वामी। जद्यपि जानत अन्तरजामी॥

जब प्रभु श्रीराम ने कह दिया -

जन कहु कछु अदेय नहि मोरे।

तब भी नारद जी कि नम्रता देखते बनती है यथा -

तव नारद बोले हरषाई। अस बर मागउँ करउँ ढिठाई॥

वरदान है कि -

राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गण वधिका॥

अर्थात् राम का नाम सभी भगवत् नामों में, पापों के समूहों का नाश करने के लिए सबसे अधिक श्रेयष्कर हो।

वही सुख की आसीनता में ही वहाँ श्रीराम दर्शनों के लिए देवता और मुनि भी आये परन्तु देवताओं का स्वरूप है (रावण पर विजयोपरान्त) -

आये देव सदा स्वारथी। वचन कहहि जनु परमारथी॥

और उन देवताओं के साथ ही मुनि भी हैं। हो सकता है देवतागण ही उन्हें अपने साथ इसलिए ले आये हो ताकि उनके साथ के कारण उनकी स्वारथ वृत्ति अधिक उजागर आभाषित न होने पावे। परन्तु उनके आने का भाव तो यह था कि किसी के दुःखपूर्ण स्थिति में न पहुँचने से उनकी व्यवहारिकता में दुःखी व्यक्ति के प्रति संवेदनहीनता मानी जायेगी।

इसलिए देवगण मुनियों के साथ आये, उनकी स्तुति की, और चले गये। तो ऐसे महानुभावों के लिए तो न वियोगावस्था की दुःखदायी स्थिति ही उचित है और न उनसे अपनी सुख दुःख की चर्चा ही, क्योंकि देवताओं के स्वार्थपरक प्रवृत्ति में संवेदनशीलता होती ही नहीं।

प्रभु श्रीराम के परमार्थिक तत्वों के पालनार्थ में उनके अति कठोरता के दर्शनः

श्रीराम के राज्याभिषेक में मैत्री भाव के राजाओं में सुग्रीव, अंगद, विभीषण, निषादराज आदि थे। जब उन सभी का अयोध्यावास का समय बहुत अधिक हो गया तब उनके विदाई का उपक्रम स्वयं महाराज श्रीराम ने ही किया, जब विदा करने हेतु अंगद की बारी आई।

तव अंगद उठिनाइ सिर, सजल नयन कर जोरि।
अति विनीत बोलेउ वचन, मनहु प्रेम रस बोरि॥

अंगद श्रीराम के विरहजन्य वेदना से व्यथित होकर कहने लगे –

अशरन शरन विरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥
मोरे तुम्ह प्रभु गुरू पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता॥
बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना। राखउ शरन नाथ जन दीना॥
नीच टहल गृह कै सबकरिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥
अस कहि चरन परेउ गहि पाही। अब जनि नाथ कहहुँ गृह जाही॥

अंगद के विनीत वचनों को सुनकर प्रभु श्रीराम ने अंगद को उठाकर हृदय से लगा लिया, प्रेमाश्रु निकल आये, गद्‌गद्‌ हुए और –

निज उर माल बसन मणि, बालि तनय पहिराइ।
विदा कीन्ह भगवान तव, बहु प्रकार समुझाइ॥

इस प्रकार प्रेम में सराबोर स्थिति के साथ श्रीराम के द्वारा विदा किये जाने पर भी

अंगद हृदय प्रेम नहि थोरा। फिरि फिरि चितब राम की ओरा॥
बार बार कर दण्ड प्रणामा। मन अस रहन कहहि मोहि रामा॥

अन्ततोगत्वा अंगद को किष्किंधा के लिए जाने हेतु बाध्य होना पड़ा। ये, वे ही अंगद है, जिन्होंने रावण के द्वारा राम के लिए यह कहने पर कि –

जिनके बल कर गर्व तोड़, अइसे मनुज अनेक।
खाइ निशाचर दिवस निसि, मूढ़ समुझि तजि टेक॥

श्रीराम की निन्दा सुनने मात्र से अंगद जोर से कटकटा कर अपने दोनों भुजदण्डों को पृथ्वी पर दे मारा, तो पृथ्वी हिलने लगी। सभासद गिर पड़े और कुछ डरकर भाग चले। रावण भी गिरते गिरते बच तो गया परन्तु उसके मुकुट धरती पर गिर गये। उनमें से कुछ मुकुटों को तो अंगद ने उठाकर दूर प्रभु के पास फेंक दिया।

प्रभुराम की निन्दा अंगद के लिए इतनी असह्य थी कि उन्होंने अपने तेज और पुरुषार्थ के साथ ही प्रभु श्रीराम के प्रताप को समझते हुए उसी सभा में अपने एक पैर को रोप कर यह भीषण प्रतिज्ञा कर डाली –

जो मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहि राम सीता मैं हारी॥

अन्ततः अंगद के विश्वास, श्रद्धा और ज्ञान की विजय हुई। धन्य है अंगद के इस श्रीराम प्रताप के ज्ञान गौरव को।

भूमि न छाँड़त कपि चरन देखत रिपु मद भाग।

तब रावण के सभा की दुर्दशा –

कपि बल देखि सकल हिय हारे।

और वे ही अंगद जब श्रीराम से कुछ दिन रहने के लिए प्रार्थना कर रहे है तो –

प्रभु रुख देखि विनय बहुभाषी। चलेउ हृदय पद पंकज राखी॥

इसके पश्चात् भी अंगद श्रीहनुमान जी से कहते हैं कि –

बार बार रघुनायकहि, सुरति करावहु मोरि।

तुलसीदास जी को अंगद के प्रति की गई इस प्रकार की व्यवहारिकता के कारण लिखना पड़ा –

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेश राम कर, समुझि परइ कहु काहि॥

परन्तु भगवान श्रीराम जिस परमार्थ धर्म में आरूढ़ हैं, उसमें इतने कठोर ही बनने से उनके धर्म की संगठता का दर्शन होता है। प्रभु राम को स्मरण है कि अंगद के पिता बाली ने मरते समय अंगद को श्रीराम के हाथों ही सौंप कर कहा था –

यह तनय मम सम विनय बल, कल्याणप्रद प्रभु कीजिए।
गहि बाँह सुरनर नाह आपन, दास अंगद कीजिए॥

इसके पूर्व ही प्रभु श्रीराम ने बालि के ऊपर ही ऐसे अमोघ बाण का प्रयोग किया था कि उस अमोघास्त्र से बालि किसी भी प्रकार बच नहीं सके। फिर भी अंगद और अपनी पत्नी तारा की सुरक्षा हेतु महान शक्ति सम्पन्न के रूप में बालि ने उन्हीं श्रीराम के ही शरणापन्न अपने पुत्र को किया था। बालि की नीति निपुणता भी अत्यन्त सारगर्भित थी, क्योंकि वह यह समझ चुका

था कि श्रीराम ने सुग्रीव के पक्षपाती होकर ही उनके ऊपर अमोघ बाण का प्रहार किया है, अतः उन्हें ही अपने पक्ष में करने पर ही मेरे मरणोपरान्त मेरे पत्नी और पुत्र की सुरक्षा हो सकती है।''

तब प्रभु श्रीराम अपने अतिशयता के गुणों के आधार पर ही अपने नीतियों का प्रयोग कर के

1. राम बालि निज धाम पठावा।

2. तारा विकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हर लीन्ही माया॥

3. राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज।

तव बालि के मरणोत्तर पर अंगद के भी कुछ कर्त्तव्य है कि वह अपनी माता तारा को उनके वैधव्य की स्थिति में, पति वियोग की दशा में पुत्र धर्मी होकर अपनी माता के पास ही रहे।

इसके अतिरिक्त युवराज पद के धारण करने पर उनको अपनी प्रजा के सम्पर्क में ही रहना चाहिए और राज काज में अपने चाचा सुग्रीव की सहायता करना चाहिए। तभी तो युवराज पद की महत्ता है।

ये दोनों ही महत्वपूर्ण कार्य जिन्हें अंगद द्वारा किया जाना अभीष्ट है, तभी सम्भव है जब युवराज अंगद किष्किंधा में रहकर अपनी प्रजा के बीच में रहे।

इसलिए सामयिक कर्त्तव्यपालन की श्रेष्ठता के कारण उनका अयोध्या में रहना गौण है, इसलिए प्रभु राम अंगद को उनकी कर्त्तव्यपरायणता को दृष्टि में रखकर अंगद की इच्छा न होने पर भी बरबस किष्किन्धा भेजने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु इस पर भी विचारणीय तथ्य एक और है कि हनुमान जी महाराज जहाँ प्रभु चरणों के समीप रहने के अधिकारी है, जो सुग्रीव के मंत्री है, परन्तु अंगद को उनकी इच्छा न होने पर अयोध्या से किष्किन्धा जाने को विवश किया गया है, तो क्या प्रभु चरणों के समीप का रहवास सर्वोत्कृष्ट नहीं है। परन्तु यह गौण स्थिति बनाने वाले तो बालिसुत अंगद ही है, कि उनके हृदय में प्रभु चरणों के प्रति प्रेम की गौण स्थिति है। अपने प्रेम के भावावेश में ही अंगद ने यह कहा था कि –

नीच टहल गृह कै सबकरिहउँ। पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

(1) तो अंगद के प्रेम प्रभा में एक यह धुँधलापन है कि पद पंकजों को देख देख कर भव से पार हो जाऊँगा। सकामता की स्थिति गौण होती है।

(2) जिस गृहकार्य को महारानी सीता करती थी –

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकनी। विपुल सदा सेवा विधि गुनी॥
निजकर गृह परिचरया करई। रामचन्द्र आयसु अनुसरई॥

तो सीता जी की भक्ति भावना तो उनकी सिद्धि स्थिति की है, उसी भक्ति की सिद्धि स्थिति से सीताजी सेवक और सेविकाओं के रहते हुए भी कौसलाधीश की पाटमहिषी पद में आसीनता के बाद भी वे सब अपने हाथों से करते हुए अपने में गौरवशीलता का अनुभव करती थी।

परन्तु अंगद अपनी भक्ति भावना के गौण स्थिति के कारण - **नीच टहल गृह के सबकरिहउँ।** के स्वरूप में सम्बोधन कर रहे हैं।

तो प्रभु श्रीराम सोचते है कि "अंगद तुम्हारा साध्य यदि संसार सागर से मुक्त होने का है और इसलिए तुम मेरे चरणों का आश्रय लेना चाहते हो, तो मुक्त तो मैंने तुम्हारे पिता तक को कर दिया, जिसने अपनी मरणासन्न स्थिति के पूर्व कभी मेरे चरणों का दर्शन तक नहीं किया था। इसलिए तुम्हारे लिए मेरे द्वारा प्रदत्त युवराज पद की प्रतिष्ठा को ही ध्यान में रखकर किष्किन्धा की ओर ही जाना श्रेयष्कर है।"

भगवान श्रीराम की परमार्थ ज्ञान की और उससे सम्बद्ध पारमार्थिक कर्त्तव्यों की बौद्धिक विशेषता इतनी प्रखर है, कि जैसे संसारिक स्वार्थ का उनमें लेशमात्र भी संग्रहण न हो।

यदि संसारिक स्वार्थ + परमार्थ = एक;

तो श्रीराम में ० + १ = १ है।

बल्कि यह भी कहा जा सकता है, कि सांसारिक मूल्यों को, सांसारिक सुख और श्राप को भी परमार्थिक स्वरूप में ही ग्रहण करके उसके कार्यविधि को इस रूप में संचालित करते हैं कि कार्य के स्वरूप भी परमार्थिक तथ्यों के आधार पर ही ग्रहण किये गए हैं।

श्री बाल्मीक कृत रामायण में वर्णन है कि लवणासुर का वध कराके शत्रुघ्न को मथुरा मण्डल का राजा घोषित कर दिया गया था। इसलिए उनके दोनों पुत्रों को शत्रुघ्न के शासनकाल के पश्चात् राज्य प्राप्ति की स्थिति पूर्व से ही बनी हुई थी। भरत के दोनों पुत्र तक्ष और पुष्कल थे, जो कैकेय देश के तक्षशिला और पुष्कलावत नगर को राजधानी बना कर राज्य करने लगे थे। इसी प्रकार लक्ष्मण के भी दोनों पुत्र अंगद और चन्द्रकेतु थे, जो कारुपथ देश के अंगदीया नगरी में और चन्द्रकान्ता नगरी में राजधानी बना कर रहते थे। भरत के पुत्रों के लिए वहाँ कैकेय देश में गन्धर्वों को युद्ध में पराजित करके उनका राजतिलक किया गया था। इसके लिए भरत जी कई वर्षों तक वहीं रहे थे। इसी प्रकार लक्ष्मण के पुत्रों को कार्यभार के उचित मार्गदर्शन हेतु भरत और लक्ष्मण भी वर्षों वहीं रहे थे।

जब ब्रह्मा के द्वारा श्रीराम का पृथ्वी लोक में रहने का काल समाप्त होने को था तब काल की प्रेरणा से ही स्वयं भगवान काल ही श्रीराम के दर्शन करने और उन्हें पृथ्वीलोक से सम्वहन

की ओर ध्यान आकर्षण करने के लिए आये। उनकी गुप्त वार्ता में किसी को भी अन्दर प्रवेश करने की अनुमति न होने के कारण लक्ष्मण को ही ड्योढ़ी में खड़ा किया गया। परन्तु ऋषि दुर्वासा के श्रीराम दर्शन हेतु वहाँ आ जाने से उन्हें नहीं रोका जा सका। क्योंकि उनके रोके जाने पर उनके द्वारा समूची अयोध्या के भस्म हो जाने की, उन परम तपस्वी दुर्वासा के द्वारा शर्त ही कर दी गई थी। आज्ञा उल्लंघन के अपराध में लक्ष्मण का त्याग जब श्रीराम ने कर दिया तो लक्ष्मण जी योग की गति से सशरीर अपने लोक को चले गये। परन्तु श्रीराम के लिए लक्ष्मण का त्याग इतना कष्टप्रद और असह्य था कि मानव धर्म के अनुकूल आचरण की सम्बद्धता में उन्होंने राज्य के पुरोहितों, महाजनों और मन्त्रियों को बुलवाकर भरत का ही राज्याभिषेक कौशल देश में कराके वन जाने का प्रस्ताव रखा।

अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्म वत्सलम्।
अयोध्याया:पतिं वीर ततो यास्याम्यहं वनम्॥

यह तो श्रीभरत लाल के हृदय में राज्य के प्रति विकर्षणता की भावना इतनी प्रबल थी, कि उन्होंने श्रीराम के कथन के बाद ही कहा –

सत्येनाहमं शपेराजन् स्वर्ग भोगेन चैवहि।
न कामये यथा राज्यम् त्वां विना रघुनंदन॥

राजन्! मैं सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि आपके बिना मुझे राज्य नहीं चाहिए और स्वर्ग का भोग भी नहीं चाहिए।

इसलिए यदि अयोध्या के राज्य में आपके अतिरिक्त और किसी अन्य को ही अभिषिक्त होना है तो –

इमौ कुशीलवौ राजन्नाभिषिच्य नराधिप।
कौशलेषु कुशं वीरं उत्तरेषु तथा लवम्॥

हे राजन्! अब इन कुश और लव का राजाभिषेक कीजिए। दक्षिण कौशल में कुश और उत्तर कौशल में लव को राजा बनाइए। भरत के ऐसा कहने और उनके कथन में उचित स्वरूप दर्शन के कारण तदानुसार ही श्रीराम के दोनों पुत्रों का राज्याभिषेक कर दिया गया।

तो जिस प्रकार संसारिकता में पगेहीन भावना के व्यक्तियों में अपने नीच आचरण के कारण उनमें नीच स्वार्थ की प्रवृत्ति ही पाई जाती है, उसी के ठीक विरूद्ध परमार्थ पारायण श्रीराम का आचरण संसार के मध्य रहते हुए भी सांसारिकता की स्वार्थ परक भावनाओं से इतना ऊँचा उठा हुआ था कि सांसारिक स्वार्थ उन्हें छू नहीं सकता था।

●○●○●

11. श्रीराम बाल-लीला स्वरूप दर्शन
(योगमाया सीता के निःसहभागिता पर)

अगुन अखण्ड अनन्त अनादि ब्रह्म प्रगट हुए -

भए प्रगट कृपाला दीनदयाल कौसिल्या हितकारी।
माया गुन ज्ञानातीत अमाना वेद पुराना भनंता।
ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहे॥

महाराज मनु ने इन्हीं विश्ववास भगवान को ही प्रगट होने के लिए **''जो सरूप बस शिव मन माहीं।''** और जो **''भुशुण्डि मन मानस हंसा।''** हैं तो इस प्रकार की रामकथा सुनाते सुनाते भगवान शंकर पार्वती से कहने लगे -

औरउ एक कहउ निज चोरी।
सुनु गिरजा अति दृढ़ मति तोरी॥

अर्थात् भगवान शंकर अपनी चोरी की कथा सुनाने लगे। और वह चोरी की कथा यह थी कि -

काक भुसुण्डि संग हम दोऊ।
मनुज रूप जानइ नहि कोऊ।
परमानन्द प्रेमसुख फूले।
वीथिन्हि फिरहि मगन रस भूले।

परन्तु यह चोरी की कथा सुनने की पात्रता पारवती में इसलिए विनिर्मित थी - क्योंकि उनकी मति अत्यन्त दृढ़ थी, अन्यथा उन्हें भी चोरी की कथा सुनने का अधिकार न हो पाता।

विश्ववास भगवान ने सतरूपा के मांगने पर कि -

जो निज भगत नाथ तब अहही।
जो सुख पावहि जो गति लहही।

सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज चरण सनेहु।
सोइ विवेक सोइ रहन प्रभु, हमहि कृपा करि देहु॥

शतरूपा के मांगे गये वरदान में एवं महराज मनु के मांगे वरदान में विरोधाभास है -

जहाँ महाराज मनु का वरदान था '**सुत विषयक पद रति।**' और सतरूपा ने मांगा '**आपके भक्तों में जो विवेक होना चाहिए, वही विवेक भी मुझमें हो।**' विवेक का स्वरूप है - मोह भ्रम भागा। अर्थात् विवेक होने पर भक्त और भगवान के बीच में मोह जनित पर्दा नहीं होना चाहिए और वह पर्दा कौसिल्या जी का तब हट पाया जब प्रभु राम ने मात्र कौसिल्या को ही अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराया। परन्तु कौसिल्या के द्वारा जब विराट स्वरूप के दर्शन हो चुके, तब विराट दर्शन के रहस्य को भी गुप्त रखने के लिए ही प्रभु ने कौसिल्या से कहा।

हरि जननी बहुविधि समुझाई। यह जनि कतहु कहसि सुनु माई।।

इसी प्रकार ऋषि विश्वामित्र को भी ध्यान योग से यह विचार आया कि "**प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा।**" तो श्रीराम के स्वरूप में पूर्णावतार होने के अनन्तर भी उनके अवतार का यह रहस्य रहा कि उन राम को संसार जाने कि वे मात्र है - **कौशलेश दशरथ के जाये।** या वे दशरथ पुत्र हैं। भगवान शंकर हैं -

वन्दे बोधमयं नित्यम् गुरू शंकर रुपिणम्।

अपने बोधमय ज्ञान से, रामावतार के इस रहस्य का ज्ञान उन्हें भी है, इसलिए दर्शन करने के लिए ललक तो है उनको, पर यह कोई भी जानने न पावे कि श्रीराम साक्षात् परं ब्रह्म परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्य रूप से दर्शन करने में भेद खुलने की सम्भावना भी नहीं है और दर्शन भी सुलभ हो जायेंगे।

इन दर्शनार्थियों में एक अनादि ब्रह्म के अंश ही हैं और दूसरे को एक ही आश्रम में रहते हुए सत्ताइस कल्प व्यतीत हो गये थे, वे हैं - काक भुशुण्ड।

तात्पर्य यह कि श्रीराम के बाल रूप के दर्शनों का आकर्षण जैसा भगवान शंकर और काक भुशुण्ड को है वैसा अन्य को नहीं।

इसका एक तात्विक दर्शन है कि श्रीराम के बालक रूप में ही तो श्रीराम योगमाया सीता के बाह्य स्वरूप से संयुक्त नहीं है, क्योंकि दोनों तो श्रीराम के अखण्ड अनन्त स्वरूप के दर्शनों के ज्ञान सम्पन्न अधिकारी हैं। उन्हें सीताराम के संयोग वियोग की लीला के दर्शनों की अपेक्षा नहीं हैं। पर उस लीला दर्शन की उपेक्षा भी नहीं, जो योगमाया सीता से संयुक्त हैं, इसलिए काक भुसुण्डि का कथन है -

जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहि भगंत हित मनुज शरीरा।
तब तव जाइ रामपुर रहऊ। सिसुलीला विलोक सुख लहऊ।।

तो भगवान शंकर और काक भुसुण्ड को राम के जिस स्वरूप के दर्शनों की ललक रहती है। वह स्वरूप - सामवेद संहिता के तीसरे अध्याय के प्रथम कण्डिका में, श्री हनुमान जी महाराज के द्वारा श्रीराम की स्तुति में है, जो इस प्रकार है :-

एष श्रीरामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः आनन्दभुक त्रयावस्था परः तत्वम् नारायणो विष्णु नरसिंह बराहो कृष्णोमत्स्यादि अवताराः यस्यांक कलाभूताः तदेव परमात्मनं वृणी महे भूतम् भव्यम् भवच्चास्मात् सम्भूत्वा एवं भूतं य वेद स पापात्मान विहाय अमृतत्वम् च गच्छति।

ये ही श्रीराम सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर है, आनन्द भोक्ता है, तीनों अवस्था से परे हैं, परमतत्व है, नारायण विष्णु, नृसिंह, बाराह, कृष्ण, मत्स्यादि सभी अवतार जिनके कलांश विभूति स्वरूप है, उसी परमात्मा श्रीराम का हम वरण करते हैं। भूत भाविष्य वर्तमान जिनसे होते रहते हैं, वही परमात्मा राम है, ऐसा जो जानता है, वह सभी पापों को त्यागकर अमृत धाम को प्राप्त करता है।

श्री सनदकुमार संहिता में देवर्षि नारद जी के वचन :-

तत्व स्वरूपम् पुरुषं पुराणम्। स्व तेजसा पूरित विश्वमेकम्॥
राजाधिराजम् रविमण्डलस्थं। विश्वेश्वरम् राममहं भजामि॥

जो तत्वों के परम तत्व है, जो पुराण पुरुषोत्तम है, जिन्होंने अपने तेज से सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर रखा है, जो राजाधिराज चक्रवर्ती है, जो सूर्य मण्डल में विराजमान है। ऐसे सम्पूर्ण विश्व के ईश्वर, परमेश्वर श्रीराम का मै भजन करता हूँ।

यद्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योरमलं शिवम्।
तदेवं परमं तत्वम् कैवल्य पदंकारणं॥

जो सबसे परे है, जो त्रिगुणातीत है, जो ज्योति स्वरूप है, निर्मल तथा कल्याण स्वरूप है। वही परमतत्व कैवल्य प्रद के कारण श्रीराम है।

काक भुसुण्ड, पक्षिराज गरुड़ से भगवान श्रीराम कें अद्‌भुद स्वरूप का वर्णन, उनके साथ हुई घटना के आधार पर करते हैं। काक भुशुण्ड जी कहते हैं, कि ''एक बार जब मैं उन श्रीराम के हाथ का जूँठन खाने के लोभ में उनके आँगन में था, तब श्रीराम घुटनों और हाथों के बल से चल कर मुझे पकड़ने को दौड़े।''

तब मै भागि चलेउ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥

काक भुशुण्ड ने कहा – ''जैसे जैसे मैं आकाश में उड़ता गया, वैसे ही वैसे श्रीराम की वह नन्हीं सी भुजा को मैं अपने पास ही देखता था। मैं ब्रह्म लोक तक गया पर मेरे और उस भुजा के बीच का अन्तर मात्र दो अंगुल बना रहा। जहाँ तक मेरी गति थी मैं उड़ा, बाद में व्याकुल होकर आँखे मूंद ली, तब पुनः मैं अयोध्या ही पहुँच गया। और वहाँ राम के मुस्कराने पर मैं उनके मुख में चला गया। उनके पेट में मैंने ब्राह्मण्ड के समूह देखे, जिनकी रचना एक से बढ़कर एक थी।''

करोड़ों ब्रह्मा और शिव जी, सूर्य और चन्द्रमा, लोकपाल, यम और काल, विशाल पर्वत और भूमि देखे – और यहाँ तक देखने की स्थिति हुई कि –

जो नहि देखा नहि सुना, जो मनहूँ न समाय।
सो सब अद्‌भुत देखऊ, बरनि कवनि विधि जाय॥

यहाँ तक तो श्रीराम के अद्‌भुत विराट स्वरूप का दर्शन रहा अब काल की स्थिति में उन अनादि ब्रह्म का स्वरूप –

एक एक ब्रह्माण्ड महुँ, रहउँ बरष सत एक।
एहि विधि देखत फिरउँ मैं, अण्ड कटाह अनेक॥

भ्रमत मोहि ब्रह्माण्ड अनेका।
बीते मनहु कलप सत एका।

परन्तु काक भुशुण्ड कहते हैं कि

उभय घरी मह मैं सब देखा।
भयउँ भ्रमित मन मोह विशेषा॥

तब पुनः श्रीराम के विहँसने से मैं उनके मुख से बाहर आकर देखता हूँ कि

सोइ लरिकाई मोसन्, करन लगे पुनि राम।

श्रीराम की इस प्रभुता का दर्शन करके काक भुशुण्ड की –

समुझत देह दशा बिसराई।

तब बालरूप में ही राम –

प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया प्रभुता तव रोकी॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीन दयाल सकल दुःख हरेऊ॥

यर्थाथतः परात्पर परंब्रह्म परमात्मा का स्वरूप निराकार परक ही है, जिसका वर्णन सनत्कुमार संहिया में ही श्री नारद जी के द्वारा निर्दिष्ट है –

अशेष वेदात्म कामादि संज्ञम्।
अजं हरिम् विष्णु मनन्त माद्यम्।।
अपार सवित सुख मेकरूपम्।
परात्परम् राममहं भजामि।।

अर्थात् मैं उन परात्पर प्रभु श्रीराम का भजन करता हूँ, जो समस्त वेदों के सारस्वरूप है, जो अनादि अजन्मा, भक्तों के दुःखहरण करने वाले सर्व व्यापक, आदि विष्णु तथा अनन्त स्वरूप हैं, जिनका पार कोई पा नहीं सकते। जो सच्चिदानन्द दिव्यरूप है।

तो भगवान शंकर जो परमार्थवादी स्वरूप में बोधमय स्थिति में रहकर बालरूप श्रीराम के दर्शन काकभुशुण्ड के साथ करके परमानन्द रस में मगन होकर अयोध्या की गलियों में घूमते हुए चोरी चोरी या अप्रगट रूप में हैं वे ही श्रीराम वियोगावस्था में **'कुसमय जान न कीन्ह चिन्हारी।'** की स्थिति में थे, क्योकि प्रभु राम जानते हैं कि "मेरे मानसिक भावों की दुर्दशा स्थिति में भी शंकर जी मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप का ही दर्शन करेंगे।"

●○●○●

12. श्री सीताराम दर्शन (संयोग लीला)

श्रीमद्भगवदगीता के चौदहवें अध्याय, तीसरे श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

अर्थात् - श्री कृष्ण कहते हैं कि ''मेरी महत् ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है, और मैं उस योनि में चेतन समुदायरूप गर्भ का स्थापन करता हूँ। अर्थात् उस जड़ और चेतन के संयोग से भूतों की उत्पत्ति होती है।''

तात्पर्य यह है कि जगत की कारणभूता जो मूल प्रकृति है या - ''**आदि सृष्टि जेहि जग उपजाया।**'' जिसे अव्यक्त और प्रधान भी कहते हैं तथा वह मूल प्रकृति महत् विशेष के साथ ब्रह्म है और उसी अनादि मूल प्रकृति का परात्पर ब्रह्म से अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् वह अव्यक्त रूप में ब्रह्म की इच्छा शक्ति ही है। जो ब्रह्म से तदात्म रहकर विश्व के कार्य का संचालन करती है और वही ''**सो अवतरइ मोर यह माया।**'' है। वह शक्ति स्वरूपा इतनी महान है जिसके अंश मात्र से शक्तियाँ उत्पन्न होती है। वही महान शक्ति ही योगमाया सीता हैं।

भृकुटि बिलास जासुलय होई। वाम भाग दिशि सीता सोई॥

और वही सर्व श्रेयष्करी सीता ही रामबल्लभा है श्रीराम ने महाराज मनु से यह भी कहा कि ''**सो अवतरइ मोर यह माया।**''

इस प्रकार सर्वशक्ति स्वरूपा योगमाया ही अवनि कुमारी और मिथिला नरेश सीरध्वज जनक की पुत्री सीता है। राजा जनक के पास ही त्रिपुरारि का दिया हुआ धनुष था, जिसका खण्डन ही सीता जी के साथ विवाह की शर्त थी।

उन परात्पर ब्रह्मराम का विवाह तो उनकी अनादि शक्ति सीता से ही होना है, इसलिए संसारिक व्यवहारिकता में राजा जनक ने भले ही विभिन्न देशों के बलवान से बलवान राजाओं को सीता जी के स्वयंवर में धनुष खण्डन हेतु आमंत्रित किया हो, परन्तु परमार्थिक सत्य तो यह है कि योगमाया सीता ने त्रिपुरारि के उस धनुष को इतना भारयुक्त बना रखा था कि किसी भी राजा ने - **तिलुभरि भूमि न सके छड़ाई।**

इधर विश्वामित्र को यह प्रेरणा हुई कि उपद्रवी राक्षसों के संहार के लिए ही पृथ्वी में उन परात्पर ब्रह्म का अवतार हो चुका है, जो सर्वशक्तिमान है। इसलिए उनके दर्शन करने और उनके

अवतार प्रयोजन के अंश को पूर्ण कराने के लिए वे राजा दशरथ से राम और लक्ष्मण को अपने यज्ञ की रक्षा करने के लिए मांग लाये। ऋषि विश्वामित्र उन दोनों भाइयों के साथ राजा जनक के निमंत्रण पर धनुष यज्ञ का आयोजन देखने जनकपुर पहुँच गये। राम लक्ष्मण दोनों गुरु विश्वामित्र के आधीन रहकर ही धनुष यज्ञ में पधारे थे इसलिए योगमाया की सत् प्रेरणा से विश्वामित्र को यह आभास हुआ।

विश्वामित्र समय शुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी॥
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥

तो अब ब्रह्म और उनकी परम शक्ति की संयोग लीला प्रारम्भ हुई, जो भगवान के प्रेमी भक्त की संजीवनी बूटी है, क्योंकि ब्रह्म और माया के संयोगात्मक प्रेम भाव के अतिशयता का स्वरूप दर्शन ही प्राणदायिनी रमणीय बूटी भक्तों के लिए मान्य है। यहाँ मञ्च पर धनुष खण्डन के लिए जैसे ही श्रीराम पधारे कि उन सर्वेश्वर को देखकर ही सीता जी ने आत्मसमर्पण कर दिया।

तन मन वचन मोर मन सांचा। रघुपति पद सरोज चितु राँचा॥
तौ भगवान सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुवर कै दासी॥

परन्तु इतने प्रेमदर्शन मात्र से ब्रह्म चलायमान नहीं हैं, उन्हें तो सम्पूर्ण समर्पण चाहिए और सीता के प्रेम भाव की वह दशा भी आई कि जिसके पश्चात् ब्रह्म को धनुष खण्डन में एक क्षण की भी देरी नहीं करना चाहिए। श्रीराम, सीता जी के उसी तत्व का दर्शन कर रहे हैं यथा -

देखी विपुल विकल बैदेही। निमिष विहात कलप सम तेही॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा॥
का बरषा जब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने॥
अस जिय जान जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिशेषी॥

तब ब्रह्म राम के चलायमान होने का क्षण आया कि उन्होंने उसी क्षण -

गुरहि प्रणाम मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥

और **तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।**

अब अनादि ब्रह्म और अनादि योगमाया जिनका संग भी अनादि है, के दो शरीर होने के कारण विवाह के माध्यम से लीला विस्तार हेतु एकीकृत होना है।

श्री सीता राम का विवाह हुआ तो पृथ्वी के एक भू भाग जनकरपुर में, परन्तु शक्ति और शक्तिमान का यह विवाह महोत्सव इतना भाव और प्रभावोद्दीपक रहा कि श्री सीताराम के भक्त

अपने को सीता जी के साथ किसी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के मानसिक रूझान स्थापन में ही आनन्द मग्न होकर श्रीराम के प्रति अपने प्रेम सम्बन्ध को जोड़ते हैं।

विवाह ही प्रेम तत्व की सम्बद्धता के अन्य सहगामी सीमित और असीमित दृश्यमान स्वरूपों को उच्चतम इकाइयों में समुज्जवल किये जाने का शुभ मुहूर्त है। श्री सीताराम के विवाह की मुख्य संचालिका तो सीता जी ही हैं, जो अव्यक्तरूप से ही साधनों का निर्माण करती हैं यथा -

भुवन चारि दशभरा उछाहू। जनक सुता रघुबीर बिबाहू॥
जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा पगटि जनाई॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप पहुनई करन पठाई॥

जब जनवास में सिद्धियों के द्वारा -

लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग विलास॥
विभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहि बखाना॥

परन्तु सीता जी की यह महिमा श्रीराम से छिपी नहीं रही -

सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥

ये सीता जी कौन हैं ?

ज्ञानियों के लिए साक्षात् शान्ति हैं। भगवान शंकराचार्य कहते हैं-

शान्ति सीता समाहिता आत्मा रामो विराजते।

भक्तों के लिए सीता जी साक्षात् भक्ति है।

कर्मयोगियों के लिए सीता जी शक्ति स्वरूपा है और दीनों के लिए सीता जी साक्षात् जगत्जननी है। श्री सीताराम का विवाह देखने के लिए -

शिव ब्रह्मादिक विवुध बरूथा। चढ़े विमानहि नाना जूथा॥

परन्तु देवगण, अपने विशेष और दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित जब जनकपुर में बने श्री सीता राम विवाह मण्डप में आये, तो उन्हें दिखाई पड़ रहा है, कि जनकपुर के स्त्रियों और पुरुषों में इतना रूपसौंदर्य समाहित है कि उनके सामने वे देवगण इतने प्रभाहीन कान्तिरहित दिखाई पड़ रहे हैं। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रकाश से तारागणों की प्रभा मन्द पड़ जाती है -

नगर नारि गण रूप निधाना। सुघर सुधरम सुशील सुजाना॥
तिन्हहि देखि सबसुर सुरनारी। भये नखत जनु विधु उजियारी॥

देवताओं के उस समाज में तो सबसे अधिक आश्चर्य ब्रह्मा जी को हो रहा था, कि जनकपुर तो है उन्हीं के सृष्टि के अन्तर्गत का ही एक स्थल भाग, परन्तु उन्हें अपने करतब (करनी) का कोई भी आभास नहीं मिल रहा है।

विधिहि भयउ आचरजु विशेषी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥

उनके इस आश्चर्य पूर्ण दृष्टि को देखकर भगवान शंकर समझ गये, कि सृष्टि कर्ता ब्रह्मा जी अपनी सृष्टि के अतिरिक्त कुछ अलौकिक संरचना को देखकर ही आश्चर्यचकित है। तब उन्होंने ब्रह्मा जी को समझाते हुए कहा -

जिन कर नाम लेत जग माही। सकल अमङ्गल मूल नसाही॥
करतल होहि पदारथचारी। तेइ सिय राम कहेउ कामारी॥

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म राम और मूलशक्ति सीता का यह संयोगात्मक वैवाहिक महोत्सव है, जो योगमाया द्वारा विरचित उनके दिव्याति दिव्य शक्ति के स्वल्पांश का स्वरूप दर्शन है जिसमें ब्रह्मा और अन्य देवताओं तक को आश्चर्य हुआ। श्रीराम सकल अमंगल के मूल के ही नसावन रूप है और श्री सीता राम की संयोगात्मक स्थिति तो है -

करतल होहि पदारथ चारी।

अर्थात् उसके हाथों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष अनायास ही सुलभ हो जाते हैं। अर्थात् भोग में ही जोग की साधना अनायस होती है। सभी दर्शकों को यह आभाष हो रहा है, कि साक्षात् मंगल तत्व ही रूप धारण करके सभी को मंगल मयता में ही विभोर बनाये हुए है। यथा -

रानी सुआसिनि बोलि परिछनि, हेतु मंगल साजही॥
सजि आरती अनेक विधि, मंगल सकल सँवारि॥
करहि गान कल मंगल बानी।
नयन नीरु हट मंगल जानी।
पंच सवद धुनि मंगल गाना।
मणि बसन भूषण भूरि बारहि, नारि मंगल गावही।
करि कुलरीति सुमंगल गाई।
चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर, सजि सुमंगल भामिनी।
सबहि मनोहर मंगल साजे।

महाराज मनु और सतरूपा को दर्शन देते समय श्रीराम का स्वरूप था -

छवि समुद्र हरिरूप बिलोकी।

और सीता जी आदि शक्ति छवि निधि जगमूला।

दुल्हन भेष में पार्वती सहित जब भगवान शंकर ने उनका दर्शन नख से सिख तक कर रहे थे तब -

राम रूप नख सिख सुभग बारहि बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजन उमा समेत पुरारि।

इसी वर भेष को देखकर सीय मातु सुनयना की दशा -

जो सुखभा सिय मातुमन, देखि राम बर वेषु।
सो न सकहिं कहि कलप भर, सहस शारदा शेषु॥

तो सीता जी एक ओर जनवास में सिद्धियों को बुलाकर अपने पिता के गौरव को ऊँचाई में ले जा रही है, और दूसरी ओर अपनी माता सुनयना के हृदय कोष को सुख प्राप्ति हेतु इतना अथाह बना रही हैं, कि जिस सुख का मापन सैकड़ों कल्पों में भी शारदा और शेषनाग भी नहीं कर सकते हैं। अब दूसरी ओर राम के छवि समुद्र व सीता जी के छवि निधि ने विवाहोत्सव में भी छवि का विस्तार कर दिया है। यथा -

सखन्हि मध्य सिय सोहति कैसे।
छविगन मध्य महाछवि जैसे॥
जाइ समीप राम छवि देखी।
गावहि छवि अवलोकि सहेली।
छवि सिंगार मनहु एक ठोरी।
निरखि राम छवि हिय हरषाने।
सब निज तन छवि रति मदु मोचनि॥

अब श्री सीताराम के प्रीति में उफान स्थिति में विवाह सभी के लिए ऐसा लग रहा है जो देखने में तो दो है परन्तु है अभिन्न। या कहियत भिन्न, न भिन्न। तो सीताराम के पारस्परिक प्रेम में अवगाहन में योगी, ज्ञानी, विरक्त, सिद्ध, देवी देवता सभी उपस्थित हैं। उन देवियों में -

सची शारदा रमा भवानी।
और **जे सुर तिय सुचि सहज सयानी॥**

परन्तु **करहि गान कल मंगल बानी।**
हरष विवस सब काहु न जानी॥

यह कि, आनन्दकन्द दूलह राम के दर्शनों से सभी इतने हर्षित हैं कि उसी हर्ष के उन्माद में कोई किसी को पहिचान ही नहीं रहे हैं।

को जान केहि आनन्द बस सब ब्रह्म बर परिछन चली।
कल गान मधुर निसान बरषहि सुमन सुर सोभा भली॥
आनन्द कन्दु बिलोकि दूलहु सकल हिय हरषित भई।
अम्भोज अंबक अम्बु उभगि सुअंग पुलकावलि छई॥

हृदय में हर्ष, नेत्रों में जल का उमड़ उमड़कर आना और सम्पूर्ण अंगों में बार बार पुलकावली के कारण यही दिखाई पड़ रहा है, कि वहाँ सुख के लूटने की होड़ लगी है। और उस होड़ में कौन क्या है, यह जानना तक मुश्किल हो रहा है।

और जनकपुर के धनुषभञ्जन उपरान्त परशुराम की दशा – **'रामहि चितहि रहे थकि लोचन। रूप अपार भार मद मोचन'** है। तो विवाह स्थल में जहाँ –

सोहत सीयराम कै जोरी। छवि सिंगार मँनहु एक ठोरी॥

है, वहाँ श्रीराम के मुखचन्द में –

रामचन्द्र मुखचन्द्र छवि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥

अब श्रीराम अपने अनुजों के साथ और सीता जी अपनी अनुजाओं के साथ गृह वधु, कुल वधू बनकर महाराज दशरथ के अयोध्या नगरी के राजमहलों में पधार गये हैं। जहाँ ब्रह्म श्रीराम के साथ उनकी योगमाया सीता जी भी हैं। दोनों के वैवाहिक साज सज्जा के साथ अयोध्या नगरी की शोभा में मंगल, मोद, उत्साह, उमङ्ग, आनन्द की ही भरमार है यथा –

मंगल मोद उछाह नित, जाहि दिवस यहि भाति।
उमगी अवध अनन्द भरि, अधिक अधिक अधिकाति॥

इतना मात्र ही नहीं बल्कि वही अयोध्या तो अब सीता जी की सन्निधि प्राप्त कर अमरावती का भी तिरस्कार करने लगी। स्वर्ग के रहने वाले देवताओं को भी अयोध्या में नित नये सुखों को देखकर ड़ाह होने लगी है, और वे ब्रह्मा जी से याचना करते हैं कि उनका जन्म अब अयोध्या में हो ताकि वे स्वर्गीय सुखों का अतिक्रमण करने वाली अयोध्या के सुखों को भोग सके।

नित नव सुख सुर देखि सिहाही।
अवध जन्म जाचहि विधि पाही॥

क्योंकि अयोध्या में -

मंगल मोद विनोद न थोरे।

अर्थात् सभी के हृदय में मंगलपन, मुदिता और विनोद की भरभार है।

वनवास जाते समय माता कौसिल्या ने कहा था -

जौ पितु मातु कहेहु बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

यही परमार्थ स्वरूप शिक्षा थी।

वनवास की यात्रा काल में -

बहुरि कहउँ छवि जसि मन बसही।
जनु मधु मदन मध्य रति लसही॥
सिय सौमित्र राम छवि देखहि।
गंग वचन सुनि मंगल मूला॥
मुदित सीय सुरसरि अनुकूला।
बालमीक मन आनन्दु भारी।
मंगल मूरति नयन निहारी॥
सुख स्वरूप रघुवंश मणि मंगल मोद निधान॥

जब भगवान श्रीराम दण्डकारण्य के गोदावरी तट पर रह रहे थे, उस समय वन ही मानो क्षीर सागर है। विष्णु रूप में श्रीराम, सीता ही रमारूप तथा लक्ष्मण जी शेष नाग के रूप में हैं। वहाँ भी

जब ते राम कीन्ह तहँ बासा।
सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥
गिरिबर नदी ताल छवि छाये।
दिनदिन प्रति अति होहि सुहाये॥
खग मृग वृन्द अनन्दित रहही।
मधुप मधुर गुञ्जत छवि लहहंी॥

तो ब्रह्म राम और पराशक्ति सीता का ही यह वैभव पूर्ण संसार का एक स्वल्पांशलीला विलास है, जिसमें सीताराम के संयोगात्मक स्वरूपों के भावपूर्ण कार्यों से उनकी कृपालुता का दर्शन होता है, और जीवन लक्ष्य की विधायनी स्थिति सुलभ होती है।

●○●○●

13. प्रेमास्पद श्री सीताराम भक्त वियोग लीला दर्शन

(प्रेममूर्ति भरत)

श्री सदाशिव संहिता में – श्री जानकी जी की महिमा

आनन्दावयव भिन्ना नित्यलीला सविग्रहा
सर्वशक्ति मयो धात्री सर्वशक्तिवरा तथा।
प्रेम नित्या सुखोत्पत्ति नित्यरूपा चिदात्मका
ज्ञानमयी ज्ञान भूता ज्ञानदा ज्ञप्ति मात्रिका॥
अर्धमात्रात्मिका शाश्वत बिन्दुनाद स्वरूपणी।
ब्रह्मोत्पत्ति रसावेशा ब्रह्मैक पदमव्यया॥

अर्थात् सीता जी आनन्द स्वरूपणी है, आनन्द स्वरूप प्रभु से अभिन्न है। नित्य लीला विधायनी है, लीला रस विग्रह है। सर्वशक्तिमयी एवं सभी शक्तियों की जननी है तथा सभी शक्तियों में शिरोमणि है। प्रेमरूपणी है, नित्य है। सुख की उत्पत्ति आप से ही होती है। नित्य सुख स्वरूपा है। सच्चिदानन्द की आत्मा है। ज्ञानमयी तथा ज्ञानस्वरूपा है। ज्ञान देने वाली है तथा ज्ञान मात्रिका है। अर्धमात्रात्मिका है। बिन्दु नादस्वरूपिणी है। ब्रह्मरस की उत्पत्ति करने वाली है। रस के आवेश में रहती है। ब्रह्मपद वाच्य की अव्यय स्वरूपा है। स्वयं किसी की कला न होकर सभी कलाओं की स्वामिणी है प्राकृत गुणों से रहित दिव्य कल्याण गुण गणागार है। नित्य उत्सव रूपा है। परात्पर है। अत्यन्त स्नेहमयी है। लीला कला में श्रीराम के वामाँग से समुत्पन्ना है।

निष्कलापि कलाधीशा निर्गुणापि गुणात्मिका।
नित्योत्सवा पर स्निग्धा रामावयव सम्भवा॥

वे ही प्रेम स्वरूप द्वै स्वरूप विग्रह सीताराम श्री भरत के हृदय मंदिर में निवास करते हैं। **भरत हृदय सिय राम निवासू।** उन्हीं युगल स्वरूपों ने श्री भरत को ही निमित्त बनाकर प्रेमामृत हेतु, विरह रूपी मदरांचल से भरत समुद्र का मन्थन करवाया। समुद्र के मन्थनोपरान्त जो प्रेमामृतरस का समुद्भव हुआ, वही समुज्ज्वल रस रूप प्रेमस्वरूप ही भरत हैं। या एक ओर सच्चिदानन्द श्रीराम की आत्मा सीता है, तो दूसरी ओर सविशेष ब्रह्म राम के, श्री भरत ही प्रेम विग्रह स्वरूप हैं। श्री भरत जी की कथनी, करनी, रहनी इतनी भव्य और श्रेष्ठतर है, कि उनके अकथनीय

आचरण के स्वरूप वैभव से, श्रीराम के स्वरूप का ही प्रेम तत्व प्रगट होकर, मानो प्रेमार्णव में सभी – प्रेमी, योगी, विरागी, महर्षियों, राजर्षियों को उसमें डुबाने के लिए आतुर हो रहा है। उन भरत की महिमा ही इतनी, अनन्त है, जिसके स्वल्पांश दर्शन से हृदय पवित्रता से भर जाता है।

महर्षि बालमीक से आज्ञा प्राप्तकर राम लक्ष्मण और सीता जी अपने बनवास का समय व्यतीत करने के लिए चित्रकूट के पावन स्थल पर रहने लगे। तभी श्रीराम को यह पता चला कि भगत शिरोमणि भरत सेना महाजनों और पुरोहितों के साथ चित्रकूट आ रहे हैं। भरत कौन हैं ? –

भरत स्वभाव सुशीतलताई।
सदा एक रस बरनि न जाई॥

और **भरत हृदय सिय राम निवासू।**
तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासू॥

श्रीराम के वनवास और राजा दशरथ के मरण का कारण भरत की माता कैकई पर होने से भरत ने सम्पूर्णता से अपने को ही दोषी मानकर चित्रकूट में अपने अग्रज राम को मनाने और वहीं पर उनका राजतिलक करने के लिए जा रहे हैं।

उनकी वियोगावस्था की दशा यह है कि वे निषादराज के हाथ में हाथ दिये ऐसे आभाषित हो रहे हैं, जैसे वे साक्षात् अनुराग स्वरूप ही हो –

राम सखा कर दीन्हें लागू।
चलत देह धरि जनु अनुरागू॥
नहि पद त्राण शीश नहि छाया।
प्रेम नेम व्रतु धरम अमाया॥
लखन राम सिय पंथ कहानी।
पूँछत सखहि कहत मृदु बानी॥

पहिले निषादराज राम लक्ष्मण सीता जी के साथ थे, इसलिए सीताराम के वास स्थलों का उन्हें ज्ञान है। जिन्हें देखकर भरत जी की दशा – **उर अनुराग रहत नहि रोके।**

अपनी वियोग स्थिति में और सीताराम के प्रति असीम अनुराग के कारण देवताओं के सहित प्रकृति ही अपनी सेवायें उन्हें समर्पित करके अपने को धन्य मान रही है। यथा –

देखि दसा सुर बरसहि फूला।
भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥

किये जाहि छाया जलद सुखहि बहइ बरबात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भये परम पद जोगू। भरत दरश मेटा भव रोगू॥

देवताओं द्वारा सुमन वृष्टि, पृथ्वी का मृदु होना, बादलों के द्वारा छत्र बन कर छाया करना और वायु का सुखदायी बहना, ये तो प्राकृतिक सेवाएँ भरत की वियोगी दशाओं की उच्चतम उपक्रमता में प्रस्तुत हैं।

परन्तु परम परमार्थ स्वरूपधारी सगुन ब्रह्म श्रीराम की यह स्थिति है कि उनके दर्शन से या जिनको उन्होंने देखा, वे सब मात्र परम पद के अधिकारी बन पाये, परन्तु उनके संस्कारिक (जगत के) कर्म फल नहीं मिट पाये परन्तु सीताराम के वियोग की चरमावस्था को धारण करने वाले भरत परमात्मा की असीम कृपाफल से भी बहुत अधिक पहुँच गये, कि उनके दर्शनमात्र से परम पद की प्राप्ति हो गई या कर्मफल भी मिट गये।

उनका श्री रघुनाथ जी के प्रति इतना अथाह प्रेम है कि जहाँ ब्रह्मा, शंकर और विष्णु का मन तक नहीं पहुँच सकता।

अगम सनेह भरत रघुवर को।
जहँ न जाय मन विधि हरिहर को॥

इतना मात्र ही नहीं परम प्रेमास्पद श्री रघुनाथ जी ही जिनके नाम का जाप करते हैं। यथा-

भरत सरिस को राम सनेही।
जग जप राम राम जप जेहीं॥

परमार्थिक तथ्य तो यह है कि जैसे सीताराम के युगल स्वरूप ने ही भरत का ही रूप धारण करके प्रेमी भरत के प्रेम का आस्वादन करने के लिए उनके हृदय में प्रेम बनकर ही प्रकट हो रहा हो।

धरे देह जनु राम सनेहू॥

चित्रकूट में सीताराम की उपस्थिति में

जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयउ वन मंगल दायक॥

यह सत्य तो है परन्तु भरत की वियोगी दशा ने वहाँ के सम्पूर्ण वातावरण की स्थिति में

परिवर्तन ला दिया है और अब भरत के भाव उद्दीपन के हेतु - सशोक, सोच, उसास, विषम, विषाद, भय, भ्रम, व्याकुलता, करुणा, क्लेश, थकान की स्वरूप धारिता जन चेतन में समव्याप्त होकर भरत की भाव दशाओं का अनुगमन कर रहा है। -

सीता राम प्रेम ने सजीव विग्रह भरत जी की उरस्थली से प्रगट होकर करुणा शोक विषाद के समुद्र ने सभी ज्ञानियों विरागियों को डुबा दिया।

धन्य है भरत का अनुराग, जिनके लिए तीर्थराज प्रयाग में त्रिवेणी से यह पानी बहिर्गत हुई-

तात भरत तुम सब विधि साधू।
राम चरण अनुराग अगाधू॥
बादि गलानि करहु मन माही।
तुम सम रामहि कोउ प्रिय नाही॥

इसके अतिरिक्त प्रयागराज में भरद्वाज मुनि भरत जी से कह रहे हैं -

सुनहु भरत हम झूठ न कहही।
उदासीन तापस बन रहही॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥

चित्रकूट की पावन स्थली में भरत का प्रेम प्रकट होकर भरत का स्वरूप दर्शन **'राम सनेह सुधाकर सारू।'** रूप में हुआ। इस **'राम स्नेह सुधाकर का सार'** इस भाव का प्रकाश विस्तीर्ण कर रहा है कि -

भरत चरित कर नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु, अवसि होइ भव रस विरति॥

●○●○●

14. श्री सीताराम स्वरूप विग्रह बिलगाव दर्शन
(रामकाज स्वरूप हनुमान जी)

सीता नित्या पराशक्तिः एकः दाशरथिः प्रभुः।
राम एव परः सत्यः नान्यः सत्यः कदाचन॥

(सदाशिव सहितायाम्)

अर्थात् श्री सीता परात्परा नित्य शक्ति है, प्रभु तो एक दशरथ कुमार श्रीराम ही है।

सुन्दरी तंत्र में जानकी जी अपने पिता जनक को सम्बोधित करते हुए कहती है -

अहं शक्ति शिवोरामः इति वेद प्रगीयते
साम्प्रतं पश्यतां विश्वम् शिवा शक्ति द्वयात्मकः
मम लिङ्ग धरानार्या पुरुषा रामालिङ्गतः
आवाभ्याम् चिन्हित विश्वं सत्यं सत्यं वदाम्यहं।

मैं ही शक्ति स्वरूपा हूँ तथा राम ही शिव स्वरूप है। वेदों में इसी प्रकार के गीत गाये गये हैं। आप इस समय देखिये, सम्पूर्ण विश्व शिवशक्ति स्वरूप दिख रहा है। मेरे चिन्ह को धारण करने वाली नारियाँ है, राम के चिन्ह को धारण करने वाले पुरुष हैं। इस कारण हम दोनों के चिन्हों को ही धारण कर सम्पूर्ण विश्व चिन्हित हो रहा है। यह बात मैं सत्य सत्य कहती हूँ।

सीताराम का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका पारस्परिक प्रेम इतना महान व घनीभूत है कि जिनमें अवगाहन करने के लिए योगी, ज्ञानी, विरक्त और सिद्ध भी अपनी सम्पूर्ण चाह शक्ति के साथ उनकी कृपा दृष्टि से शक्ति समन्वित होकर उनके पारस्परिक प्रेम में निमग्न रहते हैं।

सीता राम संग वनवासू।
कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥

अर्थात् सीताराम के संग में वनवास भी करोड़ स्वर्ग के समान है।

जिनके मन मंदिर में श्रीराम और सीता का निवास है, वह उन ब्रह्म राम से भी बढ़कर परम पवित्र और पापनाशक बन जाता है; यथा भरत। मरु भूमि में श्री सीताराम के निवास करने पर वह स्थल तीरथराज से भी अधिक पवित्र और पुण्यदायी हो जाता है।

चित्रकूट के विहंग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुण्यपुञ्ज सव धन्य अस कहहि देव दिन राति॥

अर्थात् देवगण वहाँ के पक्षियों, मृगों, वृक्षों, तृणों तक के पुण्य की सराहना करते हैं।

पय पयोधि तजि अवध बिहाई।
जहँ सिय लखन राम रहे आई॥
कहि न सकत सुषमा जसि कानन।
जौ सत सहस होहि सहसानन॥

अर्थात् सीताराम के निवास स्थल की सुषमा का वर्णन शेषनाग तक नहीं कर सकते हैं।

सीताराम गुनग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ।
बन्दौ विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ॥

आदि कवि वाल्मीक और कपि श्रेष्ठ हनुमान जी सीताराम के गुणों का गान करते हुए ही मानों पुण्य के वन में बिहार करते हैं।

सृष्टि को ही मंगलमय बनाने वाले श्री विश्वामित्र को निमित्त बनाकर जनकपुर पहुँच गये और अपनी संयोगलीला के स्वरूप दर्शनों से आनन्दमयी सृष्टि का विस्तार किया। श्री सीताराम की जोड़ी देखकर गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं -

बरनि न जाय मनोहर जोरी। सोभा बहुत मोरि मति थोरी॥

इसके विपरीत इस मधुराति मधुर जोड़ी का बिलगाव करने का निमित्त कारक है दशानन। बाल्मीक कृत रामायण के अनुसार जटायु जब एक बार रावण पर आक्रमण करके उसे घायल किया, सीता जी को पुष्पक विमान से नीचे करके वन में एक वृक्ष के तले छोड़ दिया, पुनः रावण पर आक्रमण करने लगा। तब रावण क्रोधित होकर जटायु के पंखों को ही काट दिया। क्रोध के वशीभूत होकर पुनः रावण सीता जी को ढूंढने लगा और जब उन्हें एक वृक्ष के नीचे छिपी हुई पाया तो रावण क्रोध के वशीभूत होकर सीताजी के केश पकड़ लिए। तब वायु की गति रुक गई और सूर्य की प्रभा फीकी पड़ गई।

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां देवो दिव्येन चक्षुषा।
कृतं कार्यमिति श्रीमान् ब्याज हार पितामहः॥

तब ब्रह्माजी सीता जी का केषाकर्षण रूप अपमान देखकर बोले - "बस अब कार्य सिद्ध हो गया।" अर्थात् अब रावण के पुण्य एकदम क्षीण हो गये।

सीता जी की इस दुर्दशापूर्ण स्थिति को देखकर महर्षिगण व्यथित तो हो उठे परन्तु -

रावणस्य बिनाश च प्राप्तम् बुद्ध्वा यदृच्छया।

'रावण का विनाश' समझकर उनको बड़ा हर्ष हुआ।

क्योंकि रावण ने श्री सीताराम के स्वरूप विग्रह को विलग करके अपने महान पुण्यों को क्षीण करके मृत्यु को ही समीप बुलाने का कार्य सम्पादित किया।

रावन के इस दुष्कर्म के विपरीत हनुमान जी महाराज का अभियान सीता जी की खोज खबर लेने के लिए था, ताकि रावण और उसके अनुयायियों का वध करके पुनः सीताराम की जोड़ी का पुनर्दर्शन किया जा सके।

जब सीता जी की खोज के लिए सभी दिशाओं के लिए वानरों के दल अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रस्थित हो रहे थे, तब अन्त में जाने के लिए हनुमान जी ने श्रीराम को नमन किया।

पाछे पवन तनय सिर नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा।
परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी॥

भगवान श्रीराम का किसी के सिर पर अपने हाथों से स्पर्शन साधारण स्पर्श किया मात्र नहीं है, बल्कि यह विशेष भाव का ही परिचायक है। गीधराज जटायु के सिर पर भी श्रीराम के कर का स्पर्शन हुआ था। यथा -

कर सरोज सिर परसेउ, कृपासिन्धु रघुबीर।
निरखि राम छवि धाम मुख, विगत भई सब वीर॥

(आरण्य 30)

श्रीराम द्वारा जटायु के शिर स्पर्शन से उनकी जो कष्टदायी स्थिति थी, उनके शरीर में जो असह्य पीड़ा थी, उनका अन्त हो गया, तब कहीं जटायु में बोलने की शक्ति हुई।

तब कह गीध वचन धरि धीरा।

गीधराज की दशा तो मरणासन्न स्थिति में थी। जटायु ने स्वयं कहा -

दरश लागि तव राखौ प्राणा।

तब श्रीराम ने उनकी इच्छा पर मृत्यु को टालने हेतु कहा -

राम कहा तनु राखहु ताता।

तात्पर्य यह कि श्रीराम के कर स्पर्शन से साक्षात् काल को भी कर स्पर्शन के प्रभावी जीवात्मा पर अपना प्रभाव उसके इच्छा के आधीन पर ही करना पड़ेगा, क्योंकि अब वे मृत्यु के अधीन नहीं मृत्यु ही उनकी इच्छा के आधीन है। परन्तु श्री हनुमान जी महाराज पर प्रभु श्रीराम के द्वारा सीस पर कर स्पर्शन में कुछ भिन्नता है। क्योंकि -

परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।

साक्षात् काल तक को खा लेने की सामर्थ्य तो उनकी सहज हो जाती है, पर जीवन धारण की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि कर मुद्रिका के रूप में अपना जन समझकर जो श्रीराम ने किया उससे गीता के (18-54) के अनुसार ''भद्भक्तिं लभते पराम्'' अर्थात् मेरी पराभक्ति प्राप्त होगी, जो सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव में स्थित होने तथा सब भूतों में समभाव होने के अनन्तर ही प्राप्त होती है। यथा -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

तो हनुमान जी महाराज की लंका की यात्रा में - समुद्र पार करने पर -

सैल विशाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे।

इस विशाल शैल पर राक्षसराज रावण की ओर से काल का ही पहरा रहता था, ताकि लङ्का की ओर कोई आने के पूर्व ही वह काल कवलित हो जाये। परन्तु रावण के काल भले आधीन रहा हो, परन्तु हनुमान जी महाराज के पर्वतारोहन पर (शंकर जी उमा से कहते हैं, जो प्रभु के प्रताप ज्ञान से युक्त हैं) -

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥

क्योंकि श्रीराम स्वयं ही ''**भुवनेश्वर कालहु कर काला**'' है।

श्री हनुमान जी महाराज के द्वारा सीताजी को कर मुद्रिका समर्पण पर उसका फल - सीता जी के द्वारा अमोघ आशीर्वादी वरों में प्राप्त हुआ -

अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

यह है श्री हनुमान जी महाराज पर असीम अनन्त कृपा - जो अजरता, अमरता और गुननिधित्व के पश्चात् ''**मद्भक्ति लभते पराम्**'' की स्थिति में पराभक्ति उन्हें प्राप्त हुई।

परन्तु प्रवरषन गिरि पर स्थिति श्रीराम - ''**कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी**'' के पश्चात् भी अपनी हार्दिक अभिव्यञ्जना व्यक्त करते हुए, सीता और राम के स्वरूप विग्रह के विलगाव में भावनात्मक एकता का भाव दर्शन किये जाने हेतु -

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

इस प्रकार श्रीराम के अनन्त प्रताप में - ''**प्रभु प्रताप जो कालहि खाई**'', है पर नरलीला में- ''सीता जी को मेरी विरह व्यथा सुनाकर उनके कष्ट को कम करने हेतु सन्देश सुनाना।''

इस प्रकार ब्रह्म के निराकार निर्गुण उपासकों के लिए ज्ञान की दृष्टि में उन प्रभु श्रीराम के प्रताप की अनन्तता है, जिसमें परमार्थ वादियों को उनके स्वरूप में अनन्त सामर्थ्य की स्वरूपता का दर्शन हो कर सच्चिदानन्द का दर्शन होता है और प्रेमी भक्तों के लिए उनकी नरलीला की परबसता में सीता और राम के बीच जो दिव्यादि दिव्य प्रेम रस हैं उसका दर्शन होता है जिसे पी कर भी उससे भक्त जन अतृप्त ही बने रहते हैं।

तो सुदूर प्रान्त में बैठी हुई योगमाया सीता अथवा सर्वव्याप्त योगमाया प्रभु श्रीराम द्वारा हुई इस अद्‌भुत कृपा को देख रही है, जो रामकाज स्वरूप श्री हनुमान जी महाराज पर हुई।

अब हनुमान जी महाराज की सापेक्षता में योगमाया के क्रियाकलाप का स्वरूपदर्शन चिन्तन योग्य है।

यद्यपि हनुमान जी महाराज का अवतार ही श्रीरामकाज के लिए हुआ है, और वे अतुलित बल के धाम होते हुए भी ज्ञान, बुद्धि, बल में भी अग्रगण्य है, परन्तु अपने बल की श्रेष्ठता का उन्हें पूर्ण विस्मरण है। उनकी बाल्यावस्था में ही किसी मुनि के द्वारा उनको यह श्राप इसलिए दे दिया था, कि आयु के अनुपात में अत्यधिक बल के कारण वे वनवासी मुनियों को तंग किया करते थे। जब किसी मुनि को इतना तंग किया कि उनको क्रोध आ गया और अपने क्रोधावेश में ही उन्होंने हनुमान जी के बल के विस्मरणता का उन्हें श्राप दे दिया। पर जब मुनि श्रेष्ठ को यह मालुम हुआ, कि उनका अवतार ही ''श्रीराम के काज करने के लिए हुआ है'', तब उन्हें पश्चाताप तो हुआ परन्तु अब श्राप का पूर्ण उध्दार तो नहीं हो सकता था। अतः उस शाप को मृदु बनाते हुए मुनि ने यह कह दिया कि यदि अन्य कोई इनके अनन्त बल धाम को स्मरण दिलायेगा तो उनमें पुनः वह बल आ जायेगा।

योगमाया को जितना काम हनुमान जी से कराना है, वह कार्य क्षमता हनुमान जी में विद्यमान नहीं थी, क्योंकि कार्य सिद्धि की श्रेष्ठतम् स्थिति प्राप्त करने के लिए उनके व्यक्तिगत पुरुषार्थ में वह गरिमा हनुमान जी में दृष्टिगत नहीं हो रही थी कि वे अपने बलबूते से सभी कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करके पुनः वापस हो सकेंगे। पुनः श्रीरामचन्द्र को सीता दर्शन करने और उन वियोग पूर्ण स्थितियों का वर्णन अपने सिद्ध वचनों से उन्हें सुना सके।

और सबसे बड़ी कमी, योगमाया को जो उनके व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर हो रही थी, वह थी, श्रीराम के प्रताप की संज्ञानता में कमी। इसी कमी को दूर करने और अन्य सार्थक सिद्धियों के प्राप्ति हेतु अंगद के नायकत्व में जाने वाले सीता अन्वेषण दल, जिसमें हनुमान ज़ी भी एक सदस्य थे, को घनघोर वन के मध्य में स्थित हेमा की पुत्री स्वयंप्रभा से संयोगात्मक रूप में उन्हें मिलवाया गया। उसके आदेश पर जब जल पीनें और फ़ल खाने से वानर दल तृप्त हो गया।

तब पुनः वानर दल का स्वयंप्रभा के सामने प्रस्तुतिकरण हुआ। तब स्वयंप्रभा ने दल को तीन महत्वपूर्ण जानकारियाँ देकर उन्हें सन्तुष्ट किया।

(1) श्रीराम का प्रभाव -

"अब मैं जाब जहाँ रघुराई" स्वयंप्रभा का यह कथन दल को यह समझने के लिए बाध्य करता था, कि उस घनघोर जंगल में जहाँ कोई जीव बड़े मुश्किल से पहुँच सकता था, वहाँ भी श्रीराम के प्रभाव प्रताप को समझने जानने वाली एक स्त्री थी और उसके ज्ञान शृंखला की पहुँच इतनी महान है कि वह तब श्रीराम के पास ही जाना चाहती थी, जैसे वह अब तक इसी कारण से ही वहाँ पर रुकी हुई थी कि वानर अन्वेषण दल की जल फल से तृप्ति और सीता प्राप्ति के अन्य ज्ञान को दल को समर्पित करने के पश्चात ही वह राम के दर्शनों को जायेगी। तात्पर्य यह कि सीता जी की खोज को सम्पन्न बनाने की दिशा में एक अपरिचिता स्त्री भी व्यग्र थी, जो श्रीराम के प्रभाव ज्ञान में बहुत आगे थी। उसके इस प्रताप ज्ञान के समक्ष, उनके समीप में रहने वाले वानर दल का राम का प्रभाव, प्रताप ज्ञान तुच्छ था, ऐसी उत्प्रेरणा वानर दल को मिली।

(2) पैहहुँ सीतहि जनि पछिताहूँ -

तात्पर्य है कि वानर दल अपनी व्यथा और असफलता में इतना मानसिक रूप से हतोत्साह हो चुका था, कि स्वयंप्रभा के आशीर्वादी वचन सुनकर दल में पुनः नयी चेतना और उत्साह भर गया और वे अपने कार्य सिद्धि के लिए समुद्र तट के पहुँच के बाद की बात सोचने लगे। क्योंकि-

(3) मूँदहु नयन विवर तजि जाहू :-

यह वानर दल के लिए सिद्ध यौगिक सहायता थीं कि वे अनायास ही -

"ठाढ़े सकल सिन्धु के तीरा।"

तो यह योग माया के द्वारा ही प्रस्तुत अप्रत्यक्ष सहायता थी। जो वानर दल को सहज में ही मार्ग पर ही सुलभ हो गई और वहाँ पर ऐसी जानकारी और सुविधा की उपलब्धि जहाँ विवर में प्रवेश करने के लिए सभी वानर डर रहे थे तब -

आगे कै हनुमन्तहिं लीन्हा।
पैठे बिबर विलम्ब न कीन्हा॥

दल ने हनुमान जी को ही आगे करके विवर में प्रवेश किया था।

और अन्त में स्वयंप्रभा ने सबको आँख मुँदवाकर -

सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नायसि माथा॥

तात्पर्य कि स्वयंप्रभा के द्वारा प्रवर्षण पर्वत पर ठहरे, श्रीराम को उसके वानर दल के विषय की जानकारी और उनके समुद्र तट तक पहुँच जाने की सूचना ऐसे एकान्त स्थल में विराजने पर भी मिल गई।

तो एक ओर योगमाया सीताजी के अन्वेषण में तत्परता लाने के लिए वानर दल को नई कड़ियों से जोड़ कर खोज कार्य को आगे बढ़ाती है, तो दूसरी ओर अप्रत्यक्ष सूचना सहायता के कार्य भी करती है कि श्रीराम ने, उनकी खोज के लिए अंगद के नायकत्व वाला दल, समुद्र के तट पर पहुँच गया और कार्य करने में सक्रिय है, यह जान लिया।

अब अन्वेषण दल का समुद्र के तीर तक पहुँचना मात्र पर्याप्त तो नहीं है। उनके पास रावण के हरण करने मात्र की सूचना तो है परन्तु यह कोई आवश्यक तो नहीं है कि रावण की राजधानी लङ्का में ही सीता जी भी हो सकती हैं। इसलिए समुद्र के तट पर पहुँचकर जैसे ही हताशी की स्थिति में वानर दल समुद्र तट पर ही कुशों की बिछावट पर गये। वैसे ही उन्हें किसी गीध के द्वारा सभी को खाने के लिए आवाज कहीं से सुनाई दी। तात्पर्य यह है, कि मानवोचित या वानरोचित जो भी पुरुषार्थ सिद्धि किसी कार्य के सम्पन्न बनाये जाने के लिए सम्भव हो सकती थी, वह सम्पन्न हुई, इसके बाद ईश सहायता की सुलभता होती है।

इस प्रकार जैसे ही अंगद के द्वारा जटायु शब्द का उच्चारण उन गीधराज सम्पाती को सुनाई पड़ा वैसे ही उसने सभी वानरों को अभय कर दिया। उसने ही बताया कि सम्पाती, जटायु का ही बड़ा भाई है, सम्पाती ने ही यह बताया कि ''दोनों भाई सूर्य के पास जाने के लोभ में उड़े थे। सूर्य के ताप से ही उसके द्वारा जटायु के पंखों को ढंकने के कारण उसके पंख जल गये। और वह समुद्र के तट पर गिरा। ब्रह्मा के अवतार चन्द्रमा मुनि को उस पर दया आई और उन्होंने बताया था कि त्रेता युग में जब भगवान मनुष्य रूप में अवतार लेंगे तब उनकी पत्नी को राक्षस हरण करेगा। तब भगवान के दूतों से उसकी भेंट होंगी और वह (सम्पाती) उनके दर्शनों से पवित्र हो जाएगा। पुनः मुनि ने कहा ''जब तुम गीध की अपार दृश्यशक्ति से उनकी भार्या सीता जी का दर्शन कर दूतों को दिखाओगे तो तुम्हारे जले हुए पंख पुनः निकल आयेंगे।''

तो गीधराज सम्पाती के द्वारा मिली वानर दल को यह जानकारी बहुत काल पूर्व चन्द्रमा मुनि द्वारा दी गई थी, जो उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था। पर दूसरी ओर योगमाया के द्वारा उनकी (सीता) जानकारी दिये जाने की सापेक्षता में बहुत पूर्व से इस संयोगात्मक योग का स्वरूप इस ढंग से विनिर्मित किया गया था। अब गीधराज सम्पाती ने भी तीन महत्वपूर्ण जानकारियाँ वानरदल को प्रस्तुत किया।

(1) जहाँ स्वयंप्रभा ने आशीर्वाद स्वरूप मात्र यह कहा था -

''पैहहु सीतहि जनि पछिताहू।''

यह धुंधली जानकारी सीता रहवास हेतु जो थी, वह अब सम्पाती के यह कहने से कि -

''गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।
तहँ रह रावन सहज असंका॥
सीता बैठि सोच रत अहही।''

सीतावास की पूर्ण प्रकाशित हो गयी। क्योंकि सम्पाती ने आँख से देखकर ही यह बताया था। पर देखिये तो उन महामाया की पूर्व नियोजित व्यवस्था कि गीध अथवा गरुड़ जाति के पक्षियों के अतिरिक्त और कोई भी जीव होता तो सौ योजन दूर सीताजी के होने पर वह प्रत्यक्ष तो देख ही नहीं सकता था, क्योंकि **''गीधहि दृष्टि अपार''**

(2) स्वयंप्रभा का तो राम के प्रभाव का अप्रत्यक्ष स्वरूप ही वानर दल को मिला था परन्तु सम्पाती ने तो प्रत्यक्ष ही उन्हें सुना दिया और दिखा दिया। पुनः उपदेशात्मक शैली में सम्पाती ने उन्हें कहा -

पापिउ जा कर नाम सुमिरही।
अति अपार भव सागर तरही॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई।
राम हृदय धरि करहु उपाई॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।
राम कृपा कस भयउ शरीरा॥

(3) जब यह स्पष्ट हो गया कि सीता जी तो सौ योजन समुद्र के उस पार लंका में है तो स्वाभाविक सौ योजन लंका की दूरी वानरों के लिए उड़ान में पार कर लेना तो असम्भव सा ही था। इसलिए सभी के लिए सम्भव न होने की दशा में उन वानरों में से किसी एक के द्वारा ही -

जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥

वानर दल जो सीता खोज जैसे महा पवित्र कार्य में भागीदार होने के कारण, अपने दर्शनों से दूसरों को पवित्र बना सकता है, को अब इसके आगे के कार्य को तो मात्र एक ही वानर जो सौ जोजन सागर को पार करने की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्षमता रखता होगा, वही वानर परम पुण्यमय और पवित्र होगा और उस वानर दल में श्री हनुमान ही इतने अद्भुत

क्षमतावान आभाषित किये जा रहे थे, जिनमें महान विकसित ऊर्जा विद्यमान थी और जिनका अवतार ही राम राज हेतु है –

राम काज लगि तब अवतारा।

तो योगमाया ने पुनः सम्पाती के मुख से भी यह कहलवाया कि

''राम हृदय धरि करहु उपाई।''

यही आगे लंकिनी के मुख से भी कहलाया जाना है। यथा –

हृदय राखि कौशलपुर राजा।

इसलिए बार बार हनुमान जी महाराज को यह शिक्षा कि वे अपने हृदय मन्दिर में श्रीराम को धारण रखें। तो इसका तात्पर्य तो यह है कि इसी प्रकार शिक्षा दिलाते दिलाते उनमें अपने हृदय में श्रीराम को रखने की इतनी प्रबलता आ जाये, कि इनके हृदय प्रदेश में श्रीराम स्वयं ही रम जाये, ताकि उनको यह वरदान देने पर कि **''करहु बहुत रघुनायक छोहू।''** पर सीता जी के करुणानिधान को यह न लगे कि जनककुमारी ने हनुमान जी की पात्रता से बहुत अधिक बर दे दिया। अर्थात् वर देने के पूर्व तक हनुमान जी में स्वयं इतनी पात्रता विकसित हो जाये कि वे उक्त वर पाने के योग्य हो सके।

सिन्धु तट पर जब जामवन्त जी के द्वारा हनुमान जी को इस प्रकार की वचनावली से स्मरण दिलाया गया कि –

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विज्ञान निधाना॥
कवन सो कठिन काज जग माही। जो नहि होइ तात तुम्ह पाही॥

और पुनः ज्यों ही रीछपति के श्रीमुख से ये शब्द बहिर्गत हुए कि

राम काज लहि तव अवतारा।

त्यों ही इन शब्दों की तुरन्त ही यह प्रतिक्रिया हुई कि –

सुनतहि भयउ पर्वताकारा।

अब तो ऐसा आभास हो रहा था कि –

मनहुँ वीर रस सोवत जागा।

और इसलिए बार बार श्री रघुबीर का नाम ही उनके मुख से उच्चरित हो रहा था।

बार बार रघुवीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी॥

और स्मरण हो रहे थे जामवन्त के वे शब्द -

राम राज लगि तव अवतारा।

इसलिए मैनाक पर्वत पर उनकी समुद्र यात्रा में विश्राम करने की प्रार्थना करने पर उनका यही उत्तर था कि -

राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम।

आगे समुद्र पार करने की उड़ान में उनके बुधि बल की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर सर्पों की माता सुरसा ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया।

राम काज सब करिहौं तुम बल बुद्धि निधान।

इस प्रकार अहि माता के आशीर्वाद का सम्बल लेकर मार्ग में सिंहिका का वध किया और समुद्र के दूसरी ओर के स्थल में उतर गये।

पर श्रीरामचन्द्र की माया की असीम कृपा तो सचमुच उनके लिए इस प्रकार की ही थी-

''जिमि बालक राखइ महतारी।''

जग जननी इस भावशैली पर रक्षा तो करती ही थी, आगे के कार्य का निर्धारण भी वही करती थी। और कार्यकर्त्ता के द्वारा जो भूल हो जाती थी उसका वे सुधार भी करवाती थीं, पर भूल के सुधार में मुख्यतया यह तत्व ही समाहित रहता था, कि श्रीराम के प्रभाव प्रताप को हृदय में धारण करके ही कार्य संचालित हो। तात्पर्य यह कि यह वह महामंत्र है जिसके समक्ष सृष्टि की समस्त अविधायनी शक्तियाँ भी अपने आप अनुकूलित होकर अपना प्रभाव कार्यकर्त्ता के सापेक्ष में ही प्रस्तुत करती है।

जैसे ही हनुमान जी के मन में लंका में प्रवेश करने की इच्छा जागृत हुई तो -

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेहु सुमिरि नरहरी॥

अति लघुरूप धारण करके हनुमान जी ने सम्भवत: भगवान नरहरि का नाम इसलिए स्मरण किया, कि भगवान नरहरि ने ही तो हिरण्यकश्यप महान पापी को अपने नखों से ही विदीर्ण करके मार डाला था। हिरण्यकश्यप के समान ही रावण भी राक्षस है और अधम है। हिरण्य कश्यप के समान ही रावण भी अपने ही नगरी में है और यथार्थ में उस समय हनुमानजी वीर रौद्र भाव में तो थे ही। इसलिए भगवतावतारों में वीर रौद्र भाव से भावित नरसिंह भगवान का नाम आना हनुमान जी के लिए स्वभाविक ही था।

आगे बढ़ने पर ही मुख्य प्रवेश द्वार पर ही उस लङ्का की अधिष्ठात्री देवी लंकिनी के अव्याहत दृष्टि से वे अपने को न बचा पाये और जैसे ही लघुरूप वानर को राक्षसी लंकिनी ने मार डालना चाहा, कि इसके पूर्व ही वानरश्रेष्ठ ने

मुठिका एक महाकपि हनी।

तो महाकपि के मुष्ठिक प्रकार का परिणाम तो यह हुआ कि -

रूधिर बमत धरनी ठनमनी॥

परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि अपने रक्त वमन की दशा में भी लंकिनी हाथ जोड़कर खड़ी हुई और आशा के ही बिल्कुल विपरीत लंकिनी के मुख से शब्द निकल पड़े।

तात मोर अति पुण्य बहूता। देखउँ नयन राम कर दूता॥

तात्पर्य यह कि बिना परिचय दिये ही वह समझ गई कि ''ये राम के दूत हैं'' परन्तु उन वानरराज में उस समय ऐसी कौन सी विशेषता थी कि उनके देखने मात्र से लंकिनी अपने को अत्यन्त पुण्यवान कह रही थी।

पर इसके बाद भी उसकी पूर्ण तत्व ज्ञान की मीमांशा पूरी नहीं हो पाई थी इसलिए पुनः कहती है।

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥

लंकिनी की स्थिति तो ठीक उसी प्रकार की हो रही थी जैसे कि ज्ञानी भक्त के द्वारा उसके साक्षात् इष्ट देवता के दर्शनों के बाद उसकी स्तुति की जाती है।

पाप और पुण्य की मीमांशा -

रावण के चार प्रकार के ही काम पुण्य क्षीण हेतु और पापमय थे।

(1) यति भेष बनाकर सीता जी (योगमाया) को ब्रह्मराम से विलग करना।

(2) महामाया का केशाकर्षण क्रिया से रावण द्वारा अपमान।

(3) महामाया के प्रति रावण की कुदृष्टि की भावना।

(4) बन्दी रूप में राक्षणियों से उन्हें पीड़ित करवाना।

रावण की इन दुर्नीतियों के विरूद्ध ही हनुमान जी महाराज का अभिमान ब्रह्म और माया के पुनर्मिलन हेतु अपने हृदय में श्रीराम को रखते हुए चल रहा है इसलिए यह इतना महानतम् पुण्य का कार्य है कि जिसकी घोषणा साक्षात् ब्रह्माजी भी मुनि चन्द्रमा सम्पाति की तर्ज पर बहुत पहिले लंकिनी से कर चुके है।

जब रावनहि ब्रह्मबर दीन्हा। चलत विरंचि कहा मोहि चीन्हा॥
बिकल होसि तै कपि के मारे। तव जानेसि निशिचर संहारे॥

चिन्हारी (आगम) रूप में ही ब्रह्मा ने निशिचर संहार हेतु लंकनी को कपि के प्रहार की बात ही थी, तो हनुमान जी महाराज राम काज करने व योगमाया के सापेक्ष में कार्यरत होने में एवं अपनी निष्काम वृत्ति से कार्य करने तथा इन सभी कार्यों में परमार्थ स्वरूपता का दर्शन करने से उनके शरीर विग्रह में ही इतना पुण्य संचय का स्वरूप है कि वे स्वयं पुण्यमय बन चुके हैं।

इसलिए हनुमान जी महाराज का लंकिनी से जैसे ही दर्शन और स्पर्शन हुआ कि लंकिनी को ब्रह्मा के कथन की याद आई। और उसे तत्व ज्ञान की एकदम से उपलब्धि हुई। तथा उसको श्रीहनुमान के सत्संग और दर्शन द्वारा स्वर्ग और मोक्ष सुख से भी अधिक सुखाभास हुआ। जिन पापमय कृतियों से त्रिजटा को रावन पापाचारी राक्षस की सेवा का कुअवसर मिला था, उसका अन्त समीप था।

पर यह समझने लायक तथ्य है कि हनुमान जी महाराज में कौन से पुण्यों का समूहन एकत्र होकर उनको अतिशय पवित्र बना रहा है।

श्रीराम ने बालि को उसके अनुज वधु के प्रति कुदृष्टि और अतिशय अभिमान के कारण उस पर अमोघ बान मारा। अन्त में उसने श्रीराम को, जो अभी तक उनको समदर्शी स्वरूप (समदरशी रघुनाथ) में ही उनको जानता था, अपने पक्ष में करके -

प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोर।

कहकर उनके प्रति समर्पित हो गया। इतने मात्र से प्रभुराम ने -

बालि सीस परसेउ निज पानी।

और बालि के समर्पण के साथ शीश स्पर्शन का फल भर था -

राम बालि निज धाम पठावा।

गीधराज जटायु ने सीताराम बिलगाव को रोकने के लिए रावण से युद्ध किया और अपने समूचे शौर्य बल का प्रयोग उसने रावण के विरूद्ध सीताहरण रोकने के लिए कर डाला था।

जिसके लिए श्रीराम ने उससे कहा –

जल भरि नयन कहहि रघुराई। तात कर्म निजते गति पाई॥
परहित बस जिनके मनमाही। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ कांह तुम्ह पूरन कामा॥

इसके अतिरिक्त श्रीराम के चरण चिन्ह जो उनके चलने से ध्वज, अंकुश, वज्र, शंख आदि के सहित बनते थे – उन्हें जटायु –

सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा।

उन्हीं चिन्हों को अन्त समय में स्मरण कर रहा था इसलिए श्रीराम ने यह माना कि –

तात कर्म ते निज गति पाई।

और **देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।**

तात्पर्य है कि गीधराज के सारूप्य मुक्ति उसके कर्मों के कारण मिली और जटायु के सिर पर निज करस्पर्शन से विगत गई सब पीर तो हुई।

परन्तु उसके सिर पर श्रीराम के कर स्पर्शन की अमोघता उसके मुक्ति का कारण भले नहीं थी। परन्तु शीश पर श्रीराम का कर स्पर्शन होने पर मुक्ति हो जाये, तो यह तो उनके स्वभाविक स्वरूप का सहज फल मात्र है।

इस परिप्रेक्ष्य में हनुमान जी महाराज का सम्पूर्ण जीवन परमार्थ स्वरूप ही बनकर श्रीराम की सेवा में रत तो है। परन्तु वे सृष्टि में ज्ञान, बल, बुद्धि और श्रीराम की भक्ति से भी सम्पन्न है और सबसे अधिक विलक्षणता उनमें ऐसी सुमति है कि वे दो हृदयों के दूरी को सम्पूर्णता से पाटने और विकर्षित भावों को आकर्षण पूर्णभावों में बदलने के लिए जैसे सिद्धहस्त हों जिसका प्रयोग उन्होंने सीताजी की, और श्रीराम के विरह व्यथा को कम करने के लिए किया। यह विधायनी शक्ति जिसके पास जितनी अधिक होगी वह उतना ही पुण्यात्मा होगा। इन्हीं दिव्य गुण की मार्मिकता से तो हनुमान जी महाराज ने जब अपना हृदय ही चीर कर दिखाया तो वहाँ भी सीताराम के युगल विग्रह के सभी को दर्शन मिले। पूर्व में ही हनुमानजी महाराज के पुण्यमयता का ज्ञान ब्रह्मा जी को था, अतः त्रिजटा के उद्धार हेतु हनुमान जी की कार्य विधि सम्पन्न हुई।

श्रीराम ने कार्यों की सम्पूर्ति हेतु ही श्री हनुमान जी – परसा सीस सरोरूह पानी की क्रिया से राजतिलक ही कर दिया था। अनन्त ब्रह्म श्रीराम जो अनन्तदाता है और सब को देने वाले हैं। (दाता, एक राम जी भिखारी सारी दुनियां) वे ही श्रीराम "चिन्हारी" रूप में अपनी कर मुद्रिका जानकी जी के लिए देते हैं। विरह व्यथा से घिरी सीता को समझाने को कहते हैं और

अपनी भी विरह व्यथा की कथा बताने के लिए कहते हैं, तो साधन की स्थिति में सर्वशक्तिमान परंब्रह्म परमात्मा की ऐसी दयनीय स्थिति में सहारा देने के आधार है हनुमान जी या नरलीला की प्रतिबन्धित कार्य शैली को सुपरिणाम में जोड़ना है, अनन्त की कार्य स्वरूपता से। इस महानतम कार्यों की सिद्धि से जोड़ने की क्रिया का माध्यम हैं मात्र हनुमान। तो जिन प्रभु राम के समान कोई अन्य उदारदानी नहीं है, तो यह वे ही जान सकते है कि हनुमान जी के गुण, कार्य, समर्पणता, दक्षता श्रीराम के कार्य सिद्ध के हेतु जो भी है, उसके बदले वे अनन्त उन्हें क्या उपहार दे सकते हैं। यह तो मन, वानी और बुद्धि का विषय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार भरत जी के लिए '**निज गुन शील राम बस करतहि**' और '**सहज सुभाउ बिबस रघुराऊ**' हैं उसी प्रकार हनुमान जी महाराज के लिए वे प्रभु - '**अपने बस करि राखे रामू।**' हैं जिनका योगीजन ध्यान योग से ही दर्शन पा सकते है। और उनके गुणों का गान करके सम्पूर्ण सुमंगलता प्राप्त करते हैं। यथा -

सकल सुमङ्गल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहि ते तरहि भव सिन्धु बिना जलजान॥

भृगु ऋषि को त्रिदेवों की परीक्षा लेने हेतु भेजा गया कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कौन देव महानतम है। तव ऋषि भृगु ने भगवान विष्णु की छाती में अपने चरण से प्रहार किया परन्तु भगवान तो उनके चरण सहलाने लगे कि 'उनके कोमल चरणों के प्रहार से ही सही पर कठोर छाती होने के कारण उस कमलवत चरण को आघात हुआ होगा।' तो भगवान विष्णु के इस आशातीत और विलक्षण क्षमाशीलता के कारण उन्हीं की छाती भगुलता के रूप में सुशोभित होकर उनके आश्चर्यमय ब्राह्मण भक्ति की ही प्रतीक बनकर महानता की सर्वश्रेष्ठ आसीनता में उनका सुसम्मान करने लगी। हनुमान जी ने तो -

मुठिका एक महाकपि हनी। रूधिर बमत धरनी ठनमनी॥

पर लंकिनी के श्रीमुख से उच्चारण हो रहा है

तात मोर अति पून्य बहूता। देखउँ नयन राम कर दूता॥

तात्पर्य कि रामदूत होने के कारण उनके दर्शन मात्र से लंकिनी अपने को अतिशय पुण्यवती समझने लगी। यह लग रहा है जैसे भगुलता के कथासूत्र में भगवान विष्णु की भावना ही लंकिनी ने ग्रहण करके श्री हनुमान जी का आदर सम्मान कर रही हो।

श्री हनुमान की लवनिमेष मात्र का सत्संग सुख का आभास लंकिनी को स्वर्ग और अपबर्ग (मुक्ति) सुख से भी अतिक्रमित रूप में लग रहा था।

अब लंकिनी के द्वारा प्रदत्त तीन अगली कार्य योजना हेतु उपहार

(1) **प्रविसि नगर की जै सब काजा।**

(2) **हृदय राखि कौसलपुर राजा॥**

(3) साक्षात् रामकृपा ने ही आपके ऊपर कृपामयी दृष्टि की है, इसलिए आपके लिए तो

गरल सुधा रिपु करहि मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई॥

विष अमृत तुल्य, शत्रु मित्रवत् और समुद्र गाय के खुर से बने हुए गड्डे के समान और अग्नि शीतलता के गुणों से युक्त है। और सुमेर पर्वत रज के समान है।

गरुड़ सुमेरू रेनु सम ताही।

अब आगे की कार्ययोजना लंकिनी के निर्देशानुसार हनुमान जी महाराज की संचालित हुई।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।

समूची रात्रि व्यतीत होने को चली, पर

मन्दिर महुँ न दीखि बैदेही।

योगमाया की योजना तो यह थी कि हनुमान जी महाराज को किसी प्रकार भक्त विभीषण से मिलवाया जाय और उनका मिलन ब्रह्म मुहूर्त में ही सम्भव था। इसलिए -

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि मन्दिर तहँ भिन्न बनावा॥

जैसे ही हनुमान जी महाराज विभीषण के भवन के पास से गुजर रहे थे, तो विभीषण के श्रीमुख से राम राम उच्चार हुआ -

राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा॥

तब - **विप्र रूप धरि वचन सुनाए। सुनत विभीषनु उठि तहँ आए॥**

फिर - **तव हनुमन्त कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता॥**

भक्त हनुमान और भक्त विभीषण श्रीराम के सेवक होने से भाई भाई ही तो हुए। इसलिए हनुमान जी विभीषण के लिए दूरदेश से आये एक अनजान नहीं है। स्वयंप्रभा से लेकर सम्पाति, लङ्किनी और विभीषण तक की कड़ी हनुमान जी के साथं जुड़ने का माध्यम केवल श्रीराम सीता ही है, पुनः

जुगुति विभीषण सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत विदा कराई॥

तो - **करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। वन अशोक सीता रह जहवाँ॥**

एक ओर देखा जाय तो रावण की लङ्का इतनी दुर्गम थी कि एक चींटी तक उसमें काल लंघन बिना व बिना लंकिनी की आज्ञा से उसके अंदर प्रवेश नहीं कर सकती थी और उसके अन्दर किसी भी प्रकार प्रवेश मिल भी जाय तो लंका में श्री हनुमान जी ने देखा था -

मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।

परन्तु श्रीराम कृपा ने हनुमान जी महाराज को मात्र विधायनी शक्तियों से ही संयोग कराकर उन्हें उस अशोक वृक्ष के ऊपर आसीन करा दिया जिस वृक्ष के तले सीता जी -

कृस तन सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति गुन श्रेणी।।

और **निज पद नयन दिए मन, राम पद कमल लीन।।**

की स्थिति में उपस्थित है।

लीला स्वरूप दर्शन में हनुमान जी महाराज एक अजनबी रूप में अशोक वृक्ष पर है, जिनको न तो सीताजी जानती है और न हनुमान जी महाराज को ही यह ज्ञान है कि उन्हें अगले कर्तव्य के लिए क्या करना चाहिए।

तब योग माया स्वरूपिणी सीता उनके सामने तीन परिदृश्य उपस्थित कराना चाहती हैं।

(1) सती शिरोमणि सिय गुन गाथा का -

तेहि अवसर रावण तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा।।

और रावण ने कहा - मंदोदरी आदि सब रानियों को वह अनुचरियाँ कर देगा, यदि एक बार ही सीता जी उसकी (रावन) की ओर देख लें।

तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकि मम ओरा।।

तव उस के इस धृष्ट क्रियाकलाप का प्रत्युत्तर सीता जी द्वारा प्रस्तुत किया गया है -

तृन धरि ओर कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही।।
खल सुधि नहिं रघुवर बान की।
सठ सूने हरि आनेसि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही।।

पर इन सार्थक शब्दावली से रावण विचलित नहीं हुआ वह तो विचलित हुआ जो सीता जी ने यह कहा -

सुनु दशमुख खद्योत प्रकाशा।

राम की तुलना में दशमुख रावण को अपने में अत्यन्त पराभव का आभास हुआ।

आपुनि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान।
परुष वचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन॥
कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥

(2) तव -

कहेसि सकल निसिचरहि बोलाई। सीतहि बहुविधि त्रासहि जाई॥

तव - **सीतहि त्रास देखावहि धरहि रूप बहुमन्द।**

यद्यपि हनुमान जी अशोक वाटिका के अशोक वृक्ष पर आरूढ़ हो चुके थे, यह योगमाया जानती हैं परन्तु अब भी कुछ न कुछ काम शेष हैं -

(3) यह कि वे सभी निशाचरियाँ भी रावण के आदेश की अवहेलना कर के सीताजी को त्रास देना बन्द करें सभी राक्षणियां सीता जी के अनुकूलन में हो जाये और सीता जी को आराम करने की इच्छा से उन्हें एकान्त में ही अकेले छोड़ दें, जिस शुभ मुहूर्त के अंतर्गत ही मुद्रिका प्रदाय का कार्य हनुमान जी कर सके और वियोगिनी सीता को उनके करुणानिधान की वियोगावस्था की कथा हनुमान उन्हें सुना सके।

इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ रात्रि में ही सम्भव हो सकती थी -

तो ब्रह्म मुहूर्त में तो हनुमान जी विभीषण से मिले, उनसे प्रांसगिक वार्तालाप के पश्चात् तुरन्त ही -

चलेउ पवनसुत विदा कराई।

अब दिन में रावण मंदोदरी आदि रानियों के साथ अशोक वाटिका आकर विदा हुआ और उसके चले जाने के पश्चात् ही पिछली रात्रि के भोर का ही देखा हुआ स्वप्न त्रिजटा सभी अपनी अन्य सहकर्मी राक्षणियों को सुनाने लगी। यह तो योगमाया की बनाई व्यवस्था पूर्व योजना के अंतर्गत की ही स्थिति थी कि -

त्रिजटा नाम राक्षसी एका। रामचरण रति निपुन विवेका॥

और उसने (त्रिजटा) **सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना।**

और उस सपना को भी सत्य का आधार मान कर उसने सीताजी की सेवा करने में ही अपना हित समझा -

सीतहि सेइ करहि हित अपना॥

उस स्वप्न में नौ (तत्व) निहित थे।

(1) वानर के द्वारा लंका का दहन -

सपने वानर लंका जारी।

(2) **जातुधान सेना सब मारी।**

(3) **खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुण्डित सिर खण्डित भुज बीसा॥**

(4) **यहि विधि सो दच्छिन दिशि जाई।**

या रावण मर गया -

(5) **लंका मनहु विभीषन पाई।**

(6) **नगर फिरी रघुवीर दोहाई।**

(7) **तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥**

(8) **यह सपना मैं कहहु पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी॥**

(9) स्वप्न का परिणाम सुनाने पर यह हुआ कि सभी निशाचरणियाँ

जनकसुता के चरनन्हि परी॥

अब योगमाया ने मानवी सीता को दिन में रावण से इतना संत्रस्त करवा दिया था कि उनके हृदय में यह भय समा गया कि राक्षणियों के इधर उधर चले जाने के अनन्तर भी वे सोच में रात्रि को इतनी व्यथित थी, कि -

मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच॥

योगमाया को दूसरी ओर ऐसी स्थितियों का भी निर्माण कराना है कि जब प्रेमी की अपने जीवन धारण की सभी स्थितियाँ इतनी प्रतिकूल हो जाये कि जीना दुर्लभ हो जाय और अपने सभी बचाव की स्थितियों को नाकाम समझकर मरना ही उचित समझे। ऐसी विषम स्थितियों के बनने पर ही परमात्मा की शक्ति किसी न किसी रूप में प्रगट होकर उसे जीने के लिए नए उद्यमों के रूप में उपस्थित होकर कार्य करती है और ठीक वही क्षण मात्र ही एक होता है, जब परमात्मा अपनी शक्ति का सृजन करता है।

श्रीराम के द्वारा धनुष खण्डन का भी वह छन आया -

देखी विपुल विकल वैदेही।
निमिष बिहात कलप सम तेही॥
अस जिय जान जानकी देखी।
प्रभु पुलके लखि प्रीति विशेषी।

तब **तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।**

इसी भाव तर्ज पर त्रिजटा से सीताजी रात्रि में यह कहती है -

तजौ देहु करु बेगि उपाई। दुसहु विरह अब नहि सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

परन्तु प्रभु के प्रताप का बल सुनाते हुए जब त्रिजटा भी अपने घर चली गई और वहाँ अशोक वृक्ष के ऊपर हनुमान जी तथा वृक्ष के नीचे सीता जी के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं थे। पर यह भी क्षण अभी मुद्रिका प्रदाय के लिए उपयुक्त नहीं था।

तब अन्त में सीता जी अपनी विरह व्यथा से संत्रस्त होकर अशोक वृक्ष से ही अग्नि की भिक्षा माँगती है।

नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥

तो अशोक वृक्ष से अंगार की याचना करने पर अशोक वृक्ष से ही मुद्रिका का अवतरण होना ही वह छन है।

देखि परम विरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥

अब मुद्रिका समर्पण का क्षण आ गया तो हनुमान जी -

कपि करि हृदय विचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब।

ताकि सीताजी ने जो अशोक वृक्ष से अग्नि मांगा है तो अशोक वृक्ष ही मानो अग्नि दे रहा हो।

अब हनुमान जी सीताजी के सामने आ जाने पर उनकी कार्यशैली और सिद्ध वचनावली से सीता जी को पूर्ण विश्वास हो गया कि वे राम के ही दूत है। इसलिए -

हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी॥

रामदूत दर्शन से सीता के विरह की व्यथा इतनी अत्याधिक हो गई कि -

वचन न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

तब - **देखि परम विरहाकुल सीता।**

सीताजी के इस परम बिरहाकुल स्थिति को देखकर श्रीरामदूत ने श्रीराम की ओर से ही उत्तर दिया -

जनि जननी मानहुँ जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥

और श्रीराम के विरह वेदना के विषय की कथा सुनाते सुनाते हनुमान जी ने कहा - ''माता! वे प्रभु करें तो करें क्या? इस समय तो वे आपकी विरह व्यथा से इतने बेचैन हो चुके हैं कि उनको अपने 'बानों' की अमोघता और उसके संधान की क्रिया का भी विस्मरण हो गया है।'' तो जब माता सीता ने अपने करुणानिधान की अपने प्रति इस प्रेम प्रगाढ़ता की स्थिति को सुना तो उनको अब यह चिन्ता लगने लगी, कि ''इसी प्रकार यदि उनके प्रियतम विरह वेदना से व्यथित बने रहेंगे। तो रावण को कैसे जीता जायेगा। रावण को जीतकर मुझे प्राप्त करना ही तो उन्हें श्रेयष्कर है'' इसलिए जहाँ सीता जी यह कह रही थी -

अहह नाथ हौ निपट बिसारी॥

वहीं अब अपनी नहीं, बल्कि श्रीराम के विरह वेदना की उन्हें चिन्ता सताने लगी।

कवि के कल्पनातीत भावों की भी कितनी अद्‌भुत आभिव्यञ्जना है कि श्रीराम के द्वारा दी गई करमुद्रिका को देखकर अपनी विरहाग्नि की बढ़ी हुई ज्वाला में प्रदीप्त होकर सीता जी मुदरी को ही कोसने लगी। कोसते हुए ही वे कहती है :-

श्रीपुर में वन मध्य हौं मग तू करी अनीति।
कह मुदरी अब तियनकी को करि हैं परतीति॥

मुदरी को कोसने के भाव में सीता जी कहती है - कि ''एक तो लक्ष्मी जी ने उन्हें बैकुण्ठ में रह कर साथ छोड़ दिया और घनघोर वन में मैंने भी उनका साथ छोड़ा। मेरे साथ छोड़ने से स्त्री जाति के रूप में कम से कम तुम थी मुदरी उनके साथ। पर तुमने भी बीच मार्ग में ही उनका साथ छोड़ दिया। ऐसी स्थिति में स्त्री जाति की विश्वसनीयता ही तुमने उनका साथ छोड़कर समाप्त कर दिया।

तो हनुमान जी महाराज ने अपने वचनों के अमृतसिञ्चन से सीता जी की विरहाग्नि को शान्त कर दिया। अब उन सीताजी को यह सोचना आवश्यक हो गया कि मैंने रावण को फटकार लगाते

समय जो यह कह दिया था।

खल सुधि नहीं रघुवीर बानकी।

और वानरश्रेष्ठ यह समाचार लेकर आये है कि वे रघुवीर अपने प्रेमभाव की अधीरता में मेरे प्रति विरह के वेदना में विह्वल होकर सरसन्धान क्रिया की विस्मृति में है।

अब सीताजी के समक्ष हनुमानजी लंका दहनोपरांत श्रीराम से मिलने के लिए अंतिम प्रणाम करने हेतु उपस्थित हुए, तब सीता जी श्रीराम के लिए अपने संदेश में हनुमान से कहती है -

दीनदयाल विरिदु सम्भारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

पर मेरा भारी संकट दूर कैसे हो सकेगा, इसके आगे अपनी बात हनुमान जी से कहती है-

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु॥

तात्पर्य - सीताजी कहती है कि तात हनुमान अब एक तुम्हीं हो जो प्रभु के बानों के प्रताप को समझा सकते हो, जैसा कि चित्रकूट में उन्होंने तनिक सी इंद्रसुत जयंत की धृष्टता पर -

सीक धनुष सायक सन्धाना।

अर्थात् सीक (सरकण्डे) का ही बान बनाकर धनुष से उसका सन्धान कर दिया था तो वही जयन्त अन्त में -

आतुर सभय गहेसि पद जाई।

और कहा था -

अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मति मन्द जानि नहि पाई॥

तात्पर्य है कि हनुमान जी महाराज में सुमति की इतनी मार्मिक अभिव्यञ्जना, उनकी बानी में समाहित थी कि उन्होंने अपने प्रबोध शैली से ही श्रीराम को सीता से अमूर्तरूप में मिलवाकर उनके मानसपटल में शान्ति की स्थापना करा दिया। पुनः श्री हनुमान प्रवर्षण पर्वत पर वापस आये और -

प्रवर्षण पर्वत पर ही हनुमान जी महाराज अपने दल के साथ श्रीराम सम्मुख उपस्थित हुए। श्रीराम के द्वारा लंका की ओर प्रस्थित होने वाले दल की जब श्रीराम ने कुशल समाचार पूछा तो जामवन्त ने ही बताया

नाथ पवनसुत कीन्ह जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥

सीताजी द्वारा प्रदत्त चूड़ामनि देते हुए हनुमान जी ने सीताजी की विरह व्यथा कहते कहते इतना अधीर हो गये कि अन्त में उन्होंने यह कह दिया -

सीता कै अति विपति बिसाला। विनहि कहें भल दीनदयाला॥
निमिष निमिष करुणानिधि जाहि कलप सम बीति।

हनुमान जी महाराज का तो यह भाव था कि जितनी प्रबलता से सीताजी की वियोगिनी दशा का वर्णन प्रभु राम को निवेदित किया जायेगा, उतनी ही शीघ्रता से वे सुग्रीव को सेनापयान के लिए आदेशित करेंगे।

बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥

इसलिए अपने सुमति के गुणों के आधार पर हनुमान जी महाराज ने वही काम किया जो एक श्रेष्ठ सम्वाददाता को कहना चाहिए और उनके कहने का यह प्रभाव भी हुआ कि सीता की भारी विपत्ति सुनकर प्रभु श्रीराम -

सुनि सीता दुःख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥

परन्तु परमार्थिक दृष्टि से सीताराम के बीच में क्या सम्बन्ध है, इसका ज्ञान हनुमान जी महाराज को नहीं है। परन्तु उस परमार्थिक प्रेम के विषय का ज्ञान सुनने के पवनसुत आधिकारी है इसलिए श्रीराम ने सीताजी के हृदय में श्रीराम के प्रति प्रेमतत्व का स्वरूप बताया कि -

वचन काय मन मम गति जाही। सँपनेहु बुझिअ विपत्ति की ताही॥

अर्थात् - श्रीराम कहते हैं कि ''वत्स हनुमान! जो तुमने सीता जी की भारी विपत्ति के दर्शन किए वह तुम्हारे द्वारा समझी गई आभास विपत्ति मात्र थी पर यथार्थ तो यह है कि स्वप्न में भी सीताजी पर विपत्ति है ही नहीं, क्योंकि मेरे प्रति वे सम्पूर्णता से इतनी समर्पिता है, कि वचन से काया और मन से वे मुझसे अभेद स्थिति में हैं और जब मन ही उनका नहीं है, तो विपत्ति का भोक्ता तो मन ही है, वह बहिरङ्ग विपत्ति का तो स्पर्श ही नहीं कर रहा है।''

और इसी प्रेमभाव का तो मैंने सन्देश भी सीता जी के लिए दिया था -

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाही। जान प्रीति रस एतनेहि माही॥

और सचमुच में जब प्रेम भाव की यह उच्चतम् इकाई का स्वरूप दर्शन अन्तरङ्ग में सीता जी ने श्रीराम के अन्तः भाव में किया तो -

प्रभु सन्देश सुनत वैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही॥

तो प्रेम में इतनी गहराई से मगन हो जाना कि शरीर की सुध तक न रहे। तो इस प्रकार के प्रेम की स्थिति प्रेम के विभिन्न स्वरूपों में बहुत ही उच्चावस्था की है और सूक्ष्म है, जो विपत्ति के बाहरी त्रसित स्थितियों से उद्वेलित ही नहीं कर सकती है।

श्रीराम के द्वारा प्रेम की सूक्ष्मतम् स्थिति का वर्णन सीताजी के हृदय में श्रीराम के प्रति जो प्रगट है उसे सुनकर हनुमान जी ने कहा -

कह हनुमन्त विपत्ति प्रभु सोई। जव तव सुमिरन भजन न होई॥

अर्थात् जीवन में भगवान का स्मरण भजन न करना ही विपत्ति है, यह तथ्य भी यथार्थ ही है। इसी प्रकार की तथ्य पूर्ण स्थिति श्रीराम के प्रति कौशल्या जी की है। जब श्रीरामजी अन्य तीनों भाइयों के साथ विवाहित होकर अवध लौट आये। पर जब से विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को लेकर अयोध्या से चले गये थे, उस समय से कौशिल्या जी श्रीराम को देखने के लिए दशरथ जी की तरह ही वंचित रही, तो श्रीराम के अदर्शन से वे भी बहुत दुखी थी। उन्हें आया देखकर कहती है -

आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात विधु बदन तुम्हारा॥
जे दिन गये तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरञ्चि जनि पारहि लेखे॥

अर्थात् - कौशल्या जी कहती है कि "जितने दिन तुमको (श्रीराम) बिना देखे बीते है, उनको ब्रह्मा गिनती में न ले आवे" अर्थात् वे दिन हमारी आयु में शामिल ही न रहे।

अर्थात् दिनों की सच्ची सार्थकता तो तभी है जब राम का दर्शन होता रहे -

तात्पर्य यह है कि सीताजी के प्रेमभाव का जो तत्वदर्शन का स्वरूप है वह एक प्रकाशपुञ्ज है। जिसके प्रकाश से प्रकाशित होकर श्रीसीताराम के प्रेमभाव से भावित तत्व का आनन्द लिया जा सकता है और हृदय को सरस बनाया जा सकता है, यही तो उन युगलमूर्तियों के प्रति प्रेमभक्ति है।

●○●○●

15. श्री हनुमान जी महाराज में श्रीराम प्रताप भाव का उत्कर्ष

श्री हनुमान जी को बालकाल में मुनिवर से मिले श्राप के कारण उनके अंतर्भूत सभी शक्तियाँ सोई हुई सी थी; परन्तु सीता अन्वेषण में तत्पर अंगद के दल में समुद्र को लाँघ कर सीता जी का पता लगाने और वापस आकर पुनः दल से मिलकर सीता जी के विषय की सम्पूर्ण जानकारी श्रीराम को निवेदन करने की क्षमता मात्र हनुमान जी महाराज में निहित थी। सोई हुई (श्राप के कारण) शक्तियों का उत्कर्ष तो जामवन्त के द्वारा उनकी शक्तियों को उजागर करने में हो गया था और उन्हें अतुलित बल की संज्ञानता का भान होने लगा था परन्तु श्रीराम प्रताप के प्रबल भाव का ज्ञान उन्हें तो तब भी नहीं था, जब वे समुद्र लाँघने हेतु समुद्र तट से लंका की ओर प्रस्थित हुए थे। योग माया की कार्य योजना श्री हनुमानजी के लिए इतनी कारगर सिद्ध हुई कि जैसे श्रीराम प्रताप की संज्ञानता में उनसे बढ़चढ़ ज्ञानी को मानस पटल पर ढूढ़ना पड़ेगा। इसका कारण यह था कि समूची लङ्का यात्रा के अनन्तर जब वे श्रीराम को निवेदन करने योग्य तथ्य कह रहे थे, तो हनुमान जी महाराज को यह ज्ञान परिपक्व स्थिति में हो चुका था कि उन्होंने लङ्का में अकेले विध्वंशात्मक कार्य करते हुए सम्पूर्ण विधि में सीता और राम के बीच की वियोगात्मक दूरी को कम किया और दोनों के लिए अमूर्त रूप से संयोगात्मक स्थिति बनाकर अति दुर्गम लंका में अनायास ही श्रीराम के प्रताप का गौरव छावना छवा दिया, परन्तु इतने दुस्तर कार्यों के लिए तो वे निमित्त मात्र ही थे, जिस प्रकार आत्मा के प्रकाश के लिए शरीर की आवश्यकता तो होती ही है वही स्थिति अपनी श्रीहनुमान के समझ में आ गई थी।

तो प्रभु के प्रताप ज्ञान की संज्ञानता का स्वरूप दर्शन और पुण्यों के कोष का फल यह हुआ, कि प्रभु राम ने श्री हनुमान जी महाराज के द्वारा किये गये कार्यों का अपने हित में आकलन करके उन्होंने हनुमान को अपना ऋणी मान लिया – यथा –

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाही।
देखउँ करि विचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितब सुरत्राता।
लोचन नीर पुलक अति गाता॥

हनुमान जी महाराज ने अपने ज्ञान चक्षु से यह देख लिया कि भले ही वे सीताजी का पता लगाने और लंका को विध्वंश करने में अकेले थे परन्तु समूची अनुकूलित शक्ति और सामर्थ्य तो उन्हीं प्रभु की ही थी। इन सबके अनन्तर भी ये सम्पूर्ण श्रेय उस वानर को दे रहे हैं, सम्पूर्ण

कर्त्ताधर्ता होकर भी अपने को ऋणी मानते हुए नेत्रों में जल भरकर पुलकित हो रहे हैं, जैसे निर्बल की सहायता कोई अति सबल करें तो निर्बल हर्षातिरेक में पुलकित हो जाता है। वैसे ही प्रभु पुलकायमान हैं।

श्रीराम में इतनी अनन्त नमनता को देखकर श्री हनुमान जी महाराज

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमन्त।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवन्त॥

यथार्थतः श्रीहनुमान जी का सम्पूर्ण गर्वरहित भाव, जहाँ सब कुछ श्रीराम का ही करने पर उन्हीं के श्री चरणों की आशा है और वहीं पर विश्राम की सजगता है। यह प्रभु राम के प्रताप ज्ञान की उत्तम कार्यशैली है।

तो श्रीहनुमान जी महाराज श्रीराम के श्रीचरणों में इतनी तल्लीनता से भाव मग्न थे कि बार बार श्रीराम जी के उठाने पर भी वे उस स्थिति से अपने को अलग ही नहीं करना चाह रहे थे।

बार बार प्रभु चहहि उठावा।
प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥

अब तो प्रभु श्रीराम को श्री हनुमान जी के इस प्रकार के समर्पण बुद्धि पर ऐसी अवस्था को सृजित करना पड़ेगा जो महान तत्वदर्शियों को भी दुर्लभ है तब –

प्रभु कर पंकज कपि के सीसा।
सुमिर सो दशा मगन ग़ौरीसा॥

दशा यह है कि श्री हनुमान जी का शीश तो है प्रभु श्रीराम के श्रीचरणों पर, जो उन प्रभु के उठाने पर भी नहीं उठ रहा है और प्रभु के कर कमल हैं कपि राज हनुमान के शीश पर।

बालि के सन्दर्भ में जहाँ प्रेमी जन के मात्र गर्व दूर हो जाने के सामर्थ्य में, श्रीराम का कर स्पर्शन हो जाय तो वह समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है और वह भी सामान्य उदारता का सामान्य फल है, तो उन श्री हनुमान जी महाराज के उन पुण्यों की अतिशयता का आंकलन करना उन सर्वाधीश प्रभु श्रीराम का ही कार्य हो सकता है।

लङ्का से वापस आने और श्रीराम बल्लभासीताजी के दर्शनोपरान्त उनके ज्ञान में श्रीराम का प्रताप बल भी समाहित हुआ है।

इसके पश्चात् किसी प्रकार कपि श्रेष्ठ हनुमान प्रभु से उठाये जा सके तो उन्होंने वानरश्रेष्ठ को हृदय से लगाकर प्रगाढ़ आलिङ्गन किया। यह स्वामी और सेवक में अभेदता का स्वरूप दर्शन

है और पुनः उन कपि को प्रेम से अपने पास ही बैठा लिया मानो वे कपिराज हनुमान को समीप में बैठाकर और उनकी ओर देकर सीताजी का ही दर्शन पा रहे हों। इसी प्रेमाधिक्य की शुभ घड़ी में श्रीराम ने हनुमान जी से पूछ लिया -

कहु कपि रावन पालित लङ्का।
केहि विधि दहेउ दुर्ग अति बङ्का॥

तात्पर्य यह है कि श्री हनुमान जी को वे सब स्थितियों को बताना है कि उन्होंने ने रावण की दुर्गम लङ्का का विध्वंश कैसे किया?

पर अब तो हनुमान जी महाराज को माता सीता की कृपा सुनियोजित व्यवस्था और आशीर्वचनों से श्रीराम के प्रताप का ज्ञान भी हो गया था। जिसका उदय मुनि के श्राप के पूर्व नहीं ही था, इसलिए मुनि श्रापमोचन के बाद भी श्रीराम प्रताप का ज्ञान तत्क्षण उदय नहीं हुआ। यह तो अलग से प्राप्त ज्ञान विशेष की एक महानतर सामर्थ्य शक्ति है, जो सीता दर्शन पश्चात मिली। जिसके बल पर ही भगवान अगस्त के लिए - **'नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं'** की गाथा पुराणों में प्रसिद्ध है।

तो प्रभु राम के प्रश्नों के उत्तर में हनुमान जी महाराज का उत्तर भक्त और भगवान के मध्य व्यवहारिकता का एक दिव्य प्रकाश है तब हनुमान जी गर्वरहित होकर कहते हैं

साखामृग कै बड़ि मनुसाई।
साखा ते साखा पर जाई॥
नाघि सिधु हाटकपुर जारा।
निसिचर गन बधि विपिन उजारा॥

तात्पर्य यह है कि लङ्का में किये गये कार्यों का क्रम भी उन्हें मालूम नहीं है, या उन कार्यों से वे इतने निर्पेक्ष है कि वे अपने द्वारा किया हुआ मानते ही नहीं। इसलिए पूर्ण निर्पेक्षता की स्थिति में यदि श्रीराम ने उनसे पूछ लिया है, तो किसी भी प्रकार उनको न बताने की क्रिया न होने पावे, तो बताया। हनुमान जी के लङ्का विध्वंश के किये गये कार्यों का क्रम तो था।

नाघि सिन्धु - विपिन उजारा - निसिचर गन बधि - हाटकपुर जारा।

परन्तु हनुमान जी बिना क्रम में प्रश्नों का उत्तर देकर यथार्थ सत्य को अपने श्री मुख से कह देते हैं - प्रभो! जो कुछ भी लङ्का में हुआ -

सो सब तब प्रताप रघुराई।
नाथ न कछु मोरि प्रभुताई॥

इतना कहने के बाद भी हनुमान जी को सन्तुष्टि नहीं हुई, तो -

ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल॥

और - **नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥**

प्रभु श्रीराम की भक्ति तो उन्हें माता जानकी की कृपा से ही मिल गयी थी अब उसमें विशेषण जुड़ गया जो (1) अति सुखदायिनी (2) अनपायनी या विनापावकी या चिरसंगनी भक्ति। अंगद श्रीराम प्रताप की संज्ञानता के बल पर ही रावण की सभा को अकेले ही मथकर बेहाल कर दिया और उसके (रावन) के मुकुटों को रामादल में वही से फेंक दिया। परन्तु भक्ति की प्रखरता की कमी के कारण उन्हें श्रीरामके श्रीचरणों में रहने का सौभाग्य नहीं मिला और श्रीराम इसी कमी के कारण अति कठोर स्वरूप में होकर उन्हें उनकी इच्छा न होने पर भी अयोध्या के साकेत सुख से उनके राज्य किष्किंधा भेज दिया। तो हनुमान जी महाराज में **राम काज की साधना** के अतिरित भक्ति ज्ञान और सबसे श्रेयष्कर उन प्रभु के प्रताप का ज्ञान और बल भी सन्निहित था, जिसके कारण वे सम्पूर्ण हैं।

●○●○●

16. वर्षाऋतु में अशोक वाटिका पर श्रीसीताराम की सान्निध्यता एवं परमार्थिक प्रेम दर्शन

श्रीराम, पहले से ही देवताओं द्वारा निर्मित प्रवर्षण गिरि गुहा में अनुज लक्ष्मण के साथ विराजमान हैं। वर्षा ऋतु का प्रारम्भकाल हैं, जिस ऋतु का वर्णन श्रीरामलक्ष्मण से करते हुए कहते हैं -

वर्षा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाये॥
लछिमन देखु मोर गन, नाचत बारिद पेखि।

पुनः **घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।**
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

आकाश में बादलों के गरजने से, उनके मन में डर सम्व्याप्त हो गया है। पर प्रभु श्रीराम से तो डर भी डरता है। यथा -

जासु त्रास डर का डर होई।

इसलिए ज्ञान दृष्टि से सब के हृदय में स्थित आत्मा अनेक आभाषित होने पर भी वस्तुतः एक है। सन्त ज्ञानदेव ने एक अन्य के द्वारा एक भैंसा के ऊपर किये गये प्रहारों को अपने शरीर पर ले लिया, और सभी को यह दिखा दिया कि भैंसा की आत्मा और उनकी (ज्ञानदेव) आत्मा वस्तुतः अभिन्न है।

पर प्रभु राम चित्रकूट की तरह प्रवर्षण गिरि पर विराजित नहीं है। चित्रकूट में प्रभु ''चित्रकूट रघुनन्दन छाये।'' अर्थात् वे दशरथनन्दन के ही स्वरूप भूत चित्रकूट में सुशोभित हैं। इसलिए चित्रकूट में अवध और मिथिला का समाज, विप्र और महाजनों के समाज सुशोभित हैं, जिसमें भरतजी को प्रमुखता में चित्रकूट को ही प्रेममयता में बदल दिया।

परन्तु - **''राम प्रवर्षण गिरि पर छाये।''** में प्रभु राम, रामरूप में विराजमान हैं. या जो राम परब्रह्म कहे ज़ाते हैं।

राम एव परमप्राहुः परमात्मा विधीयते।

और वे ही राम - **जय निर्गुण जय जय गुण सागर।** के स्वरूपभूत प्रवर्षण गिरि गुहा में

विराजमान हैं और वे ही राम लक्ष्मण जी को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं - **प्रियाहीन डरपत मन मोरा**। परन्तु प्रभु को सीता के आवास स्थिति परिस्थिति का ज्ञान है। जो यथार्थतः लंका के अशोक वाटिका में, अशोक तरु तर वर्षा ऋतु में बैठी सोच रत हैं। परन्तु श्रीराम सीता जी की इस दुर्दशापूर्णस्थिति को लक्ष्मण जी को सुनाने में सहज नहीं है। क्योंकि वे -

(1) अतिशय संकोची स्वभाव के हैं -

सो सकोच रस अकथ सुबानी।
समय सनेह सुमिरि सकुचानी॥

(2) मर्माहत कष्टदायी स्थिति को, जो निज भार्या से सम्बद्ध है, उसे छोटे भाई से बताना, यह श्रीराम के स्वरूप गत ही नहीं है।

(3) लक्ष्मण जी भी सुन कर दुःखी हो जायेंगे।

(4) प्रभु श्रीराम से सीता जी की दुःखद स्थिति सुनकर लक्ष्मण जी शान्त नहीं रह सकते। क्रोध के आवेग में उनके द्वारा किये गये कार्यों में असङ्गतता भी हो सकती है, जिसे प्रभु स्वयं न रोक पायेंगे।

इसके पूर्व प्रभु श्री, के तीन स्वरूपों का (इन्द्र, विष्णु और श्रीराम) प्राकट्य यह दर्शाता है कि प्रभु कुछ ऐसी अव्यक्त लीला करना चाहते हैं, जो उनके निर्गुन स्वरूप का धारक हो और वे ऐसा न करने पर असमञ्जसता की स्थिति में हो जाये। ऐसी क्रिया होने पर वे अपने मर्यादित सद्धर्म के अन्तर्गत ही माने जाये। इन स्थितियों में वह क्षण आया कि प्रभु निराकारिक स्वरूप में प्रवर्षण पर्वत के गुहा के अतिरिक्त भक्ति श्री की सम्मुखता में अशोक वाटिका में भी उपस्थित होकर अपना दर्शन उन्हें करायें।

इसके पूर्व, वनवास काल में अनेकों वर्षा ऋतुओं का शुभागमन हुआ, परन्तु प्रवर्षण जैसे एकान्त स्थल में भी प्रभु रजोगुण समुन्नत वर्षा ऋतु का वर्णन बिना किसी के पूछे जाने पर भी विस्तार से रितु का वर्णन कर रहे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रभु श्रीराम के इस क्रिया दर्शन में कोई अन्य दूरगामी सूत्रधारिता है।

प्रभु यह भी अनुभव कर सकते हैं कि प्रवर्षण पर्वत की गिरि गुहा देवताओं द्वारा निर्मित है।

प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ।

या श्रीराम के रहवास के लिए सुन्दर और अनुकूलित वास स्थल है, तो दूसरी ओर उसी वर्षा ऋतु में ठीक इसके विपरीत सीताजी की अति दुर्दशा पूर्ण शारीरिक और मानसिक स्थिति

बनी हुई है। लंका में रावण के आधिपत्य में तो सीता वर्षा ऋतु काल में अशोक वाटिका में अशोक तरुतर पर तो है ही, इसके अनन्तर भी रावण उन सीता जी को अति त्रास देने के लिए-

कहेसि सकल निशि चरहि बोलाई।
सीता बहु विधि त्रासहु जाई॥
मास दिवस महुँ कहा न माना।
तो मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥

तो रावण के इस आदेश पर निशाचरनियाँ

सीतहि त्रास देखावहि धरहि रूप बहु मन्द।

पशु पक्षी तक तो वर्षा ऋतु के आगमन पूर्व ही, वर्षा के बच बचाव के लिए अनुकूलित व्यवस्था बना लेते हैं, परन्तु ऐसा आभास हो रहा है जैसे मानव तनुधारी होकर सीताजी के लिए सभी कुत्सित कर्मों का फल पाव रोप कर एक साथ विरोध में उन्हें पीड़ा पहुँचाने को तत्पर हो रहा हो। वे वही सीता हैं, जिसके लिए देवसरि उनकी स्तुति करती हुई कहती हैं -

लोकप होहि बिलोकत तोरे।
तोइ सेवहि सब सिधि कर जोरे॥

और **भृकुटि बिलास जासु लय होई।**

पर उन्हीं सीताजी की विषम से विषमतर और विषमतम् दयनीय स्थिति है।

दूसरी ओर परमारथी महानुभावों की यह सहज प्रवृत्ति होती है कि दूसरे का दुःख दर्द वे खुद भोगकर भोक्ता को सुखी बनाते हैं। अतः परमार्थाश्रयी प्रभु श्रीराम किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं। वे सोचते है कि ''मेरे परमारथ सिद्धि हेतु ही मेरे द्वारा की गई प्रतिज्ञा '**निशिचर हीन करौं महि**' के कारणभूत सीताजी ने जानबूझकर रावण के द्वारा अपना हरण करवाया और आज अतिशय दुःखदायी स्थिति में वे मात्र अशोकतरु के आश्रय में वर्षा ऋतु के दिन व्यतीत कर रही हैं और वह भी राक्षसनियों द्वारा अनेकों प्रकार से त्रसित होकर।''

तो प्रभु राम इन भावों से भावित होकर उस काल पर अन्तर्दृष्टि करते हैं, जिसने चित्रकूट में गृहस्थाश्रम धर्म का और पञ्चवटी में वानप्रस्थ आश्रम का निवर्हन कराया, तो अब वही काल सीताजी से रहित बनाकर सन्यास धर्म के पालनार्थ सद् प्रेरित कर रहा है। ऐसा करने पर उनका मन सीता जी के द्वारा भोगे जा रहे हृदय विदारक दुःख को स्पर्श ही नहीं करेगा। परन्तु इतना मात्र किया जाना तो स्वार्थपरक स्थिति का परिचायक है, क्योंकि ऐसा किये जाने मात्र से वे लौकिक और वैदिक धर्म से विरत हो जायेंगे। क्योंकि सीताजी भले उनके संग साथ में नहीं है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में

तो मात्र वे (प्रभु) ही उनके आश्रयी और स्वामी हैं। इसलिए सीताजी को निरपेक्ष करके सन्यास धर्म का परिपालन कभी भी सद्धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रवर्षण गिरि गुहा में रहने का आधार मात्र वनवास नहीं है, बल्कि सीता जी का रावण से मुक्ति प्राप्ति का प्रारम्भीकरण है। सन्यास धर्म का तात्पर्य कर्मों की क्रिया से मुक्ति नहीं है, बल्कि अनाश्रित होकर कर्त्तव्य कर्मों की क्रियाशीलता है। बोधस्वरूप आत्मा ही उन क्रियाओं के संचालन का दर्शन कराता है।

प्रभु श्रीराम है - समता की सीमा

जद्यपि सम नहि राग न रोषू।
गहहि न पाप पुण्य गुन दोषू॥
तदपि करहि सम विषम विहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥

ऐसी स्थिति में सीता जी तो साक्षात् भक्ति ही हैं। अतः सीताजी के प्रति समता को त्याग कर या विषम बनकर उन प्रभु को सीताजी के हितार्थ अपने स्वरूप का दर्शन ही अपेक्षित है। अतः अपने निराकार स्वरूप में प्रभु लंका के अशोक वाटिका पर अपनी सान्निध्यता सीता जी को आभास कराना ही युक्तियुक्त समझा कि वर्षा ॠतु में सीता जी अकेले नहीं हैं। अतः सीताजी का अकेलापन दूर करने के लिए प्रभु श्रीराम वर्षा रितु भर या सावन और भाद्रपद मास में उनकी सान्निध्यता में वहीं पर उपस्थित रहे।

पर इसका तथ्य यह भी है, कि प्रभु प्रवर्षण गिरि गुहा पर लक्ष्मण को सम्बोधित तो तव किया जब अपने साकार स्वरूप में मात्र गिरि गुहा पर है। वे गिरि गुहा और अशोक वाटिका दोनों स्थलों पर अपनी उपस्थित के साथ सम्बोधित भी कर सकते हैं परन्तु उनके निर्गुन निराकार का स्वरूप दर्शन निधड़कता से न होने पावे, यह मर्यादा बनी रहे।

इसके अतिरिक्त एक रहस्यात्मक तथ्य यह भी है कि ॠतुओं में प्रिया प्रियतम मिलन का सर्वाधिक आकर्षण का स्वरूप दर्शन वर्षा ॠतु में ही होता है; इसलिए वर्षाकाल में प्रियतम का यह मौलिक कर्त्तव्य होता है कि वर्षाकाल के समय में प्रिया को प्रियतम का अभाव या अकेलापन का भान यथा सम्भव न हो, या कम से कम हो।

अतः वर्षा ॠतु के सभी लक्षणों का वर्णन प्रभु ने किया तो, परन्तु कहीं भी लक्ष्मण को सम्बोधित नहीं किया। यह तथ्य यह दर्शाता है, कि उस वर्षाकाल में प्रभु प्रवर्षण गिरि गुहा में बोल अवश्य रहे हैं परन्तु अपने अगुन अखण्ड, अनन्त तत्व के धारक स्वरूप में वे अशोक वाटिका पर है और जब वर्षा रितु लगभग समाप्त हो गई तो लक्ष्मण के प्रति सम्बोधन यह दर्शाता है कि रितु समापन पर वे मात्र लक्ष्मण जी के पास भर है।

''वरषा विगत शरद रितु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई॥''

तो यह ''सुहाई'' शब्द शरद रितु के लिए प्रयोग है, जिस शरद रितु में ''सीता सुधि'' के लिए भालू-वानरों को सभी दिशाओं में भेजा जाना है, परन्तु वर्षा समाप्ति के पश्चात् भी उस काल में आवाजाही के लिए उपयोगिता सम्भव नहीं हो सकती है, अतः तुलसीदास का मनो वैज्ञानिक तथ्य कि शरद रितु का भी वर्षा रितु की तरह वर्णन हो जाये ताकि यह बात तो तर्क में न आने पावे कि प्रिया प्रियतम के मिलन के लिए सर्वाधिक प्रिय ऋतु यदि वर्षा ऋतु है, तो उसी मात्र का वर्णन हो, यह असङ्गतता का स्वरूप दर्शन होता। परन्तु इतना अवश्य है कि शरद ऋतु का वर्णन वर्षा ऋतु के ब्याज रूप में ही सम्मानित हुआ।

भक्त प्रवर तुलसीदास की अलौकिक भाव शैली में यह भी प्रकाश मिलता है, कि

वरषा विगत शरद ऋतु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥

की चौपाई से, अठारहवीं चौपाई है-

वरषा गत निर्मल ऋतु आई।
सुधि न तात सीता कै पाई॥

जो यह सम्बोधित करती है, कि यह अठारह ब्रह्म की संख्या है, जो न्यूनतम ब्रह्म की संख्या नौ से विभाज्य है और जिसका भजन फल दो हैं, और इसके साथ ही ''वरषा विगत .... वर्षागत निर्मल के मध्य में दो दोहा वर्णित है। तो इस प्रकार उसे इस भाव में दर्शित करने में, कि प्रभु श्रीराम अब तक जो दो स्वरूपों में (प्रवर्षण - अशोक वाटिका) में मान्य थे, सीता सुधि के साथ ही एक में विलय होकर एकीकार स्वरूप में दर्शन कराने हेतु शुभेच्छु हैं, क्योंकि ''सीतासुधि'' में उन प्रभु की इतनी सन्निहितता है, कि जिसके लिए प्रभु को अपने क्रोधावेग को भी सम्मानित करना है जो प्रभु के इस भाव को स्पष्ट करता है कि ''**पुनि रघुवीरहि भगति पियारी।**'' और ''**भगतिहि सानुकुल रघुराया।**'' का उद्बोधन है। ब्रह्म के पूर्ण और अंशावतारों में प्रभु श्री राम का अठारहवां अवतार मान्य है जो ब्रह्म की संख्या है।

दूसरे शब्दों में यह स्थिति प्रिया प्रियतम, भक्ति भगवान की सहगामी क्रियायें है, जिसमें कुछ भी दुराभाव छिपाव या असमञ्जसता की स्थिति ही नहीं बनती है।

इसलिए शरद ऋतु के दरम्यान में ही जब सम्पूर्ण रूप से वर्षा ऋतु का प्रभाव भी क्षीण हो गया और आवाजाही का कार्य अबाधित रूप से चलायमान हो गया, तव सीताजी के सुधि लेने की तीव्रता प्रभु को सहजोरी से प्रभावित करने लगी। या वर्षा ऋतु के कारण सीतासुधि की जो

शून्य गति थी उसमें एकदम द्रुत गति से बाढ़ सी आ गई। सीता हरण से लेकर अपने परमारथी स्वरूप को प्रभु ने बरबसता में बदलकर, सुग्रीव जैसे डरपोक वानर से मित्रता का सम्बल तक प्राप्त किया। पर जिस तीव्रगति से सीता अंवेषण कार्य का संचालन हो रहा था उसमें बाधक रूप में वर्षा ऋतु आकर खड़ी हो गई थी। सचमुच में प्रभु की मानवीय लीला के अन्तरङ्ग में तो यह लग रहा है जैसे श्री हनुमानजी लङ्का से वापस आकर जब सीताजी के विषय में सन्देश सुना रहे थे, तो उन्होंने प्रभु राम से कहा था -

निमिष निमिष करुनानिधि जाहि कलप सम बीति।

तो यह दशा तो हनुमानजी के श्रीमुख से सीताजी के लिए बहिर्गत हुई। परन्तु वर्षा ऋतु काल में श्रीराम की मानसिक-दशा, सीताजी की सम्वेदना के कारण कितनी व्यग्र, असहनीय और मार्मिक रही होगी - यह अकथनीय है। पर यह अवश्य है कि आत्मा की अभेदता में मानो हनुमान जी महाराज ने सीताजी के विशाल दुःख को बताकर प्रभु श्रीराम के हृदय को ही स्पर्श किया है। तो ऐसे वियोग की दशाओं के धारक प्रभु श्रीराम सीता अंवेषण के 'वर्षा विगत' पर कौन साकाम नहीं कर सकते थे या कुछ भी कर सकते थे। इसलिए सुग्रीव के लिए यदि प्रभु ने कहा-

जेहि सायक मारा मैं बाली।
तेहि सर हतौ मूढ़ कह काली॥

तो प्रभु की मार्मिक अन्तर्व्यथाओं की तुलना में यह प्रभु का कथन भी कम है जिस सुग्रीव को प्रभु ने मृत्युतुल्य स्थिति से निकालकर भौतिक सम्पदाओं की शीर्षता पर बैठा दिया और उसकी संरक्षणता में "**राम प्रवर्षण गिरि पर छाये।**" की दशा में है वहीं सुग्रीव अपने संसारिक भोग में इतनी तल्लीनता से पग चुके हैं कि उनको अपने अनुचरों तक से प्रभु श्रीराम की खबर तक लेने का अवकाश नहीं रहा। दूसरी बात सीता जी के लिए तमाम दुःखों के अम्बार के सहन करने का हेतु तो उनके पति परमेश्वर हेतु परमार्थिक कार्य साधना है। या यहाँ प्रभु का क्रोध परमार्थ है। प्रभु सुग्रीव को समझ रहे थे, कि सुग्रीव में पशु व वानर के, संस्कार इतने प्रबल हैं कि उनमें मानवता को जगाने के लिए ऐसा अभिनय करना पड़ेगा कि वे डर जायें और डर कर ही प्रभु के अभीष्ट कार्य सिद्धि को अग्रसर करें।

इसलिए यह कहना युक्ति युक्त है कि प्रभु श्रीराम सीताजी के अशोक वाटिका रहवास काल के वर्षा ऋतु दर्म्यान में उनके दुःखपूर्णा दशाओं के स्वरूपभूत कुछ भी कर सकते है, अतः यह कहना असङ्गत नहीं है कि सीताजी को रावण वध की परमारथवादिता की सिद्धि हेतु वर्षा ऋतु का काल तो अशोक वाटिका में ही रहकर व्यतीत करना है, इसलिए सीताजी के भरकम उद्वेग को सौम्य करने के लिए वर्षा ऋतु में प्रभु अशोक बाटिका में भी जा कर व्यतीत किये। क्योंकि-

(1) जिस प्रकार प्रभु श्रीराम निर्गुन निराकार के स्वरूपगत अनन्त और अथाह है, उसी प्रकार सीता जी भी प्रभु श्रीराम के प्रति भक्ति भावना में निरुपमा स्वरूप में हैं।

(2) मानस में तापस की प्रासङ्गिकता – जब प्रभु अपने वनवासकाल में प्रयागराज से चलते हुए चित्रकूट की ओर जा रहे थे, तो बांदा जिला के राजापुर ग्राम से ही सानुज राम और सीता जी गुजरे थे, ऐसी कल्पना भक्त प्रवर तुलसीदास को हुई। यह कल्पना इस लिए उभरकर तुलसीदास के मनमंदिर में समाहित हुई, क्योंकि तुलसीदास का जन्म ग्राम राजापुर है। तो गोस्वामी जी अपने भक्तिभावना की प्रबलता में इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें बाह्य ज्ञान की भी विस्मृति हो गई, और जब उन्होंने पुनः लेखन कार्य के लिए रामचरित मानस देखा तो उसमें आठ चौपाई और एक दोहा अपने आप लिखा मिला। कविवर उसे पढ़कर निहाल हो गये और उन्होंने इस कार्यविधि को प्रभुराम का कृपा प्रसाद माना। उसमें लिखा था –

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेज पुन्जलघु वयस सुहाबा॥
कवि अलखित गति वेष विरागी। मनक्रम बचन राम अनुरागी॥

दोहा – **सजल नयन तन पुलक निज, इष्ट देव पहिचान।**
परेऊ दण्ड जिमि धरनि तल, दशा न जाइ बखान॥

यदि वे परम प्रभु अनन्त काल को भी अपने में लीन करके त्रेतायुग की वनबास यात्रा की घटना को कलयुग में सुमार कर भक्त को सुखी बना सकते हैं, तो प्रभु अपने निराकार स्वरूपगत भक्ति रूप सीता जी की अन्तर्वेदना को सौम्य करने के लिए और उनके भय को दूर करने के लिए लंका के अशोक वाटिका पर क्यों नहीं जा सकते है?

श्रीराम जिस प्रकार धरम धुरीन है उसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम है। परन्तु मर्यादा के बन्धन में बंधे महापुरुष को मानवीय पुरुषार्थ से परे अपने निराकार स्वरूप को ही स्वीकार करना सीता जी की मानसिक वेदना को कम करना श्रेयष्कर था, और प्रभु ने वही किया। प्रभु की यह लीला अप्रकट अवश्य है, परन्तु ऐसा न किये जाने पर – ''रामो राजमणि सदा विजयते'' के स्वरूपगत उनके दर्शन में सम्पूर्ण सापेक्षता नहीं रह सकती थी, जो प्रभु राम को कभी स्वीकार नहीं।

वानरों की अपार सेना के द्वारा समुद्र में पुल बन कर तैयार हो गया। जामवन्त ने प्रभु से निवेदन किया कि सब से पहिले सेतु पर प्रभु श्री के चरणों का स्पर्शन हों। प्रभु ने जामवन्त के निवेदन पर सेतु के ऊपर चढ़कर बहुत दूर तक चले गये।

परन्तु प्रभु के मन में यह कल्पना भी विद्यमान थी, कि ''बानर भालुओं के द्वारा निर्मित यह महान सेतु तो बन कर तैयार है, जिसके ऊपर से समूची सेना उस पार लंका को जा सकती है।

परन्तु संसार यह सोचने में कोताही नहीं करेगा, कि यदि वानर भालुओं के द्वारा समुद्र पर सेतु का निर्माण न किया गया होता तो राम लक्ष्मण के साथ समूची वानर भालुओं की सेना लंका न पहुँच पाती।'' आकाश मार्ग से लंका की पहुँच सभी के लिए सम्भव नहीं थी। यह सोचकर प्रभु ने अपने अचिन्त्य शक्ति से ही रूपोदार्यता के आकर्षण पर समुद्री जीवों के द्वारा ही एक विलक्षण नये पुल का ही निर्माण करवा दिया।

प्रकट भये सब जलचर वृन्दा।
मकर नक्र नाना झष व्याला। सत जोजन तन परम विशाला॥
प्रभुहि विलोकहि टरहि न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिनकी ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी॥

तो प्रभु श्री राम की यह महान क्रियाशैली जो मन में नहीं समा सकती, प्रभु ने निराकार अनन्त निरगुन की सापेक्षता में किया, क्योंकि ऐसा किये जाने से ही प्रभु के अनन्त सामर्थ्य का स्वरूप दर्शन हो पाता, जो मात्र साकारता में सम्भव नहीं था। परन्तु प्रभु की यह लीला प्रकट है, क्योंकि प्रभु को अपने सामर्थ्य का दर्शन कराना अभीष्ट था, जबकि अशोक वाटिका पर वर्षा रितु में सीता की सान्निध्यता में रहवास यह प्रभु के मात्र निराकारिक स्वरूप का ही दिग्दर्शन है और जलचर जीवों द्वारा दूसरे सेतु की रचना इसमें प्रभु की साकारता का भी सम्विलियन है।

भये मगन हरि रूप निहारी।

इस प्रकार प्रभु अपनी अद्‌भुत परन्तु मर्यादित लीलाशैली में न तो यह स्पष्ट करने की मनोदशा में है कि उनकी अशोक वाटिका में वर्षा रितु के दर्म्यान सीता जी की सान्निध्यता में वर्षाकाल व्यतीत हुई। तो दूसरी ओर उनके आन्तरिक भावों की दशा यह भी है कि यहाँ प्रभु का यह बाना प्रसिद्ध है कि

पन हमार सेवक हितकारी।

तो जहाँ प्रभु अपनी जिन भार्या को जो वनगमन के पूर्व प्रभु को उन सीता जी की एकनिष्टपातिव्रत भावना का आदर करते हुए उनको अपने साथ वन ले जाने को विवश थे, कि ऐसा न किये जाने पर सीता जी ''हठि राखे नहीं राखहि प्राणा।'' की दशा न निर्मित कर दें। जो सीता जी के प्रेम समुज्वलता की सीमा थी।

तो इस प्रकार के भाव स्वरूप में या अप्रकट लीला शैली में जो आनन्द की अनुभूति है वह अकथनीय तो है ही, बल्कि मर्यादा पालन के धर्म को शीर्ष तक ले जाने में भी श्रेयष्कर है।

श्रीमद् बालमीक रामायण में वर्णन है कि काल की प्रेरणा से श्री राम को लक्ष्मण जी का त्याग करना पड़ा। तब लक्ष्मण जी सदेह अपने लोक को सिधार गये। श्री राम, लक्ष्मण जी के विछोह को न सम्हाल सकने के कारण असह्य मानसिक सन्ताप में हो गये, और उन्होंने अवध का समूचा साम्राज्य भरत जी को सौंपकर वनगमनका निर्णय ले लिया।

परन्तु परम भातृ प्रेमी भरत को यह निर्णय ग्राह्य नहीं था। अतः उन्होंने ही साम्राज्य का उचित विभाजन करवा कर प्रभु राम के दोनों पुत्रों (लव, कुश) को अवध का समूचा साम्राज्य दिलवा कर श्रीराम की सेवा में प्रस्तुत हो गये। ऐसी क्रियाशीलता तो भरत ने करवाया, परन्तु इस सर्व मान्य उचित कार्य के सम्पादन में स्वार्थ की गन्ध होने से प्रभु श्रीराम ने अपने को सम्पूर्ण रूप से निरपेक्ष रखा। जबकि इसके पूर्व लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के सभी पुत्रों को राज्य राजधानियाँ सहित सौंप दिये गये थे।

इस प्रकार वे प्रभु समत्व गुणों में ही अपनी अतिशयता में ही समाहित रहते हैं। यथा – वनवास काल समाप्त कर प्रभु अपनी भार्या और लक्ष्मणजी के साथ अयोध्या में प्रवेश कर रहे थे। प्रभु दर्शनार्थ अपार भीड़ का संकलन था तब –

प्रभु विलोकि हरषे पुरवासी।
जनित वियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी।

तो प्रभु श्रीराम की भाव दशा उदीप्त हो कर यह स्वीकार करने को बाध्य कर रही थी। कि हर नर नारी, जो प्रभु के दर्शनार्थ, प्रेम में पगे वहाँ पर एकत्र है, उनमें हर एक को वियोग जनित विपत्ति को नष्ट करके हर्षन के साम्राज्य में डुबाया जाना ही चाहिये। प्रभु के लिए यही समतापरक कार्य विधि उपयुक्त थी। अतः पुरवासियों को शोकरहित करने के लिए प्रभु –

अमित रूप पकटे तेहि काला।
जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपा दृष्टि रघुवीर विलोकी।
किये सकल नर नारि विशोकी॥

परन्तु प्रभु राम की इस निराकार के तत्व की सापेक्षता में एक विशेषता भी अन्तर्निहित थी कि –

छन महि सबहि मिले भगवाना।
उमा मरम यह काहु न जाना॥
एहि विधि सबहि सुखी करि रामा।
आगे चले शील गुन धामा॥

इसलिए यह कहे जाने में अतिशयोक्ति नहीं है कि समता के समग्र गुणों को धारण करने की सामर्थ्य तो परमात्मा में ही अन्तर्निहित हो सकती है, जो परमारथ पथ में प्रवीणता का स्वरूप दर्शन है, तभी तो प्रभु राम से सनकादि के द्वारा चाहे गये अनेकानेक वरों में यह वर माँगा था कि –

'दीन बन्धु समता विस्तारय।'

तो प्रभु राम सर्वदा समत्व में ही स्थित रह कर अपने कार्यों के स्वरूप का निर्धारण करते है।

वही प्रभु वर्षा रितु के आगमन पर अनायास ही प्रवर्षण गिरि गुहा में लक्ष्मण जी को वर्षा रितु का वर्णन करते हुए सम्बोधित करते है। जो यह प्रकट करता है कि वे कुछ ऐसी मनोदशा में अवश्य है कि जिसके सूत्र वर्षा रितु से जुड़े हुए हो और जो सामयिक स्थितियों के साम्य के अन्तर्गत हो, ताकि वे सभी भावनात्मक सूत्र जुड़ कर एक निश्चित तथ्य का दर्शन कराने हेतु दिशा निर्देश की स्थिति बना सके।

यथार्थ तो यह है, कि भक्त शिरोमणि तुलसीदास के अन्तःकरण में प्रभु श्री राम के द्वारा प्रेरित भावों का उद्दीपन हुआ और प्रभु ने अपने भक्त प्रवर को उल्लसित करने के लिए ऐसे सूत्रों का दर्शन कराकर अशोक वाटिका में बैठी सीता जी की दुर्दशा और विपन्नता की स्थिति को सम्पूर्णता से हटाकर मन में शान्ति का दर्शन करा दिया।

कविवर तुलसीदास में भक्ति का भी अद्भुद सामाञ्जस्य था, वे सीता जी की अति दुःखदायी स्थिति को अपने मन में सम्हालने में सक्षम नहीं थे, इसी कारण रामचरित मानस में, बालमीक मुनि के आश्रम का सीताजी का वनवास रहवास का वर्णन तुलसी दास नहीं कर पाये। श्री राम से रहित, वियोगी स्थिति और उस पर भी गर्भावस्था की स्थिति में पुनः वनवास और इसके अनन्तर भी प्रजाजनों द्वारा थोपे गये कलंकित जीवन या हेयता की दुर्गन्ध का जीवन, यह तुलसीदास को असह्य था। तुलसी के इस प्रकार मानसिक भावों को प्रभु जानते थे, कि तुलसीदास में सीता जी के प्रति अद्भुत भक्ति भावना के तत्व संग्रहित है।

इसलिए प्रवर्षण गिरिगुहा में विराजित प्रभु श्री राम के श्री मुख से वर्षा रितु वर्णन यह दर्शाता है कि उस समय प्रभु का मन भी व्यथित था और मानसिक व्यथा सीता जी के कारण थी, जिसे तुलसीदास की भक्ति भावना ने समझकर उन प्रभु को अपने अन्तरभावों से रिझा कर उन्हें सीता जी के कष्ट निवारणार्थ उनकी सन्निधि में रहने के लिए कम से कम वर्षा रितु काल में प्रेरित किया। तो वे सर्व समर्थधारी प्रभु जो भक्ताधीन है, तुरन्त ही अशोक वाटिका में अपने को प्रस्तुत करने के लिए बाध्य हुए।

●○●○●

17. श्रीराम के प्रति योगमाया के विविध उपहार स्वरूप क्रिया दर्शन

सावित्री शैलजा रम्भा नानक्यंश समुद्भवा।
रामस्यांश समुद्भूतो नारायणोऽपि केशवः॥

त्रयोप्यांशा समुद्भूता श्रीभूलीला विभेदतः।
श्री भवेद् रुक्मिणी साक्षात् सत्यभामा दृढ़व्रता॥

लीलास्याद् राधिकादेवी सर्वलोक प्रपूजिता।
जानकी च परा प्राहुः शास्वती रामबल्लभा॥

ब्रह्माणी, रूद्राणी, इन्द्राणी सभी देवियाँ श्री जानकी जी के अंश से ही उत्पन्न हैं। श्रीराम के अंश से श्री मन्नारायण केशवादि उत्पन्न हुए हैं। श्रीभूलीला भेद से तीनों शक्तियाँ भी श्रीसीतादेवी की अशंकला से उत्पन्न हैं। श्री जी रुक्मिणी हुई हैं। भूदेवी साक्षात् दृढ़ व्रतवाली सत्यभामा है। लीला श्री राधिकादेवी के नाम से सर्वलोक में पूजित होती हैं। श्री जानकी जी ही सर्वलोक में पूजित होती है। श्री जानकी जी ही श्रीराम की प्राणबल्लभा शाश्वती पराशक्ति है।

परम पुनीत भगवान अगस्त जी के आश्रम में - श्रीराम -

मुनि समूह मँह बैठे सम्मुख सब की ओर।
शरद इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥

इसी बीच प्रभु श्रीराम ने अगस्त ऋषि से प्रार्थना की -

तव रघुवीर कहा मुनि पाही। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाही।
अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही॥

तव प्रत्युत्तर रूप में अगस्त जी ने भगवान श्रीराम से कहा।

है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पञ्चवटी तेहि नाऊँ॥

इस प्रकार अगस्त ऋषि के कथन से ही राक्षसों के निर्मूलन हेतु ही पावन पञ्चवटी में वे श्रीराम अनुज लक्ष्मण और भार्या सीता के साथ रहने लगे। कुछ दिन तक पञ्चवटी में शान्ति से रहने पर-

सूपनखा रावण कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
रुचिर रूप धरि प्रभु पहि जाई।

प्रभु श्रीराम के पास जाकर उसने कहा -

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संयोग विधि रचा बिचारी॥

इस संयोग से यह प्रतिक्रिया हुई कि -

लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्ह।
ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्ह॥

जब सूपनखा ने दण्डकारण्य में छावनी बना कर रहने वाले खरदूषणादि राक्षसों ने श्रीराम पर आक्रमण कर दिया, तब अकेले श्रीराम ने ही

छन महु सकल कटक उन मारा।

तब सूपनखा ने -

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखाँ रावन प्रेरा॥

जिसके नाक कान काट लिए गये हो, ऐसे अशुभ लक्षणों को धारण कर सूपनखा सीधे रावण के राज्य सभा में उपस्थित हुईं। परन्तु आज वह रावण की सभा में पूर्ण पाण्डित्य के साथ उपदेशक बन कर सभा के मध्य रावण को सम्बोधित कर रही है -

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥

अर्थात् - बिना नीति के राज्य, और धन के बिना धर्म के, तथा हरि सर्मपण के बिना सत्कर्म बेकार है। परन्तु सुपनखा यह नहीं जानती कि रावन के सभा में वह वही बोलेगी, जो योगमाया बुलवायेंगी। उसकी पाण्डित्यपूर्ण शैली ही इस प्रकार की थी कि जिसके वचनों की अवहेलना न करने के लिए त्रैलोक्य विजयी रावण बाध्य था।

रावण को डराने के लिए उसी की सहोदरा बहन कह रही है -

करसि पान सोबसि दिनु राती। सुधि नहि तव सिर पर आराती॥

उसने रावण के पुरुषार्थ को भी चुनौती दे दी। जब रावण ने उससे पूछा -

केइँ तव नासा कान निपाता।

इस प्रश्न के उत्तर में सूर्पनखा ने यह स्पष्ट कह दिया - कि राजा दशरथ के दो पुत्र वन में रह रहे हैं और उनकी करनी करतूत इस प्रकार की लग रही है, कि

रहित निशाचर करिहहि धरनी।

यथार्थ श्रीराम के प्रण के रूप में यह सत्य, उद्घोषित होकर परमार्थ सत्य बन चुका है -

निसिचर हीन करउ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रम जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

इसलिए लंकिनी भी यह परमार्थ सत्य हनुमानजी महाराज को सुनायेगी, कि ब्रह्मा जी ने कहा था -

विकल होसि तै कपि के मारे। तव जानेसु निसिचर संघारे॥

इसके अतिरिक्त त्रिजटा भी स्वप्न की बात बता कर उसी सत्य को बोलेगी।

सपने बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दश सीसा। मुण्डित सिर खण्डित भुज बीसा॥
यहि विधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ विभीषन पाई॥

तो एक ही प्रकार की बात सबके मुँह से घोषित होने का तात्पर्य ही है कि सभी के मन को एक ही स्वरूप में करके बुलवाने वाली शक्ति कोई अन्य अवश्य है, जो श्रीराम के इस कथन से-

जेहि प्रकार मारौ मुनि द्रोही।

के तन्द्रुप बुलवाकर श्रीराम के मनोनुकूल स्थिति की रचना कर रही है -

सूर्पनखा के मन में यह बात विशेष रूप से घर कर गई है, कि यदि रामलक्ष्मण ने मिलकर उसका अपमान किया है, तो उस अपमान का बदला इस रूप में अवश्य ही लिया जाना चाहिए, कि परम शक्तिशाली रावण के द्वारा श्रीराम की भार्या का ही हरण कराया जाय। इसलिए सूर्पनखा सभा के मध्य में यह भी कहना प्रारम्भ किया -

सोभाधाम राम अस नामा। तिनके संग नारि एक श्यामा॥
रूपराशि विधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा।

वह रावण से कहती है कि इतना कहने के बाद वे दोनों भाई परिहास करने लगे -

सुनि तव भगिनि करहि परिहासा।

सूर्पनखा इस ढंग से अपनी बात सभा के मध्य में कह डाली कि उसका प्रभाव रावण के मन में पड़ा और उसने संकल्प कर लिया कि -

हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ।

दूसरी ओर श्रीराम भी सीता हरण की पूर्व तैयारी में सीता जी से लक्ष्मण जी के वहाँ न रहने पर कहने लगे -

सुनहु प्रिया व्रत रूचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥
तुम पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निशाचर नासा॥

सीताजी पावक में निवास करने हेतु -

प्रभु पद धरि हिय अनल समानी।

परन्तु -

निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥

अर्थात् सीता जी के पावक में निवास करने पर तब श्रीराम के पास जो सीताजी हैं, वे प्रतिबिम्व मात्र है। वही सीताजी इस दृष्टि से रावण के अत्याचारों सें मुक्ति दिलाने के लिए स्वयं इस प्रतीक्षा में है कि उनका हरण रावण के द्वारा शीघ्र हो। सीताजी का यह परमार्थ दर्शन स्वरूप तो महान है ही, इसके अतिरिक्त उनमें ''जगतजननी'' की भाव दशा का तथ्य भी उजागर होता है।

सूर्यस्यापि भवंत्सूर्यो ह्यग्नेरग्नि प्रभोः प्रभु।
श्रियः श्रीश्चभवेदग्रया कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा॥
देवतं देवतानांच भूतानां भूत रूत्तमः।
तस्य के ह्यगणा देवि देशेवाप्यथवा वने॥

अर्थात् श्रीराम सूर्य के भी सूर्य हैं, अग्नि के भी अग्नि है, प्रभु के भी प्रभु हैं। श्री जानकी जी श्रियों की भी श्री हैं। कीर्ति की भी कीर्ति हैं, क्षमा की भी क्षमा है। वहीं राम देवताओं के भी देवत्व हैं। भूतों के अधिनायक है। वे देश अथवा वन में रहें, उनको कोई क्लेश स्पर्श नहीं कर सकता है।

अब भगवान श्रीराम अपनी सर्वाधिक विपन्न स्थिति, संसारिकता की दृष्टि से निर्मित करने के पक्ष में हैं। वनवासी जीवन होने पर भी भार्या के रहने पर संसार के लिए रूझान का कुछ न कुछ तत्व तो रहता ही है। परन्तु उनकी गिरी हुई स्थिति में तो संसार यह स्पष्ट देख रहा है, कि श्रीराम का वनवासी जीवन, कन्द मूल फलों का अहार, नारी का त्रैलोक्य विजयी रावण के द्वारा अपहरण, रोते विलखते हुए पत्नी वियोग में लताओं और वृक्षों से भी पत्नी का पता पूँछना। पर इस दुदर्शा पूर्ण स्थितियों में लक्ष्मण मात्र ही उन्हें सहारा दे रहे हैं। जैसे हीन कर्मों के मध्य कोई पुण्य कर्म फल में लक्ष्मण का साथ है, परन्तु नारद जी ने कहा था -

करम शुभाशुभ तुम्हहि न बाधा।

तो उन देवर्षि ने उनको साधने के लिए कहा था

अव लगि तुम्हहिं न काहू साधा।

तो उन हरि को साधने के लिए

नारि विरह तुम होव दुखारी।

दूसरी ओर सीता जी की स्थिति –

यहि विधि सीताहि सो लै गयऊ।
वन अशोक महँ राखत भयऊ॥

हारि परा खल बहु विधि भय अरु प्रीति देखाइ।
वन अशोक पादप तर, राखिसि जनत कराइ॥

रामस्वरूप में ब्रह्म अवतरण के पूर्व गगन ब्रह्मवानी हुई थी –

नारद वचन सत्य सब करिहौं।
परम शक्ति समेत अवतरिहौं॥
हरिहउ सकल भूमि गरुआई।

तात्पर्य यह कि पृथ्वी का भार उतारने के लिए जो श्रीराम और परम शक्ति स्वरूपा सीताजीको परम परमार्थ स्वरूप में जो सुलभता आई, वह परम पवित्र और परम पुण्यमयी है।

चाहे मानसिक शारीरिक दुर्दशा हो या सुदशा पर ऐसे कार्यों में निमित्त की प्राधान्यता ही श्रेयष्कर है।

परमात्मा की परमार्थिक कार्ययोजना पद्धति अनन्त दूरदर्शी और बहुकार्य साधिका होती है। तात्पर्य यह कि बाह्य दृष्टि से निशाचरों के संहार के लिए सीताजी को वापस न करने की टेक रावण की होगी और अपने स्वधर्म पालन के लिए कुल मर्यादा के रक्षणार्थ श्रीराम भी अपनी टेक में धर्म युद्ध करेंगे। जिस युद्ध की ज्वाला में निशाचर पतिङ्गे की भाँति आ आकर भस्म होंगे और यह कार्य तो योगमाया का है कि वे (निशाचर) ऐसा चाहेंगे कि सभी निशाचरों का नाश हो। इसके बाद भी जो बच जायेंगे वे राक्षस वृत्ति से सर्वथा रहित होंगे क्योकि उन पर धर्मात्मा महानुभाव का प्रभुत्व होगा –

दूसरी तथ्य की स्थिति है कि ब्रह्म राम और पराशक्ति सीता का जो स्वरूप बिलगाव दर्शन

का है, वह भक्तों के लिए चिन्तामणि है यथा दक्षिण भारत में एक क्षत्रिय वंश के भक्त रहते थे, वे सीताराम के उपासक थे और बहुत ही भावुक स्वभाव के थे, उन्हीं के नगर ग्राम में श्रीराम कथा हो रही थी। वे बड़े ही ध्यान से कथा श्रवण कर रहे थे। कथा के प्रसङ्ग में उन्होंने सुना कि कथा वाचक के मुख से यह वाक्य बहिर्गत हुआ, कि राक्षसराज रावण सीताजी को उठा कर लङ्का ले गया। उन भावुक क्षत्रिय भक्त ने जैसे ही सीताहरण की बात सुनी कि अपने भावावेष में वे कथा से उठ पड़े और अपने घोड़े पर सवार होकर सीताजी को रावण के हाथों से छुड़ा लाने के लिए पयाण कर दिया। उनके भावुक हृदय ने केवल यही स्वीकार किया, कि रावण अभी अभी सीताजी को उठा कर ले गया है। मैं लड़कर सीताजी को उससे छुड़ाकर पुनः श्रीराम को सौंप दूँगा। उनके प्रस्थान स्थल से समुद्र में घोड़ा सहित प्रवेश कर सके कि इसके पूर्व ही श्रीराम सीता को लिए हुए वहीं प्रगट हो गये और प्रगट होते ही उन्होंने भावुक भक्त को समझाया कि "मैं रावण को मार कर सीता को वापस ले आया हूँ। देखो। सीताजी मेरे साथ है।" यह देखने पर कि सीताराम एक साथ हैं, तब उनके भाव का नशा उतरा और उन्होंने ने साष्टाङ्ग होकर युगल स्वरूपों को प्रणाम किया तथा सीताराम के अन्तर्ध्यान हो जाने पर अपने गृह वापस आये।

इस रूप में श्रीराम के ये कार्य एक साथ चल रहे हैं। ज्ञान प्रधान महानुभावों के लिए वे परमारथ के स्वरूप विग्रह हैं, तो हृदय प्रधान व्यक्तियों के लिए अपनी अतिशय वियोग विग्रह और सीता जी की अति वियोगिनी दशा में दोनों के पारस्परिक आकर्षण के वे प्रेमास्पद विग्रह हैं। साधुओं और सज्जनों के दुःखहर्त्ता और पापपूर्णकर्मियों के संहारकर्त्ता बनकर अनन्तकाल के लिए धर्ममय समाज की संरचना के वे अनन्त शक्तिशाली महापुरुष हैं। परमारथ पथ में अति प्रवीण श्रीराम अपने प्रेमी परिजनों को अपने कष्ट में शामिल नहीं होने देते, परन्तु इन विषमताओं की स्थितियों के होने पर भी उनकी खोज खबर लेते रहते है कि उनके भी दुःखहर्त्ता बन सके, और इन्हीं भावों के कारण ही उनका यही परमार्थ का स्वरूप है कि -

करम शुभाशुभ तुम्हहि न बाधा।

श्रीराम प्रवरषण पर्वत पर अपने अनुज लक्ष्मण के साथ है और सीता खोज में गये हुए वानरों के दलों से सीता जी के तत्कालिक हाल समाचार जानने को व्यग्र है और लङ्का में हनुमान जी महाराज लङ्किनी के मुँह से सुन रहे हैं -

प्रविसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा॥

लंकिनी भी श्रीराम को कोसलपुर के राजा के रूप में सम्मानित करते हुए इसी स्वरूप को ही हृदय में धारण करने के लिए हनुमानजी को भी कह रही है। परन्तु यह कोसलपुर राजा की उद्घोषणा तो अप्रत्यक्ष रूप से योग माया के द्वारा लंकिनी के मुख से ही करवाई गयी है, क्योंकि

हनुमानजी महाराज जैसे परमज्ञानी को भी वह सार्थक शिक्षा दे रही है कि "श्रीराम (कोसलाधीश) ने आपके ऊपर कृपादृष्टि की है। वह कहती है कि आपके लिए सुमेर धूल के समान विष अमृतवत्, शत्रु मित्रवत् और समुद्र गाय के खुर से बने गड्ढे के समान है।" तात्पर्य यह कि लंकिनी है तो राक्षस, परन्तु माता की तरह सहृदय बनकर अगले कार्यक्रम के लिए हनुमानजी का न केवल पथ प्रदर्शन करती है बल्कि एक परमारथ सत्य की भी उद्घोषणा करती है, कि-

विकल होसि तै कपि के मारे। तव जानेसि निसिचर संघारे॥

लङ्काधिपति बनकर रावण ने रघुकुल तिलक राम की भार्या का अपहरण किया है और इसके बाद भी वह दोनों भाइयों (राम-लक्ष्मण) को तपसी शब्द से सम्बोधित करके यह बताना चाहता है, कि वे सब गुणों से ही विपन्न हैं, जिन्हें उनके पिता ने उन्हें किसी काम का न समझकर उन्हें वनवास भेज दिया है। रावण द्वारा कथित इस दुर्भावना का उत्तर योग माया द्वारा रचित मञ्च पर रावण को प्रत्यक्ष दिलाना है।

यहाँ श्रीराम के विरह व्यथा में शिथिलता आई और रावण को उसके कुल समेत ही इस धरा से ही विदा करने की योजना बनने लगी। समुद्र पर पुल बाँध कर लङ्का की राजधानी में ही स्थित सुबेल सैल पर सेना के पड़ाव की समुचित व्यवस्था हो गई।

लङ्का के राज्य स्थल में सीताजी के करुणानिधान आ चुके हैं, इसलिए उनके स्वागत में भी उनकी कार्य निर्वहन शैली का स्वरूप दर्शन होना है। इसी कारण से उन्होंने रावण के द्वारा मुँह से निकाले गये विपन्नतापूर्ण शब्दों (तपसी आदि) के विरोध में लङ्का की ही अधिष्ठात्री देवी लङ्किनी के द्वारा जो उनके (श्रीराम) स्वरूप के कथन को कौशलपुर राजा रूप में कर दिया गया है, उन्हीं राजा का प्रभाव प्रताप, जो उनका विशेष गुण है - इसका ध्यान रखकर योगमाया द्वारा निर्मित मञ्च पर कौशलपुर राजा का सद्दर्शन और प्रदर्शन होगा तथा लङ्काधिपति रावण का दुर्द्दर्शन का भी आयोजन होगा।

यह भी एक संयोग ही है कि सुबेल सैल से कुछ ही दूरी पर लगभग उसी ऊँचाई पर पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा में सायंकाल को रावण भी अपने बृहद् और राजसी आयोजन के साथ रागरंग और नृत्य का आनन्द लेने के लिए अपनी राजसी सभा में मंदोदरी और अन्य रानियों के साथ वहाँ उपस्थित है।

महामाया के मौलिक व्यवस्थापन में सबसे पहिले कोशलपुर राजा के राजदरबार का सद्दर्शन उनके अंगों सहित कराया जाना है। राजा के वैभव प्रताप के नौ अंग होते हैं।

जिनका सद्दर्शन और प्रदर्शन इस प्रकार है:-

(1) सेना :-

इहाँ सुबेल सैल रघुवीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥

सुबेल सैल पर वानरी सेना की इतनी बड़ी भीड़ है कि इसका लेखा करना सम्भव नहीं है, यथा - श्रीशंकर जी पार्वती जी को सुनाते हुए कहते हैं -

वानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरख जो करन चह लेखा॥

अर्थात् वानरों की सेना अनन्त है -

(2) राज सिंहासन :-

शिखर एक उतंग अति देखी। परमरम्य सम शुभ्र विशेषी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥
ता पर रूचिर मृदुल मृग छाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥

शेषनाग सहस्त्र शीर्ष ही तो उन हरि के मृदुल आसन है, इसलिए उन्हीं के अवतार लक्ष्मण जी को रूचिरता और मृदुलता का विशेष ज्ञान है और यह काम भी सेवाभाव पारायण लक्ष्मण जी के हाथों से बनने के कारण कोशलाधीस को और भी अधिक रूचिकर लग रहा है -

(3) सेनापति :-

प्रभु कृत शीश कपीश उछङ्ग।

ये है वानरराज सुग्रीव, जिनकी गोद पर कोशलाधीश का शिर रखा हुआ है। राजा की असली आक्रामक शक्ति तो सेनापति ही है, जिसकी विश्वसनीयता में हार-जीत की स्थिति सम्भावित रहती है। सुग्रीव के गोद पर श्रीराम के शीश का होना यह दर्शाता है कि सेनापति अत्यन्त विश्वसनीय है। रावण पर आक्रमण होना दोनों के मतों में समान है।

(4) शौर्य :-

वाम दहिन दिशि चाप निसङ्ग॥

श्रीराम के बाईं ओर धनुष और दाईं ओर तर्कश रखे हुए हैं, जो शत्रु देश में होने के कारण तुरन्त ही प्रति प्रहार किये जाने हेतु समीप में है।

(5) युद्धमय मन का संयोजन :-

दुँहकर कमल सुधारत बाना।

यह श्रीराम के विशेष लगन का प्रतीक है। जब कोई काम परम आवश्यक हो तो उसी में दत्त चित्त हो जाना और आगे युद्ध होना ही है, इसका पूर्वाभास का यह प्रतीक है।

(6) मंत्री :-

कह लंकेश मन्त्र लगि काना।

महाराज विभीषण प्रभु के कानों में लगकर कुछ मंत्रणा कर रहे हैं, जो भावी लंका के अधिपति है और जिन्हें लंका के गति विधि का ज्ञान उनके दूतों से होता रहता है।

(7) सेवकगण :-

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरण कमल चापत विधि नाना॥

जिन बड़भागियों को श्रीराम के श्री चरणों को सहलाने दबाने का काम मिला है वे हनुमान जी और पिता के हाथों श्रीराम को समर्पित अंगद जी ही हो सकते हैं, परन्तु बलियों में श्रेष्ठ दोनों महावीरों को यदि लंका ढहाने का काम भी सौंप दिया जाए तो भी यह उनके लिए सहज है।

(8) अंगरक्षक :-

प्रभु पाँछे लछिमन वीरासन। कटि निषङ्ग कर बान सरासन॥

तर्कश और बाणों से संयुक्त बीरासन में सुशोभित लक्ष्मण जी ही महाराजाधिराज कौशलेश के अंगरक्षक है। इन्हें कौशलाधीश के प्रताप का समूचा भरोसा और ज्ञान रहता है। अजेय मेघनाद का वध लक्ष्मण जी तभी सम्भव कर पाये थे जब उन्होंने कोशलाधीश के प्रताप का स्मरण किया।

सुमिरि कोशलाधीश प्रतापा। सरसन्धान कीन्ह करि दापा॥
छाड़ा वान भाँझ उर लागा। मरती बार कपट सब त्यागा॥

(9) प्रताप प्रदर्शन :-

पूर्णचन्द्र कोशलाधीश के राजदरबार के सुशोभा और वैभव प्रताप का स्वागत कर रहा है। कौशलाधीश विभीषण से कुछ मन्त्रणा कर रहे हैं। परन्तु कुछ ही समयोपरान्त वहां से दक्षिण दिशा में बादलों की गरज और बिजली की चमक तथा हल्की वृष्टि होने की स्थिति श्रीराम को समझ में आई। तब विभीषण को उसके विषय में पूछा – जिसमें अपने प्रत्युत्तर में विभीषण जी ने यह कहा –

लंका शिखर उपर अंगारा। तहँ दश कन्धर देख अखारा॥

छत्र मेघ डम्बर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥

प्रभो! रावण लंका के शिखर पर बने महल में प्रवीण अप्सराओं के द्वारा होने वाले नृत्य और संगीत का आनन्द ले रहा है। रावण का छत्र जो काला और विशाल है, वही बादलों की काली घटा है -

मंदोदरी श्रवन ताटङ्का। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमङ्का॥

और मन्दोदरी के श्रवणेन्द्रियों में जो कर्णफूल हिल रहे हैं वही मानो बिजली की चमकाहट है -

बाजहि ताल मृदङ्ग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा॥

यहाँ महा योगमाया ने विभीषण के श्रीमुख से कोशलाधीस श्रीराम के लिए सुरभूप शब्द का सम्बोधन करवाया। यह सुरभूप शब्द का प्रयोग रहस्योद्घाटित है। क्योंकि ब्रह्मादिक देवताओं के द्वारा पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए जब श्रीहरि की स्तुति की गई थी तो वह इस प्रकार थी-

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रणतपाल भगवंता।
गोद्विज हितकारी जय असुरारी सिन्धु सुता प्रिय कन्ता॥

तो उन्हें सविशेष ब्रह्म के निरूपण में सुरनायक (सूरभूप) असुरारी (राक्षसों के शत्रु) और सिन्धुसुता के प्रिय कन्त के रूप में पक्षधर बनाकर उसी स्वरूप की आवश्यकता का भान कराया गया था।

आज वही सविशेष ब्रह्म श्रीराम सुबेल शैल पर विद्यमान हैं, तो विभीषण के श्रीमुख से सुरभूप या सुरनायक शब्द का उच्चारण श्रीराम के लिए प्रयुक्त करवाकर यह संकेत दिलाया जा रहा है कि "आप असुरारी है, और सिन्धुसुता (लक्ष्मी) के प्रिय कन्त है" और जहाँ सुबेल शैल पर आप विद्यमान हैं, वहीं सुबेल सैल का स्थल ही लंका राज्य के परिसीमन में ही है और लंका के अधिपति राक्षसराज रावण ने ही सिन्धुसुता (सीताजी) का हरण करके अपने क्षेत्र के अशोक वाटिका में उन्हें रखे है।

परन्तु योगमाया को उन ब्रह्म की अचलता का भी ज्ञान है कि इतना कहने के अनन्तर भी ब्रह्म चलायमान नहीं होगा क्योंकि सीताजी को कोई भी कष्ट स्पर्श तक नहीं कर सकता है तब उन्हें चलायमान बनाने के लिए दूसरी युक्ति का ही सहारा लेना पड़ेगा। जो उन अचल ब्रह्म को क्रियाशील कर सके। तव विभीषण के श्रीमुख से ये शब्द मुखरित हुए :-

बाजहि ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥

अर्थात् वही अत्याचारी और आततायी राक्षसराज रावण जिसने सीताजी का हरण किया है, रागरंग और नृत्य के देखने और संगीत के श्रवण में मदहोश होकर मस्ती में मग्न है, और यह संगीत की मधुर आवाज वहीं से आ रही है। तव प्रभु श्रीराम -

प्रभु मुस्कान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान सन्धाना॥

दुर्द्दर्शन :-

छत्र मुकुट ताटंक तव हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे मरमु न कोऊ जान॥

रावण के छत्र मुकुट और बिजली की सी कौंध करने वाले मंदोदरी के कर्णफूल धरती पर गिर गये। न भूकम्प ही हुआ और न आँधी ही चली। किसी ने अस्त्रों शस्त्रों को भी नहीं देखा।

कंप न भूमि न मरुत विशेषा। अस्त्र शस्त्र कछु नयन न देखा॥

इस प्रकार एक ही बान सब कौतुक करके श्रीराम के निसङ्ग में प्रविष्ट हो गया।

अस कौतुक करि राम सर प्रविसेउ आइ निसङ्ग।
रावण सभा सशंक सब देखि महारस भंग॥

अस्त्र शस्त्र के दिखाई न पड़ने का कारण तो यह था कि पृथ्वीवासियों को जिनमें पृथ्वी तत्व की ही प्रधान्यता रहती है, उन्हें न तो देवता ही दिखाई पड़ सकते और न उनके दिव्य अस्त्र शस्त्र ही दिखाई दे सकते हैं। फिर उस के प्रहार कर्त्ता तो श्रीराम (सुरभूप) अनन्त स्वरूपधारी है, उनके अस्त्र शस्त्र को न देख पाना यह कोई आश्चर्यजनक स्थिति नहीं है। क्योंकि जय जय सुरनायक में सुरों के राजा मात्र इन्द्र नहीं है, बल्कि वे अव्यक्त सनातन ब्रह्म है, वे पृथ्वी का दुःख दूर करने हेतु सुरद्रोही रावण को जड़ मूर से समाप्त करने के लिए सुरनायक बने हैं। अनन्त रत्नाकर में जिसकी आवश्यकता होती है, वह उसमें वही ढूंढता है, तो आवश्यकता सुरनायक तत्व की है इस प्रकार के मञ्च की तैयारी महामाया ने निर्मित किया जिससे कौशल के राजा श्रीराम के बल पौरुष और प्रताप का गौरव बढ़ा परन्तु दूसरी ओर रावण जो अपने ही लङ्का में बिराजित है, उसे श्रीहीन बनाया गया और उसने जिन जगत प्रतिपालक श्रीराम को तपसी और हीन समझकर उनके लिए हीन शब्दों का प्रयोग करता था तो उसकी दुर्दशा हुई -

दशमुख देखि सभाभय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई॥
सिरउ गिरे सन्तत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही॥
सयन करहु निज निज गृह जाई।

जब उसके हृदय में भय समा जाता है तो भय छिपाने के लिए रावण विहँसता है, विकल होता है और फिर अपने महलों को भागता है -

इसी प्रकार की स्थिति उसे तब हुई थी जब उसने यह सुना कि श्रीराम ने समुद्र में पुल बाँध दिया है तो उस समय भी यही दशा हुई थी -

यथा -

निज विकलता विचारि बहोरी।
बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी॥

योग महामाया मानव रूप में अवतरित श्रीराम के पक्षधर होकर उनको कोसलाधीश स्वरूप को सम्पन्न बनाया एवं शत्रुदेश में उनके प्रभाव को और उनके शौर्य गुण को शत्रु के लिए दहशतपूर्ण बनाया। उनके प्रताप को प्रगट करने का एक और कारण यह भी था कि जब रावण के अनुज विभीषण रावण के अत्याचारों से त्रसित होकर समुद्रतट पर, लङ्का के दूसरी ओर उनके शरणागत हुए थे, और मात्र इतना कहा -

श्रवण सुजसु सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर॥

तव प्रभु श्रीराम यह जानते हुए भी कि विभीषण रावणानुज है। उनको शरण में तो ले ही लिया था, और तुरन्त लंकेश ही बना दिया। यद्यपि लंकेश बनने विभीषण नहीं आये थे और न उनकी इच्छा ही थी परन्तु श्रीराम के अतिशय उदारता के शब्द थे -

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।
मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥

अस कहि राम तिलक तेहि सारा।

तो महामाया ने सोचा कि ये (श्रीराम) तो वनवासी रूप है। वनवास की अवधि के पश्चात् ही कौशलपुर राजा होंगे - परन्तु उनके अतिशय उदारता का परितोषण तो उन्हें मिलना ही चाहिए इसलिए राजसभा का ही आयोजन किया गया और उनके अद्भुत बल प्रताप का प्रदर्शन भी शत्रु के देश में दिखाया गया। इसी प्रदर्शन में शत्रु दल ही विकल होकर अपने अपने घरों में घुस गया।

इसके अतिरिक्त महामाया के व्यवस्थापन में इतनी अपार वानर सेना के लिए भोजन की सामग्री भी होना चाहिए। सिन्धु के उस ओर पार उतरना और शत्रु देश में पहुँच जाना यह तो बल पौरुष और प्रताप का अंश है परन्तु -

सिन्धु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा।।
खाहु जाइ फल मूल सुहाये। सुनत भालु कपि जहँ तहँ धाये।।

परन्तु उन भालुओं और वानरों के लिए पूर्व से ही भोजन की सामग्री मौजूद है –

सब तरु फरे राम हित लागी।
रितु अरु कुरित काल गति त्यागी।।

खाहि मधुर फल विटप हलावहिं।

तात्पर्य यह कि जितना महानतम परमार्थ तत्व का स्वरूप दर्शन होगा उतने ही अधिकतम रूप में उन योगमाया का अव्यक्त व्यवस्थापन दर्शन होगा जो परमार्थी के पक्ष में होगा।

18. श्रीराम और श्रीदशरथ जी का परमार्थिक सम्बन्ध

वनवास के लिए श्रीरामसीता और लक्ष्मण जी को पैदल ही महलों से वन की ओर जाते हुए देखकर प्रजाजनों में महान दुःख संताप व्याप्त हुआ। यह देखकर मुनिवर वामदेव उनके बीच आकर कहने लगे –

एष रामः परोविष्णुरादि नारायणः स्मृतः।
एषा सा जानकी लक्ष्मी र्योगमायेति विश्रुता॥
असौ शेषस्तमन्वेति लक्ष्मणाख्यश्च सम्प्रतम्।
एष माया गुणैर्युक्तस्तत्तदाकार बानिव॥
एष एव रजोर्युक्तौ ब्रह्माभूद्विश्वभावनः
सत्त्वाविष्टस्तथा विष्णुस्त्रि जगत्प्रतिपालका
एषरूद्रस्तामसोऽन्ते जगत् प्रलयकारणम्॥

अध्यात्म रामा, अयो. ५/११-१३

ये श्रीराम जी आदिनारायण भगवान विष्णु हैं और ये जानकी जी योगमाया नाम से विख्यात लक्ष्मी जी हैं। इस समय जो लक्ष्मण नाम धारण कर इनका अनुगमन कर रहे हैं, ये शेष जी हैं। ये पुरुषोत्तम भगवान ही मायागुणों से युक्त होकर विभिन्न आकार वाले से प्रतीत हुआ करते हैं।

रजोगुण से युक्त होकर ये ही विश्वरचियता ब्रह्मा जी हुए हैं और सत्व गुण विशिष्ट होने पर ये ही त्रिलोक रक्षक भगवान विष्णु होते हैं; तथा कल्पान्त के अन्त में तमोगुण का आश्रय लेकर ये ही जगत का प्रलय करने वाले रूद्र होते हैं।

ये रावण आदि करोड़ों राक्षसों का वध करेंगे, उस दुरात्मा की मृत्यु मनुष्य के हाथ वदी है।

राज्ञा दशरथतेनापि तपसाराधितो हरिः

पूर्व जन्म में राजा दशरथ ने तपस्या द्वारा, भगवान की इसलिए आराधना की थी, कि वे उनके यहाँ पुत्र रूप से अवतार लें, इसलिए वे ही उनके पुत्र हुए। श्रीराम के स्वरूप में जैसे वे निराकार स्वरूप में अनन्त है, उसी प्रकार सगुणता में भी उनकी उदारता की अनन्तता का स्वरूप दर्शन होता है। इतना मात्र ही नहीं बल्कि उनके बल प्रताप के बल पर किये कार्यों के कर्त्ता भी असीमता की स्थिति में हुए है, जैसे – हनुमान, अंगद।

भगवान श्रीराम के हृदय में इतना परमार्थिक तत्वों का कोष है, कि अपनी असीम सर्वकालिक उदारदेयता के विधान में सम्बन्धी जन को उसकी पात्रता व प्रवृत्ति से भी अनन्त गुणा वे देते हैं। यथा –

(1) बालि :- किष्किन्धा में श्रीराम ने किष्किन्धा के राजा वानरराज और अहंकारी बालि, जो अपनी अनुज वधु रूमा तक को अपने काम भोग में उपयोग करता था, को उन्होंने एक बाण से ही मरणासन्न स्थिति में पहुँचा दिया। असह्य वेदना से पीड़ित वानरराज बालि ने जैसे ही उन परमप्रभु को पहिचान कर कहा 'प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्त काल गति तोरि।' अर्थात् बालि ने कहा – ''प्रभु आप मुझे बार बार पापी कह कर जो सम्बोधन कर रहे हैं, तो मेरे मरण काल के समय आप साक्षात् मेरे सामने उपस्थित होकर दर्शन दे रहे हैं और मैं पापी हूँ।'' बालि के मुख से ये शब्द मुखरित हुए कि प्रभु श्रीराम द्रवीभूत होकर बालि के शीश का स्पर्शन किया –

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि शीश परसेउ निज पानी॥

और कहा – **अचल करौं तन राखहु . प्राना।**

जब अपने प्रत्युत्तर में बालि ने समर्पित भावों से समन्वित वचन कहा –

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

इस प्रकार बालि ने अपना समर्पण भाव दिखाया और प्रभु श्रीराम की असीम अनुकम्पा की वर्षा प्रारम्भ हुई। बालि के सापेक्ष में –

राम चरण दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कण्ठ ते गिरत न जानइ नाग॥

और – **राम बालि निज धाम पठावा।**

बालि पत्नी तारा के हितार्थ –

तारा विकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥
उपजा ज्ञान चरण तव लागी। लीन्हेसि परम भगति वर मागी॥

बालि पुत्र अंगद के लिए –

बालि की इच्छानुसार अंगद को अपने संरक्षणत्व में लेकर अपना दास बनाया और किष्किन्धा के युवराज पद में उन्हें आसीन करवाया।

तात्पर्य बालि का समूचा परिवार ही राम के रामत्व में आकर कृतार्थ हो गया।

(2) विभीषण – जब लंका की ओर पयान की गई वानरसेना समुद्र के तट पर पहुँची, तभी रावण के छोटे भाई विभीषण ने श्रीराम के सम्मुख उपस्थित होकर कहा –

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भञ्जन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुवीर॥

जैसे ही आर्तपूर्ण वचनों से विभीषण श्रीराम के शरणापन्न हुए –

और **अस कहि करत दण्डवत देखा।**
तुरत उठे प्रभु हरष विशेषा॥

विभीषण के मांगने पर प्रभु ने उन्हें भक्ति तो दे ही दिया –

अब कृपालु निज भगति पावनी। देहु सदा शिव मन भावनी॥

परन्तु प्रभु श्रीराम की अतिशय उदारदेयता में विभीषण को संसारिकता का भी वैभव देना था। इसलिए –

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरश अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥

प्रभु श्रीराम ने विभीषण को तब तक के लिए लङ्काधिपति बनाया जब तक पृथ्वी जीवधारियों को धारण कर सकती है। श्रीराम ने रावण पर विजय प्राप्ति के पश्चात् जब कुछ दिन आराम करने के लिए विभीषण ने प्रार्थना किया तब भगत शिरोमणि भरत की दशा पर विह्वल होते हुए प्रभु ने कहा –

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहि।

परन्तु प्रभु श्रीराम की उदारता विभीषण के लिए अनन्त है, इसलिए पुनः विभीषण को सम्बोधित करते हुए श्रीराम कहते हैं –

पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ सन्त सब जाहि॥

(3) गीधराज जटायु – मारीच का वध करके ज़ब राम लक्ष्मण के साथ गोदावरी तट पर स्थित पञ्चवटी में अपने आश्रम पर आये तो –

आश्रम देखि जानकी हीना। भये विकल जस प्राकृत दीना॥
यहि विधि खोजत विलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

दोनो भाई सीता जी की खोज करते करते जब कुछ आगे बढ़े तो -

आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन रेखा॥

गीधराज जटायु ने श्रीराम से अपनी घायलावस्था का जब कारण बताया -

नाथ दशानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं॥
दरश लागि तनु राखहुँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥

गीधराज के इतना कहने से परम कृपालु श्रीराम ने द्रवीभूत होकर कहा -

राम कहा तनु राखहु ताता।

जब गीधराज ने भी वही परमार्थिक उत्तर श्रीराम को निवेदित किया जो वानरराज बालि ने श्रीराम के इसी स्थिति पर प्राण रखने को कहा था।

तब गीधराज के द्वारा किये गये परहित के कार्यों की प्रशंसा करते हुए श्रीराम जटायु के इतने कृतज्ञ बन गये, जैसे उन सर्वदाता को जटायु को देने के लिए उनके पास कुछ न हो -

परहित बस जिनके मन माही। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाही॥

इसलिए -

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरण कामा॥

परन्तु गीधराज पर श्रीराम का पितृवत् भाव था, वे श्रीराम के पिता दशरथ के मित्र थे इसलिए परम कृपालु श्रीराम ने उन्हें अपना स्वरूप ही दे दिया।

श्याम गात विशाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

ऐसी सारूप्य मुक्ति तो महायोगियों को उनके याचना करने पर मिलती है, जो प्रभु राम ने गीध को दिया -

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥

यथार्थ में प्रभु श्रीराम का स्वभाव ही है कि -

कोमल चित अति दीनदयाला। कारण बिनु रघुनाथ कृपाला॥

और अंत में गीधराज ने श्रीराम से अन्य दुर्लभ वर भी माँगा जो महान श्रेयस्कर स्वरूप था।

अविरल भगति माँग बर गीध गयउ निज धाम।

इसलिए श्रीराम की तरह अतिशय उदार अन्य कोई हो ही नहीं सकता।

(4) दशरथ - राजा दशरथ ईश्वरांश जीव है, इसलिए उनकी उदारता सर्वदेशीय न होकर ससीमता में परिलक्षित रही। अपने पूर्व जन्म के कठोर तपस्या साधना के परम फल से उन्होंने चक्रवर्ती महाराज दशरथ बनकर इस जन्म में उन सर्वात्मा सर्वेश्वर को ही पुत्र रूप में प्राप्त किया था। श्रीराम ही उनके पुत्र और जीवन सर्वस्व थे उनके प्रति महाराज दशरथ की सहजमति ही थी -

जाहि न चाहिअ कबहु कछु तुम सन् सहज सनेह।

और श्रीराम को अधिक से अधिक सुखी और प्रतिष्ठित बनाने में ही राजा दशरथ की समूची भावना की लक्ष्य सिद्धि थी। इन्हीं भावों से भावित महाराज दशरथ ने जब अपने श्रवनेन्द्रियों के समीपस्थ केशों तो उज्जवल देखा तो मात्र धवल केश देखने मात्र से उन्होंने अपने में वृद्धावस्था का आरोप लगाकर यह मानसिक निर्णय ले लिया कि -

नृप युवराज राम कहुँ देहूँ। जीवन जनंम लाभ किन लेहूँ॥

इस विचार के आते ही महाराज दशरथ गुरू वशिष्ठ के आश्रम में पहुँच कर अपने उदित विचारों को क्रियाशीलता में पहुँचाने के लिए उनसे निवेदन किया -

''नृप युवराज राम कहुँ देहूँ।'' के प्रत्युत्तर में जब गुरू वशिष्ठ का भाव दर्शन हुआ -

बेगि बिलम्ब न करिअ नृप साजिय सबुइ समाज।
सुदिन सुमङ्गल तबहि जब राम होहि जुबराज॥

तो महाराज दशरथ ने जब गुरू वशिष्ठ के द्वारा अपने मन में उत्पन्न **''नृप युवराज राम कहुँ देहूँ।''** की प्रवृत्ति को विशेष रूप में अनुमोदित अनुभव किया, तब अपने प्रधान सचिव सुमन्त को बुलाकर अपने मत को मंत्रिमण्डल में भी पारित कराये जाने के लिए आदेशित किया। दशरथ महाराज के इस क्रियाशीलता का प्रभाव परिणाम यह हुआ -

जग मंगल भल काज विचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥

जब राजा दशरथ के मत की स्वीकृति सम्पूर्ण निष्ठा के साथ मंत्रिमण्डल से भी पारित हो गई, तब उन्होंने अपना आदेश प्रसारित किया -

कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ सोइ॥

राम राजअभिषेक की कल्पना मात्र से समूचे नगर की भाव दशा राजा दशरथ के मन में उदित उसी स्नेहमय भावना का ही अनुसरण कर रही थी।

प्रमुदित पुर नर नारि सब सजहि सुमंगल चार।
एक प्रविसन्हि एक निर्गमहि भीर भूप दरबार॥

और – **करत परस्पर राम बड़ाई॥**

को रघुवीर सरिस संसारा। शील सनेह निबाहनिहारा॥
जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमही। तहँ तहँ ईश देउ यह हमही॥
सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥
अस अभिलाषु नगर सब काहू।

समूचा नगर श्रीराम के राज्याभिषेक से आनन्दमग्न है परन्तु –

कैकयसुता हृदय अति दाहू॥

राजा दशरथ की सर्वाधिक प्रिय रानी कैकई है, इसलिए जब वे अपने हृदय में राम राजाभिषेक की धारा में बाढ़ ले आने के लिए राम की स्नेहमयी जननी कैकई के भवन कक्ष में गये –

साँझ समय सानन्द नृपु गयउँ कैकई गेह।

तो यहीं तक राम के सत्य सनेही राजा दशरथ के प्रेमानन्द की बाढ़ बढ़ पाई। आनन्द की वह धारा जो बाढ़ के रूप में राजा दशरथ को आकांक्षी बना कर उनको आनन्दातिरेक में डुबाने के लिए तत्पर थी। उसकी परिणिति विषम से विषमतर स्थितियों को पार करती हुई विषमतम् स्थितियों में समापन की ओर अग्रसर होती गई और अन्त में आनन्दधारक से ही आनन्दविग्रह को ही समूलतः छीनकर ऐसे सुदूर प्रान्त में भेज दिया गया। कि जहाँ से वापस न आने की अनिवार्यता थी।

इस प्रकार बरबस आनन्दकन्द के छिन जाने से राजा दशरथ की दशा **'जल बिनु मीना'** की तो होनी ही थी। अब उन दशरथ के लिए राम का सम्बल था मात्र वाणी से राम राम रटना। और अन्त में वाणी ने भी उन महाराज का साथ छोड़ दिया। क्योंकि –

प्रान कंठगत भयउ भुआलू।

और अन्त में शरीर ने ही राजा दशरथ का साथ छोड़ना चाहा, तब राम के प्रेमी, एअपने प्रेमाष्पद राम का नाम रटना प्रारम्भ किया –

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुवर विरह राउ गयउ सुर धाम॥

सुदूर प्रान्त के वन्यस्थली में प्रेम विग्रह श्रीराम जो 'पितु हित चित चातक जलधर' के रूप में अपने पिता के हृदय स्थल में बिहार करते थे। उन्हीं को उनके श्रवणेन्द्रियों के द्वारों से सुनाया जा रहा था -

नृप कर सुर पुर गवन सुनावा।
सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा॥

इस दुसह दुःख के पश्चात् उन परम पितृभक्त श्रीराम को यह भी सुनाया जा रहा था, कि जब उनके पिता का अपने पुत्र राम के प्रति सत्य प्रेम ससीमता को पार कर असीम होने को हुआ तो उनके पिता असीम प्रेम को नहीं सम्हाल पाये और उसी का परिणाम यह हुआ उनकी मृत्यु।

मरण हेतु निज नेह बिचारी।

तब वे आनन्दकन्द और परम प्रेमास्पद विग्रह, अपने स्वरूप भूत धर्म धुरीन की स्थिति में -

भे अति विकल धीर धुर भारी।

के रूप में हुई। परन्तु वे आनन्दकन्द सुखराशि है, साथ ही पूर्ण प्रेम और परमारथ में असीम है क्योंकि सनत्कुमार संहिता या नारद वचनम् के अनुसार -

अशेष वेदात्म कमादि संज्ञम् अजं हरिम् विष्णुमनन्त माद्यम्।
अपार सांवित सुखमेक रूपम्, परात्परम् राममहं भजामि॥

जो समस्त वेदों के सार स्वरूप हैं, जो अनादि अनन्त सर्वव्यापक, भक्तों के दुःख हरने वाले और विष्णु तथा अनन्त स्वरूप हैं। जिनका पार कोई नहीं पा सकता। जो सच्चिदानन्द दिव्य रूप है, मैं उन्हीं परात्पर प्रभु श्रीराम का भजन करता हूँ। इसके अतिरिक्त सामवेद संहिता अध्याय तीन कण्ड़िका प्रथम में श्रीहनुमान जी द्वारा प्रस्तुत की गयी स्तुति इस प्रकार है -

एष श्रीरामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः आनन्दभुक्त्रयावस्था परमतत्वम्।

अर्थात् - ये श्रीराम सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, आनन्दभोक्ता हैं, तीनों अवस्थाओं से परे हैं। परमतत्व हैं।

इस प्रकार भगवान सर्वज्ञ हैं, सर्वेश्वर हैं, अपनी असीम उदारता में उन्होंने कपट मृगधारी मारीच को भी वह गति प्रदान की थी जो मुनियों के लिए भी अति दुर्लभ है। जिसने

लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा॥

परन्तु उस मारीच के हृदय में राम के प्रति प्रेम था। यथा -

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥

वे अन्तर्यामी प्रभु श्रीराम तब –

अन्तर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥

अपनी अतिशय उदारता की प्रवृत्ति से प्रभु श्रीराम ने जो उदारदेयता की वृत्तिया बालि, उसकी पत्नी तारा और पुत्र अंगद पर तथा विभीषण, गीधराज जटायु और यहाँ तक कि मृगरूपधारी कपटी मारीच पर दर्शायी, उस प्रकार की उदारता का स्वरूप दर्शन श्रीराम के स्वभाविक दर्शन में उनके प्रति सहज प्रेमी राजा दशरथ के प्रति नहीं हो रहा है।

ऐसेउ कोउ उदार जग माही।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोइ नाही।

जिनका दर्शन श्री हनुमान जी महाराज परमतत्व सर्वज्ञ सर्वेश्वर के रूप में करते हैं और परमार्थ वादियों के लिए जो एक मात्र गति है।

तो अवश्य ही तथ्य का कोई न कोई तात्विक दर्शन अवश्य होगा, जो भगवान श्रीराम के सर्व अज्ञता को प्रकाशित करने व ज्ञान परक प्रेम के साम्राज्य में सर्वोच्च आसन पर आसीन कराने के लिए दृश्यमान होगा।

भगवान श्रीराम और योगमाया सीता का सम्बन्ध इतना घनीभूत और नित्य है, कि सीताजी लीला रूप से पृथ्वी पर अपनी लीला सम्वहन करके अन्त में पृथ्वी की गोद में विराजित होकर इस लोक से तो अन्यलोक चली गई। परन्तु अमूर्त रूप से तो योगमाया का स्वरूप श्रीराम के नित्य सङ्गिनी के रूप में उसी प्रकार का है जैसे अपने सीता रूप में श्रीराम के संग बिहार करने का। और उन्हीं के संग में कभी विलगाव रूप लीला का विस्तार करने के लिए था।

पिता और पुत्र का सम्बन्ध भी गूढ़ और आदर्श इसलिए होता है, क्योंकि **"आत्मा संजायते पुत्रः"** या पिता की आत्मा ही पुत्र रूप में पैदा होती है।

सृष्टि में हिरण्यकश्यप की तरह क्रूर और आततायी पिता अपने आप में ही एक ही था। जिसने अपने पुत्र प्रह्लाद को मार डालने के सभी प्रकार के क्रूर उपायों का सहारा लिया। परन्तु क्रूर से भी क्रूर यातनाओं को सहते हुए प्रह्लाद ने कभी हिरण्यकश्यप के प्रति न तो दुर्भावना का ही बीजारोपण किया और न उनके हृदय में कभी भी अपने पिता के प्रति सम्मानित भावों में ही कमी आई।

जब नरसिंह भगवान स्तम्भ से प्रकट होकर हिरण्यकश्यप का वध कर दिया और प्रह्लाद

को गोद में लेकर चाटने लगे तब उसी भक्त वत्सलता में प्रह्लाद से कहा ''बेटा प्रह्लाद मुझसे आने में देरी हो गई, मेरे कारण तुमको बहुत कष्ट उठाना पड़ा। मुझसे कोई वर माँग लो।'' भगवान नरसिंह के द्वारा वर माँगने के लिए कहने पर प्रह्लाद सोचने लगे - ''अवश्य ही मेरे मन में किसी न किसी कामना का बीज है, तभी तो ये अन्तर्यामी प्रभु मुझसे वर माँगने के लिए कह रहे हैं।'' और सचमुच जब उन्होंने अन्तःकरण में झाँका तो पाया कि है तो परमार्थिक कामना, पर कामना तो अवश्य है। इसलिए प्रह्लाद ने हाथ जोड़कर भगवान से कहा ''प्रभो! मेरे पिता ने मुझे मार डालने की नियत से मेरे साथ क्रूर से क्रूर व्यवहार किये हैं और उन्होंने अनेकों अत्याचारों से पृथ्वी में अनाचार, अनीति और आततायीपन की ही सृष्टि की है। मैं चाहता हूँ कि मेरे पिता की सद्गति हो जाये।''

तो अपने सत्पुत्र भाव में प्रह्लाद ने जो भी अपने पिता के प्रति सद्भावित होकर कार्य का सम्पादन किया, वह सद्धर्म स्वरूप तो है ही। वरन् पिता पुत्र सम्बन्धों में पुत्र धर्म का उसके पुत्र भाव में इतना घना सम्बन्ध माना गया है कि पुत्र अपने पिता को नरकों से उबारकर स्वर्ग भेजवाने मात्र में अपने कर्त्तव्यों की इति श्री नहीं मानते हैं, बल्कि पुत्र खुद को दुःख की आवृत्तियों में घिरे रहने या घेरे जाने पर भी पिता को सुखी बनाने के प्रयत्न करते हैं। यही नहीं, ऐसा कार्य करके भी वे यह आभास नहीं करते कि उन्होंने पिता के हित के लिए कुछ किया है। इस संक्रियता में उनकी सहज और स्वभाविक वृत्ति इतनी एकीकृत रूप में संगठित रहती है, कि जैसे उन्होंने पिता के हित के लिए कुछ भी नहीं किया है और जो भी किया है अपने स्व की सन्तुष्टि के लिए। इसलिए उनकी दृष्टि में पिता का पद आदरणीय होते हुए स्वार्थ परमार्थ के स्वरूपों में में ही अन्तर्निहित होकर तदात्मता का रूप धारण कर एक हो जाता है और सहज अवधारणा ही यह हो जाती है कि यदि पिता सब प्रकार से सुखी और लौकिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थ से सम्पन्न है, तो इस स्थिति में पुत्र की यह सहज ही आनन्ददायी स्थिति ही पुत्र का परमार्थ है, जो पिता के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तक में अपने को ही वह देखता है।

इतिहास पुराणों में हम इस प्रकार के भावित भावों वाले पुत्रों का दर्शन भी पाते हैं। भीष्म पितामह ने अपने पिता शान्तनु को सुखी बनाने के लिए जिस पूजा पद्धति की स्वीकारोक्ति अपने जीवन में की, वह अनुकरणीय तो है ही, साथ ही साथ वह पितृ प्रेम के उस गूढ़तम भाव ज्ञान का दर्शन भी कराती है, कि इस संसार में एक पुत्र के रूप में पिता की सब प्रकार से निष्काम सेवा और निष्काम भावना ही उसके जीवन की परम साधना है और उसके जीवन की परम सिद्धि है और ऐसे सद्विचारों से, भावित पुत्र कृतकृत्य है और ऐसा पुत्र परमार्थी है।

पुण्डरीक अपने माता-पिता की सेवा में तल्लीन थे, तभी द्वार रक्षक ने पुण्डरीक को उनके पास जाकर निवेदन किया कि द्वार पर भगवान श्रीकृष्णा और उनकी पटरानी रुक्मणी आप से

मिलने के लिए द्वार पर खड़े हुए है। योगीजन जिनके ध्यानरत होकर दर्शनों की एक झलक के लिए तरसते रहते हैं, वे ही भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण अपनी महामाया के साथ परम पितृभक्त पुण्डरीक के दर्शनों के लिए द्वार पर उनके आदेश की प्रतीक्षा में खड़े हैं।

पुण्डरीक ने द्वारपाल से कह दिया ''दोनों को यहीं भेज दो'' भगवान श्रीकृष्णा आनन्दमग्न स्थिति में रुक्मणी के साथ पुण्डरीक के सामने आकर खड़े हो गये। पुण्डरीक ने उनके स्वागत में उनके खड़े होने के लिए दो ईंटें सरका दीं और उनसे मिलने के लिए अपनी अनातुर स्थिति में कह दिया कि ''माता-पिता की सेवा के बाद मैं आंप लोगों से मिलूँगा।''

पुण्डरीक के इस उत्तर की प्रतीक्षा में ही भगवान श्रीकृष्ण जैसे थे ही, उन्होंने पुण्डरीक से वरदान माँगने को कहा। ''आप दोनों इसी प्रकार खड़े रहें।'' पुण्डरीक का यही अभीष्ट वर भगवान को देना पड़ा।

पुण्डरीक के वरदान स्वरूप ही उस स्थल पर आज भी भगवान श्रीकृष्ण और रुक्मणी खड़े खड़े ही भक्तों को दर्शन देते हैं, जो पुण्डरीक के मातृ-पितृ भक्ति की यथोगाथा का गान करती हुई दर्शकों के मन में पुण्डरीक के परमार्थस्वरूपता का भाव जागृत करती है।

इस प्रकार पुत्र के लिए माता पिता साक्षात् धर्म और परमार्थ विग्रह हैं।

श्रीराम की अपने पिता दशरथ पर सम्पूर्ण समर्पित चेष्टायें परमार्थ भाव पर ही केन्द्रित थी, परमार्थ पूर्ण कार्य जगत के व्यवहारिक क्रिया कलाप की तरह सहज और दृष्टव्य नहीं होते हैं।

जिनको समझने के लिए श्रुतियां निषेधात्मक पद्धति से उनके गुणों को प्रकाशित करने में कुछ कुछ उसके निष्कर्ष का बोध करा सकती है - श्रुतियां कहती है -

जय जय जह्य जामजित दोषगृभीत गुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्ध समस्त भगः
अग जग दोकसामखिल शक्त्यव बोधकते
क्वचिद् जयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः

''अजित आप ही सर्व है, आप पर कोई विजय प्राप्त नहीं कर सकता। आपकी जय हो, जय हो। प्रभो! आप स्वभाव से ही समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है, इसलिए चराचर प्राणियों को फँसाने वाली माया का नाश कीजिए।''

''यद्यपि हम आप का स्वरूप वर्णन करने में असमर्थ है, परन्तु जब कभी आप माया के द्वारा जगत की सृष्टि करके सगुण हो जाते है, या उसको निषेध स्वरूप स्थिति की लीला करते

हैं अथवा अपना सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीविग्रह प्रगट करके क्रीड़ा करते हैं, तभी हम यत्किञ्चित आप का वर्णन करने में समर्थ होती है।''

भगवान श्रीराम और राजा दशरथ के जीवन में कुछ दशाओं का ऐसा साम्य है। जिनके माध्यम से यत्किञ्चित उनके चिर सम्बन्धों के रहस्यात्मक दृष्टिकोणों में दिशा निर्देश से अनुमान लगाया जा सकता है। यथा –

भगवान श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप में राजा दशरथ के पुत्र हैं, जिनकी भार्या योगमाया सीताजी जो एक और केवल एक हो सकती है, पति रुख के अनुसार अपने योगमाया स्वरूप में अनन्त और असीम मञ्चों का निर्माण करना, जिसमें श्रीराम के स्वरूप का दर्शन ''केवल एक वे ही हैं।'' के रूप में हो सके और इतना ही नहीं यदि श्रीराम की सर्वोत्त्कृष्टता के स्वरूपभूत सीता की सहभागिता इस रूप में होना यथेष्ट है, कि वे अपने समूचे भौतिक जीवन को ही श्रीराम के लिए अपने दृष्टव्य स्वरूप को ही उनसे असंलग्न कर सके अथवा उनके स्वरूप के उत्कर्ष में सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादन हेतु लोक का त्याग भी कर सके। तो ऐसा करने के पश्चात् उनके मौलिक विचारों में श्रीराम के प्रति उत्कृष्टता का ही उत्कर्ष समाहित रहता है कि यह तो उनका परम परमार्थ था, जिसमें उन पुरुषोत्तम श्रीराम की इच्छा शक्ति का संकेत था।

राजा दशरथ भी पुत्र प्रेम में वत्सलता की सीमा थे। पर वे पृथ्वी लोक के ईश्वरांश जीव है, ससीमता के अन्तर्गत की ही उनकी गति है, इसलिए पुत्र प्रेम में जहाँ तक जीव की गति सम्भव हो सकती है। वही तक वे श्रीराम के पिता दशरथ है, कि वे अपने पुत्र राम के हित के लिए जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्णता तक को छोड़ सकते हैं अर्थात् पितृ भाव में श्रीराम के प्रति परमोत्कर्ष स्थिति ही राजा दशरथ की सहज और स्वभाविक वृत्ति है।

इस रूप में यदि सीताजी के भाव दर्शन और दशरथ जी के भावों की स्वभाविकता का दर्शन किया जाय तो दोनों के लक्षणों में समरूपता की प्रतीतिं होती है।

परन्तु दूसरी ओर पिता दशरथ और श्रीराम की भावना प्रधान क्रियाओं में भी समरूपता के दर्शन होते हैं।

राजा दशरथ के जीवन काल में श्रीराम अयोध्या से दो बार बाहर जाते हैं। प्रथम बार तो वे ऋषि विश्वामित्र के साथ कुछ माहों के लिए ही दशरथ जी की दृष्टि से ओझल हुए। राजा दशरथ को श्रीराम का अदर्शन असह्य था। वे अपने प्रिय पुत्र राम के अदर्शन से इतने अन्तर्व्यथित हो जाया करते थे, कि इसका कुछ अन्दाज इस रूप में लगाया जा सकता है, कि जब जनकपुर से आये हुए राजदूतों ने श्रीराम और लक्ष्मण के शौर्य गुणों से सन्निहित समाचार राजा दशरथ को निवेदित किया था, तो राजदूतों ने राजा जनक के द्वारा भेजी गई पत्रिका को राजा दशरथ के हाथों

में देने के लिए ज्यों ही अपने हाथ में लिया, वैसे ही तुरन्त राजा दशरथ ने अपने प्रेम के उद्वेग में स्वयं उठ कर उस पत्रिका को राजदूतों के हाथ से ले लिया।

मुदित महीप आप उठि लीन्ही।

और उस पत्रिका के हाथों में आ जाने पर राजा दशरथ की मनोगत दशा

बारि बिलोचन वाचत पाती। पुलक गात आई भर छाती॥
राम लखन उर कर वर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥

अर्थात् – हृदय में राम लक्ष्मण है और हाथ में पत्रिका है, राजा दशरथ प्रेम में विभोर होकर उसे हाथ में ही लिए रह गये, कुछ भी न कह सके।

पुनि धरि धीर पत्रिका वाची।

राजा दशरथ श्रीराम के सुसमाचार के कारण प्रेम में इतने अधीर हो गये कि अपनी विभोरता से जब बाहरी जगत में आये तब उन्हें बैठाते हुए पुनः पूछते हैं –

तुम नीके निज नयन निहारे।

दशरथ जी के सम्पूर्ण क्रियाकलाप, उनकी प्रेम विह्वलता अधीरता उनके हृदय मन्दिर में विराजित श्रीराम प्रेम को ही प्रकट करती हैं। वे पुनः कहते हैं –

पहिचानहु तुम कहहुँ सुभाऊ। प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ॥

अपने पूर्व जन्म में महाराज मनु ने सुत विषयक प्रेम के अन्तर्गत ''मणि बिनु फणि'' की मौलिकता का वर माँगा था, जिसका तात्पर्य है मणि के बिना फणि की व्यथा उसे असहनीय वेदना के रूप में प्राप्त होती है, वह अन्दर ही अन्दर तड़भड़ाता रहता है, घुटता रहता है, पर मरता नहीं है। **''मणि बिनु फणि''** वर प्राप्ति पर इसी प्रकार राजा दशरथ की अन्तर्वेदना श्रीराम के अदर्शन में उनकी विश्वामित्र के साथ की गई यात्रा में सम्पादित हुई। इसका तात्पर्य यह भी कि फणि को उसके मणि के मिल जाने में जो अव्यक्त आनन्द की अनुभूति हो सकती है। वह महाराज दशरथ को भी हुई।

राजा दशरथ का राम पर अत्यन्त प्रेम तो हैं, परन्तु वह है सामाजिक सम्बन्ध के अन्तर्गत सीमित और गतिशील। मुनि विश्वामित्र ने जब राक्षसों के वध हेतु परमार्थिक कार्यों के लिए राम और लक्ष्मण को माँगा, तब दशरथ जी ने उन्हें देने से साफ इंकार कर दिया और कह दिया-

सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाई। रामदेत नहि बनहि गोसाई॥

परन्तु कुलगुरू वशिष्ठ जी अपनी दिव्य दृष्टि से जान गये थे कि विश्वामित्र के साथ जाने में राम और लक्ष्मण का परमार्थिक कार्य का निष्पादन जो उनके अवतार का ही हेतु है, उसे होना है। गुरू वशिष्ठ के समझाने पर ही राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ जाने के लिए राजा दशरथ राजी हो पाये।

परन्तु मुनि के यज्ञ रक्षणार्थ भेजने के कारण महाराज दशरथ को तीन परम लाभों की प्राप्ति हुई।

(1) लक्ष्मी स्वरूपाचार पुत्रवधुओं की प्राप्ति, जिनमें पराशक्ति सीता भी हैं।

(2) राजार्षि जनक के साथ सामाजिक सम्बन्ध

(3) राम और लक्ष्मण के शौर्य गुणों का प्रकाशन -

विश्वविजय जसु जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई॥

विश्वामित्र के साथ श्रीराम लक्ष्मण के चले जाने से महाराज दशरथ के राम अदर्शन में उनकी वियोग व्यथा के स्वरूप का जो दर्शन हुआ उसके समतुल्य सीता जी के वियोग में राम की अति वियोगी दशा रही। श्रीराम की यह अतिशय वियोगपूर्ण दशा इतनी तीक्ष्ण थी कि लोक-मर्यादा का भी अतिक्रमण कर मानो श्रीराम के अखण्ड ज्ञान पर ही अपना आधिपत्य कायम कर लिया हो। यथा -

हा गुन खान जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती। पूँछत चले लता अरु पाती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृग नयनी॥

परन्तु वे अच्युत भी है, श्रीराम न तो परमार्थ तत्व को छोड़ सकते और न ही अपने अखण्ड ज्ञान को। तभी तो सुजान भगवान शिव श्रीराम की इस वियोगी दशा का दर्शन करके उनकी सूक्ष्म स्तुति में कहते हैं -

जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चलेउ मनोज नसावन॥

इस प्रकार प्रभु राम की वियोगावस्था में विकल से विकलतर हो जाना उनके परमार्थ का ही निस्तारक है यदि श्रीराम अखण्ड ज्ञान की असीमता में वियोग की विषम स्थिति में निर्विकार रहते हुए अपने में वियोगावस्था को प्रतिष्ठित न करते तो अपने प्रेमास्पद स्वरूप को परम प्रेममयी भार्या सीता के लिए उनके जीवन धारण करने का सम्बल वे कैसे बन पाते?

वनवास प्रस्थान में जब श्रीराम सीता जी को अपने संग वन नहीं ले जाना चाहते थे, तो सीताजी के भावी विरहाभाष से ही श्रीराम –

देखि दशा रघुपति जिय जाना। हठि राखे नहि राखहि प्राना॥

तव उन्हें बन ले गये। अतः श्रीराम के प्रति समर्पित श्री सीताजी का प्रेम भाव के समानान्तर ही सीता जी के हरण पर श्रीराम की वियोगी दशा हो, यही श्रीराम का परमार्थ होना चाहिए था, क्योंकि रावण जैसा दुराचारी आततायी राक्षस के बन्धन में रहने पर उन पतिव्रता नारी की रक्षा कर सकने में श्रीराम का शौर्य गुण और उनकी अतिशय वियोगी दशा ही सक्षम हो सकती थी।

जब लंका की अशोक वाटिका में हनुमान जी महाराज ने –

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥

सीताजी की अति विरह व्यथा को देखकर उसके उचित समन हेतु हनुमान जी महाराज ने अति विनीत भाव से कहा –

"माता! प्रभु श्रीराम तो आपकी वियोग की दशा में इतने व्यथित और अचेत हो गये हैं कि उनको अपने बाणों की अमोघता और उन बाणों के सन्धान करने की क्रिया भी विस्मृत हो गई है।" इसलिए हनुमान जी महाराज यह विश्वास दिलाने में सफल हुए कि –

तुम ते प्रेम राम के दूना। अर्थात् – श्रीराम के उरस्थली में आपके प्रेम से दूना प्रेम है।

दूसरी ओर प्रभु राम का पितृ प्रेम भी अव्यक्त रूप से झलकता है कि जिस विराट आत्मा में पिताजी है, उन विराट रूपधारी पिता से श्रीराम अव्यक्त रूप से कहते हैं – "पिताजी आप मुझे अयोध्या का राज्य समर्पित करना चाहते थे, क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते मैं ही उस राज्य सिंहासन का उत्तराधिकारी था। परन्तु उस समय तक आपने मेरी कोई भी जाँच पड़ताल नहीं की थी, कि मैं उस पद के योग्य भी हूँ या नहीं। आपका पुत्र होने के नाते आपके संस्कार भी मुझमें होना चाहिए। ऋषि विश्वामित्र के साथ मेरे चले जाने पर जब मैं आपकी सम्मुखता से ओझल हुआ। उस समय की मेरे प्रति आपकी विरह विकल स्थिति का भान और परिज्ञान मुझको है और उत्तम पुत्र तो वह है, जो गुणों में अपने पिता से भी बढ़ चढ़ कर हो और गुणों की श्रेष्ठता में वह अपने पिता को गौरवान्वित करे। मैं भी सीता जी से बिछुड़ जाने पर अपनी वियोगी और विह्वलता पूर्णस्थिति को देखकर यह समझ सकता हूँ कि अपने प्रेमी के प्रति विरह व्यथा का स्वरूप मुझमें भी आपके तन्द्रूप ही विद्यमान है। परन्तु आपके सत्य प्रेम की मेरे प्रति ऊँचाई इतनी बृहद्तर थी जिसको कोई छू सकने में भी सक्षम नहीं हो सकता है, मैं उस प्रेमोदार्यता के स्वरूप का मूक दर्शक मात्र नहीं रह सकता, और आप जो पूर्व में राजा पद में मेरा अभिषेक करना चाहते

थे तो उस उत्तराधिकार के साथ में आपके मरण स्वरूप के कारण का भी मुझे उत्तर, कर्त्तव्य के रूप देना चाहिए। तभी तो आपके द्वारा प्रदत्त राज्याधिकार की शोभा है।

लाजवन्ती नाम के एक राजकुमारी की सगाई (वचनप्रतिबद्धता) दूसरे राज्य के एक राजकुमार से हो गई थी। परन्तु उसके विवाह के पूर्व ही राजकुमार की मृत्यु अकबर की सेना के साथ हुए एक युद्ध में हो गई। अपनी यौवनावस्था से पूर्ण राजकुमारी लाजवन्ती अपने भावी पति के शव को तलाशने के लिए युद्ध भूमि में भ्रमण कर रही थी तभी उस पर अकबर की दृष्टि पड़ी और उसने लाजवन्ती से कहा – "तुम कोई दूसरा विवाह कर लो।" लाजवन्ती यह सुनते ही आग बबूला हो गई और उसने अकबर से कहा "जहांपनाह। यदि आप बादशाह है तो मुझे गालियाँ न दीजिए।" अकबर ने मन ही मन उस राजकुमारी को नमन किया, पर जब उसे यह मालूम हुआ कि अभी तो मृत राजकुमार से इसका विवाह ही नहीं हुआ केवल वचनबद्धता हुई है, तो उसने समझाते हुए कहा कि "उस राजकुमार को तो यह तक पता नहीं है कि तुम उसकी पत्नी हो, फिर उसी के लिए सती होना यह कैसा सद्धर्म है ?" इस पर सती लाजवन्ती ने उत्तर दिया "जहांपनाह! उसे मालूम हो या न हो, पर मुझको तो यह मालूम है कि वह मेरे मन मन्दिर में पति रूप में विराजित था, और है, वह अखण्ड अनन्त परमेश्वर के रूप में मेरे पति तो हैं ही, जो यह देखते हैं कि मैं उनके प्रतिपूर्ण समर्पिता होकर उन्हीं के साथ सती हो रही हूँ।"

तो एक ओर जहाँ परमार्थ तत्व एक मूर्ख अनपढ़ नारी के चित्त में अमूर्त रूप से विराजित होकर उसके द्वारा परमार्थ तत्व से सन्निहित कार्यों को कराने के लिए प्रोत्साहित करता है वही वह मरणोत्तर में भी उसका साथ न छोड़कर उसके निर्वहन की सानुकूल व्यवस्था में सहयोगी बनता है। परमार्थ ज्ञान का स्वरूप और उसके रहते उसकी कार्य विधि भी उसकी सीमित योग्यता के अनुसार ही रहती है।

राजा दशरथ के रूप में फलित होने वाला वरदान **"जिमि जल बिनु मीना"** की अर्न्तव्यथा सत्य की उनकी ही दुहाई देने पर हुई, परन्तु वह सत्य पर मोह की विजय थी, जागतिक सम्बन्धों में सर्वाधिक चहेती महारानी कैकई ने अपने प्रति विशेष चाह की समूची कीमत राजा दशरथ से उनके प्राण लेकर वसूल करना चाहती हैं और वह भी सत्य के तीन स्थितियों में राजा दशरथ को बांधकर –

(1) रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण चाहि पर वचन न जाई॥

(2) सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।

(3) उस पर भी राम शपथ की मुद्रा।

और अन्ततः कैकई के जो दो वरदान राजा दशरथ से माँगने के लिए धरोहर रूप में थे उनमें दूसरा वरदान ही दशरथ के लिए साक्षात् कालदण्ड ही था और वह वरदान था-

चौदह बरस राम वनवासी।

महाराज दशरथ ने स्पष्ट झाँककर देखा कि -

जिऐ मीन बरु वारि विहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुःख दीना॥
कहहु सुभाय न छलु मन माही। जीवनु मोर राम बिनु नाही॥

वरदान जल बिनु मीना का फलित हुआ। राम लक्ष्मण और सीताजी चौदह वर्ष के लिए वनवासी हुए और मन्त्री सुमन्त के खाली रथ की वापसी में राजा दशरथ को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि अब राम के दर्शन उन्हें नहीं होंगे। तब अन्त में -

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुवर विरह राउ गयउ सुर धाम॥

परन्तु दूसरी ओर वनवास की स्थिति में रहने पर मानो एक साथ ही सभी प्रकार के परमार्थ कर्मों के लिए महान सुवसर ही श्रीराम के समीप आ गये हों। कौशल्या जी श्रीराम को कहती है -

जौ पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

इसलिए श्रीराम के लिए वनवास महान करणीय कर्त्तव्य के रूप में तो उभर कर आया जिसे श्रीराम इस रूप में स्वीकार करते हैं -

विधि सब विधि मोहि सम्मुख आजू।
जौ न जाउँ वन ऐसेउ काजा। प्रथम गनिअमोहि मूढ़ समाजा॥
सेवहि अरँडु कल्पतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं विषु मागी॥
तेउ न पाइ अस समय चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥

संसार की दृष्टि से भले ही वनवास बहुत ही कष्टदायी स्थिति में हो परन्तु परमारथी महानुभावों के लिए सर्व सुखद स्थिति, तो बृहद रूप में स्व का परमार्थिक कार्यों में लगाव है। जो श्रीराम को एक साथ तीन रूपों में सुलभ हो रहा है। (1) साधुओं सन्त जनों का परित्राण (2) आसुरी वृत्ति धारक राक्षसों का विनाश (3) अपने शौर्य बल से और मैत्री भाव से उन क्षेत्र में धर्मराज्य की स्थापना करने का अच्छा अवसर।

रामावतार के पूर्व रावण के आतंक से पृथ्वी की दुर्दशा थी -

सकल धर्म देखइ विपरीता। कहिन सकइ रावण भयभीता।

तव अन्त में पृथ्वी ने गौरूप धारण किया और ब्रह्मादिक देवताओं ने एक साथ सब मिलकर उस अनन्त अनादि परमेश्वर की सविशेष और निर्विशेष रूपों में स्तुति की। तब ब्रह्मवाणी हुई-

हरिहउ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होउ देव समुदाई॥

तात्पर्य यह कि सगुन रूप में उन्हीं ब्रह्म का अवतरण तो पृथ्वी लोक में हुआ राजा दशरथ के पुत्र बनकर, परन्तु वे तो अब चक्रवर्ती राजा दशरथ के राजकुमार कौसिल्या नन्दवर्धन और जानकी जीवन बनकर ही राजमहलों में सब प्रकार के पृथ्वी लोक में सुलभ सुखों की आवृत्तियों के मध्य रह रहे हैं।

उन्हीं दशरथ के जीवन के आश्रय राम ही है, जो दशरथरूपी मछली के जल रूप है। उधर कालचक्र गणना के अनुसार पृथ्वीलोक के समय में रावण के विनाश के लिए कुछ ही वर्षों का कालशेष है। रावण और उसके समस्त कुल का विनाश उन्हीं श्रीराम के द्वारा ही होना सुनिश्चित है।

तव देवलोक में समा हुई। जिसमें यह देखा गया कि राक्षस कुल के विनाश महायज्ञ में अयोध्या पति राजा दशरथ का बलिदान सुनिश्चित है उनके बलिदान की महत्ता पर ही राक्षस कुल का विनाश और धर्म की स्थापना सम्भव हो सकती है। यह कोई नयी बात भी नहीं थी। स्वारथरत देवताओं ने वृत्यासुर से त्राण पाने के लिए परम तपस्वी दधीचि से भी उनका शरीर माँगकर उनकी हड्डियों से इन्द्र के लिए वज्र बनवाया था। इस प्रकार देवी शारदा को इस कार्य के लिए नियुक्त कर दिया गया, जो देवताओं के द्वारा निर्मित दशरथ मरण की प्रथम भूमिका में शुमार मानी गई।

नाम मंथरा मन्द मति चेरी कैकई केरि।
अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि॥

पर इस परमार्थ सिद्धि के लिए उन अव्यक्त ब्रह्म को जो सगुन रूप में श्रीराम है, को अपनी सहभागिता देकर, जिसमें राक्षसों का वध श्रीराम के नायकत्व में होकर पृथ्वी सनाथ हो। यह भूमिका दशरथ महाराज के मरण से सम्बद्ध है। पूर्व जन्म का वरदान तो यह था – **'सुत विषयक तव पद रति होउ'** परन्तु संसारिकता का विषय होने से सुत विषयक के ऊपर का भाव दर्शन **'मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।'** के सम्पुट में बन्द किया – अति गूढ़ तत्व ''मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥'' का वरदान। तो भले ही सुत विषयक प्रेम की सापेक्षता उनको हीन लग रही थी, परन्तु दूसरों के द्वारा अपने को मूढ़ समझे जाने में भी उनके भावों की उत्कृष्टता में न तो कोई हिचकिचाहट हुई और ना ही कमी, बल्कि इसमें

उन्होंने असीम गौरव का अनुभव किया, कि तत्वदर्शी भी मेरे इस भाव की ऊँचाई के स्तर में नहीं है, जो मुझे मूढ़ संज्ञक स्थिति में देखेंगे और सचमुच पुत्र भाव में ही सही, पर उस अनादि अखण्ड ब्रह्म के चरणों में प्रीति की इतनी विलक्षण सन्निहितता है, जिसके लिए वह सविशेष ब्रह्म में राम हुआ और सचमुच राजा दशरथ के जीवन काल में और उसके पश्चात् भी उनकी गौरवशीलता अक्षुण्य बनी रही। इसलिए राजा दशरथ का योगदान जो श्रीराम के वनवास निमित्त हुआ वह परमार्थ सत्य का सम्वर्धन करता है।

समाज में सत्य धर्म की स्थापना हो, ऐसी चाह धार्मिक गुणों से सम्पन्न प्रतापी राजा की तो होती है और ऐसे अनेक राजा प्रजाजनों में सम्मानित हुए है, परन्तु परमार्थवादी या ब्रह्मवेत्ता जिन अगुन अखण्ड अनन्त ब्रह्म का चिन्तन करते है, उन निर्गुन ब्रह्म को ही पृथ्वी में परमार्थिक दृष्टि से आरोपित कर ऐसे समाज की संरचना करना जिसके दर्शन के लिए ब्रह्मलोक के सनकादिक, नारद और अन्य ब्रह्मवेत्ता ऋषिगण लालायित रहे। तो ऐसे स्वरूप के अनुभव गम्य तो मात्र सविशेष ब्रह्म वे दशरथनन्दन श्रीराम ही हैं।

परन्तु इस सिद्धि प्राप्ति के लिए पहिला चरण तो आततायियों का वध मात्र ही नहीं है, बल्कि जिनकी सहज ही प्रीति परहिंसा है, उनका वध करके उनमें रामत्व के संस्कारों का प्रतिपादन करना है। श्रीराम के अवतार के पूर्व ही विष्णु के अंशावतार भगवान परशुराम इस पृथ्वी पर ही विद्यमान थे। शौर्य गुणों में वे इतने बढ़े चढ़े थे कि जिस रावण के भय से पृथ्वी काँपती थी, उस रावण को सहस्त्राबाहु ने साधारण जीव समझकर पकड़ लिया था और यथार्थतः सहस्त्राबाहु के सामने प्रताप, और शूरवीरता में रावण तो श्रेष्ठ था ही नहीं। तो उस सहस्त्राबाहु मात्र को ही नहीं बल्कि उसके अनुयायियों को भी परशुराम ने यमलोक भेज दिया। इसलिए रावण वध भी परशुराम जैसे विश्वविख्यात महायोद्धा के लिए कोई कठिन काम नहीं था। परन्तु परशुराम के लिए यह तो असम्भव था कि वे वधोपरान्त समाज में रामत्व का, परमार्थिक तत्व का विस्तार करके पृथ्वी और ब्रह्मलोक में भी तदात्मता स्थापित कर सकते। यह तो केवल राम का ही काम हो सकता है, जिसके कारण ही देवर्षि नारद ने वर मांगा था कि –

''राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥''

राजा मनु के रूप में भी महाराज मनु लोकोपकारी भावना से ओतप्रोत थे। मनुष्य के उच्छङ्खल भावनाओं को नियन्त्रित करके उनमें धर्म प्रधान भावनाओं का बीजारोपण करना, ताकि वे स्थाई रूप से सुख भोक्ता के पात्र बन सके, यह महाराज मनु के राज्य शासन की प्रमुख अवधारणा थी। इसलिए तपस्या के फलीभूत स्थिति में भगवान विश्ववास राम और योगमाया की सद्प्रेरणा से ही उन्होंने सृष्टि को उन ब्रह्म के समीपतर ले आने के अभिप्राय से ही महाराज मनु

के श्रीमुख से ऐसे लोकोपकारी वरदान की याचना करवाई जो अनन्त काल तक श्रीराम के दर्शन में उनके परमार्थ स्वरूपता को चिन्तन का विषय बनाया जा सके।

श्रीरामः शरणं समस्त जगतां रामं बिना का गति।
रामेण प्रतिहन्यते कलिमल रामायतुभ्यं नमः॥

अर्थात् - सम्पूर्ण जगत के श्रीराम ही एक मात्र आश्रय है, श्रीराम के बिना कौन गति है ? श्रीराम के द्वारा ही कलिकाल के मलों का विनाश होता है, हे राम! आपके लिए हम नमस्कार करते हैं।

न तत्पुराणो नहि यत्र रामो, यस्यां न रामो न च संहिता सा।
सेनेति हासो नहि यत्र रामः - काव्यं नत्तस्यन्नहि यत्र रामः॥

अर्थात् - वह पुराण पुराण नहीं है, जिसमें राम न हो, और वह संहिता संहिता भी नहीं, जो श्रीराम से शून्य है। इसी प्रकार वह इतिहास और काव्य भी नहीं है, जिसमें श्रीराम न हो।

वनवास काल और राक्षसों के वध की कार्य सिद्धि के अनन्तर अब श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो राजा राम को पाकर सभी अह्लादित और प्रसन्न है, मानो श्रीराम को राजा के रूप में पाकर दिशायें विदिशायें उनके राज्य पद की आसीनता में अपनी पूर्ण स्वीकृति के साथ खुशियाँ मना रही हो, परन्तु श्रीराम ''शारद कोटि अमित चतुराई'' के स्वरूपभूत ज्ञान और चातुर्य के सारभूत तत्व है और उनकी सोचने की दिशा अपने पिताश्री के मौलिक विचारों से सन्निहित है और ऐसा सोचा जाना भी उनके स्वरूप भूत ही है, कि ''पिताजी आपने अपने शरीर का बलिदान करके राक्षसों के विनाश में वचनों की सत्यता से मुझे वनवास भेजकर उनका विनाश करवाया और इस प्रकार आततायीपन के विचारधारा के महानुभावों का तो विनाश हो गया और जो भी शेष है वे धर्मानुयायी बनकर मेरे ही शासनाधीन में है परन्तु आपके जीवित काल में आपका उत्तराधिकारी राम आपको सुखी और आनन्दमग्न नहीं कर पाया। मेरे प्रति आपके अक्षय और अनन्त प्रेम भण्डार में यह स्थिति तक आई कि मात्र श्रवणेन्द्रियों के समीप के श्वेत केशों को देखकर अपने को वृद्ध समझकर मुझे राजा पद में आसीन कराने का आपको मात्र एक बहाना मिल गया, और अपने प्रेम की विह्वलता में यथाशीघ्र आपने बिना भरत और शत्रुघ्न के ही मेरे राज्याभिषेक करने की तैयारी कर डाली।''

परमार्थ सत्य तो यह है कि अपने पिता के द्वारा प्रदत्त इस राज्यसिंहासन में उन महान से महान त्याग सम्पन्न महाराज दशरथ को भी गौरवान्वित करने वाला एक कीर्तिमान राजसिंहासन का सुशोभन स्वरूप कोसलाधीश श्रीराम को निर्मित करना है।

दूसरी ओर श्रीराम के सोचने की दिशा की यह महान इकाई है कि दशरथ जी का सत्यप्रेम भले ही लौकिक धरातल पर आसीम था और वह है मोह, जिस पर उसकी परिणिति सत्य प्रेम के स्वरूप भूत प्रतिष्ठित है, परन्तु इसके अतिरिक्त वह प्रेम एक परमार्थ सत्य का भी प्रतिपादन करता है, कि काम, क्रोध, लोभ, मोह के रहते हुए भी यदि लौकिक सम्बन्धों को ही माध्यम बनाते हुए उन परात्पर ब्रह्म श्रीराम से सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तो परमार्थ तत्व के साकार विग्रह वे परम प्रभु अपनी असीम अनुकम्पा से ही सम्बन्धी जन को वह बोधस्वरूप ज्ञान प्रदान करते हैं, कि वह फिर जागतिक विकारों में रमण कर ही नहीं सकता है। ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज में वे जागतिक दोष ही विलीन हो जाते हैं। ज्ञान के प्रकाश से सन्निहित उस जन का अब परमार्थिक सत्य पर आधारित प्रेम सम्बन्ध हो जाता है, जो पहिले संसारिक विकारों के आधार पर प्रेम सम्बन्ध था।

सीताजी श्रीराम के लिए ''अतिशय प्रिय करुनानिधान की।'' हैं और श्रीराम के प्रति उनका परमार्थिक प्रेम है। जबकि राजा दशरथ का प्रेम उनके मात्र जीवन की सीमितता तक के लिए प्रतिबन्धित है, क्योंकि वह द्वैत का ही परिमार्जन करता है। अहंकार की वृत्तियों से जागतिक व्यवहारों के अन्तर्गत परमार्थिक प्रेम प्रकाशित हो ही नहीं सकता है। यह तो आत्मा के दिव्य प्रकाश में आलोकित अलौकिक जीवन सार है।

इसके अतिरिक्त परात्पर ब्रह्म श्रीराम के प्रति यदि महाराज दशरथ का सत्य प्रेम है तो पराशक्ति स्वरूपा सीताजी पर भी दशरथ ज़ी का ''राम का अनुगमित प्रेम'' है। यथा –

जब श्रीराम लक्ष्मण और सीताजी वनवास के लिए राजमहलों से पैदल ही चले गये। तब राजा दशरथ ने मंत्री सुमन्त को रथ लेकर जाने के लिए उनको आदेशित किया और कहा कि ''यदि श्रीराम कदाचित मेरी प्राणरक्षा हितार्थ सत्य में बंधे होने के कारण वापस न आवे तो तुम मेरी ओर से हाथ जोड़ कर सीताजी के वापस भेजने हेतु ही श्रीराम से कहना, कि वे अपनी रुचि के अनुसार ही अयोध्या या जनकपुर में रहें। लेकिन वापस आ जाये।'' यथा –

तौ तुम्ह विनयु करेउ कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेश किशोरी॥
पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रूचि होइ तुम्हारी॥
यहि विधि करेउ उपाय कदम्बा। फिरइ त होइ प्रान अवलम्बा॥
नाहि न मोर मरनु परिणामा।

तात्पर्य यह कि सीताजी में भी श्रीराम के दर्शनों की छवि राजा दशरथ की उनके प्राणरक्षा करने का कारक बन सकती थी।

राजा दशरथ भी अपने कुल संस्कारों और धर्म के अनुकूलन में ही सत्य स्वरूप विग्रह में व्यापक ब्रह्म का ही पूजन आराधन किया है, और सगुन ब्रह्म राम का त्याग कर दिया परन्तु प्रेम

की ससीमता को पराकाष्ठा तक पहुँचाते हुए अपने शरीर का भी त्याग कर दिया। प्रेम की गति और सूक्ष्मता असीम में जाने में ही समर्थ नहीं थी क्योंकि वह जगत के सम्बन्धों में गतिशील थी, इसलिए परमार्थिक प्रेम की अवधारणा को धारण करने में ही वह सक्षम नहीं हो पाई। चित्रकूट में श्रीराम अपने पिता के प्रेमतत्व को समझाते हुए कहते हैं -

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी।
तन परिहरेउ प्रेम पणलागी॥

परन्तु परंब्रह्म परमात्मा श्रीराम का ज्ञान अगाध है अपनी मति गति के समता के वे ही है, इसलिए सगुन रूप में ही सही पर अपने प्रति पूर्ण समर्पित भावों से और निर्गुण स्वरूप में सत्य के प्रति समर्पण में उन्हें अपने पिताश्री के समर्पित भावों का ज्ञान है। इसलिए उन्हीं योगमाया की सद्प्रेरणा से ही महाराज दशरथ पृथ्वीलोक बुलाये गये, जो शरीर त्याग कर सुरधाम में थे। तब अतिशय उदार वे परम प्रभु राजा दशरथ के सुत विषयक प्रेम में सत्य प्रेम को अनुभवित किया। यथा -

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।

अतः उन सत्य प्रेम के सुपात्र को, जिनकी इच्छा मुक्त होने तक की भी नहीं थी, को सर्वाधिक प्रिय उपहार परमार्थ ज्ञान से ही विभूषित किए जाने पर उन श्रीराम को सन्तोष हो सकता था, जिस ज्ञान की प्राप्ति अनेक जन्मों की साधना करने से अन्त के जन्म में सुलभ हो पाती है, इसलिए श्रीराम -

''चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना।''

अर्थात् - वह परम ज्ञान जो परमार्थवादियों का मात्र एक है, वह दशरथ को सुलभ श्रीराम के द्वारा हुआ। परमार्थवादी स्वरूपधारी महाज्ञानी वे है जो, अगुन अखण्ड अनन्त अनादी। जेहि चिन्तहि परमारथवादी॥ अर्थात् - निर्गुन निराकार स्वरूप का ही जिनका चित्त में चिन्तन रहता है। भगवान शंकर ब्रह्म के निराकार स्वरूप में ही मगन रहते हैं। इसलिए -

शिव अज जे परमारथवादी॥

श्रीराम ने तारा को भी माया में अलीनता का ज्ञान आरोपित किया, परन्तु उस ज्ञान में मात्र जीव की नित्यता का ही ज्ञान समाहित है - यथा ''दीन ज्ञान हर लीन्ही माया''। उस ज्ञान के उदय होने पर तारा ने अलग से - ''लीन्हेसि परम भगति बर माँगी।'' की स्थिति में श्रीराम की भक्ता भी हुई। बालि को प्रभु श्रीराम ने अपनाधाम या सालोक्य मुक्ति प्रदान किया। विभीषण को कल्प भर का राज्य और अन्त में सालोक्य मुक्ति मिली। गीधराज को

तो प्रभु ने अपना स्वरूप ही दे दिया। शबरी को नवधा भक्ति का ज्ञान और मुक्ति प्रदान की गई। अर्थात् शबरी के लिए -

तजि जोग पावक देह हरि पदलीन भइ जहँ नहि फिरे।

तात्पर्य यह कि महाराज दशरथ को श्रीराम ने उस दुर्लभ ज्ञान से परिपूर्ण किया जो अन्य प्रेमीभक्तों के लिए अदेय था। यह परमार्थ ज्ञान की स्वरूप स्थिति ही परम गूढ़ है यथा -

निद्रान विद्या ग्रहणं न विद्या। गृहाति किञ्चिन्न यथार्थ बोधे।।

अर्थात् - निद्रा जहाँ विषयों को बोध नहीं होता, वह विद्या नहीं है, और न वही विद्या कहीं जा सकती है, जिसमें विषयों का बोध होता है। यथार्थ ज्ञान, में पुरुष स्वयं में आरोपित विषयों के ज्ञान से भिन्न किसी विषय को नहीं जानता। अतः निद्रा और संसारिक ज्ञान से रहित स्वयं प्रकाशवान अशून्य परन्तु भावस्वरूप जो चैतन्यतत्व है, वही यथार्थ परमार्थ विद्या है, और इस भाव से प्रभावित जो प्रेम है वही परमार्थ प्रेम है।

इस प्रकार महान से महान कार्यों के संचालन में भी परमार्थी ज्ञानवाला पुरुष कहीं भी न तो लिप्तायमान होता है और न कही भी संसारिकता के बन्धन को स्वीकार करने के कार्य में उसकी मति रहती है। काँटा जो पैर में चुभा है, उसे दूसरे काँटे से निकाल कर दोनों काँटों को फेंकने जैसी उसकी कार्य स्थिति रहती है।

दूसरी बात राजा दशरथ के ज्ञान भण्डार में इतनी सीमितता थी कि वे श्रीराम का दर्शन राजा पद में मात्र भौतिक सम्पन्नता की आवृत्तिओं की सापेक्षता में करना चाहते थे। परन्तु श्रीराम की असीमता में यह भाव निहित था कि जैसे महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्णा परमप्रेमी अर्जुन को उनकी पात्रता के अनुसार अपने विराट स्वरूप का दर्शन तो कराना चाहते हैं, परन्तु मानवीय ज्ञान के घेराव में सन्निहित दृश्येन्द्रियों की सक्षमता को भी दिव्यता प्रदान करके उस विराट स्वरूप के दर्शन की पात्रता भी देना चाहते हैं। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

न तु मां शक्यसे द्रुष्टुमनेनैव स्व चक्षुषा।
दिव्यम् ददामि ते चक्षुः पश्यमे योगमैश्वरम्।।

इसलिए श्रीराम के वनवास को निमित्त बनाकर राजतिलक के पूर्व योगमाया ने दशरथ महाराज के मरण की स्थिति को निर्मित कर कौशलदेश के राजकुल से मुक्त किया। परन्तु राजा दशरथ के वरदान में सुत विषयक और सामाजिक सम्बन्धों की प्रेमगहनता के संस्कारों का मोह अभी शेष था, इसलिए रावण पर विजयोपरान्त ही दृढ़ज्ञान की प्रदत्तता से श्रीराम ने अपने पिता के सांसारि सम्बन्धों का ही निर्मूलन कर दिया और उनके ज्ञान कोष को इतना प्रकाशवान बनाया

कि परमार्थ वादियों के स्वरूपभूत महाराजाधिराज कौशलेन्द्र श्रीरामचन्द्र महाराज के दर्शन वे अपने ही ज्ञान चक्षु के द्वारा करके अपने को अपार महिमामण्डित बना सके। परमार्थ ज्ञान से सम्पन्न महाराज दशरथ के लिए अब वे कौशलेन्द्र श्रीराम पुत्र राम की तरह ससीम नहीं है -

यस्मिन रमन्ते मुनयो विद्यया ज्ञान हेतवे।
तं गुरूः प्राह रामेति रमणाद राम इत्यपि॥

(ब्रह्म पुराण)

जिनमें ज्ञान प्राप्ति के लिए भली भाँति जान समझ कर मुनि जन रमन करते हैं, वही श्रीराम हैं, ऐसा श्रीगुरू का कथन है, सब में रमण करने से भी राम ऐसा उनका नाम है।

यस्यांशेनैव सञ्जाता महाविष्णु महेश्वराः
अपि जातो महाविष्णुयस्य दिवय गुणैश्वयः

जिनके अंशांश से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादिक हुए हैं तथा जिसके दिव्य गुणों से महाविष्णु भी अलंकृत हुए हैं, वे श्रीराम ही हैं।

श्री शिवसंहितायाम् -

सगुणं निर्गुणं चैव परमात्मा तथैव च।
एते चांशाहि रामस्य पूर्वे चान्ते च मध्यगः

सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म तथा परमात्मा के नाम से आदि अन्त मध्य में सदा सर्वदा श्रीराम के ही अंश प्रकाशित हो रहे हैं।

इस प्रकार एक ओर अपने विशेष गुणों व प्रेम साम्राज्य के अधिनायक के रूप में और समर्पण बुद्धि में महाराज दशरथ श्रीराम के प्रति मात्र एक है। इसलिए कौशलदेश की सम्पूर्णता, सर्वसद्‌गुण लक्षणों से सम्पन्न परमार्थवादियों में मात्र एक आदरणीय पवित्रतम और सृष्टि में अपने बृहद्‌तम विस्तार के स्वरूपभूत राज्य का नाम रखा गया "**रामराज्य**"।

सीताराम नित्य है। इसलिए रात्रि में अपनी पत्नी रोहणी के सहित होकर पूर्ण चन्द्र गगन मण्डल में अमृतसिञ्चन करते हुए राजाराम के उपमेय बनने को व्यग्र हैं। उन चन्द्रदेव की अमृत वर्षा से रामराज्य के सभी जड़ चेतन तो देव स्वरूप है ही, परन्तु अमरत्व का भी तिरस्कार करने वाली "अगुन अखण्ड अनन्त अनादि ब्रह्म, जो जड़ चेतन के कण कण में व्याप्त है वही सर्व लक्षणों से सर्व सम्पन्न होकर अयोध्यापति राजाधिराज श्रीराम "**श्रीरामराज्य**" के राज्यसिंहासन पर चतुर्दिक अपनी महिमा गरिमा का विस्तार करते हुए विराजमान है।

तब साक्षात् वेद बन्दी जनों के भेष में श्रीराम के दरबार में उपस्थित होते हैं और राजाराम की बिरदावली का बखान करते हैं। परन्तु राजाराम के स्वरूप विग्रह में श्रीराम मायाधीश गुनज्ञान धामू भी है। अतः अगुन अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त करने के लिए निषेधात्मक प्रक्रिया मात्र के स्वीकारोक्ति की आवश्यकता वेदों को नहीं है। यथा -

बन्दी वेष बेद तव आये जहँ श्रीराम। (उ. का. 12 ख)

लखेउ न काहू मरम कछु, लगे करन गुन गान॥ (उ. का. 12 ग)

वेदों द्वारा स्तुति -

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप शिरोमणे। (उ. का. 13)

दशकंधरादि प्रचण्ड निशिचर प्रबल खल भुजबल हने॥

वेदों की स्तुति में प्रभु श्रीराम के करुणानिधान स्वरूप का दर्शन हो रहा है कि वे उन कण्टकों पर भी महान दयार्द्र और करुण रस से अभिषिक्त है। कि वन में चलते समय जो उनके कोमल चरणो में चुभ गये थे, उनको पीड़ा पहुँचाने वाले काँटों को भी वे अपने चरणों से दूर इसलिए नहीं करते हैं कि हो सकता है कोई चरण प्रेमी कण्टक का रूप बनकर ही श्रीराम के चरणों तक पहुँचा हो, तब उसी प्रेमी काँटे को श्रीराम अपने चरणों से दूर करके कैसे कठोर हो सकते हैं।

ध्वज कुलिश अंकुश कञ्जजुत वन फिरत कण्टक किन लहे।

पद कञ्ज द्वन्द मुकुन्द राम रमेश नित्य भजामहे॥

(उ. का. 13)

भगवान श्रीराम की शोभा उनका समाज और सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता है। उसका रस तो परम परमार्थ तत्वदर्शी और परम भगवताचार्य शंकर जी ही जानते हैं यथा -

वह शोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेश।

बरनहि शारद शेष श्रुत जो रस जान महेश॥

(उ. का. 12 क)

महादेव जी कहते हैं -

त्वामादि मन्ध्यान्त विहीन एकः। सृजस्य वस्यत्सि च लोक जातम्॥

स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वम्, यत्स्वे सुखे अजस्त्ररतोऽन वद्यः॥

भगवान महादेव कहते हैं, आप आदि अन्त और मध्य से रहित अद्वितीय है, अपनी माया से ही सम्पूर्ण लोकों की रचना पालन और संहार करते हैं, तो भी उनमें लिप्त नहीं होते है, क्योंकि आप निरन्तर स्वानन्दमग्न और अनिन्द्य है।

युद्धकाण्ड अध्यात्म रामायण सर्ग १५/५२

कोशलाधीश श्रीरामचन्द्र के सिंहासनासीन होने में शंकरादि देववृन्द वहाँ जाकर उनकी स्तुति किए और अपने लोक को चले। यह वही सिंहासन है, जिस पर श्रीराम के वनवास पूर्व महाराज दशरथ आसीन रहा करते थे और श्रीराम को सब प्रकार से योग्य समझकर अपने नेत्रों को सफल करने के लिए और अपने को ही धन्य बनाने के लिए श्रीराम का राजतिलक करना चाह रहे थे परन्तु अपने नेत्रों को धन्य बनाना तो दूर रहा उलटे उन्हे वनवास हो गया। अर्थात् लक्ष्य की सिद्धि कामना के बिल्कुल विपरीत हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि विरह वेदना को सह सकने में ही वे सक्षम नहीं हो पाये और वे मरण के वरण कर लिये। परन्तु वे ज्ञान गुन धामू परम प्रभु राम का अपने पिता पर प्रेम भी असीम था। वे श्रीराम वनवास के समय परोक्ष रूप से ही सही, वनवास जाने हेतु आदेशित होने पर कहते हैं - मैं तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ। समुद्र में कूद सकता हूँ और सीता तक का परित्याग कर सकता हूँ परन्तु पिताश्री के वचनों की अवहेलना करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है। तथ्य यही है कि अपने पिताश्री के प्रति इस प्रकार के परमार्थिक दर्शनों से ही वे सदा विजयी रहे। इसीलिए जब इन परात्पर परंब्रह्म राम ने अपने प्रति प्रेम की इकाई का अनुमान लगाया जो उनके पिता महाराज दशरथ के हृदय कोष में विद्यमान रहता था यथा-

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।

तो उसी के आधारभूत ही उन्हें परमार्थ ज्ञान से पारङ्गत कर उनमें उस योग्यता का सञ्चार किया कि वे अपने पुत्र राम के कौशलाधीश को मात्र नहीं बल्कि -

''जेहि चिन्तहि परमारथवादी'' श्रीराम को, राजा राम के या रामराज्य के अधिष्ठाता के स्वरूप श्रीराम का दर्शन अपने ब्रह्मवेत्ता स्वरूप से, अपने ज्ञान चक्षुओं से कर सकें।

अब उनके ज्ञान में और देवस्वरूपता में इतनी परख है कि वेदों को भी अपने दिव्य नेत्रों से देख सकते हैं उनकी स्तुति की गई बानी सुन सकते हैं।

इस प्रकार महाराज दशरथ का जो जागतिक प्रेम का स्वरूप दर्शन था वह छिन्न भिन्न होकर परमार्थिक स्वरूप में हो गया। श्रीराम के प्रति सुत विषयक प्रेम के समय में महाराज दशरथ के प्रेम की स्थिति भले ही उस प्रेम का परिमार्जन सत्य प्रेम में रहा हो परन्तु

पूर्वस्य दृश्यम् जगदेव सत्यम्।

अर्थात् - दृश्यमान जगत ही सत्य है, जो इन्द्रियों से उपलब्ध होने वाले जगत को स्वयं अपनी सत्ता से विद्यमान और सत्य समझते थे।

परन्तु परमार्थिक ज्ञानोपरान्त अब महाराज दशरथ की ज्ञानदृष्टि की प्रखरता में -

परस्य दृश्या श्रयभूतमेकम्। सत्यम् प्रपूर्णम् प्रविभात्य रूपम्॥

अब वे दृश्य जगत का आश्रयभूत एक सत्यपूर्ण अरूप तत्व से प्रकाशित परमार्थ तत्व को देखते है। इस तथ्य का विश्लेषण इस रूप में किया जाय तो उसका सरलीकरण स्वरूप समझ में आयेगा।

एकस्य देहेहृदि दीप्त आत्मा, अक्रम्य देहम् च जगच्च पूर्णः

अर्थात् ज्ञानी के लिए शरीरस्थ हृदय में आत्मा प्रकाशित होता है, जो देह और जगत को व्याप्त कर पूर्ण है।

हृदय में प्रकाशित होने से आत्मा एक देशीय नहीं है, वह आकाश की भाँति व्यापक और अखण्ड है, उसी प्रकार आत्मा समस्त जीव और जगत में व्याप्त होकर उनका अतिक्रमण कर रहा है, तो ऐसे ज्ञान से सम्पन्न देवरूप में दशरथ देवलोक में है।

जो दशरथ पृथ्वीलोक में कौशलेश बनके राजसिंहासन को अपने आधीन बनाकर शासन करते हुए भी –

अस कहि गे विश्राम गृह राम चरण चितलाइ।

इस प्रकार राजा दशरथ अपने भोग विलास के वैभव पूर्ण उपभोग में रत रहते हुए भी अपने चित में श्रीराम के चरणों को धारण किये रहते थे। दूसरे शब्दों में सुतहेतु सर्वाधिक प्रेम पिपासा में मग्न रहते हुए भी उन सर्वात्मा श्रीराम के प्रेम रज्जु में जुड़े होने के कारण महाराज दशरथ अब उन परम परमार्थवादी भगवान शंकर और काक भुशुण्ड के अनुगामी बन गये। जो इसके पूर्व उन दोनों परमार्थवादियों के दर्शन तक के अधिकारी नहीं थे। यथा –

जब दशरथ जी के राजमहलों में श्रीराम का जन्म हुआ तो बालरूप राम के परम भक्त काक भुशुण्ड और उनके साथ भगवान शंकर श्रीराम के दर्शनों को आते थे परन्तु वे चोरी चोरी ही दर्शन करने आते थे क्योंकि उन्हें अपने देवत्व के भेद खुलने का डर था और अयोध्या में भले ही सत्य प्रेमी दशरथ जी थे परन्तु उनमें इतनी भावों की उत्कृष्टता ही विद्यमान नहीं थी और न उनमें ज्ञान की प्रखरता ही थी, कि मनुज रूप में होने पर वे उन दोनों परमार्थवादियों को पहिचान सके। महाराज दशरथ के राम एक देशीय थे। परन्तु दोनों दर्शन करते थे व्यापक ब्रह्म का।

तात्पर्य यह कि परमानन्द की स्थिति में प्रेम सुख में फूले रहना, इतनी अधिक मगनता कि मन में जो भी मननीय विषय है, वही मन ही भूल जाये या उसका ही मगनता में लय हो जाय और उसी असामान्य स्थिति में, गली गली घूमना, जैसे सभी गलियों में परमानन्द का ही रस

बह रहा हो। वायु परमानन्दमयी है, स्थल भी उसी रस से सराबोर है। यह स्थिति तो परमार्थिक प्रेम में ही अवतरित हो सकती है। जिसके भोक्ता भगवान शंकर और काक भुशुण्ड थे। राम रावण युद्धोपरान्त लंका के युद्ध स्थल पर सुधा की वृष्टि हुई। यथा -

सुधा वृष्टि भइ दोउ दल ऊपर। उठे भालु कपि नहि रचनीचर॥

परन्तु राक्षसों पर सुधा वृष्टि का कोई प्रभाव नहीं हुआ - क्योंकि

रामाकार भये तिनके मन। मुक्त भये छूटे भव बन्धन॥

परन्तु रजनीचरों के भव बंधन से मुक्त होने का कारण तो यह है कि उनका मन ही रामाकार की स्थिति में था, परन्तु मन की रामाकार की स्थिति बनने के सापेक्षता में श्रीराम कहते हैं :-

बैर भाव सुमिरत मोहि निशिचर।

तात्पर्य यह है कि प्रभु श्रीराम से, बैरभाव से ही सही, किसी भी प्रकार उनका स्मरण मात्र भर हो तो परम प्रभु अपनी ''अहैतुकी कृपा'' से अपने में ही मिला लेते हैं।

फिर महाराज दशरथ की श्रीराम के प्रति तो सत्य प्रेम की निष्ठा सर्वोपरि थी, इसलिए वे आनन्दकन्द - श्रीराम महाराज दशरथ के जीवन धारण की स्थिति में उनको आनन्दित किया और मरणोत्तर में उन पितृभक्त परमोदार श्रीराम ने उन्हें परमारथवादियों की परम दुर्लभ और श्रेयस्कर गति के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। यही सुपुत्र श्री राम की अपने पिता के प्रति उदारदेयता थी, और यही दशरथ के पूर्व जन्म की तपस्यया का सम्पूर्ण फल।

●○●○●

19. परमार्थ स्वरूप श्रीराम जेहि चिन्तहि परमार्थवादी

(1) अथर्व शाखायाम् श्रीरामतापनीयोपनिषदे :-

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मानि॥
इति रामपदे नासौ परब्रह्ममिधीयते।

सच्चिदानन्द, अन्यन्त सुख में तल्लीन योगिजन जिसमें रमण करते है, उसी राम पद से वाच्य परमब्रह्म परमात्मा का ही बोध होता है।

(2) श्रीमद्वाल्मीकिं रामायणे -

आत्मानं मनुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
योऽहं यस्य यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीहिमे॥

श्री ब्रह्मा जी के पूछने पर कि आप कौन है, श्रीराम अपने ऐश्वर्य को छिपा कर अन्यन्त नम्रता से कहते है कि भगवन्! मैं तो अपने को दशरथ राजकुमार ही मानता हूं, मेरा नाम राम है मैं मानव देहधारी हूँ, ऐसा ही जानता हूँ। यदि मेरा कुछ अन्य स्वरूप आप जानते हो, तो मैं क्या हूँ! कैसा हूँ! आप वर्णन करें।

इसके उत्तर में श्री ब्रह्मा जी ने ''आर्षस्तव'' द्वारा श्रीराम की स्तुति की जिसका अनेक सन्त पाठ करते हैं।

(3) वेद वेद्ये परेपुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत साक्षाद् रामायणात्मना।

वेद वेदान्त द्वारा जिनको जाना जाता है।

वे ही परमप्रभु जब श्री दशरथ कुमार में प्रकट हो गये, तव वेदों ने भी समझा कि हम जिसके स्वरूप को अब तक छिपाये थे, वह तो साक्षात् रूप धारण कर प्रगट हो गये। तव हम भी अव श्रीरामायण का रूप धारणकर उनकी लीला चरित का गुण गान करें। ऐसा मानकर वेद भी प्रचेता पुत्र रूपभगवान वाल्मीक के द्वारा रामायण रूप धारण करके प्रगट हो गये।

(4) सनत्कुमार संहितायाम्-श्रीनारद वाक्यम्।
परात्पतरं तत्वं सत्यानन्दं चिदात्मकम्॥
मनसा बचसा नित्यम् प्रणामामि रघूत्तमम्।

सच्चिदानन्द स्वरूप परात्पर परतत्व रघुकुल शिरोमणि श्रीराम को तन मन वचन से नित्य निरन्तर मैं प्रणाम करता हूँ।

लक्ष्मण जी ने एकान्त में भगवान श्रीराम के पास जाकर उनके चरणो में प्रणाम किया और भक्ति पूर्वक विनीत भाव से कहा -

त्वम् शुद्ध वोधोऽसि हिसर्व देहिना -
मात्मास्य धीसोऽसि निराकृतिः स्वयम्।
प्रतीयसे ज्ञानदृश महामते।
पादाब्ज भृङ्गाहित सङ्ग सङ्गिनाम्

(अध्यात्म रामा. उत्तर का. सर्ग 5)

हे महामते। आप शुद्ध ज्ञान स्वरूप समस्त देहधारियों के आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूप से निराकार है, जो आपके चरणों के लिए भ्रमर रूप है, उन परम भागवतों के सहवास के रसिकों को ही आप ज्ञान दृष्टि से दिखलाई देते है।

योगि जन जिनका निरन्तर चिन्तन करते है। वही आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिए जिससे मैं सुगमता से ही अज्ञान रूपी अपार समुद्र के पार हो जाऊँ।

लक्ष्मण जी के विनीत बचनों को सुन कर उनके अज्ञान्धकार का नाश करने के लिए श्रीराम प्रसन्न चित से ज्ञानोपदेश करने लगें। वे बोले-संसार का मूल कारण अज्ञान है। सकाम कर्म द्वारा अज्ञान का नाश अथवा राग का क्षय नहीं हो सकता बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्म की उत्पत्ति होती है। इसलिये उसे पुनः संसार की प्राप्ति होना अनिवार्य है।

जब तक माया से मोहित रहने के कारण मनुष्य का शरीरादि में आत्मभाव है, तभी तक उसके वैदिक, कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। अनात्म वस्तुओं का निषेध करके अपने परमात्म स्वरूप को जान लेने पर फिर उसे समस्त कर्मों को छोड़ देना चाहिए।

जिस समय परमात्मा और जीवात्मा को दूर करने वाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरण में स्पष्टतया भाषित होने लगता है, उसी समय आत्मा के संसार प्राप्ति की कारण माया अनायास ही कारक आदि के सहित लीन हो जाती है।

श्रुति प्रमाण से, उसके नष्ट कर दिये जाने पर फ़िर वह अपना कार्य करने में समर्थ भी किस प्रकार हो सकती है! क्योंकि परमार्थ तत्व एक मात्रज्ञान स्वरूप निर्मल और अद्वितीय है। अतः बोध मयता में फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी।

इसलिये ज्ञान स्वतंत्र है उसे जीव के मोक्ष के लिए किसी और की अपेक्षा नहीं है वह स्वयं

अकेला ही उसके लिए समर्थ है। इसलिए विकार रहित चित्त वाले बोधवान पुरूष को विहित कर्मो का भी विधि पूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

मैं प्रकाश स्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रिया रहित और एक मात्र आनन्द स्वरूप हूँ। वेद पाठी पण्ड़ित जन अहिर्निश मेरा हृदय में चिन्तन करते है।

इस प्रकार सदा आत्मा का अखण्ड़ वृत्ति से चिन्तन करने वाले पुरूष के अन्तःकरण में उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही कारण आदि के सहित अविद्या का नाश कर देती है।

यह विश्व परमात्म स्वरूप है ऐसा समझ कर इसे सबके कारण रूप आत्मा में लीन करें। जो पूर्ण चिदानन्द स्व स्वरूप में लीन हो जाती है। उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता है इस प्रकार वह आत्मा का ही चिन्तन करता हुआ सर्वदा समस्त बन्धनों से मुक्त होकर अभिमान छोड़ कर प्रारब्ध फल भोगता रहे। इस प्रकार वह अन्त में साक्षात् मुझमें ही लीन हो जाता है।

जब तक सारा संसार मेरा ही रूप दिखाई न दे तव तक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे।

जो पुरूष अपने चित्त से मुझ गुणातीत निर्गुण का अथवा कभी कभी मेरे सगुण स्वरूप का भी सेवन करता है वह मेरा ही रूप है। वह अपनीचरण रज के स्पर्श से सूर्य के समान समस्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है। यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियों का सार है। इसे वेदान्त वेद्य भगवत् पाद मैंने ही कहा है।

परमार्थ तत्व का यह विस्तृत विश्लेषण भगवान श्रीराम ने लक्ष्मण जी के पूछने पर स्वयं अपने श्री मुख से किया है इसी से अध्यात्म रामायण में ''राम गीता'' के नाम से इस ज्ञान को जाना जाता है

इसी प्रकार का प्रश्न वाल्मीकि आश्रम में सीता जी के पुत्र कुश ने बाल्मीक जी से पूछा था पर उन्होंने मात्र यह कहा। ''कुशःपप्रच्छ बालमीक'' ज्ञान शास्त्र कथान्तरे।'' अर्थात-भगवन! मैं आपके मुखारविन्द से इस संसार नामक दृढ़-बन्धन से जीव को छुटकारा कैसे मिलता है। यह सम्पूर्ण रहस्य सुनना चाहता हूँ। वह मुझसे कहिये।

तव भगवान वाल्मीक प्रसन्न होकर कहा - ''देहहीन चेतन आत्मा का यह देह ही बड़ा भारी घर है, इसने अहंकार को अपना मन्त्री बना रखा है। यह अहंकार देह, गेहाभिमान के कारण भूत अपने आपको चेतन आत्मा में ही आरोपित कर उससे एक रूप हो कर अपनी सारी चेष्टाओं का आरोप उस चिदानन्द रूप आत्मा में ही करता है। उस अहंकार से व्याप्त हुआ जीव उसी

के संकल्प से प्रेरित होकर संकल्प रूपी बेड़ियों से बँधता है। फिर भी जो सत्विक संकल्प बाला होता है तो वह धर्म और ज्ञान में ही तत्पर रहने के कारण मोक्ष सांम्राज्य के पास ही सुख पूर्वक रहता है जो इन संकल्प विकल्पों को छोड़ देता है, वह चिन्त के लीन होने पर परमपद प्राप्त कर लेता है इसलिए –

अनावाधेऽविकारे स्वेसुखे परमपावने।
कन्कल्पोपशमे यत्नंपौरूषेण परं कुरू॥

(अध्यात्म रामा. उ. का. सर्ग 6-53)

जो दु:ख हीन विकार रहित स्वानन्द स्वरूप और परम पवित्र है, उस संकल्प शक्ति के लिए तु पुरूषार्थ पूर्वक प्रयत्न कर।

पुनः – **निःसंकल्पों यथा प्राप्त व्यवहार परो भव।**
क्षये संकल्प जालस्य जीवो ब्रह्मत्वमाप्नुयात्॥

(अध्यात्म रामा. उ. का. सर्ग 6-55)

अत:संकल्प विकल्प को छोड़ कर तू प्रारम्भ प्रवाह से प्राप्त हुए व्यवहार में तत्पर रह। संकल्प जाल के छीन हो जाने पर जीव को ब्रह्मत्व प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार की स्थिति से जब जीव सम्पन्न हो जाता तब उसके प्रारब्ध भोग मात्र शेष रह जाते है, तो वह उस ज्ञान से ही सम्पन्न रहता है जिसे परमार्थ ज्ञान कहा जाता है। और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए चित्त वृत्ति को लीन करके उस अद्वितीय पद को प्राप्त कर लेता है।

एक समय की बात कि एकान्त में बैठे हुए ब्रह्मा के पुत्र सनद कुमार के पास जाकर रावण ने अति विनीत भाव से उन्हें प्रणाम किया। पूँछा – ''देवगण जिसके आश्रय से युध्द में विजयी होते है ब्राह्मण और योगी जन जिसका ध्यान करते है वे कौन है? तब भगवान सनत कुमार ने योगदृष्टि से रावण के अन्त:करण की सभी बातें जान ली, और भगवान नारायण को निर्दिष्ट करते हुए रावण के प्रश्नों का उत्तर दिया।

जव दुबारा रावण ने प्रश्न किया कि विष्णु भगवान के हाथों से मारे जाने पर कौन सी गति होती है, तब भगवान सनद कुमार ने कहा कि वे मर कर विष्णु पद ही प्राप्त करते है।

सनद कुमार के श्री मुख से यह बात सुनकर कि – ''वे विष्णु पद प्राप्त करते है'', रावण प्रसन्न हो गया और उसने श्री हरि से युध्द करने का अपना मानसिक संकल्प बना लिया।

तव रावण के चित्त की बात जान कर सनद कुमार ने कहा ''वत्स तेरी इच्छा अवश्य सफल होगी।''

रावण से ऐसा कहकर मुनि फिर बोले – रावण वे रूप रहित है वे नद नदी आदि समस्त स्थावरों में व्याप्त है। ओंकार सत्य सावित्री पृथ्वी तथा सम्पूर्ण जगत के आधार शेषनाग भी वे ही है। सम्पूर्ण देवगण, समुद्र, काल, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात्रि, यम, वायु, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, मेघ, बसु गण, ब्रह्मा और रूद्रगण आदि जितने भी देव और दानव है वे सब भी उन्हीं के रूप है। और वे सनातन विष्णु भगवान र्निविकार है। वे विद्युत होकर चमकते है और अग्नि होकर प्रज्वलित होते है। यह स्थावर जंगम सम्पूर्ण त्रिलोकी उन्हीं में व्याप्त है।

वे ही देवाधि देव परमेश्वर त्रेता युग में देव और मनुष्यों के कल्याण के लिए इक्ष्वाकु के वंश में दशरथ जी के पुत्र महावीर और पराक्रमी भगवान राम अवतीर्ण होंगे और अपनी भार्या जगज्जननी माया के सहित दण्ड़क वन में विचरेंगे। तुम जगज्जननी माया के सहित उन भगवान राम का भजन करो।

परन्तु रावण उन श्रीराम के साथ घोर विरोध करने का निश्चय कर लिया, और मन ही मन प्रसन्न हुआ।

हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधान पति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल, दल समेत बस सोइ॥

अर्थात–भगवान हरि की प्रेरणा से जो भी रावण हुए, वे सूरवीर प्रतापी अतुलित बल साली हुए।

रावण के योद्धाओं में बहुत तो ऐसे तक थे जो अकेले ही जगत को जीत सकते थे। इसके अतिरिक्त वे –

काम रूप जानहि सब माया।
सपनेहुँ जिनके धरम न दाया।

उसके प्रताप और वैभव में इतनी बढोतरी हुई कि–

ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुजारी।
दस मुख बसबर्ती नरनारी॥
आयसु करहि सकल भयभीता।
नवहि आइ नित चरण बिनीता।

रावण तमोमुखी अभिमान के वशीभूत होकर समूची पृथ्वी को ही भयभीत कर दिया।

जब मेघनाद के द्वारा साधे गये ब्रह्मास्त्र से हनुमान जी महाराज जानबूझकर बँध गये थे और रावण की सभा में उपस्थित किये गये थे तो ''रावण की अद्भुत प्रभुता ही वर्णनातीत थी।''

हनुमान जी ने वहाँ देखा -

कर जोरे सुर दिशिप विनीता।
भृकुटि विलोकत सकल सभीता।।

रावण का बहुत अधिक आतंक ब्याप्त था -

सकल धर्म देखहि विपरीता।
कहि न सकहि रावन भयभीता।।

और **बरनि न जाइ अनीत, घोर निशाचर जो करहि।**
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहि कवनि मिति।।

तात्पर्य कि जिनको सहज प्रीति हिंसा प्रधान है तो उनके पापों की असीमता भी तो अकथनीय होना चाहिए।

अनीति और अधर्म का आश्रयी रावण, के वैभव प्रताप को देख कर हनुमान जी महाराज के मन पर तनिक भी उनके निर्भीकता में कभी नहीं हुई।

देखि प्रताप न कपि मन संका।
जिमिअहि गण महुँ गरुड़ असंका।।

मुख्य रूप से हनुमान जी महाराज ने प्रभु श्रीराम के अनन्त प्रताप को दर्शाते हुए चार शिक्षाप्रद बातें रावण को सुनाई।

1. **जाके बल लवलेशं ते जितेहु चराचर झारि।**
2. **गये शरण प्रभु राखि हैं, तव अपराध विसारि।।**
3. **मोह मूल बहुसूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।**
4. **भजहु राम रघुनायक कृपा सिन्धु भगवान।**

परन्तु रावण विभीषण का भाई तो है। परन्तु विभीषण के विपरीत आचार विचार और मनोवृत्तियों का पोषक था। इसलिये सभी उपदेशों को विपरीत भाव में लेते हुए कहा।

मिला हमहि कपि गुर बड़ ज्ञानी।
और **मृत्यु निकट आई खल तोरी।**

और रावण के इस कथन के बाद ही उसी लंका में उसका प्रताप धरासायी हो गया जहाँ तहाँ यह सुनाई पड़ने लगा -

तात मातु हा सुनिअ पुकारा।
एहि अवसर को हमहि उबारा।।
जरइ नगर अनाथ कर जैसा।

अर्थात – वह वैभव नहीं है और न वह प्रताप ही है, जो शीघ्रता सें घुटने टेक कर ही पसर जाये।

परन्तु अपने बल प्रताप के बल बूते पर ही तो रावण ने श्रीराम की मर्यादा सीता जी का अपहरण किया है, जिस प्रकार वह अनेकों बार दूसरी कुमारियों का हरण किया था।

देव जच्छ गन्धर्व नर किंनर नाग कुमारि
जीति बरी निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि

परन्तु सीता हरण का तात्पर्य तो रघुवंश शिरोमणि राम के प्रताप को ही चुनौती थी

जिमि कोउ करै गरूड़ सै खेला। डरवावै जिमिस्वल्प सपेला।

दूसरी सामान्य नारियों के स्त्रियोचित गुणों और तेज में तथा पराशक्ति सीता के गुणों और तेज में जो अन्तर है, वही अन्तर रावण के बल प्रताप और कोशलाधीश श्रीराम के बल प्रताप में है।

आबेर के महाराजा मानसिह के छोटे भाई राजा माधौसिंह जी की रानी रत्नाबली भगवान की परम भक्ता थी। एक बार राजा माधौ सिंह ने रानी के प्रति द्वेष भाव के कारण उनको मार डालने की नियत से पिंजड़े में बन्द सिंह को उन्हीं रानी के कक्ष की ओर जाने के लिए छोड़ दिया। तब रानी की दासी ने भगवान की पूजा में संलग्न रानी को पुकार कर कहा – रानी जी सिंह आ गया।

सुनकर तव रानी ने बडी शान्ति से कहा – बड़े ही आनन्द की बात है कि मेरे प्रहलाद के स्वामी नृसिंह जी पधारें है आइये इनकी पूजा करें। "इतना कहकर रानी पूजा की सामग्री लेकर बडे ही सम्मान के साथ पूजा करने दौड़ी। सिंह समीप आ गया। परन्तु वह अब रानी के लिए साक्षात् श्री नृसिंह ही थे।" रानी ने उनकी विधिवत पूजा किया और उनकी स्तुति करने लगी। कुछ क्षणों बाद सिंह रूप प्रभु महल से निकले और पिंजड़ा ले आने बाले लोगों को बात की बात में परलोक पहुँचा दिया और फिर स्वयं मामूली सिंह बनकर पिजड़े में प्रवेश कर गये।

अब तो माधौसिंह की आँखे खुली भक्त का गौरव प्रताप उनके ध्यान में आया। सारी दुर्भावना क्षण भर में नष्ट हो गई।

एक बार महाराज मानसिंह अपने छोटे भाई माधौसिंह के साथ एक बड़ी नदी को नाव से पार कर रहे थे। इतने में तूफान आ गया नाव डूबने लगी। मानसिंह ने घबड़ा कर कहा ''भाई! अब तो बचने का कोई उपाय नहीं है।'' तब माधौ सिंह बोले ''आपकी अनुज वधु (मेरी पत्नी) बड़ी भक्ता है उसकी कृपा से हम लोग पार हो जायेगें।'' दोनों ने रत्नावली का ध्यान किया जादू की तरह नाव किनारे लग गई। यह तो मामूली नाव थी। सच्चे भक्त का आश्रय लेकर तो बड़ा से बड़ा पापी दुष्कर संसार सागर से पार हो सकता है।

तो जिन बड़भागियों को श्रीराम के प्रताप का बल है और पराशक्ति सीता की कृपा का प्रसाद है, वे धन्याति धन्य है। उनके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

परन्तु ठीक इसके विपरीत जव योगमाया सीता और श्रीराम का प्रताप बल किसी आततायी, अत्याचारी, आतकंवादी और निरंकुश वैभवपूर्ण और भोग बिलास के शासक और उसके अनुगामी समाज में अन्तर्निहित स्थिति में हो जाय तो उसका सम्पूर्ण अन्त सुनिश्चित है। जो रावण और उसी आततायी, अन्यायी राजा पर आश्रित अन्य राक्षसों का हुआ।

राक्षसराज का संपूर्ण बल उन श्रीराम के सामने हनुमान जी महाराज ने रावण से बताया-

जाके बल लवलेशते जितेउ, चराचर झारि।

इसलिए श्रीराम के बल प्रताप का रावण पर सम्पूर्ण विजय मात्र राम प्रताप का अरुणो दय है। अरूणोदय का कार्य है अन्धकार को हटाना, उसको दूर करना-

यथा-अरूणोदय सकुचे कुमुद, उड़गन ज्योति मलीन। अर्थात रात्रि के अन्धकार में जिन कुमदो और तारागणों का अस्तित्व था, उनका अरूणोदय होने पर पराभव हो गया। इसके पश्चात् ही सूर्योदय हुआ और सृष्टि को प्रकाशित किया तात्पर्य यह कि अन्धकार को दूर करना पहली क्रिया है और प्रकाशित करना दूसरी क्रिया समझना चाहिए।

अन्धकार दूर करना - यह तात्विक दर्शन में महत्वपूर्णा भूमिका के अन्तर्गत है-

जव भगवान श्रीकृष्ण द्वारिका के एक ब्राह्मण के मरे हुए छः पुत्रों को जीवित वापस ले आने के लिए अपने दिव्य रथ, जिसमें चार दिव्य अश्व-शैब्य सुग्रीव मेघपुष्य और बलाहक जुते हुए थे, में अर्जुन को बैठा कर पश्चिम दिशा की ओर जा रहे थे। तो उन्होंने सात सात पर्वतों वाले सात द्वीप सात समुद्र को पार कर घोर अन्धकार में प्रवेश किया। जब रथ में जुते हुए चारों अश्व अन्धकार के कारण अपना रास्ता भूल कर इधर उधर भटकने लगे, तब भगवान श्रीकृष्ण का ज्योतिर्मय सुदर्शन चक्र, उस घने एवं महान अन्धकार को चीरता हुआ आगे बढने लगा और उसके द्वारा बतलाये हुए मार्ग से रथ अन्धकार की अन्तिम सीमा पर पहुँचा। तव उस अन्धकार

की सीमा पार सर्वश्रेष्ठ पारा वार रहित परम ज्योति जगमगा रही थी, जिसे देख कर अर्जुन की आँखे चौंधिया गई और उन्होंने विवश होकर अपनी आँखे बन्द कर ली इसके बाद भगवान के रथ ने दिव्य जल राशि में प्रवेश किया। बड़ी तरङ्गें उठ रही थी, वहाँ एक बहुत ही सुन्दर महल था, जिसके चारों ओर बडी उज्जवल ज्योति फैल रही थी। उस महल में शेषनाग जी विराजमान थे। अर्जुन ने देखा कि शेषनाग की शैय्या पर सर्वव्यापक महान प्रभावशाली पुरूषोतम भगवान विराजमान है। अर्जुन ने देखा कि उनके नन्द सुनन्द आदि पार्षद, चक्र सुदर्शन आदि मूर्तिमान आयुध तथा पुष्टि श्री कीर्ति और अजा ये चारों शक्तियाँ एवं सम्पूर्ण श्रुतियाँ ब्रह्मादि लोकपालों के अधीश्वर, भगवान की सेवा कर रहे है।

उस स्वयं प्रकाश परमधाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता और न चन्द्रमा तथा न अग्नि ही।

न तद्भासयते सूर्योन शशांको न पावकः।

परन्तु उस ज्योर्तिमय धाम में पहुँचने के लिए अन्धकार को चीरना ही पड़ेगा।

श्रीराम को भी अपने असीमलक्ष्य सिद्धि के लिए जो भावी काल में राम राज्य के स्वरूप में दर्शनीय होगा, और वह परमार्थवादियों के लिए, निर्गुणत्व की गति में होगा, ऐसे राम राज्य की स्थापना के लिए रावण तन्त्र के अन्धकार को मिटाना है। जो है-

भुजबल विश्ववस्यकरि, राख्यों कोउ न सुतन्त्र।
मण्ड़लीक मणि रावन, राज करइ निज मन्त्र॥

इस प्रकार विश्व व्यापी रावण के महान आतकं को जो अन्धकार रूप में सृष्टि को निगले जा रहा था को मिटाने के लिए श्रीराम के पास भी चार घोड़ो वाला सुदृढ़ रथ है- जिसके निर्माण का स्वरूप - **सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वाजा पताका** के रूप में है और चार अश्व जो रथ को खींचते है, वे ही -

बल विवेक दम पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरै।

अर्थात उन घोड़ों के नाम जो रावण के द्वारा स्थापित अन्धकार में विनाश करने के लिए रथ में जुते हुए है- (1) बल (2) विवेक (3) दम और (4) परोपकार

और- **महाअजय संसार रिपु, जीति सकै को बीर।**
जाके असरथ होइ दृढ सुनहु सखामति धीर॥

परन्तु महाअजय रावण रिपु का अन्धकार इतना घना है, कि वह सुदृढ़ रथ उनके अश्वों द्वारा उचित मार्ग में ले जाने के लिए भ्रान्ति के बस में है। इसलिए साक्षात् योग माया सीता का तिरष्कार

जो रावण के द्वारा हुआ और उन कारणो से जो एकाएक रावण के पुण्यो की दशा पतनोन्मुख हुई तथा श्रीराम के रूखानुसार उन योग माया सीता की कार्यशीलता ही सुदर्शन चक्र है।

अर्थात् रावण और उसके अनुयायियों का विनाश या अन्धकार का विनष्टीकरण यही श्रीराम के प्रबल प्रताप का अरूणोदय है। बाल्यावस्था और और यौवन पार किये बिना कोई वृद्ध नहीं हो सकता, ठीक इसी प्रकार कोई व्यक्ति कर्तव्यनिष्ट एवं समाजनिष्ट हुए बिना ईश्वरनिष्ट नहीं हो सकता।

वस्तुतः ईश्वर तत्व तक पहुँचने के लिए पवित्र जीवन और सेवा धर्म की टाँगो की सहायता से ही उस महान यात्रा को पूरा किया जा सकता है।

वनवास काल के लिए परम विवेकमयी माता कौसिल्या श्रीराम के वनगमन को परम पवित्र मानती हुई श्रीराम से कहती है

तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका।
पितु आयसु सव धरमन टीका॥
राज देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेश।
जौ पितुमातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

श्रीराम में सेवा धर्म के भावों की भी अतिशयता विद्यमान है। दण्डकारण्य के एक भाग में हड्डियों के एक वृहद् ढ़ेर को देखकर जब श्रीराम को मुनियों के द्वारा यह पता चला कि-

निशिचर निकर सकल मुनि खाये।

तव उन मुनियो की ऐसी दुर्दशा को समझते हुए प्रभु श्रीराम केवल द्रवीभूत मात्र नहीं हुए बल्कि उन्होंने पृथ्वी से निशाचरों से रहित करने की घोर प्रतिज्ञा कर डाली।

निशिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमहि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ही पृथ्वी को निशाचरों से रहित बना दिया और जिस लंका में निशाचरों का अधिपति रावण था; उसी लंका की राजगद्दी में विभीषण की शोभाप्रदीप्त हो उठी। प्रभु श्रीराम के अनुसार विभीषण -

सुनु लंकेश सकल गुन तोरे।
ताते तुम अतिशय प्रिय मोरे॥

उपहारस्वरूप प्रभु श्रीराम ने विभीषण को कहा –

करेहु कल्पभरि राजु तुम मोहि सुमिरेउ मन माहि।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ सन्त सब जाहि।।

और यही श्रीराम के प्रताप का अरुणोदय है। तत्पश्चात् बाल रवि से संयुक्त सूर्योदय होगा।

दूसरे शब्दों में इस धरती को आततायियों से रहित करना–यह शौर्य गुन का प्रतीक हो सकता है, जैसा कि भगवान परशुराम ने सहस्त्राबाहु को निमित्त बना कर अनेकों बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित किया परन्तु उन्होंने प्रजा के रक्षणार्थ धर्म से समान्वित एक भी प्रजा बत्सल राजा की पद स्थापना नहीं किया था। इसलिए उनका अवतार वाद एकाङ्गी बन कर ही रह गया। उनका विद्वेष जाति गत में सक्रिय बन कर ही रही गया, जो धर्म के पथ से दूर हट गया।

श्रीराम की अवधारणा है कि आततायी अत्याचारी राजा को राज्यच्युत करों, परन्तु **''चाहिअ धरम शील नर नाहू।''** के नीति पर प्रजा को अत्याचार से छुटकारा दिलवा कर उसे अराजकता में मत ढकेल दो। अर्थात् प्रजा बिना राजा के भी न रहे जिस प्रकार भगवान परशुराम ने नहीं किया था।

रावण की धर्म प्रतिकूलता में लादे गये शासन से और निशाचरों की घोर अनीतियों से पृथ्वी तक में अकुलाहट हो गई थी।

परम समीप धरा अकुलानी।

तव वह धेनु रूप धारण करके ब्रह्मा शंकर और अन्य देवताओं के साथ परंब्रह्म की शरण में गई। पृथ्वी लोक एक तो दुखालय है ही, और उसमें भी परद्रोही रावण की आधीनता।

विभीषण की शरणागति व्यक्तिगत थी, इसलिए उन्हें मात्र सभी अप्राप्य उपहारों से समालंकृत किया गया।

परन्तु पृथ्वी तो समृष्टि के लिए समृष्टि के साथ उन परात्पर ब्रह्म के शरण में गई थी, और वे प्रभु है –

समदरसी मोहि कह सव कोऊ।

इसलिए विभीषण के तर्ज पर ही पृथ्वी को भी उन परमप्रभु से उपहारों की देयता उनकी समष्टि के स्वरूप भूत ही हुई।

जो निम्न स्वरूपों में दर्शनीय है –

(1) रावणतंत्र के आधीन में जो पृथ्वी की दुर्दशा थी, और जिसके कारण ''परम समीप धरा अकुलानी'' की स्थिति बनी थी। उसके पश्चात् श्रीराम प्रताप के सूर्योदय होने के अनंतर-राजाराम की कालावधि में

भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोशाला॥
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी।
श्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥

वनवासी राम के समयान्तर में चित्रकूट के

चित्रकूट के विहग मृग बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्य पुन्ज सब धन्य अस कहहि देव दिन राति॥
जवते आइ रहे रघु नायक।
तव ते भयउ बनु मंगल दायक॥

(2) रामप्रिय भरत के चित्रकूट पर पृथ्वी की सुदशा अब ऐसी दर्शनीय है कि जैसे पृथ्वी के सभी पुण्यों का उदय एक साथ हो गया है। जब भरत और श्रीराम का प्रेमालिङ्गन हो रहा था। तब -

मिलन प्रीति किमिजाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मनबानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

उसके अतिरिक्त राम प्रेम में मतवाले होकर जब श्री भरत चलते हैं। तब -

भइ मृदुभुमि सकुचि मन मनही।
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हीं॥
कुस कंटक कांकरी कुराई।
कटुक कठोर कुवस्तु दुराई॥

(3) श्रीराम के पुनीत चरितावली की गाथा ब्रह्मलोक तक पहुँच रही है परमार्थवादी अब पृथ्वीलोक में आचरित श्रीराम-कथा को पहुँचाने वाले सनकादिक और नारद जी हैं। यथा -

बार बार नारद मुनि आवहि।
चरित पुनीत राम के गावहि॥
नित नव चरित देखि मुनिं जाही।
ब्रह्मलोक सव कथा कहाही॥
जीवन मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहि तजि ध्यान।

यथार्थतः दशरथनन्दन श्रीराम है :-

कार्य कारणयोः परःपरमपुरूषो - तरस्यवरःरामो दाशरथिर्वभूव।

(अथर्वण उत्तरार्धे श्रुति)

अर्थात - कार्य कारण से परे परम पुरूषोत्तम प्रभु श्रीराम ही दशरथनन्दन हुए हैं एवं

राम एव परम् प्राहुः परमात्मा भिधीयते
रामात्परतर नास्ति यत्किञ्चत स्थूल सूक्ष्म च

(अथर्वण उत्तरार्धे श्रुति)

श्रीराम परंब्रह्म कहे जाते है तथा वही परमात्मा के नाम से भी पहिचाने जाते है। राम से परात्पर स्थूल सूक्ष्म कारण अन्य कुछ भी किञ्चित मात्र नहीं है।

श्रीराम के परम पावन प्रबल प्रताप के कारण -

अयोध्या पति रेव स्यात पती नाम पतीश्वरः।
द्विभुजो जानकी जानिः सदासर्वत्र शोभते॥

अर्थात - अयोध्या के पति श्रीराम ही जो पतियो के भी पति परमेश्वर है। श्री जानकीनाथ रघुनाथ ही सदैव सर्वत्र सुशोभित हो रहे है।

अयोध्या में अयोध्यापति श्रीराम के दर्शन हेतु जब सनकादिक वहाँ पधारते हैं तो अपनी श्रीराम स्तुति में कहते हैं :-

जय निर्गुन जय जय गुन सागर।
सुख मन्दिर सुन्दर अति नागर॥
ग्यान निधान अमान मान प्रद।
पावन सुजस पुरान बेद बद॥

तात्पर्य यह कि परम परमार्थवादी मुनीश्वर सनकादिक द्वारा श्रीराम में निर्गुनत्य की अवधारणा का दर्शन ही श्रीराम के प्रबल प्रताप का दर्शन है। अतः पृथ्वी लोक में परमार्थवादी मुनीश्वरों की आवाजाही बराबर बनी रहती है।

इसलिए चारों युगों में और त्रैलोक्य में पृथ्वी की शोभा जिस प्रकार रामराज्य के काल में हुई वैसी स्थिति उसकी अन्य और कदापि सम्भव नहीं हो सकती है। क्योंकि श्रीराम की देयता अपरमित और अनन्त हैं अर्थात वे सगुन रूप से दशरथनन्दन हैं पर वे निर्गुन ही है।

कौशलेन्द्र श्रीराम के प्रबल प्रचण्ड प्रताप प्रकाश के अन्य सूत्रधारक तत्व श्रीराम रावणरि खरारि है :-

परब्रह्म परमात्मा की प्रेरणा ही इस प्रकार की थी कि -

रावण सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ।

उसके प्रतापशूरता और अतुल बल का परिणाम था जो हनुमान जी महाराज ने उसकी सभा में देखा -

दस मुख सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछ आसे प्रभुताई॥
कर जोर सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकृत सकल सभीता॥

जिस राजतंत्र को सम्पूर्णता से पृथ्वीलोक से ही समाप्त रामराज की स्वरूप स्थापना में - ''श्रीरामराज'' जहाँ सबै परमगति के अधिकारी थे।

यथार्थतः श्रीराम हैः-

परमात्मा परब्रह्म सर्व साक्षी जगदगुरू।
यस्य ध्यानम् समायुक्तभ्योगिनो निम्यमेवच॥

इसलिए सनतकुमार संहिता में श्री सूत वचन है -

श्रीरामचन्द्रस्य रघुपुङ्गव राजवर्य्य राजेन्द्र राम रघुनायक राघवेश
राजाधिराज रघुनन्दन रामचंद्रदासोऽहमद्यभक्त शरणागतोऽस्मि॥

अर्थातः हे श्रीरामचन्द्र जी! रघुवंश सिरोमणि! राजाओं में सर्वश्रेष्ठ! राज राजेन्द्र श्रीराम! हे रघुनायक! हे राघवेन्द्र प्रभु! हे राजाधिराज! हे रघुनन्दन! हे रामभद्र! मैं आपका दास आपकी शरण आया हूँ।

श्रुतौ- सर्वान कामान् आत्म कामान सिद्धिर्भविति।

आत्म काम पूर्ण काम श्रीराम से ही सभी कामनाओं की सिद्धि हो सकती है।

तो ऐसे स्वरूपभूत श्रीराम धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, गुण-दोष से परे हैं। इसलिए रावण के दोषपूर्ण शासन और विभीषण को प्रदत्त सतगुणों के रांजतंत्र से श्रीराम पूर्ण रूपेण निरपेक्ष हैं।

इसलिए राजाधिराज रघुनन्दन के प्रताप का स्वरूप परमार्थ तत्व से सन्निहित है। जिसमें द्वन्दज का स्वरूप दर्शन ही नहीं है यथा -

बयरू न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई॥

तथा श्रीराम के प्रताप में रामराज्य की प्रजा है – गुणातीत अरू भोग पुरन्दर या इन्द्र की तरह भोग होते हुए भी प्रजाजन भोगवृत्ति में अलिप्त।

भगवान श्रीरामचन्द्र के राज्य में सागर पर भी उन परम परमार्थश्रयी के स्वरूप के प्रताप का ही शासित पर यह प्रभाव था कि –

सागर निज मर्यादा रहही।
डारहि रत्न तटन्हि नर लहहीं॥

कहना चाहिए कि रामराज्य के प्रजाजनों के अन्तः स्वरूपों का दर्शन ही बन्दनीय था। जो गीता के अनुसार निम्न श्लोक की अवधरणा से सयुक्त थेः-

अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोतियः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चक्रियः॥

(गीता ६/१)

वे कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करते थे। इस प्रकार वे एक साथ सन्यासी और योगी थे।

राजस्थान के बांगर ग्राम में काथँइया ब्राह्मण श्रीपुरूषोतम दास की इकलौती पुत्री का नाम कर्मठी बाई था। दुर्भाग्य से विवाहोपरान्त ही ये विधवा हो गई। इन्हीं ने अपने वैधव्य जीवन को तपोमय बना लिया और तपस्या का क्रम बारह वर्षो तक चलता रहा। कर्मठी बाई के जीवन में भयानक कालचक्र चला और उनका पितृकुल और पतिकुल पूर्णरूप से समाप्त हो गया। इस विपत्ति के निवारणार्थ उन्होंनें एक वयोवृद्ध संत श्रीहरिदास का चरणाश्रय लिया। कुछ दिनों पश्चात् विरक्त होकर श्रीवन आ गई। श्रीवन आने पर उन्होंने परम वैष्णव महाप्रभु श्री हित हरिवंशचंद्र जी से वैष्णवी दीक्षा लेकर भजन ध्यान नाम जप और सेवा पूजा करने लगी। उनका सारा समय श्रीकृष्ण परिचर्या और नाम कीर्तन में ही व्यतीत होता था।

धीरे धीरे उनकी घोर कर्मनिष्ठा शान्त हो गयी, चित की वासनायें क्षीण हो गयीं, कर्त्तत्वभिमान से रहित होकर वे भक्ति के समुद्र में डूब गयी। गुरूनिष्ठा के कारण वे एक सिद्ध सन्त हो गई।

क़र्मठीबाई एक रूप लावण्यमयी अबला थी। उनके श्रीवन के प्रवास काल में ही सम्राट अकबर का भानजा अजीज बेग मथुरा जिला का हाकिम बन कर आया था और उसने अपने भाई हसन वेग को मथुरा का शासन प्रबन्ध करने भेज दियां। हसनवेग श्रीवन में जाकर कर्मठीबाई को देखकर उनके रूपलावण्य पर मोहित हो गया। अपने कार्य को सफल करने हेतु उसने दो कुलटादूतियों की नियुक्ति करके उन्हें भी प्रति दिन साधुभेष में उस स्थान पर ही भेजना शुरू कर

दिया जहाँ पर यमुना जी में एक नियमित समय में कर्मठीबाई पहुँचा करती थीं। भगवत चर्चा होते रहने से कर्मठीबाई उन्हें कभी कभी अपनी कुटिया तक ले आने लगीं।

अपनी योजना के अनुसार वे दोनों स्नान करने एक दिन बिलम्ब से पहुँची और कर्मठीबाई के द्वारा बिलम्व से आने का कारण उन दोंनो ने बताया कि उनकी कुटिया में एक सिद्ध सन्त के पधारने से उनकी सेवा में समय लग गया।

कर्मठीबाई के जीवनाधार तो सन्त ही थे। सन्त के दर्शनों के लिए कर्मठीबाई उन दोनों दूतियों के साथ चली गई।

कर्मठीबाई को कमरे में पहुँचाकर उन्होंने कहा - मालूम होता है वे सन्त कहीं चले गये हैं। हम उन्हें बुला लाते हैं। यह कह उस कमरे में कर्मठीबाई को अकेले छोड़ कर चली गई थोड़ी देर पश्चात उस कमरे में हसनबेग दाखिल हुआ। उन दुष्टाओं ने बाहर से किवाड़ की सांकल चढाया और कहीं छिप गयीं।

कर्मठी बाई के समीप पहुँच कर हसनबेग ने कहा ''सुन्दरी तुम जिस साधु का दर्शन चाहती हो वह साधु मैं ही हूँ।'' यह कह वह कर्मठीबाई को आलिङ्गन करने के लिए लपका और कहा कि ''तुम मेरे हृदय की रानी बन जाओ।'' बाण से भी अधिक तीक्ष्ण ये शब्द सुनते ही कर्मठीबाई ने रोषपूर्वक कहा - नीच अधम पापी मैं तो तुझे इसका मजा चखा सकती हूँ, किन्तु ----- ----- उन्हें अपने गुरूदेव के द्वारा कहे शब्दों ''सवसौ हित'' का स्मरण हो आया, और वे रोने लगी। इधर मदान्ध और कामवासना से चूर हसनबेग कर्मठीबाई की ओर बढ़ता चला गया। पर वह जैसे ही कर्मठी बाई का स्पर्श करना चाहा वैसे ही वह भयानक सिंह के रूप में हसनवेग को दिखी। सिंह को देखते ही उसके प्राण पखेरू काँप गये। जब उसने क्रोधित सिंह को अपने तरफ आते देखा तो वह दरवाजा तरफ ही भागा, परन्तु दंरवाजा बाहर से बन्द था। हसनबेग का पाजामा बिगड़ गया और वह वहीं मूर्छित होकर गिर पड़ा।

जब उनकी सधी हुई दूतिओं ने दरवाजा खोला तो वहाँ पाया कि न तो कर्मठीबाई है और न वहाँ सिंह ही है। वहाँ केवल मल में सना मूर्छित हसनबेग को ही उन्होंने पाया। दूसरे दिन जब दोनों दूतियाँ स्नान के समय में जमुना जी के घाट में मिली तो दोनो ने कर्मठीबाई को प्रणाम किया। कर्मठीबाई प्रसन्नता में थीं और उस घटना के विषय में उनको कोई ज्ञान नहीं था। वे पूर्ववत ही उनसे मिलीं। तव अन्य दिनों में उनकी कुटिया में हसन बेग भी बहुत सा द्रव्य लेकर पहुँचा परन्तु सब धन साधु सन्तों की सेवा में लगा देने का आदेश उसे कर्मठीबाई ने दिया।

कर्मठीबाई के सन्तत्व की अपार महिमा का यह स्वरूप कि हसन बेग के इस प्रकार महापाप

पूर्ण और निन्दनीय कुकृत्यों के द्वारा आक्रमण करने के अनन्तर भी कर्मठीबाई को उनके गुरूदेव के वाक्य का ही स्मरण है और तदानुसार वे हसनबवेग को उसे दण्डित करने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी उसके हित की ही चिन्ता में है यह परमार्थ कां स्वरूप दर्शन है। मन की इस प्रकार की सहज गति जो संसारिकता से पूर्णनिरपेक्ष होते हुए भी अपने चित्त में सभी के लिए हित करने का चिन्तन समाहित किये हो उनके लिए अब ज्ञान की कौन सी मञ्जिल शेष है। उनकी सभी स्थितियों को वह निराकार परमात्मा ही महेश्वर रूप में रहकर उनकी साज सम्हाल करता है, क्योंकि संतत्व में तो सभी का हित ही समाहित है, दण्ड का नहीं। इसलिए मर्यादा पुरूषोतम श्रीराम रावण के रावणत्व को नष्ट करते है, पर वे विभीषण की तरह ही रावण को भी अपना ही धाम देते हैं। यथा -

तुम्हहू दियो निजधाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं।

परन्तु श्रीराम के प्रभाव प्रताप का यह बहुत ही स्वल्पांश स्वरूप दर्शन है। इस तथ्य को तो बहुत पहिले ही सनद्कुमार मुनिवर ने रावण को बतादिया कि-

विष्णुना ये हतास्तेतु प्राप्नुवन्ति हरेर्गतिम।

(अध्यात्म रामा. उ.का. ३/४०)

जो भगवान विष्णु के हाथ से मारे जाते हैं, तो वे विष्णु पद ही प्राप्त कर लेते हैं।

●○●○●

20. श्रीरामलीला चरित्र की मर्यादायें व योगेश्वर श्रीकृष्ण की अवतारी प्रेमलीलायें

आवश्यकता है समाज में सत्य धर्म परमार्थतत्व के स्थापना की। यही महाभाव महापुरूषों का; अवतारी महानुभावों का ईश्वरांश अवतार और पूर्णावतार का है। इसी साध्य सिद्दि हेतु भगवान श्रीराम की तरह मर्यादायें बांधी जाती है, तो भगवान श्रीकृष्ण की तरह मर्यादायें तोडी जाती हैं।

भगवान श्रीराम का अवतार त्रेता में हुआ और सृष्टिद्दष्टा को श्रीराम के चरित को समाज के द्वारा अवगहित करने की आवश्यकता का भान, उनके पृथ्वी लोक में अवतार काल में ही आकर्षित करने लगा। इसलिए आदिकवि ने रामायण की संरचना की, और समाज को उसकी आवश्यकता का भान कराया। श्री कृष्णावतार तो श्रीरामावतार के एक युग पश्चात या द्वापर के लगभग अन्त में हुआ। जामवन्त जो राम रावण युद्ध में महान योद्धा थे, की पुत्री जामवती का विवाह ही श्रीकृष्णा के साथ हुआ था, इसके पूर्व सताइस दिनों तक बिना विश्राम के जामवन्त और श्रीकृष्णा का युद्ध हुआ। श्रीकृष्णा के प्रहारों से जब जामवन्त ने कह दिया कि वे ही त्रेता के श्रीराम है तब उनके विश्वास के लिए श्रीकृष्ण ने श्रीराम रूप में होकर उन्हें दर्शन दिया।

भगवान श्रीकृष्ण ने बालआयु में ही प्रेम तत्व की स्थापना हेतु ग्वाल बालों से विभिन्न प्रकार की बाल सुलभ क्रीड़ाओं के माध्यम से और पुनः गोपियों को ही निमित्त बनाकर प्रेम को सम्पूर्णता में पहुँचा कर महाभाव की स्थिति तक में उसे सुशोभित किया। जिस महाभाव की अधिष्ठात्री भगवती राधा जी हैं। भगवान श्रीकृष्ण का प्रेम ऐश्वर्य इतना समुज्वल श्रेयष्कर दिव्यातिदिव्य मधुर और महान था कि जिसका दिव्य प्रकाश अब भी फैलता हुआ वृद्धिगत में है। जिस प्रकाश से प्रकाशित होकर लाखों नरनारी अपने को परम पवित्र मात्र ही नहीं बनाते है अपितु उस आनन्द रसार्णव में डुबकी लगाते है जिसकी कोई थाह तक ही नहीं है पर यह क्रिया शैली पूर्णावतार ईश्वर से ही सम्भव हो सकती थी।

यह सगुन साकार स्वरूप की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि का स्वरूप दर्शन है जिसमें द्वापर के गुणों का सन्निवेश या योगेश्वर स्वरूप दर्शन है। और द्वापर के पश्चात होने वाले कलियुग के दोषों को सम्पूर्णता से बहिर्गत करने के लिए, दुःख के अत्यान्तिक निवृत्ति के लिए तथा सुख की राशि को लूटने की सहज प्रवृत्ति में ही चित्त का विलीनीकरण हो जाता है भगवान श्रीकृष्ण और राधा का प्रेम स्वरूप आप्राकृत है। उनकी प्रेमधारा में निमाज्जित प्राणियों को कहीं अन्यत्र झाँकने की

चित्तवृत्ति ही नहीं होती है। युगल स्वरूपों के प्रेम तत्व ने ही चैतन्य महाप्रभु के रूप में पंद्रहवीं सदी में अवतार लेकर हिंसक पशुओं तक को प्रेम में मतवाला बनाकर उन हिंसक पशुओं को भी प्रेम में नचा दिया। उनके पार्षद और अनुयायियों ने प्रेम् तत्व की धूम मचा दी। उसी समयान्तर में महाप्रभु बल्लभाचार्य ने भी श्रीकृष्णा प्रेम की ज्योति जगमगा दी उसके पश्चात भी उनके पुत्रों और शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा प्रेमस्वरूप का दर्शन होता रहा आया जिसके कारण विधार्मियों द्वारा शासित हिन्दुओं की रक्षा हुई। आज भी प्रेमी अधिकारियों को उन युगुल स्वरूपों के दर्शन होते है। यही नहीं, रासलीला का मन्चन दृश्य भक्तों, प्रेमियों को प्रेम रस में विभोर कर देता है। अनेकों सन्त अपने को प्रेमिका वेष में सजाकर श्री कृष्ण के प्रेम रस में डूबे रहते है। वे इस संसार में शरीर मात्र से रहते हैं और अहिर्निस भगवान श्रीकृष्ण के अन्तः लीला के भाव में लीन रहते है।

परन्तु इस प्रकार के प्रेम प्रभावोत्पादकता की स्थिति सगुन साकार और प्रेमानन्द के अम्वुधि में ही सम्भव है जो भगवान श्रीकृष्ण में सम्पूर्णता से ब्रह्म के पूर्णावतार के स्वरूप भूत विद्यमान थी। अट्ठाइसवे द्वापर में परात्पर ब्रह्म का पूर्णवतार इसी रूप में सापेक्ष गत है कि प्रेमियों को उनके हृदय में प्रेमावतरण की स्थितियों में प्रेमाष्द श्रीकृष्ण वे प्रेमरूप बन कर सबको विराट प्रेम स्वरूपता में समेट कर उनके प्रेममयता की सेवा स्वीकार करें। इस प्रकार श्रीकृष्ण के सगुन साकार विग्रह में जो ब्रह्म का पूर्णावतार हुआ, को इस अवतार की लक्ष्य सिद्धियों में यह साध्य सर्वोच्च है कि प्रेम प्रेमी और प्रेमास्पद का ऐक्य हो।

श्री कृष्ण की ये लीलायें हर प्रकार के मर्यादाओं को तोड़ फोड़ कर ही श्रेयष्करी हो सकती हैं। ऐसा भी हो सका है कि जिस आयु समूह में काम विकार तक की कोई सम्भावना नहीं होती है उसी आयु समूह तक में भगवान श्रीकृष्ण की ये लीलायें हुई, जो गोपियों को उनके प्रेम में जागतिक सम्बन्धो की मर्यादाओ को भी अतिक्रमित करके वे अपनी प्रेम साधना में मात्र प्रेमाष्पद श्री कृष्ण को ही दृष्टि पथ में रखे रहती थीं तात्पर्य यह कि मर्यादा ही बन्धन है जो मर्यादाओं को तोड़ कर उनके पास पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, तो वे अपनी दोनों भुजायें फैलाकर कब से मिलने को समुत्सुक खड़े है!

दूसरी ओर भगवान राम में मर्यादा बन्धन है। अर्थात ज्ञान ही सयानापन है। जो सयानेपन के भावों में ही शोभा पाता है। मर्यादा का बन्धन ही तो ज्ञान है। जिसका मर्यादित जीवन में विश्वास है वह ज्ञान के बन्धन में सचेष्ट रह कर जीता है। राजा दशरथ के मन ने माना कि मेरा पुत्र सब प्रकार से राजा बनने के योग्य है, उन्हें राजा बनाओ, तो ब्रह्म की योगमाया ने कहा कि राम अभी योग्य प्रमाणित नहीं कहे जा सकते है, क्योंकि पृथ्वी में अभी एक आततायी राजा है रावण। राजा वह है जिसके ऊपर या समकक्ष अन्य कोई राजा न हो, अतः पृथ्वी के एक छत्रराज्य के लिए पहले रावण पर शासन होना आवश्यक है यदि वह शासनाधीन नहीं रहना चाहता तो

उसका पहले वध करो, इसके पश्चात् ही श्रीराम का राजतिलक होना चाहिए। यही मर्यादा है और यही राम के राजा बनने की योग्यता का मापदण्ड, कि वे राजा बनने के योग्य है।

प्रजातन्त्र में 1001 एक हजार एक मतदाताओं में जिस पक्ष में 501 पाँच सौ एक हो गये वह विजयी होकर शासक बन गया और 500 मत पाने वाला शासित ही रहा आया।

परन्तु श्रीराम का राजतन्त्र है – कि लाखों प्रजाजनों में मात्र एक प्रजाजन को यह विश्वास नहीं है कि रावण की आधीनता में लंकापुरी में रहने के प्रश्चात् राजाराम की भार्या सीता ने अग्निपरीक्षा दी है और स्वयं अग्निदेव ने उनके पतिव्रत धर्म की शुद्धता प्रमाणित करके जब श्रीराम को उन्होंने सौंपा तब श्रीराम ने श्रीसीता जी को अपनी वामा स्वीकार किया। फिर भी एक प्रजाजन ने सीता जी को निर्दोष नहीं माना। तो उस एक को सन्तोष दिलाने के लिए और राजसिंहासन के गौरव को सौ प्रतिशत ही होना चाहिए। यही राजतन्त्र की सर्वोच्च गरिमा है। तभी राजा श्रीरामचन्द्र ने श्रीसीता जी को ही त्याग कर दिया, पर उस एक प्रजा का विश्वास जीता।

राजा श्रीराम को पाकर त्रेता युग भी गौरवशील था, क्योंकि राजाराम का उद्देश्य था, कि युग के अनुरूप कर्म को ज्ञान में सम्व्याप्त करके उस कर्म को ज्ञानमय बना दो। अर्थात-रजों गुण को भी सतों गुण से शासित होना चाहिए परन्तु सतों गुण को भी उस सीमा तक ही जाना है जिसके बाद उसकी गति ही नहीं है यही अवस्था ही गुणातीत है।

महाराज मनु व ध्रुव के वंश में भगवान विष्णु का अंशावतार राजा पृथु के रूप में हुआ था। वे इतने प्रतापी थे कि जब अपने योग बल से उन्हें यह मालूम हुआ कि पृथ्वी ने स्वयं ही अन्न एवं औषधियों को अपने भीतर छिपा कर उनके प्रजाजनों को क्षुधा से पीड़ित कर रखा है तो भगवान शंकर से समान अत्यन्त क्रोध के वशीभूत होकर पृथ्वी को लक्ष्य बनाकर बाण चढ़ा दिया तब गोरूप पृथ्वी काँपने लगी और अन्त में महाराज पृथु से पृथ्वी ने निवेदन किया कि ''आप मेरे योग्य बछड़ा, दोहन पात्र और दुहने वाले की व्यवस्था कर दीजिये। मैं आपको सभी अभीष्ट वस्तुएँ दे दूंगी।'' महाराज पृथु ने तदानुसार क्रियाओं से सभी अभीष्ट वस्तुएँ पृथ्वी से प्राप्त किया और पृथ्वी के प्रति उनका पुत्री के समान स्नेह हो गया।

राजधर्म में महाराज पृथु इतने प्रतापवान और प्रजा वत्सल थे कि उनकी प्रजा उनके राज्य में रहकर अपने को धन्य मानते हुए भगवान के राज्य में ही अपने को स्थित समझती थी। लोग त्रिलोकी में सर्वत्र उच्च स्वर से उनकी कीर्ति का गान करते थे, इसलिए स्त्रियों तक के कानों में वैसे ही प्रवेश पाये हुए थे जैसे सत्पुरूषों के हृदय में श्रीराम।

कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भि स्त्रैलोक्ये तत्रतत्रह।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषुस्त्रीणां रामः सतामिव॥

श्रीमद्भागवत ४/२२/६३

जब पूर्व में ही अर्चि के रूप में लक्ष्मी का और पृथु का अवतार राजधर्म के स्वरूप को पृथ्वी लोक में अवतरित करने के लिए हो गया था, तो इसके अनन्तर रामराज्य का अवतरण और वह भी पूर्णब्रह्म का अवतरण ही उसका हेतु हो, तो इसमें अवश्य ही उन परात्पर ब्रह्म की अद्भुत और अनन्त ज्ञान शैली की अन्य महानतम महिमा का तत्व होना चाहिए।

जब भगवान बाल्मीक के आश्रम में प्रभु श्रीराम अपने अनुज और सीता जी के साथ चित्रकूट में कहीं पर्णकुटी बनाकर रहने को लिए उचित स्थल के विषय में पूछा - तब मुनिवर ने यथार्थ सत्य कह दिया -

जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौ ठाउँ।

वे राम के भी यथार्थ स्वरूप को उन्हीं से कह रहे है कि

रामस्वरूप तुम्हार बचन, अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥

जग पेखन तुम देखनि हारे। विधि हरिशम्भु नचावनि हारे।
चिदानन्द मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारो॥

तो प्रभु श्रीराम का श्री विग्रह ही सच्चिदानन्द स्वरूपभूत है जो अनन्त अगाध ज्ञान के मूल है। तथा उन श्रीराम का अगुन अखण्ड ज्ञान का स्वरूप ही **''एक भूप रघुपति कोशला''** है। श्रीराम का रामराज्य अनन्त ज्ञान का वह **वियावान** वन है। जहाँ परम परमार्थवादियों के समूहों के भ्रमर गुञ्जायमान करते रहते है। ज्ञान की उपासना ही अव्यक्त की उपासना है। निर्गुन की उपासना सिद्धि श्रीराम के कौशलाधीस स्वरूप का सद्दर्शन है। जिस ज्ञान से परात्पर परब्रह्म का सद्दर्शन ज्ञान चक्षुओं से प्राप्त कर उन्हीं के चिन्तन में लयलीन रहते है। पर वे भी श्रीराम के सगुन साकार विग्रह को अपने हृदय मन्दिर में सविधि पूजते हैं। यदि श्रीकृष्ण प्रेम के अनन्तता का स्वरूप दर्शन है तो श्रीराम अनन्त ज्ञान का।

●○●○●

21. अयोध्यापति महाराज दशरथ की जीवन दशाओं के स्वरूपानुसार राम-प्रताप उत्कर्ष एवं ज्ञानी जनक की सीताराम के प्रति प्रेममग्नता

अयोध्यापति चक्रवर्ती महाराज दशरथ सूर्यवंश के उन प्रतापी राजाओं में अपने बल पौरूष और सामर्थ्य के कारण मान्य थे, कि देवराज इन्द्र की अमरावती तक उनके शूरवीरता की प्रसिद्धि थी। वे अनेकों बार देवताओं की ओर से युद्ध लड़कर उनको विजयश्री दिलवाई थी। इसलिए-

''सुरपति बसइ बाहँ बल जाकें। नर पति सकल रहहि रुख ताके॥''

इस तथ्य के स्वरूपभूत उनके प्रताप बल की कीर्ति प्रसिद्ध थी। इस कारण से पृथ्वीलोक के राजा होते हुए भी महाराज दशरथ का स्वर्गलोक तक में इतना आदर था कि उनको देवराज इन्द्र भी उनके स्वरूप भूत उनका सम्मान करते थे -

आगे होइ जेहि सुर पति लेई। अरघ सिंहासन आसन देई॥

बल, पौरूष और प्रताप का इतना दबदवा होने के अनन्तर भी महाराज दशरथ का जीवन ही उन परात्पर ब्रह्म राम के आधीन था, वे स्वयं कहते है -

जिऐ मीन बरु बारि बिहीना। मनिबिनु फनिकु जिऐ दुखदीना॥
कहउँ सुभाव न छल मन माही। जीवन मोर राम बिनु नाही॥

पृथ्वीलोक में तो महाराज़ दशरथ के बल प्रताप का स्वरूप ही इस रूप में सम्व्याप्त था कि वे स्वयं महारानी कैकई को प्रसन्न करने के लिए कहते है-

अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चहँ लीन्हा॥
कहु केहि रंकहि करौ नरेशू। कहु केहि नृपहि निकासौ देशू॥

परन्तु जब बर में महारानी कैकई ने श्रीराम के लिंए चौदह वर्ष का वनवास मांगा।

तापस वेष विशेष उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी॥

तव उन्हीं बल पौरूष प्रताप सम्पन्न राजा दशरथ की परबसता श्रीराम के बिना जीने की कल्पना मात्र से इतनी दयनीयता में परिवर्तित हो गई कि जिन महारानी कैकई के सामने अपने वे बल प्रताप का ओजस्वितापूर्ण बखान कर रहे थे, उन्हीं कैकई के सामने-उनके शरणागत होकर गिड़गिडाने लगे -

गहि पद विनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसिकुठारी।।
मागु माथ अवही देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही।।

तो राजा दशरथ के क्रियाकलापों से यह स्पष्ट झलक रहा है कि उनका राजधर्म, पतिधर्म कुलधर्म और यहाँ तक कि मानवधर्म भी संगठित होकर ''**राम बिरह जनि मारसि मोही।।**'' पर ही केन्द्रित होकर समा गया हो। यह है असीम राम प्रेम। परन्तु अपने कथनानुसार ही -

सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।

के आधार पर सत्य स्वरूप परमात्मा की निराकार स्थिति को अपने कुलोचित संस्कारों के कारण या किन्ही अन्य कारणों से अपने ज्ञान चक्षुओ से अलग नहीं कर पाये।

अपने सत्य की टेक की अवधारणा से भले ही श्रीराम को वनबासी न बनाने में महाराज दशरथ अपने को सक्षम न कर पायें हो, परन्तु उनके चित में श्रीराम चरणों के प्रीति की दृढ़ता बहुत ही सहजोर थी। फलस्वरूप, राम बिरह में, रामचरण प्रीति ने महाराज दशरथ का प्रणान्त ही कर दिया।

चित्रकूट के पावन वन स्थली में गुरू वाशिष्ट के श्री मुख से श्रीराम ने यह सुना कि महाराज दशरथ स्वर्ग सिधार गये। परन्तु दशरथमरण का कारण श्रीराम प्रेम था। यह भी गुरूवर ने बताया

मरन हेतु निज नेहु बिचारी। में अति बिकल धीर धुर धारी।।

इस प्रकार महाराज दशरथ के जीवन का आधार ही श्रीराम प्रेम था। राम का दर्शन उनका छिना, तो मरण ने उन पर अपना अधिकार पा लिया। अपने पञ्च भौतिक शरीर को त्याग कर दशरथ स्वर्ग सिधार गये, पर राम स्नेह तो उनके देव शरीर में भी यथावत था।

इसलिए रामप्रेम के सामने उन्हे किसी अन्य की चाह नहीं रही। और यही जीवन का मूल सत्य है।

राम स्नेह सरस मन जासू।
साधु सभा बड़ आदर तासू।।

दूसरी ओर राजा जनक की स्थिति है-

जासु ज्ञान रविभवानिसिनासा ।
बचन किरन मुनि कमल बिकासा।

और - **ज्ञान निधान सुजान सुचि, धरम धीर नर पाल।**

परन्तु राजा जनक भगवान शंकर के परम भक्त थे। इसलिए त्रिपुरारि के धनुष भंजन श्रेयता का आधार ही सगुन ब्रह्म का स्वरूप होगा यह भी भगवान शिव ने राजा जनक को समझा दिया राजा जनक के यहाँ साक्षात् योगमाया सीता का अवतार हुआ। जनकपुर में ही ब्रह्मराम और योगमाया सीता जी का वैवाहिक महोत्सव हुआ।

भगवान श्रीराम की यह स्पष्ट घोषणा है कि –

होइ अकाम जो छलतजि सेइहि। भगति मोरि तेहि शंकर देइहि॥
बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू। राम भगति कव लच्छन एहू॥

अर्थात बिना किसी कामना के छल रहित होकर जो शंकर जी की सेवा अराधना करेंगे उन्हें भगवान शंकर मेरी भक्ति देंगे। या राम भक्ति का लक्षण ही निश्छल शिव पद प्रेम है।

यह गुन राजा जनक में विद्यमान था, इसलिए श्रीराम के प्रथम दर्शनोपरान्त से ही सीता राम के प्रति उनमें भक्ति भावना का स्रोत ही उमड़ पड़ा।

जव राजा दशरथ मरणोपरान्त जनक जी चित्रकूट की यात्रा में श्रीराम के आश्रम के समीप चल रहे थे, तव उन महाज्ञानी में प्रेम की दशा इस प्रकार थी

आवत जनक चले एहि भाती। सहित समाज प्रेम मतिमाती।

अर्थात प्रेम में मतवाले होकर उनकी पद यात्रा हो रही थी। श्रीराम के पवित्र आश्रम में पहुँचने पर तो उनके प्रेम सरिता में इतनी बाढ आ गई कि वह पारा बार रहित हो गई। यथा–

तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकैसरित सनेह की।

सीताराम के स्नेह ने उनके ज्ञान रवि को इस प्रकार आच्छादित कर लिया था कि वहाँ मोह ममता समा गई।

तेहिकि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥

इस प्रकार उनके ज्ञान की परिणिति विज्ञानमय ज्ञान. के अन्तर्भूत समाहित होकर सुशोभित होने लगी। राजा जनक भी अब महाराज दशरथ की तरह मोह ममता भाव के अनुगामी बन गये।

प्रभु श्रीराम ने रावण पर विजयोपरान्त लंका में ही स्वर्ग लोक से आये महाराज दशरथ को दृढ़ ज्ञान से परिपूर्ण किया अर्थात जिस प्रकार महाराज दशरथ में श्रीराम प्रेम की सर्वोत्कृष्टता असीम थी, और अहिर्निश उनके चित्त में समाहित थी तो उसी चित्त में श्रीराम प्रेम के रहते हुए परमार्थ ज्ञान पर भी स्वरूप दर्शन उन्हें होने लगा। यथा –

रघुपति प्रथम प्रेम पहिचाना। चितइ पिताहि दीन्हेउ दृढ ज्ञाना॥

जिस प्रकार परम ज्ञानी जनक के समीप मुनियों का समाज आकर जनक पुर की अमराइयों में ज्ञान की विविध चर्चाओं के माध्यम से उस अगुन निराकार ब्रह्म का ज्ञान प्रकाश फैलाते थे। अब उन्हीं राजा जनक की स्थिति चित्रकूट में

मोह मगनमति नहि विदेह की। महिमा सिय रघुवर सनेह की॥

हो गई थी। इसके अलावा सीताराम प्रेम में मतवाले होकर जनक का समाज जब श्रीराम के शान्त रस के सागर आश्रम में प्रवेश किया, यथा –

आश्रम सागर शान्त रस, पूरण पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुणा सरित, लिएँ जाहिं रघुनाथु॥

तो वह शान्त रस का सागर आश्रम भी अकुला हट में हो गया। यथा

आश्रम उदधि मिली जव जाई। मनहुँ उठेउ अम्बुधि अकुलाई॥

क्योंकि

सुरसिद्ध तापस जोगिजन, मुनि देखि दशा विदेह की।
तुलसी न समरथु कोउ जो, तरिसकैसरित सनेह की॥

परन्तु दशरथ जी के सन्दर्भ में "**ज्ञान अखण्ड़ एक सीता बर**" के स्वरूप भूत श्रीराम के दर्शन में दशरथ जी का "सत्य प्रेम जोहि राम पद" का स्वरूप भी समाहित तो हो गया और वह अखण्डित ज्ञान के स्वरूप में भी प्रकाशित होकर आलोकित होने लगा था। दृढ़ ज्ञान प्राप्यानन्तर पर महाराज दशरथ के ह्रदय में राम प्रेमाधीनता भी असीम थी जो विश्ववास श्रीराम के द्वारा उन्हें सहज सुलभ थी। उसका विराम तव भी नहीं हुआ। और वह भी महाराज दशरथ के जीवन दशाओं और भावों की उत्कृष्टताओं पर ही आधारित था।

दशरथ महाराज की जीवन सरिता जिसमें रामपद प्रेम जल था तो उसमें राजा दशरथ की प्रेम भावों की बर्धनियिता के कारण बाढ आने लगी। महाराज दशरथ सोचने लगे–

नृप जुवराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥

और राजा दशरथ अपने जीवन जनम के लाभ के सफलीभूत के लिए प्राणप्रण से प्रयत्नशील हो गये।

पर दशरथ सुत श्रीराम के परात्पर ब्रह्म स्वरूपता हेतु उनके लिए अन्य आवश्यक कार्यो के

निर्धारण की करणीयता सन्कल्पित थी जिसके कारण श्रीराम की स्थिति नृप जुवराज राम के स्थान से बहुत दूर हट कर

तापस वेष विशेषि उदासी। चौदह बरिसरामु बनवासी॥

में परिवर्तित हो गई। पर इस स्थिति को भी श्रीराम जिस रूप में स्वीकार करते है, वह अपनी वनवास दिलाने वाली माता कैकई से कहते है :-

मुनिगन मिलनु बिशेषि वन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी तोर॥

इस तरह अगुन अखण्ड़ ब्रह्म राम की प्रयोजनीयता ने श्री दशरथ महाराज के प्रेम सरिता जल की बाढ़ को बढ़ने के स्थान पर उनके सम्पूर्ण जीवन जल को ही सुखाने का आयोजन किया।

मन्त्री सुमन्त खाली रथ लेकर वन से वापस आ गये। तब राजा दशरथ ने क्रम से अपनी मानसिक इच्छायें व्यक्त की -

(1) राम रहितधिग जीवन आशा।

सो तनु राखि करब मैं काहा।
जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा॥

अर्थात मैं ऐसे धिक्कारित जीवन को जो राम से रहित हो जाय और जिस जीवन ने मेरे राम के कौशलाधीश के सिंहा सन पर आसीन होने में रोक लगा दी, और जीवन जनम के परम लाभ से मुझे वन्चित कर दिया। वह जीवन नहीं चाहिए।

(2) हा जानकी व लक्ष्मण - तुम मेरे स्थान पर दो हो।

राम के लिए हितैषी स्वरूपों में मेरा अभाव उसे अधिक न हों। क्योंकि

(3) हा रघुवर - मेरा राम जो पिता के चितरूपी चातक के हित के लिए मेघ स्वरूप है।

तो ऐसे पिता के हितकारी राम को महाराज दशरथ उन्हें जानकी और लक्ष्मण को सौंप देते हैं और मृत्यु के अन्तिम क्षण तक के लिए राम-राम की रटन्त प्रारम्भ कर देते हैं।

अब पितादेश से बनवास काल में रावण वध और धरमात्मा विभीषण को लंकाधिपति बनाये जाने से श्रीराम को परमार्थ सिद्धि सहज सुलभ हो गई। जिस हेतु में राजा दशरथ का प्राणोत्सर्ग तक हुआ।

अब तो उन असीम उदारदाता और प्रेमाम्वुधि रूप श्रीराम का यह सहज कर्तव्य बनता है कि वे अपने पिता के राज सिंहासन को अपनी आसीनता के साथ इस रूप में सुशोभित करें, जो ब्रह्माण्ड में मात्र एक हो, और वह न भूतो न भविष्यति हो। और तो क्या वह निर्गुन स्वरूप में ही परमार्थियों के लिए वन्दनीय हो। इसके अतिरिक्त महाराज दशरथ भी अपने परमार्थिक ज्ञान दृष्टि से ही अपने पुत्र राम के रूप में नहीं बल्कि परम परमार्थाश्रयी स्वरूप में कौशलाधीश राम का दर्शन करते करते तृप्त न हो।

इसलिए परम ज्ञानी महाराज जनक के लिए यदि श्रीराम आश्रम सागर शान्त रस है जिसमें उनका समूचा ज्ञान समाकर मोह ममता के रूप में उभर कर सीता राम के स्नेह रस में समा गया। जो महाराज दशरथ के भावों का ही अनुगमन करता है। तो श्रीराम प्रेमजल में मत्स्य रूप राजा दशरथ का अपार प्रेम भाव भी राम राज्य के सागर में डूबकी लगाता है। अव अपार आनन्द मग्नता का वे अनुभव करते रहते है। महाराज दशरथ परमार्थश्रयी श्रीराम का दर्शन परमार्थिक ज्ञान चक्षुओं से प्राप्त करने की हो गई। जो सत्य पारायण महाराज दशरथ को श्रीराम से सुलभ हो पायी। यही तो श्रीराम का अपने प्रेमी पिता के प्रति अपार उदारपूर्ण देयता थी।

दूसरे शब्दों में प्रभु श्रीराम ने परम प्रेमी अपने पिता दशरथ को ज्ञान के शीर्ष समुन्नत स्थिति में पहुँचा दिया, तो दूसरी ओर उन श्रीराम ने रामबल्लभा सीता जी के पिता को, जो ज्ञान निधानता के धारक थे, को श्रीसीताराम की प्रेम मगनता के स्वरूप का अगम प्रेमपाय बना दिया।

●○●○●

22. श्रीराम के प्रबल प्रताप उत्कर्ष में योगमाया सीता

महर्षि बाल्मीकि के आश्रम में विराजित रामसीता और लक्ष्मण की और देखते हुए बाल्मीक भगवान ने तीनो के स्वरूप दर्शन में श्रीराम और श्रीसीता जी का मौलिक स्वरूप कहा।-

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रूख पाइ कृपा निधान की॥

कहना यह चाहिए कि योग माया सीता ही किसी कार्य की सिद्धि प्रदायणी शक्ति ही है, जिनमें श्रीराम की कृपा शक्ति की नियति भी समायोजित है। या श्रीराम की इच्छा शक्ति ही योग माया सीता है। ब्रह्म राम के स्वरूप को जिस रूप में प्रतिबिम्बित करना, जिससे उनके प्रयोजनीय कार्यस्वरूपता का दर्शन हो सकें, यह सीता जी ही करती है। अनादि अखण्ड ब्रह्म से कभी अलग न होने वाली शक्ति स्वरूपा ही योग माया है जो अव्यक्त रूप से सम्व्याप्त होकर ब्रह्मरूप ही है, इसलिए सीताराम देखने में दो संज्ञक मात्र है, उनकी अव्यक्त लीला निर्बाध रूप से चलती रहती है।

श्रीराम का अगला परमार्थिक कार्य का प्रारम्भीकरण उनके राज्याभिषेक से हुआ। राज्याभिषेक अवसर पर भी वे प्रताप से इतने सम्पन्न थे कि उनको अयोध्या के राज्य सिंहासन के समीप जाकर उसमें आसीन नहीं होना था बल्कि सिंहासन को ही अपना गौरव बढ़ाने कि लिए उनके समीप ही आना था। इसलिए ज्ञानयुक्त गुरू वशिष्ठ ने -

तुरत दिव्य सिंहासन माँगा।

सिंहासनासीन होने पर कौशलेन्द्र श्रीराम की यह मानवीय मौलिक सोच तो उचित ही है कि कौशल राज्य के सिंहासन पर उन श्रीराम की आसीनता देखने के लिए उनके पिता महाराज दशरथ की यह लालसा सर्वोपरि थी, जो उनके समूचे जीवन के साररूप में आभासित हो रही थी, जिसको महाराज दशरथ गुरू वशिष्ठ से कहते है -

यह लालसा एक मन माही
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाँछे पछिताऊ॥

परन्तु दशरथ मरण के साथ ही उनकी यह लालसा कि **''नृप जुबराज राम कहुँ देहू''** का भी उनके जीवन से ही अन्त हो गया था इसलिए उस राज्य सिंहासन की सर्वोपरिता के लिए परम पितृभक्त राम समर्पित हैं।

परन्तु राजाराम के प्रबल प्रताप के सम्पूर्ण उत्कर्ष के लिए मात्र पितृ बहद् समर्पण सम्पूर्ण नहीं है। अतः परंब्रह्म परमात्मा का अखण्ड अनन्त निराकार स्वरूप श्रीराम के सगुन साकार स्वरूप दशरथनन्दन के लिए तीन क्लेशदायक विषम परिस्थितियों से गुजरने के लिए संयोगात्मक स्थितियों का सृजन करता है। उनमें से -

प्रथम - प्रजाजनों में कुछ के द्वारा रावण के लंका रहवास के समयान्तर में सीताजी के अग्नि-परीक्षा देने के अनन्तर भी पुनः उन पर कलंक का दोष थोपना। जबकि अपवाद समय काल में श्रीसीता जी गर्भावस्था में थीं।

परन्तु उस पूर्ण असत्य कलंक के मार्जन के लिए स्वयं सीता जी अयोध्या राज्य सिंहासन की पवित्रता को सम्पूर्णता के सहित ले आने के लिए प्रयत्न करती हैं। परिणामतः लक्ष्मण द्वारा रामाज्ञा के अनुसार उन्हें घनघोर जंगल में गंगा जी के तंट पर भगवान बाल्मीक के आश्रम के समीप छोड़ दिया गया।

द्वितीय - महाराज कौशलाधीश राम को इतना सचेष्ट रहने के लिए कर्तव्य सुनिश्चित है कि राज परिवार तक को यह ज्ञान नहीं होना चाहिए कि सीता जी कहाँ हैं ? इस प्रकार सीता जी की ओर से अयोध्या की असन्कग्नता ही सीता जी के लिए श्रीराम के प्रबल प्रताप उत्कर्ष हेतु निर्धारित है। यह सीता जी के लिए वियोगावस्था की चरम सीमा है। सीता जी भगवान बाल्मीक के आश्रम में रहीं। आश्रम में रहकर दो पुत्रों की माता बनी। इसीलिए तुलसीदास जी ने लिखा श्रीराम के पुत्रों को -

दुइ सुत सुन्दर सीता जाये।

जबकि अन्य छोटे भाइयों के लिए लिखा गया -

दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन शील धनेरे।

चौदह वर्ष के वनवास काल में श्रीराम के रावणवध के परमार्थ सिद्धि हेतु सीता जी की परम सार्थकता थी। योगमाया सीता जी यह जानती थी। अतः उस समय श्रीराम के द्वारा सीता जी को साथ में वन न ले जाने की दशा में सीता जी का कथन था -

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति विहीन सब शोक समाजू॥

और -

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि को की।

के स्वरूपगत अपने को निर्धारित कर श्रीराम को यह सोचने को विवश कर रही थीं कि-प्रभु श्रीराम सीता जी को अपने साथ वन ले जाय। नहीं तो -

देखि दशा रघुपति जिय जाना।
हठि राखे नहि राखिहिं प्राना।

परन्तु बाल्मीक के आश्रम में वानप्रस्थ धर्म का आवलम्बन लेकर सीता जी का मन अपनी सूक्ष्मता के साथ श्रीराम के लिए परमहितकारी स्थिति की ओर पर्दापण कर रहा था।

महर्षि बाल्मीक सीताजी के मन का संकल्प अपनी ज्ञान दृष्टि से देखकर तदानुसार ही पुत्रों के भावी संस्कारों की संरचना में तल्लीन थे। और भावी सीताजी के भावक्रिया दर्शन हेतु की तैयारी में भी उनकी योजनाबद्ध क्रिया शैली चल रही थी।

परन्तु श्रीराम और सीता जी के बीच की यह असंलग्न स्थिति भी सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती थी। क्योंकि सीता जी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से श्रीराम के साथ सुदूर स्थिति में थी ही। क्योंकि सीता जी अपने जिन दोनों पुत्रों के पालन-पोषण के कार्यभार में व्यस्त थीं, वे आखिर श्रीराम के ही पुत्र तो थे। इधर श्रीराम को भी सीता जी के संयोगात्मक रस की प्रतीति हो रही थी। वे जानते थे कि सीता जी गभर्वती स्थिति में ही वन के लिए निष्काषित हुई थी। दूसरी बात प्रभु कौशलाधीश के लिए कम से कम अभी इतनी मानसिक सन्तुष्टि की सुलभता तो थी ही, कि उनकी भार्या सीता अयोध्या में न सही तो पृथ्वीलोक के ही किसी भूभाग में अयोध्या के समीप ही तो रह रही थीं, जिनको कभी भी देखा जा सकता था। पुनर्वापसी भी सम्भव थी। अयोध्यापति श्रीराम यह भी समझ सकते थे, कि प्रजाजनों के द्वारा जिन मानसिक स्थितियों के वशीभूत होकर सीता जी कलंकित की गई थी। उसका समय ही मार्जन अवश्य करेगा, क्योंकि उस कलंक का दाग तो उन्हें भी प्रभावित किये हुए था। आखिर वन में निष्काषन के अनन्तर भी सीता जी श्रीराम की भार्या तो हैं ही।

सीता जी के लंका में त्रैलोक्य विजयी रावण के आधीन रहने पर श्रीराम पति स्वामी एवं रघुवंश कुल के धारक थे। इसलिए यह जानते हुए भी कि सीता जी को कलंक स्पर्श भी नहीं कर सकता है। रावण ने भी हरण करने में जो सीता जी का स्पर्श किया था, उनकी इच्छा से ही मात्र उनके हरण किये जाने के लिए किया था, इसलिए जनमानस में सीता जी के उस स्वरूप के दर्शन हो सके कि वे रावण के आधीनस्थ रहते हुए भी अपने पतिव्रत धर्म की सर्वोपरिता में एक थीं, अतः श्रीराम ने उन सीता के इस कलंक का मार्जन करने के लिए स्वयं ही उद्योग किया था।

पर अब श्रीराम मात्र कौशलाधीश है। सीताजी निष्काषित स्थिति में भी मात्र एक प्रजारूप में थी। एक साधारण प्रजा के लिए कौशलेन्द्र के पद की गरिमा उद्योगी बन कर कुछ भी करने को तैयार नहीं हो सकती। ऐसा कुछ भी करने से राजसिंहासन की पवित्रता में, धवलता में कुछ कालिमा आ सकती थी।

भगवान बाल्मीक कौशलेन्द्र श्रीराम के इस प्रकार की परबसता को समझते थे, वे अपनी दिव्यदृष्टि से उन निराकार स्वरूप श्रीराम का संकेत समझकर सीताजी के प्रति अपनी अभूतमूल कर्तव्यनिष्ठा के प्रतिपादन में संलग्न भी थे। क्योंकि उस समय वे ही अबलारूप में सीताजी के संरक्षक और पितावत अविभावक थे।

अपने वनवास काल में चित्रकूट से प्रस्थान करते समय भगवान अत्रि के आश्रम में अत्रिप्रिया अनुसुइया ने सीता जी को पतिव्रत धर्म के उपदेश देने के अनन्तर कहा –

सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि प्रतिव्रत करहि।
तोहि प्रान प्रिय राम, कहिउँ कथासंसार हित॥

अनुसुइया जी के इसी अभिप्राय को ही तुलसीदास जी ने

''सती शिरोमणि सियगुण गाथा।''

के रूप में उनका नाम अंकित किया। यथार्थतः सीता जी के मन मन्दिर में श्रीराम का सुशोभन तो यह कह रहा है कि साक्षात् प्रतिव्रत धर्म की अधिष्ठात्री देवी ने सीता रूप में अवतार धारण करके जगज्जनी का भी पदभार इस पृथ्वी तल में लिया हो।

पूर्वकाल में जब राजाओं ने पृथ्वी का पालन और आदर करना छोड़ दिया था तब पृथ्वी ने समस्त अन्न और औषधियों को अपने उदर में ही छिपा लिया, जिससे प्रजा अन्न और औषधियों के अभाव में क्षुधातुर और पीड़ित होकर मृतप्रायः स्थिति में रहने लगी। परन्तु भगवान विष्णु के अंशावतार महाराज पृथु के द्वारा यह रहस्य जान लेने पर, जब उन्होंने गौरूप धारण की हुई पृथ्वी से कहा मैं बाणों से तेरे टुकड़े टुकड़े करके अपने योग बल से प्रजा को धारण करूँगा।

आत्मयोगेन बलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः।

तब पृथ्वी के उपाय सुझाने पर महाराज पृथु ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ में ही समस्त धान्यों को दुह लिया। क्योंकि अधिक समय तक पृथ्वी के उदर में रहने के कारण वे धान्य जीर्ण हो गये थे अतः स्वायम्भुव मनु ने बछंड़ा बनकर गौदुग्घ पान किया और पुथु ने दोहन करना चाहा तो स्नेह से पिन्हाकर दूध के रूप में ही सभी अभीष्ट वस्तुएं पृथ्वी ने उन्हें दे दीं।

इसी प्रकार ऋषियों ने बृहस्पति जी को, देवताओं ने इन्द्र को, दैत्य और दानवों ने प्रहलाद जी को, गन्धर्व और अप्सराओं ने विश्वावसु को बछड़ा बना कर अपने योग्य सभी अभीष्ट वस्तुओं का दोहन गोरूपधारी पृथ्वी से कर लिया। गौरूप पृथ्वी सभी अभीष्ट वस्तुओं की धारक थी जो दृष्टव्य व्यक्त और भौतिक स्वरूपों में पृथ्वी में सम्व्याप्त थीं।

परन्तु श्रीराम का स्वरूप तो अव्यक्त निरज्जन और आनन्दमय है तथा ज्ञान की अखण्डता का मूल भी है।

योगमाया श्रीसीता जी में वह सक्षमता विद्यमान है कि वे अपने ज्ञानयुक्त त्याग से मात्र नहीं बल्कि उन पुरूषोतम श्रीराम के संकल्प बल और त्याग बल से उनके रुख के अनुमोदनार्थ ऐसी व्यवस्थाओं का सञ्चालन करें कि कौशलाधीश श्रीराम के प्रबल प्रताप से सन्निहित तत्वों का ही उनके स्वरूप से अवतरण हो। परन्तु यह तभी सम्भव है जब सीता जी मनु, बृहस्पति जी भक्त प्रहलाद रूप होकर बछड़ों के स्वरूपभूत बनकर गौरूप पृथ्वी से जैसे अभीष्ट वस्तुओं की सुलभता हुई थी, वैसे ही वे कौशलेन्द्र श्रीराम में ऐसे प्रबल प्रताप के स्वरूप को जिससे ऐसे तत्वों के दर्शन होकर प्रजा को प्रभावशील बनावें जिनमें परमार्थवादिता की सन्निहितता हो, एवं वे गुणदोष से रहित निर्विकार हो।

तो इस प्रकार श्रीराम में अनन्त स्वरूपों का महार्णव है जो उन श्रीराम के निराकार स्वरूप से कभी भी विलग नहीं होता, इसलिए सीता का स्वरूप विग्रह श्रीराम के स्वरूप विग्रह से अलग और दूसरा होते हुए भी उनमें एकत्व है।

तो वे ही योगमाया वनवासिनी स्थिति में अपने दोनों पुत्र कुश और लव के साथ रहती हुई उस काल की प्रतीक्षा में थी कि अयोध्या की प्रजा में अपवाद स्वरूप सीता जी पर जो कलंक थोपा गया था, वह भाव का दूषण सम्पूर्ण पवित्रता में बदल जाय। श्रीराम के प्रति उन प्रजाजनों के द्वारा दर्शनो में श्रेष्ठतम स्थिति की स्वरूपता आ जाय, उनके मन में सीता पर शुद्ध और परम पवित्रभावना अंकित हो जाय। दुर्भावना, पश्चाताप के द्वारा गलगल कर बह जाय।

दूसरी बात रूप तो दर्शनीय होता है उसके लिए या उसकी गृहणीयता के लिए नेत्रगोलक की आवश्यकता होती है जो श्रीराम के साकार विग्रह की स्वरूपता में सम्भव था, जिसका दर्शन कराकर योगमाया ने सभी देवी देवताओं को बार बार पुलकायमान बना दिया था। और उसी रूप के दर्शनों से लंका यात्रा में जलचर जीवों को उन प्रभु का दर्शन कराया, जो उनके रूप को निहार निहार कर मगन हो गए।

मगन भये हरिरूप निंहारी।

और सभी जल जीवों की मगनता ने समुद्र में एक नये पुल का निर्माण कर वानरों की अपार सेना को सागर पार जाने में सहायता किया था।

प्रभु श्रीराम की यह क्रिया शैली समुद्र में नवीन सेतु निर्माण में कारगर हुई। जो प्रभु के सगुन स्वरूप के रूपोदार्यता का उदारपूर्ण स्वरूप दर्शन तो था, परन्तु वह मन में समा नहीं सकता

कि इतने विस्तार वाले समुद्र में नये पुल का निर्माण जलचर जीवों के द्वारा रूपदर्शन की मगनता में हो जाय। इसलिए श्रीराम का निराकार स्वरूप का भी भाव दर्शन इसमें अलग नहीं हो पाता है। परन्तु प्रताप तत्व तो वह स्वरूप है जो स्वभावतः अरूप है वह साकार विग्रह से दर्शन मात्र भले करा दे जो उस प्रताप का धारक है परन्तु वह इन्द्रियों के गुणो से तो परे है। इन्द्रियों की सामर्थ्य संकुचित और सीमित होती है।

और तो क्या? अर्जुन के भौतिक नेत्रों की क्षमता तो भगवान श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप के दर्शनों के लिए, तक नहीं हो पाई थी। फिर ब्रह्म के निराकार स्वरूप से सन्निहित प्रताप तो अणु तक में समाकर उसे दीर्ध क्रिया शीलता के साथ अद्भुत प्रभावशील बना सकता है। पृथ्वीलोक के गणमान्य राजाओं का प्रताप आभूषण है। परन्तु तमोगुण से आवृत रावण का बल प्रताप भले इस रूप में दृश्यमान था कि -

कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता।

अर्थात दूसरे को भयभीत करने वाला प्रताप अधोगति की स्थिति का प्रतीक है। वह पापवृत्ति का मूल है जबकि कौशलेन्द्र श्रीराम के प्रताप का स्वरूप हर्ष शोक रहित आनन्द सिन्धु में मग्नता है। ऐसे प्रबलप्रताप के हेतु जिन गुणों, ऐश्वर्य, त्याग, वैराग्य व अन्य निर्गुणत्व के तत्व-

ज्ञान योग और ब्रह्मैकता के भावों की आवश्यकता थी वे सभी योगमाया सीता जी में ही विद्यमान थे। इसलिए वे ब्रह्मादेश पालिका शक्ति, कौशलेन्द्र श्रीराम में सम्पूर्ण प्रबल प्रताप स्वरूपता हेतु ही पृथ्वीलोक को छोड़ने का संकल्प बनाकर बाल्मीक आश्रम में रहती थी। यथार्थतः यह पृथ्वीलोक के सामर्थ्य में शक्ति भी नहीं है, कि योगमाया सीता के सदगुणों को विस्तीर्ण कर और भाव प्रेमी भक्तों में उनकी सहजता विमलता पवित्रता और आनन्दमयता के गुणों को सम्प्रेषित कर सकें। इस पृथ्वी लोक में तो उन सती शिरोमणि, पतिव्रता आदर्श को उसी तत्व की परीक्षा देते देते ही उद्विघ्न होना पड़ा। सीता जी को इस बात की प्रसन्नता तो है कि अपने राजधर्म की एकनिष्ठता के स्वरूप भूत श्रीराम ने अतिशय प्रिय स्वरूपणी अपनी प्रियतमा अवनि कुमारी सीता को त्याग दिया, पर बाल्मीक आश्रम का उनका रहवास कौशलेन्द्र के सगुन साकार रूप श्रीराम की ही कार्य सेवा पूजा थी। सीता जी अपने श्रीराम पर एकनिष्ठ प्रेम तत्व, जिसमें मात्र श्रीराम की ही छवि विद्यमान थी, को समृष्टि व्यापी बनाकर उस छवि का दर्शन करना चाहती थी। अतः उन मर्यादा पुरूषोतम में वे ऐसे प्रबल प्रताप के उद्दीपन हेतु, ऐसे महा भाव में थी जो उन कौशलेन्द्र के उरस्थली में सीता जी के प्रति महान त्याग कारक रूप से व अन्य गुणों के कारण स्वभावतः श्रीराम में था। उसका वे देश की प्रजा में वितरण कर देना चाहती थी क्योंकि श्रीराम राजा थे।

इसके पूर्व अयोध्या के राजमहलों में एक दिन सर्वालङ्कार सुसज्जित कमल दललोचना सीता जी श्रीरघुनाथ जी की चरण सेवा करते हुए प्रभु श्रीराम को प्रसन्न देखकर कहा – ''हे देवाधिदेव! हे सनातन परमात्मन! हे चिदानन्द स्वरूप! देवताओं ने आकर मुझसे एकान्त में प्रार्थना किया है कि हम सब को छोड़कर वे प्रभु अपने सनातन बैकुण्ठ को त्याग कर पृथ्वी तल में ठहरे हुए है। अतः यदि आप (सीता जी) पहिले बैकुण्ठ को चली जाये तो अवश्य ही प्रभु श्रीराम भी वहाँ आकर हमें सनाथ कर देगें।''

तब रघुनाथ जी ने कुछ सोच कर कहा ''लोकापवाद के मिससे लोक निंदा के डर से मैं तुम्हें त्याग दूँगा पुनः तुम बालकों के उत्पन्न हो जाने पर शपथ करके पृथ्वी फटने पर उसके छिद्र द्वारा बैकुण्ठ को चली जाओगी।''

दूसरी ओर भगवान विष्णु पर भृगु ऋषि का श्राप था, जो भृगु पत्नी के द्वारा राक्षसों को शरण में लेने से और उनकी शरणगति में सुरक्षा देने के कारण था। समय-समय में राक्षसगण देवताओं को मार भृगु की पत्नी के शरण स्थली में छिप जाते थे। तब भगवान ने उन्हें बोध कराया कि इस प्रकार की शरणागति जो उनके द्वारा राक्षसों को प्रदत है, वह तो अधर्म मूलक है। भगवान ने उनको अपने शरण से अलग करने के लिए भी भृगु पत्नी से कहा। उनके ऐसा न करने पर विष्णु भगवान के द्वारा भृगु पत्नी का वध हो गया। तब क्रोधावेश में भृगु ने पत्नी से रहित होने के कारण भगवान विष्णु को पत्नी के बिना पृथ्वी में रहने का उन्हें श्राप दे दिया। पुनः श्राप स्वीकार करने हेतु तप तक किया।

परन्तु परमारर्थ आश्रयी परमात्मा को मिलने वाला श्राप भी परमार्थ का ही कारक बनता है। उन्हीं ऋषि प्रवर के श्राप भोग का समय श्रीराम के द्वारा सीता त्याग के स्वरूपभूत भोगत्व में उन्हें प्राप्त हुआ। जो उनके प्रबल प्रताप उत्कर्ष का सामायिक कारक था। प्रभु श्रीराम राजधर्म के आधिपत्य में कौशलाधीश राजसिंहासनासीन है। राजधर्म ने उनका सीता से बिछोह कराकर उन्हें (सीताजी) वनवासी बना दिया। पंचवटी में सीता हरण होने पर विरहाकुल स्थिति में रोने कलपने का अधिकार तो श्रीराम को था, परन्तु उस समय तो वे रो भी नहीं सकते थे। राजधर्म से बंधे होने के कारण लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र को समझाते हुए कहते है – ''रघुनन्दन यदि आप दुखी रहेंगे, तो वह अपवाद आपके ऊपर फिर आ जायेगा।''

सोऽपवादःपुरेराजन् भविष्यति न सशंयः

''प्रजाजन कहेंगे कि दूसरे के घर में रही हुई स्त्री का त्याग करके ये श्रीराम रात दिन उसी की चिन्ता में दुखी रहते हैं। इसलिए इस दुर्बल शोक बुद्धि का त्याग कर सन्तप्त न हों।''

इसी प्रकार भाव दशाओं में भगवान शिव तथा सन्त तुलसीदास की भावदशाओं के अनुशीलन में श्रीराम के अव्यक्त मूलक तथ्यो को समझने में सहायता मिलेगी।

सतीमरण पर शिवजी का वियोगीस्वरूप और श्रीहरि दर्शन -

समाचार सब शंकर पाये। वीरभद्र करि कोप पठाये॥
जग्य विधंश जाइतिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह विधिवत फलु दीन्हा॥

मरण के तत्कालिक प्रभाव के कारण क्रोधावेष से निवृत्त हो जाने पर -

जव ते सती जाइ तनु त्यागा। तव तें शिव मन भयउ विरागा॥
जपहि सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनाहि राम गुनग्रामा॥

चिदानन्द सुखधाम शिव बिगत मोह मद काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम॥

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहि बखाना॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥

परिणाम यह हुआ - **नित नै होइ राम पद प्रीती।**
नेमु प्रेम शंकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा॥
प्रगटे प्रभु कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥
बहु प्रकार शंकरहि सराहा। तुम बिनु असब्रतु को निरबाहा॥

तात्पर्य यह कि सच्चिदानन्द सुख के धाम स्वरूप, शिव को सतीमरण वियोगास्था में उनके हृदय में परमात्मा के मिलन की इतनी तत्परता जागृत हुई कि उन कृतज्ञ कृपालु श्रीहरि को भगवान शंकर के अविचल हृदय में भगति की रेखा को देखकर प्रगट होना पड़ा।

सती भी शिवजी की अर्धाङ्गनी, शक्ति स्वरूपा देवी और अपने पति शिव के चरणों में लयलीन रहने वाली थी, और उन शिवजी की परम प्रिया थी। इसलिए-

सती मरत हरिसन बरुमागा। जनम जनम शिवपद अनुरागा॥

इसलिए मरणोपरान्त निराकार तत्व में उन सती की शक्ति विलीन होने पर भगवान शिव के योग में अव्यक्तरूप से जुड़कर भगवान शंकर के साधन सामर्थ्य में भी योग कर दिया, और सती रूप में तो नहीं परन्तु सती के कारण शरीर से ही पार्वती और भगवान शंकर का पुनर्मिलन हुआ। और शिवजी के अन्तःकरण से राम कथा बर्हिगत होकर उजागर हुई।

गोस्वामी तुलसीदास के असह्य पत्नी वियोग स्थिति का श्रीराम प्रेम में परिवर्तन

गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली पर सामाजिक मर्यादाओं के बन्धनों को तोड़कर तुलसीदास का प्रेम था। एक बार तुलसीदास के पूछे बिना वे अपने पितृ गृह, अपने भाई के साथ चली गई। सायंकाल को वे अपने को न रोक पाये और अपने ससुराल पहुँच गये। प्रेमान्धता में उन्होंने एक लम्बे सर्प को रस्सी समझ कर छप्पर के ऊपर चढ़कर वहाँ छप्पर पार करके आँगन में कूदे और जहाँ रत्नावली सो रही थी, वहाँ पर पहुँच गये। रत्नावली भौंचक्की रह गई और अपने पति के उस अन्ध प्रेम को देखकर दुःखी मन से तुलसीदास को फटकारते हुए कहा -

अस्थि चर्ममय देह मम ता में ऐसी प्रीति।
ऐसी जो श्रीराम में होत न भवभय प्रतीति॥

पत्नी के इस फटकार से तुलसीदास के ह्रदय कपाट खुल गये और वे वहाँ से चल दिये। तीर्थों मन्दिरों में तीन वर्ष तक घूमते रहे। पत्नी वियोग सहते हुए भी पत्नी के द्वारा ही प्रदत गुरू मन्त्र को ह्रदय में धारण किये हुए बिना वैराग्य के ही घूमते रहे। परन्तु मन पत्नी बिना बेचैन था। मन के इसी ऊहापोह की स्थिति में रात्रि को एक मन्दिर में रूके थे। मन्दिर के रसोइये के द्वारा प्रदत्त भोजन कर रहे थे। उस मन्दिर के पुजेरी रत्नावली के गाँव के ही थे। और सामाजिकता में उन्हीं के वंश की ही रत्नावली थी। तुलसीदास के भोजन करने के प्रारम्भ में ही पुजेरी जी का एक भतीजा आया, जिससे पुजेरी जी ने गाँव का हांलचाल पूछा। तब आगन्तुक पुजेरी के भतीजे ने उनसे बताया कि आज पति वियोग सहते सहते रत्नावली स्वर्ग सिधार गई। सुना है, अपने भाई के साथ रत्नावली गाँव आई थी, तो उसके बाद ही रात्रि को वह ब्याहिता लड़का भी अत्यधिक पत्नी प्रेम के कारण रत्नावली से रात को आकर मिला था। तब रत्नावली ने उसे कुछ फटकारा भी था। उस फटकार से ही व्यथित होकर वह ससुराल के घर से बाहर आ गया और तब से आज तक उसका कोई रता पता नहीं मिला। रत्नावली तो सूख कर काँटा हो गई थी और पति वियोग में ही आज उसका प्राणान्त भी हो गया।

तुलसीदास न तो अपने मनोभाव में दर्शा सकते थे कि वे ही रत्नावली के पति है। इसलिए यह सुनते हुए भी उन्होंने उसी प्रेम से भोजन किया और सुबह चले गये।

वे अब यह समझ चुके थे कि उन्हें अपने बेजोड़ प्रेम को प्रगट करने के लिए रत्नावली नहीं मिलेगी। परन्तु रत्नावली को छोड़ पाना भी तो उनके लिए असम्भव था। इसलिए निराकार स्वरूप में ही रत्नावली की छवि का दर्शन उनके लिए अभीष्ट हुआ तथा उन्हीं रत्नावली का प्रदत गुरू मन्त्र कि श्रीराम में प्रीति होने पर संसार बन्धन से छुटकारा मिल जायेगा। रत्नावली

जैसी पत्नी के कारण उनके उसी हृदय में राम प्रेम ऐसा जागृत हुआ कि वे रामभक्त, सन्त शिरोमणि, रामभक्ति शाखा के महाकवि, मूर्धन्य विचारक और सीता राम लक्ष्मण के प्रत्यक्ष दर्शनकर्ता थे। हनुमान जी महाराज तो उनके स्मरण करने मात्र से उन के अभीष्ट सिद्धि हेतु उपस्थित हो जाते थे। अपने समय के वे युगदृष्टा पुरूष थे। परन्तु सभी सदगुणों के कारणभूत सामर्थ्य का हेतु उनका श्रीराम प्रेम ही था जो उनकी पत्नी रत्नावली की सत्प्रेरणा का फल था।

अपने प्रारम्भिक जीवनकाल में उन्हें हेय घ्रणा तिरस्कार की ही स्थितियों से गुजरना पड़ा। दुर्दिनों में उन्हें थोड़ा सा माता पार्वती का प्यार मिला और लुप्त हो गया। पत्नी पर तुलसीदास का प्रेम परमार्थिक नहीं था वह यौवन ज्वर के रूप में भले ही शारीरिक रहा हो परन्तु सामाजिक बन्धनों में भी समीम नहीं था इसलिए अपनी पत्नी पर जिस बैड़ोल तरीकों से प्रेमान्ध होकर प्रेम समर्पित था। उसमें रत्नावली के निराकार स्वरूप का योग भी सम्मिलित होकर तुलसी प्रेम को परमार्थिक स्वरूपता प्रदान कर श्री सीता राम का प्रिय पात्र बना दिया।

श्री सीताजी का राम प्रेमार्णव में समाहितीकरण व श्रीराम के अन्य क्रियाकलाप वैभव :-

लक्ष्मण जी के समझाने पर श्रीराम ने अपने शोक के वेग को शान्त किया और उसी प्रकार प्रसन्नचित्त से राज्य का कार्य करने लगे। वे मानवोचित गुणों में तो सम्पूर्ण थे ही परन्तु राजधर्म की सम्पूर्णता की ओर उनकी भाव दशायें पदार्पण कर रही थीं। जिस राज धर्म में साक्षात् इन्द्र भी अपने धर्म से च्युत हो जाते है। राजाधिकार के महान वैभव तेज को अपने कर्तव्य कर्मों में शीलत जल से शान्त करते हुए यथार्थतः प्रजा के प्रति पुत्रवत भाव की जागृति हो जाय यह तो सामान्य राजधर्म हो सकता है परन्तु जिसकी छत्रछाया में प्रजा अपने राजा को सम्पूर्णता से पिता ही समझती है, तो वह राजा प्रजा के इस सद्भावना के बदले में नहीं बल्कि अपने प्रताप तेज से ही प्रजा में ऐसे सुमति पूर्ण पवित्र भावों का ज्ञानोदय करा सकें कि वे भी प्रजापन में राजावत् सम्पूर्ण हो जाय।

अन्ततोगत्वा प्रजाजनों में सुमतिका विकास हुआ और उनमें सीता जी के प्रति दोष दर्शन के स्थान पर गुणों की सर्वाङ्गनीयता का भाव जागृत हुआ। प्रजा इस बात के लिए तो इच्छुक थी कि सीता जी पुनः राजाराम के वामभाग में सुशोभित होकर कौशल देश के राजसभा को गौरवान्वित करें। परन्तु सीता जी की भाव साधना की उँचाई इतनी बृहद्तर थी कि उसमें मात्र श्रीराम का सगुण स्वरूप समाकर श्रीराम के निराकार रूप निर्गुनत्व में अखण्डित और अनन्य बन चुका था। वे इसी भाव दशा में श्रीराम के दर्शनों की अभिलाषिणी थी। क्योंकि सीता जी का

स्वरूप दर्शन 'सदा शिव संहिता' में श्री महाविष्णु के द्वारा जो निर्दिष्ट है वह इस प्रकार से वर्णित किया गया है।

आनन्दावयव भिन्ना नित्यलीला सविग्रहा।
सर्व शक्तिमयी धात्री सर्वशक्ति वरा तथा॥
प्रेमनित्या सुखोत्पत्ति र्नित्यरूपा चिदात्मका।
ज्ञानमयी ज्ञान भूता ज्ञानदा ज्ञप्ति मात्रिका।

अर्थात वे आनन्दरूपिणी है आनन्द स्वरूप प्रभु से अभिन्न है नित्य लीला विधायनी है लीलारस विग्रहा है। सर्वशक्तिमयी एवं सभी शक्तियों की जननी तथा सभी शक्तियों की शिरोमणि है प्रेमरूपिणी है नित्य है सुख की उत्पति आप से ही होती है नित्य सुख स्वरूपा है। सच्चिदानन्द की आत्मा है, ज्ञानमयी है, ज्ञान स्वरूपा है, ज्ञान देने वाली है तथा ज्ञानमात्रिका है।

इस प्रकार की ज्ञानमयी सीता का अनन्त ज्ञान राजधिराज चक्रवर्ती कौशलेन्द्र श्रीरामचन्द्र के ज्ञान से पूरित है कि वे जो स्वरूपतः है।

श्रीसनत्कुमार संहिता में नारद वचनानुसार (श्रीराम)

भवोदभवं वेदविदां बरिष्ठमादित्य चन्द्रानल सुप्रभावरन्।
सर्वात्मकं सर्वगत स्वरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात्॥

"वे संसार को उत्पन्न करने वाले वेदतत्वज्ञों में सर्व शिरोमणि परमश्रेष्ठ अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि तेजस्विनों को अपने प्रभाव से प्रकाशित करते हैं। सभी स्वरूपों के आत्म स्वरूप सभी में अन्तर्यामी स्वरूप से विराजमान है। अज्ञानान्धकार से परे मैं श्रीराम को नमस्कार करता हूँ।"

तत्वस्वरुप पुरुषम् पुराणं स्वतेजसः पूरित विश्वमेकम्

वे तत्वों के परमतत्व पुरुषों में पुराण पुरूषोतम है उन्होंने अपने तेज से विश्व को प्रकाशित कर रखा है।

निरञ्जनं निस्प्रतिम् निरीहं निराश्रयं निष्कलम प्रयवञ्चम्।
नित्यम् ध्रुवं निर्बिषय स्वरूपम् निरन्तरं राममहं भजामि॥

वे निरन्जन निर्विकार उनकी समता का कोई नहीं है पूर्ण काम निष्काम। जिनके आश्रय वे ही है। वे माया की कलाओं से अतीत नित्य धुव्र अविचल, विषयों से विमुक्त है मैं उन्हीं प्रभु का भजन करता हूँ।

तो ऐसे गुणाधीश श्रीराम के गुणों के अवनि तल में प्रगट और विस्तीर्ण करने के लिए योगमाया सीता ही सर्व श्रेयष्करी स्वरूपिणी है।

लोक विमोहनी सीता जी ने स्वयं श्रीराम चन्द्र के कहने पर भक्त हनुमान को उपदेशात्मक शैली में कहा हैं।

मां विद्धि मूल प्रकृतिं सर्ग स्थित्यन्त कारिणीम॥

अर्थात् - मुझे ही संसार की उत्पत्ति स्थिति और अन्त करने वाली मूल प्रकृति जानो।

तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यते बुधैः।

तो भी इनकी सन्निधि मात्र से की हुई मेरी रचना को बुद्धिहीन लोग इन प्रभु में आरोपित कर लेते है।

रामोन गच्छति न तिष्ठति नानुसोचत्या काङ्क्षते।
त्यजति नो न करोति किञ्चित।

अर्थात- ये श्रीराम तो न चलते हैं, न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्यागते है और न अन्य कोई क्रिया हो करते है। परन्तु -

मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति।

अर्थात केवल माया के गुणों से ब्याप्त होने के कारण ही वे वैसे प्रतीत होते है।

इस तरह रामानुमोदित सीता जी का प्रतीक्षित वह शुभ काल आया जव भगवान बाल्मीक सीता जी और उनके दोनों पुत्रों को लेकर पूर्व से ही निर्धारित समय में पहुँचे। वहाँ पहिले से ही नगर पुर वासी और बहुत दूर तक से आये नर नारियों का समूह उमड़ रहा था। महर्षि बाल्मीक ने तो अपने समूचे तप को ही दाँव में लगा कर सीता जी को परमशुद्ध प्रमाणित किया। प्रजाजनों में तब तो हाहाकार मच गया जव सीता जी ने कहा कि मैं एक क्षण के लिए भी मन बचन और कर्म से अपने पति श्रीराम से अलग नहीं हुई हूँ।

यथाहं राधवादन्य मनसापि न चिन्तये।
तथा में माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।

अर्थात- "मैं रघुनाथ जी के सिवा दूसरे किसी पुरूष का स्पर्श तो दूर रहा मन से भी चिन्तन नहीं करती यदि यह सत्य है तो भगवती पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोद में स्थान दे।" विदेह नन्दिनी सीता के इस प्रकार कहते ही भूतल से एक अद्भुत सिंहासन प्रगट हुआ। जो बड़ा ही सुन्दर और दिव्य था जिसे नागों ने दिव्यरूप धारण करके उस सिंहासन को अपने सिरों पर धारण कर रखा था। सिंहासन के साथ ही पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी भी दिव्य रूप से प्रगट हुई।

सीता जी ने अपने देदीप्यमान दोनों पुत्रों को उन पुत्रों के पिता को सौपकर कहा कि जिस प्रकार लव और कुश पर आपका स्नेह होगा, उसी प्रकार प्रजा जनों पर भी स्नेहातिरेक हो। इस प्रकार जिन प्रजाजनों के कारण सीता जी पर कलंक व ज़िसके फलस्वरूप राजा राम द्वारा त्याग तथा उन्हें वनवास हुआ था। उन्हीं प्रजाजनों के हितार्थ राजा राम को आत्म निवेदन करना यही तो परमार्थ है। तभी पृथ्वी देवीजी उन्हें अपने दोनों भुजाओं से गोद में उठा लिया, और अभिनन्दन करके उन्हें सिंहासन पर बैठा लिया। तब तो आकाश से लगातार पुष्पों की वर्षा होने लगी।

पुष्पवृष्टिर विच्छिन्ना दिव्या सीतामवा किरत।

इस तरह अपने सगुन साकार स्वरूप को सीता जी ने श्रीराम के कथनानुसार ही पृथ्वी लोक से छिपा लिया। अव वे परमार्थ पथ प्रवीना श्रीराम के निर्गुन निराकार स्वरूप में ही अन्तर्निहित होकर उनकी सन्निधि का अनुभव करती हुई उनमें प्रवल प्रताप प्ररवर सूर्य के स्वरूप में अपनी योग प्रदत्तता का स्वरूप धारण किया जो दृष्टव्य न होकर अणु में सम्ब्याप्त था।

यथार्थतः सिद्ध ज्ञान की स्थिति में सीता जी का और श्रीराम का वियोग ही नहीं हुआ। परन्तु विश्व के रंग मञ्च में साधन का तत्व प्रकट करना है। इसलिए यह क्रिया भी साधन ज्ञान के माध्यम के ही प्रगट होगी। जिस प्रकार सिद्ध ज्ञानस्वरूप श्रीराम साधन ज्ञान स्वरूप सुग्रीव से मैत्री करने को समुत्सुक हुए और उन्हीं सुग्रीव की मित्रता से ही सीता जी की उपलब्धि का कार्य सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार श्रीराम निराकार ब्रह्म है, पर दशरथ सुत राम के स्वरूप में वे ''साधन ज्ञान के स्वरूप भूत ही कार्य विधियों से संचालित से'' आभाषित होते है। इसलिए रामराज्य एक ऐसा आदर्श राज्य है, जिसका साध्य है।

कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।

अर्थात अपने स्वरूप का या आत्मा का बोध हो जाने पर कर्म की क्रिया तो होती है परन्तु भगवान विष्णु के लिए नारद जी के कथन ''**करम शुभाशुभ तुम्हहि न बाधा॥**'' की तरह आत्म ज्ञान होने पर कर्म फल की स्थिति नहीं बनती है वे बन्धनमुक्त होते है। जिस प्रकार

रविमण्डल देखत लघु लागा।
उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।

उसी प्रकार

जब तें राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेशा।

यह है कौशलेन्द्र श्रीराम का अखण्डित ज्ञान परक निराकार प्रधान साकार श्री विग्रह

तव-पूरि प्रकास रहेउ तिउ लोका।

तव उस प्रताप रवि के प्रकाश से यह परिणाम हुआ कि

धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ए पंकज बिकसे विधिनाना॥
सुख सन्तोष विराग विवेका। विगत शोक य कोक अनेका॥

श्रीराम प्रताप के प्रवल सूर्य के उदय हो जाने से अविघारूपी रात्रि का ही अवसान हो गया।

प्रथम अविद्या निशा नसानी।

जिसके कारण अन्धकाररूपी अधप्रेमी उलूक (उल्लूओं का समूह) छिप गये।

अघ उलूक जहँ जहाँ लुकाने।

जीव के लिए जो कर्म की परम्परा थी कि

फिरत सदा मायाकर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

ते राम के प्रबल प्रताप से ऐसे कर्मों के प्रति सुख की चाह नहीं थी।

विविध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहि न काऊ॥

इसी प्रकार काल् कर्म स्वभाव के अनुसार दुःख की प्राप्ति में अत्यान्तिक निवृत्ति थी।

रामराज नभगेश सुनु सचराचर जग माहि।
काल कर्म स्वभाव गुन कृत दुख काहुन्हिनाहि॥

परमात्मा श्रीराम के राज्य पद में आसीन होने से

प्रगटी गिरिन्हि विविध मनिखानी। जगदातमा भूप जग जानी॥

और - **सागर निज मरजादा रहही। डारहि रत्न तटन्हि नरलहही॥**

इसके अनन्तर सभी प्रकार की सिद्धियों का ही अवध में स्थायी आवास ही हो गया।

यथा- **रमानाथ जहँ राजा सोपुर बरानि न जाइ।**
अनमादिक सुख संपदा रही अवधसब छाइ।

इसलिए श्रीराम के राज्य में सुख सम्पदा की अनन्तता का स्वरूप दर्शन :-

रामराज कर सुख सम्पदा। बरनि नसकहि फनीश सारदा।
अवधपुरी बासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज।
सहस शेष नहि कहि सकहि जहँ नृप राम बिराज।

ब्रह्मा के सृष्टि रचना विस्तार हेतु जव आदिसम्राट स्वायम्भुत मनु और महारानी शतरूप ब्रह्मा के शरीर से प्रगट हुए, तब सब जीवों का निवास स्थान पृथ्वी प्रलय के जल में डूबी रसातल में थी। तभी पृथ्वी का उद्धार करने हेतु ब्रह्मा के नासा छिद्रों से यज्ञ मूर्ति आदि बाराह के स्वरूप दर्शन हुआ। जिसको ही उन परब्रह्म परमात्मा ने साधन रूप में स्वीकार कर प्रगट हुए। अर्थात अघम योनि होते हुए भी पृथ्वी उद्धार की सिद्धि बाराहाबतार में ही सम्भव थी। फिर स्व स्वरूप में हो गये। इसी प्रकार **''भृकुटि विलास जा सुलय होई''** उन सर्वेश्वरी योग माया सीता जी का (छायारूप में) हरण किया जाना भी साधन रूप में हरण कर्ता रावण वध के लिए आवश्यक था।

पृथ्वी की सृष्टि ही रजोगुणी है। कार्य सिद्धि के लिए रजों गुण की स्वीकारोक्ति आवश्यक है। परन्तु कार्य सिद्धि के अनन्तर अपने स्वरूप की स्थिति भी परमावश्यक है। श्रीराम अपने मर्यादा पुरूषोत्तम की समग्रता के बन्धन में भी अनन्त है।

प्रवर्षण पर्वतासीन श्रीराम के सामने असंख्य सेना बानरों की उन्हीं श्रीराम के लिए सेवार्थ उपस्थित है। और श्रीराम है **''जद्यपि राम सीम समता की।''** इसलिए समतागुण की प्रतिष्ठा निर्बाह हेतु **''विश्व रूप व्यापक रघुराई''** के स्वरूप में उन श्रीराम को सिद्धि मिल पाई कि समता का सानुकूल निर्वाह हुआ। और-

अस कपि एक न सेना माही।
राम कुशल जोहि पूँछी नाही॥

अर्थात् सभी वानरों का अलग अलग श्रीराम से सामना होते हुए कुशल मंगल पूछा जाना सम्भव हो पाया।

अनन्त ब्रह्म के कार्य सिद्धि हेतु साधन रूप में सेना तो चाहिए क्योंकि अनन्त ब्रह्मस्वयं मानव रूपमें है अतः बानरों की सेना है परन्तु है अनन्त। शंकर जी पार्वती से कहते -

बानर कटक उमा मैं देखा।
सो मूरख जो करन चह लेखा॥

श्री शुकदेव जी जन्म लेते ही ज्ञान योग से सम्पन्न थे, इसलिए उन्होंने जन्म लेते ही मोहमाया स्थल से दूर वन का ही रास्ता अख्तियार किया था, क्योंकि वन स्थल ही ज्ञान परिमार्जन हेतु उपयुक्त स्थल होता है इसलिए श्रीराम माता कैकई को वन गमन के पूर्व अपने उद्‌गार प्रगट करते है -

मुनिगन मिलनु विशेष बन, सवहि भाँति हित मोर।
तेहिमहँ पितु आयसु बहुरि सम्मत जननी तोर॥

चित्रकुट के निवास आश्रम पर श्री भरत और शत्रुघ्न के वहाँ पहुँचने के पूर्व -

वेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
लसत मन्जुमुनि मण्डली मध्य सीय रघुचन्द।
ग्यान सभा जनु तनुधरे भगति सच्चिदानन्द॥

परन्तु उस ज्ञान की सभा में जहाँ सच्चिदानन्द श्रीराम और भगति श्री सीता जी सुशोभित है तथा मुनियों का समाज एकत्र है तो वहाँ का वायु मण्डल ही ज्ञानमय है। परन्तु राम भरत मिलाप के कुछ ही समय पूर्व भरत के हृदय में अन्तर्भूत प्रेम वहाँ के वातावरण को भी प्रभावित करके -

देखि भरत गति अकय अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

इस प्रकार स्नेह में पगे श्रीभरत निषादराज और शत्रुघ्न जैसे ही उस ज्ञान की सभा में प्रवेश किये तव उनकी दशा

सानुज सखा समेत मगनमन। बिसरे हरष शोक सुख दुखगन॥

अर्थात ज्ञान के प्रकाश में सभी हरष विषाद सुख दुख के द्वन्दज से ही निवृत होकर मगनता की स्थिति में समाहित हो गये। उस ज्ञान की सभा में विज्ञानघन सच्चिदानन्द की उपास्थिति से योग माया ने उस सभा को द्वन्द से मुक्त समत्व में ही समस्त वातावरण के साथ सानुज भरत सखा के स्वागत के लिए परिवर्तित कर दिया हो।

समत्व श्रीराम के स्वभावगत भावो में ही रमन करता है श्री भरत जी निषादराज से कहते है-

पुरजन परिजन गुरू पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुख दाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करही। बोलानि मिलानि बिनय मन हरही॥

चित्रकूट के बनवास काल में श्रीराम में निहित समता तत्व इतना प्रभावशील है कि चित्रकूट के समूचे वातावरण को ही समतामय बना दिया है तब चित्रकूट के वनों में -

करि केहरि कपि कोल कुरङ्ग। बिगत बैर बिचरहि सब सङ्ग॥

श्रीराम के स्वरूप दर्शन में ही यह सङ्गतता है कि

ग्यान मान जहँ एकउ नाही। देख ब्रह्म समान सव पाही॥

इसलिए उनके इस स्वरूपगत समता का प्रभाव विषैले जीव जन्तुओं तक को प्रभावित करता है यथा -

जिन्हहि निरखि मग सापिनि बीछी।
तजइ विषम विष तामस तीछी॥

मेघ तक श्रीराम के समदर्शी स्वभाव के प्रति अनुग्रहीत होकर-

जहँ जहँ जाहि देव रघुराया। करहि मेघ तहँ तहँ नभ छाया।

निर्गुन निराकार ब्रह्म की मूल प्रकृति योगमाया ने प्रकृति को ही उन श्रीराम के समता तत्व के आधार पर रितु और कुरितु को त्याग कर सम कर दिया है यथा

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरू कुरितुकाल गति त्यागी॥

वन के स्वभाव गत बैर की तरह समुंद्र के जल जीवों में भी एक दूसरे को भक्षण करने की सहज प्रवृत्ति होती है।

अइसेउ एक तिन्हहि जे खाही। एकन्ह के डर तेपि डेराही॥

परन्तु वे सभी जलचर जीव प्रभु को देखने मात्र से

प्रभुहि विलोकहि टरहिन टारे। मन हरषित सव भये सुखारे॥

धन्य है विस्तारित समता का दिव्य प्रकाश जो प्रभु श्रीराम में अन्तर्भूत होकर सभी में इस तत्व के आलोकित होने की समरसता प्रदान करता है।

पार्वती जी नारद के विषय में चर्चा करती हुई, भगवान शंकर से कहती है,

नारद विष्णु भगत पुनि ज्ञानी॥

और नारद जी के गुरू है सनकादिक।

सनकादिक आदि मुनि जन है परमार्थ वादी।

पार्वती जी प्रश्नों के स्वरूप में शंकर से कहती है

प्रभु मुनि जे परमारथ वादी। कहहि राम कहुब्रह्म अनादी॥

और वे ही राम है ''ज्ञान अखण्ड एक सीता वर'' और वे ही सीतावर श्रीराम कौशलाधीश पद की आशीनता पर होने के उपरान्त जव प्रभु श्री कौशलाधीश हनुमान जी महाराज और अपने सभी भाईयों के साथ अयोध्या के सुन्दर उपवन में है, तभी सनकादिकों का वहाँ आगमन हुआ। कौशलाधीस की अपनी संतुष्टि में वे कहते है **दीन बन्धु समता बिस्तारय।**

अर्थात "हे दीन बन्धु आप हम में समता का बिस्तार करिये" तात्पर्य यह कि परमारथवादी होने पर भी वे अपने समता के गुणों में पूर्ण नहीं है।

जिस स्वरूप में अपरमित अनन्त समता तत्व का महासागर अन्तर्निहित है, वे है कौशलाधीश श्रीरामचन्द्र जो आनन्द सिन्धु सुखराशी है।

और वे ही सीकर से त्रैलोक्य सुपासी है तो कौशलाधीश यद्यपि श्रीराम है महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी होने के साधन रूप। परन्तु अनन्तता में वे आनन्द सिन्धु है और वे ही अगुन अखण्ड अनन्त अनादि है।

इन विशेषणों से संयुक्त होने से वे वही है -

जेहि चिन्तहि परमारथ वादी।

तव ईश्वर अंशजीव अविनासी और जीव में विशेषता है -

चेतन अमल सहज सुख रासी।

तो यथार्थतः श्रीराम का प्रवल प्रताप ही है कि वह जीव उन कौशलाधीस के प्रवल प्रताप से अन्ततः अपने स्वरूप में स्थित है। तव उनका प्रताप अनु अनु में सम्ब्याप्त होकर जन जन मात्र में ही नहीं जड चेतन को भी अपने प्रताप प्रभाव से अन्तर्निहित किये है उनके प्रबल प्रताप की अनन्तता पृथ्वीलोक भर में ही ससीम नहीं है क्योंकि

नारदादि सनकादि मुनीसा। दर्शनलागि कोशलाधीसा॥
दिनप्रति सकल अयोध्या आबहि। देखि नगर बिराग बिसराबहि॥

दर्शन करने के लिए नारद जी तो अयोध्या नगरी में बार बार आते है-

एहि विधि चरित करत नित नए।
बार बार नारद मुनि आबहि॥
चरित पुनीत राम के गावहि॥

परन्तु वे मुनिराज नारद-

नित नव चरित देखि मुनि जाही। ब्रह्मलोक सब कथा कहाही॥

जिन नवीन नवीन चरित्रों को ब्रह्मा जी सुन कर सुखी होते है -

सुनि बिरचि अतिशय सुखमानहि। पुनि पुनि तात करहु गुन गानिह॥

और ब्रह्मा जी उन नवीन नवीन श्रीराम के चरित्रों को सुनसुन कर पुनः पुनः नारद जी से उनका गायन करने के लिए कहते है क्योंकि उन्हें सुनने पर ब्रह्मा जी को अतिशय सुख होता है। उन नये नये चरित्रों को सुनने पर सनकादिकों को भी अतिशय सुख की अनुभूति होती है जिससे वे नारद जी के बार-बार श्रीराम के धाम अयोध्या नगरी में जाने की सराहना करते है-

सनकादिक नारदहि सराहहि। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहि॥

उन कोशलाधीस के नवीन नवीन चरित्रों की यह विशेषता है कि जिनकों सुनने से समाधिस्थ स्थिति में मिलने वाला अत्यान्तिक सुख भी विस्मृत हो जाता है इसलिए श्रीराम के प्रवल प्रताप से सन्निहित निर्गुन तत्व के सुनने के अधिकारी परम परमार्थ वादी ही है जिनको ज्ञान के परिमार्जन से उनमें इतनी पैठ हो चुकी है कि उन श्रीराम के चरित्रों को समझ सकें।

सुनिगुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहि परम अधिकारी॥

अथवा -

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥

●○●○●

23. प्रभु श्रीराम में प्रताप सृष्टि के स्वरूप दर्शन

श्रीरामचरित मानस के ''छाये'' शब्द पर आधारित -

जनकपुर में जब श्रीराम अपने अनुज लक्ष्मण के साथ पुष्प वाटिका में पुष्प चयन हेतु विचार रहे थे, तभी श्रीराम की दृष्टि जनकनन्दिनी पर पड़ी जो वहाँ गौरी पूजन हेतु अपनी सखियों के संग आयी हुई थीं। तब राम के मन की प्रतिक्रिया -

देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचन न आवा॥

श्रीराम अपने मन के भावों को लक्ष्मण जी से बताने लगे -

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारण जान विधाता। करकहि सुभद अंग सुनु भ्राता॥

सीताजी के **''सुन्दरता कहु सुन्दर करही''** के गुणों के कारण श्रीराम के मन की दशा उस स्थिति तक पहुँची, कि

करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छवि करइ मधुप इव पान॥

यहाँ दशरथनन्दन राम सिद्ध ज्ञान रूप में नहीं बल्कि नर के साधन रूप में है, और उनके मन में सीता जी के प्रति आकर्षण का तत्व उस निराकार परब्रह्म से **''प्रीति पुरातन लखै न कोई।''** के आधार पर संचालित है। तो यह तो एक संयोगात्मक तथ्य है।

परन्तु श्रीराम अपने छुभित मन:स्थिति की दशा को सीता के प्रति मन के बहाव को आधार मानकर नहीं चल सकते, क्योंकि वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। सीताजी के रूप में श्रीराम के मन का रंग जाना और उन्हें लोभी बना देना मात्र सीताजी को प्राप्त करने का स्वरूप दर्शन श्रीराम को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह तो सीताजी के पिताजी की प्रतिज्ञा यद्यपि है. -

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा। राज समाज आज जोइ तोरा॥
त्रिभुवन जय समेत वैदेही। बिनहि विचार बरइ हठि तेही॥

परन्तु श्रीराम तो हठधर्मी नहीं हो सकते हैं, अत: सीताजी के मन के रूझान को बिना जाने श्रीराम सीताजी को अपने मन की सार्वभौमिकता के आधार पर पत्नी रूप की ग्रहणीयता को मर्यादित नहीं मान सकते। द्रुपद के प्रतिज्ञानुसार ही कर्ण के द्वारा मत्स्य बेध किए जाने के लिए

तत्पर कर्ण को द्रोपदी की अचाह ने ही कर्ण को मत्स्य वेध करने से रोक दिया था। इसलिए श्रीराम ने जब सीताजी का सम्पूर्ण समर्पण इस रूप में देखा कि क्षण भर की धनुष खण्डन में देरी किये जाने पर जनककुमारी का कहीं प्राणान्त न हो जाय, तब श्रीराम ने – **''तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।''** तो निर्गुण निराकार ब्रह्म की योगमाया ने ऋषि विश्वामित्र के अपने यज्ञरक्षणार्थ श्रीराम लक्ष्मण को बुलाये जाने की प्रेरणा दिया और पुनः धनुष यज्ञ दर्शनार्थ जनकपुर रामलक्ष्मण के साथ ही वे ऋषि श्रेष्ठ जाने को प्रेरित किये गये। जो योगमाया सीता और ब्रह्म राम के वैवाहिकी माध्यम से मिलन का कारण हुआ।

गाँवों से कुछ दूर ही जंगल में एक महात्मा जी कुटी बनाकर रहते थे, उनके पास एक पन्द्रह सोलह वर्ष का बालक भी रहता था, परन्तु बहुत छोटे से रहने कारण और कहीं भी उस बालक को भिक्षादि कार्यों के लिए न भेजने के परिणाम स्वरूप उसका साक्षात्कार केवल नर समाज के लोगों से ही हुआ था। अकस्मात् एक दिन महात्मा जी को तेज ज्वर था, इसलिए उन्होंने परबसता–वश उस बालक को ही निकट के गाँवों से भिक्षा माँगकर लाने को कहा –भिक्षाटन के उद्देश्य से वह बालक एक कुएँ से पानी भरने वाली स्त्रियों को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और उन स्त्रियों से पूँछ बैठा कि ''आप लोगों के उभरी हुई छाती में ये क्या है?'' तब एक सयानी सी औरत जो यह समझ गई थी कि वह महात्मा जी के कुटी से आने वाला बालक है। तो, उसने उत्तर दिया – ''हम स्त्री जाति वालों को ही परमात्मा ने बच्चों को उत्पन्न करने का अधिकार दिया है, तो बच्चा तो जब कभी अरसे में पैदा होगा, परन्तु उस परमात्मा ने उस बच्चे के लिए अभी से उसके भोजन का प्रबन्ध अपनी माँ के दूध के रूप में कर दिया है। बच्चा पैदा होने पर इसी उभरी हुई छाती से दूध निकलेगा, जिसे वह बच्चा पीकर जीवित रहेगा।''

महात्मा जी के कुटी से आये, उस बालक के बुद्धि में यह बात घर कर गई, कि जब वह परमात्मा उस बच्चे के लिए अभी से इतना चिन्तित है कि उसके पैदा होने के पूर्व से ही उसके भोजन का प्रबन्ध सञ्चित किये है, तो वह मेरे लिए भी अवश्य चिन्तित होगा। ऐसा सोच कर वह बालक बिना भिक्षा माँगे ही महात्मा जी की कुटिया में लौट आया और पूरे विश्वास के साथ परमात्मा के व्यवस्था की बाट जोहते हुए कुटी में भगवत स्मरण करने लगा। उसके निश्चिन्तता से कुटी से कहीं न जाने पर उन निराकार ब्रह्म को उस बालक के भूखे रहने की चिन्ता से उनकी योगमाया ने किसी भावुक भक्त को चेताया और वह भोजन की सारी सामग्री कई दिनों के लिए लेकर महात्मा की कुटिया में भेज आया।

भक्त बालकराम नाम के महात्मा सीताराम के नाम के भजनानन्दी थे ग्राम से कुछ दूर कुटी बनाकर रहते थे, दिन भर कुटिया बन्द रखते और अखण्ड भजन करते थे।

एक दिन सन्ध्या के कुछ पहिले कुटी के बाहर अकेले बैठे श्रीसीताराम नाम का जाप कर रहे थे, कि इतने में कुछ ही दूर के गाँव की रहने वाली एक स्त्री ने महात्माजी के चरणों में प्रणाम किया और अपने परिचय में अमुक जमींदार की पुत्रवधू बताते हुए उनके आशीर्वाद से अपनी गोद को हरी भरी देखने की प्रार्थना किया।

तब महात्माजी ने भगवान का स्मरण करने और उन्हीं से प्रार्थना करने को कहा और आगे कहा – ''वे जो उचित समझेंगे वही करेंगे, उसी में तुम्हारा परम कल्याण होगा।'' महात्मा जी की बात सुनकर उस स्त्री को निराशा तो हुई, परन्तु वह बेचारी कुछ नहीं बोली। इसके पश्चात् पुनः महात्मा जी ने कहा ''सावधानी से जाना कोई संकट आये तो सीताराम कहना।''

जमींदार वधू चार-छः खेतों को जैसे ही पार किया कि कुछ चोरों ने उसे घेर लिया। जब उसने अपने को घोर संकट में देखा तो महात्मा जी के वचनों में विश्वास करके ''सीताराम सीताराम'' पुकारने लगी। इतने में उसने देखा कि एक श्याम, सुन्दर सशस्त्र नवयुवक दौड़ा आ रहा है और उन नवयुवक के पीछे भक्त बालकराम जी दौड़ रहे हैं। नवयुवक ने आकर चोरों पर गहरी चोट की। चोर बेचारे अपनी जान बचाकर उसी क्षण भाग गये। तव पुनः जमींदार की वधू ने देखा कि अब वहाँ कोई भी नहीं है।

सिद्ध महात्मा जी को जमींदार वधू को चोरों से घिर जाने का पूर्व ज्ञान था, इसलिए उन्होंने जमींदार वधू को सीताराम सीताराम जपने के लिए बल दिया था। परन्तु उसी क्षण नवयुवक का सशस्त्र होकर प्रगट होना और नवयुवक के पीछे महात्मा जी का होना उन निर्गुण निराकार स्वरूप का ही कार्य सिद्धि हेतु स्वरूप दर्शन हैं, जो अधिकारी की सिद्धि स्थिति के वचनों पर प्रगट होकर तदानुकूल कार्य किया और अंतर्ध्यान हो गये।

वृन्दावन के एक स्थल पर बैठे महात्मा सूरदास और सन्त तुलसीदास भगवत चर्चा में मगन थे कि किसी व्यक्ति ने आकर कहा कि ''भागिये भागिये एक मतवाला हाथी इसी ओर ही आ रहा है।'' यह सुनकर सूरदास तो उठकर चल पड़े परंतु तुलसीदास अपने श्रीराम के विश्वास पर ही बैठे रहे। मतवाला हाथी उन पर आक्रमण करने ही वाला था, इतने में लोगों ने देखा, कि कहीं से छूटे हुए बाण आकर हाथी के शरीर में घुस गये और हाथी वहीं ढेर हो गया। तो ऐसा कहा जा सकता है कि तुलसीदास के इष्टबल और विश्वास बल पर ही श्रीराम के निराकार स्वरूप ने ही बाण का रूप धारण कर अद्भुत रूप से संत तुलसीदास की मतवाले हाथी से रक्षा की।

आङ्गिरस गोत्रीय एक ब्राह्मण कुमार थे। वे देहाभिमान से परे द्वन्दों से मुक्त थे और निर्गुण निराकार-ब्रह्म भाव में रहते हुए अपने भाइयों के आदेश से रात्रि समय में खेतों की रखवाली कर रहे थे।

दैवयोग से कुछ डाकुओं ने उन्हें रात्रि में पकड़कर भद्रकाली के सामने उनका बलि चढ़ाने हेतु सिर नीचा कराके बैठा दिया और नर पशु के रूधिर से देवी को तृप्त करने के लिए दस्युराज के पुरोहित ने देवी मंत्रों से अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण खड्ग उठाया। यह भयङ्कर कुकर्म देखकर देवी भद्रकाली के शरीर में अति दु:सह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा। वे मूर्ति विग्रह से प्रगट होकर उसी खड्ग से सभी डाकुओं के सिर उड़ा दिये। गणों के सहित उन डाकुओं का ही गरम गरम रूधिर पीकर उनके सिरों को गेंद बनाकर खेलने लगी।

इस प्रकार जो देहाभिमान से मुक्त, समस्त प्राणियों के सुहृद् एवं आत्मा तथा बैरहीन हैं, उन ब्रह्मरूप ब्राह्मणकुमार की साक्षात् भगवान ही भद्रकाली का रूप धारण कर काल चक्र रूप शस्त्र के द्वारा जिनकी रक्षा करते हैं, जो अपना सिर कटने का अवसर आने पर किसी भी प्रकार व्याकुल नहीं होते, ऐसे परमहंस के लिए वह निराकार सर्वव्यापी ब्रह्म ही पापियों और हिंसा वृत्ति में प्रवीण तथा उन्मत्त चित्त वालों को दण्ड देकर सर्व सुहृद भगवान ही भक्त की रक्षा करते हैं।

इस प्रकार निर्गुण निराकार की स्थिति अनादि हैं, यहाँ तक कि महाप्रलय काल में भी उस अविनाशी परमात्मा की सचेष्ट स्थिति उसी प्रकार रहती है, जैसे सृष्टिकाल में।

यथार्थत: सगुण रूप में अवतरण और अवतारी स्वरूपानुसार कार्यों का निष्पादन तो एक परमार्थिक स्वरूप दर्शन है, जिनके हेतु में सगुण रूप का अवतरण हुआ है, परन्तु हर स्थिति में परमात्मा का स्वरूप है –

अनादित्वान्निर्गणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

गीता १३/३१

अर्थात् – अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न ही लिप्त होता है।

प्रकृति और उसके गुणों से जो सर्वथा अतीत हो, गुणों और गुणों के कार्य से जिसका किसी काल और किसी अवस्था में कोई सम्बन्ध न हो तो वह निर्गुण है। इसलिए वह अकर्ता, निर्लिप्त और अव्यय है। इसलिए श्रीराम ने अयोध्या के राजकुमार के उपाधि रूप में बालकाल में अयोध्यावासियों को सुखी किया और विवाहोपरान्त वनवास को ही श्रेयष्कर बनाया। तथा चित्रकूट को पावन स्थल के रूप में विनिर्मित किया। चित्रकूट में आने पर माता-पिता सुहृदों परिजनों और नगरवासियों से चक्रवर्ती दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र की जो सम्मानित उपाधियाँ थी, जिन्हें सगुन साकार श्रीराम के माध्यम से ही स्वीकारोक्ति की स्थिति सम्भव थी। उन सभी से छुटकारा मिल गया।

सीताजी के पिताश्री के पूर्वज महाराज निमि का वशिष्ठ ऋषि के श्रापवश शरीर पात हो गया पुनः उनसे जब शरीर धारण के लिए कहा गया तो उन्होंने साकार शरीर विग्रह को स्वीकार नहीं किया जिसके कारण उनकी निराकार स्वरूप स्थिति में सबके नेत्रों में वास करने की स्थिति बनाई गई। नेत्रों के पलकों और बन्द होने पर महाराज निमि की उसी निराकार स्थिति का ही आभास है।

अंशावतार भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ट पुत्र भरत जंगल में वास करके अपने संस्कार जनित दोषों से तपस्या और निर्गुन ब्रह्म के चिन्तन के द्वारा मुक्तावस्था में थे, परन्तु एक हिरनी के शिशु पालन के कारण उस पर आसक्ति हुई और उसी आसक्ति के कारणभूत ही उन्हें अगले जन्म में हिरण ही बनना पड़ा।

ब्रह्म के सगुण साकार और निर्गुण निराकार स्वरूप में भी साकार ब्रह्म निश्चित बाध्यताओं और बन्धनों के कारण निराकार की तरह सुलभ नहीं है, इसी से यह कहा गया है कि -

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥

(रामचरित मानस उत्तर. ७३ख)

इसलिए श्रीराम सगुण साकार श्रीविग्रह में भी उचित अवसर पर प्रत्यक्ष या परोक्ष ही अपने अखण्ड और अनन्त निर्गुण परक स्वरूप का दर्शन कराने में प्रयोजन सिद्ध थे। इसलिए वे विश्व को रचने वाले सनातन विष्णु भगवान (श्रीराम) निर्विकार होकर भी (अपनी योगमाया के आश्रय से) नाना प्रकार की लीलायें करते हैं। वे विद्युत होकर चमकते हैं, अग्नि होकर प्रज्वलित होते हैं। वे ही विष्णु रूप से रक्षा और रूद्र रूप से संहार करते हैं।

विद्योततेज्वल त्येषपातिचात्तीति विश्वकृत्।
क्रीड़ा करोत्य व्ययात्मा सोऽयं विष्णुः सनातनः

अध्यात्म रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ३/४८

यह स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण त्रैलोकी एक मात्र उन्हीं में व्याप्त है।

तेन सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्।

अध्यात्म रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग ३/४९

वनवास में तो चित्रकूट के विस्तृत वनों में ही उन श्रीराम की राजधानी है। क्योंकि -

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

कहकर माता कौसिल्या को संबोधित किया। पुनः बाल्मीकि मुनिवर ने कहा -

चित्रकूट गिरि करहु निवासू। जहँ सब भाँति तुम्हार सुपासू॥

मुनिवर के उद्गार थे - **राम देहु गौरव गिरवरहू॥**

चित्रकूट रघुनन्दन छाये :-

रघुनन्दन छाये की अभिव्यक्ति श्रीराम के लिए एक अलौकिक भाव की ही सृष्टि करता है। यथा - राम रावण युद्ध में जब मेघनाद ने बाणों की झड़ी लगा दी, तो दशों दिशायें बाणों से आच्छादित हो गई - तब - **दसदिशि रहे बान नभ छाई।** तो बानों का नभ में छा जाना - यह भाव श्रीराम के "चित्रकूट रघुनन्दन छाये" के अर्थ भाव समझने के लिए कुछ भाव दशा निर्देश की दिशा प्रदान करता है।

इसी प्रकार सूर्य के उदय होने पर सूर्य मण्डल का प्रकाश सम्पूर्ण नभ में छा जाता है और दिशायें विदिशायें प्रकाशित हो जाती हैं। सूर्य और सूर्य का प्रकाश दृष्टव्य है, परन्तु श्रीराम का छाया जाना अखण्ड अनन्त ज्ञान के अन्तर्गत उनकी निराकार प्रतीति की एक अभिव्यक्ति है।

जिन श्रीराम के बालकपन में बाललीला के अन्तर्गत काकभुशुण्ड उनके उदर में प्रवेश (श्रीराम के उदर में) करने पर, काक भुशुण्ड को वहाँ देखने को मिला -

देखउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीशा।
अगणित उड़गन रवि रजनीशा॥

तो वे ही श्रीराम चित्रकूट रघुनन्दन छाये। योगमाया के द्वारा, जो रघुननन्द छाये के भावों में प्रतीतियाँ है उनमें विभिन्नतायें हैं। चित्रकूट में प्रभु श्रीराम साक्षात् कामदेव, सीताजी रति और लक्ष्मणजी बसन्त (कामदेव पुत्र) के रूप में सुशोभित है -

लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनि वेष जनु रति, रितुराज समेत॥

मदन, रति और बसन्त अमरलोक के है और सुन्दरता या छवि के देवता हैं। इसलिए -

अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला॥

इसके साथ ही साथ श्रीराम के पिता महाराज दशरथ, श्रीराम को अयोध्या का राज्य ही तो देना चाह रहे थे परन्तु चाहते हुए भी नहीं दे पाये, उनका समर्पण तो सम्पूर्ण था, तो परमारथ रूप में श्रीराम उसे स्वीकार करते हैं। और अवध के राज्य के स्थान पर उन्हें वनवास मिला, इसलिए कानन का ही राज्य मिला। परन्तु वन का रहवास भी पुरुष वर्ग के लिए कोई राज्य वैभव विलास भौतिक सम्पदा का स्थल तो नहीं है। इसलिए श्रीराम अपने पिता की अनन्त भाव पूर्ण देयता को अनन्त गुणा भाव में स्वीकार करते हैं।

वरषि सुमन कह देव समाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू॥

अर्थात् - जिनको पाकर देवतागण ही अपने को सनाथ मानें वह तो स्वर्गलोक के राजासिंहासन की आधिपात्यता से भी बहुत अधिक सनाथ बनाने में प्रबल होगा।

अत: देवतागण उन अनाथों के नाथ से अपने दुसह दु:ख को सुनाया, क्योंकि वे उन दु:खों के समन होने हेतु ही निवेदन करना चाह रहे थे -

करि विनती दुख दुसह सुनाये।

और उन अनाथों के स्वामी को दु:ख सुनाने का फल हुआ -

हरषित निज निज सदन सिधाये॥

अर्थात् उनके दु:खों का अत्यान्तिक समन हो गया इसलिए वे हर्षित हो गये और तब वे अपने सदनों को सिधारे। इसके पश्चात् मुनियों का समाज प्रभु श्रीराम के आश्रम स्थल में आया। परन्तु श्रीराम का वन गमन के पूर्व का ही यह कथन है -

मुनिगण मिलन विशेष सुख सवैभाति हित मोर।

इसलिए - **आवत देखि मुदित मुनिवृन्दा। कीन्ह दण्डवत रघुकुल चन्दा॥**

और - **मुनि रघुवरहि लाइ उर लेही। सुफल होन हित आसिष देही॥**

यह है "मुनि गन मिलन" जब मुनि वृन्द स्वयं श्रीराम वास स्थल पर पहुँचकर श्रीराम के साकार विग्रह को अपने हृदय में लगाकर उनको सफल होने का शुभाशीर्वाद दे रहे हैं। हृदय में लगाते हुए मानो वे यह कह रहे हो कि "आप हमारे हृदय में निवास करिये।" क्योंकि वे मुनिजन जिन कारणों से प्रवृत्ति मार्ग का त्यागकर निवृत्ति मार्ग को साधन रूप में स्वीकार किये हैं, तो उनके साधनों की सम्पूर्ण सफलता का फल उदित होकर उन्हें यह आभाषित करा रहा है -

सिय सौमित्र राम छवि देखहि। साधन सकल सफल करि लेखहि॥

अब वे अपने आश्रमों में अभय होकर गए और -

करहि जोग जप जाग तप निज आश्रमहि सुछन्द।

तत्पश्चात् -

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनुनवनिधि घर आई॥

उनका कथन था-

अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमन राउर कौशलराय॥

अब वनस्पति जगत में वन की मंगलदायकता भी अलौकिकरूप में सुशोभित है। यथा -

फूलहि फलहि विटप विधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥
सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाये। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आये॥

वातावरण पर अलौकिक प्रभाव है -

गुञ्ज मंजुतर मधुकर श्रेणी। त्रिविध बयारि वहइ सुख देनी॥

चित्रकूट के वनों में रहने वाले पक्षियों तक में विलक्षणता निहित है -

नीलकण्ठ कल कण्ठ सुक चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहि विहङ्ग श्रवन सुखद चित चोर॥

चित्रकूट में विचरने वाले जंगली जानवरों में यह प्रभाव है कि

करि केहरि कपि कोल कुरङ्ग। बिगत बैर विचरहि सवसङ्ग॥
फिरत अहेर राम छवि देखी। होहि मुदित मृग वृन्द विशेषी॥

इससे चित्रकूट की महिमा में, श्री रघुनन्दन के वहाँ छाये रहने से इतना उत्कर्ष और विकास हुआ कि -

उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहि तेते॥

विन्ध्यांचल पर्वत इतना आनन्दित है कि उसके मन में सुख ही नहीं समा रहा है, क्योंकि चित्रकूट विन्ध्यांचल की ही शाखा है -

विन्धि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु विपुल बड़ाई पाई॥

मंगलमय श्रीराम के चित्रकूट में निवास करने के कारण चित्रकूट के

विहङ्ग मृग बेलि विटप तृन जाति।
पुन्य पुञ्ज सब धन्य अस कहहि देव दिन राति॥

तो ''चित्रकूट रघुनन्दन छाये'' के कारण ही वहाँ पर स्वतः ही ऐसी स्थितियों परिस्थितियों का निर्माण हुआ कि कण कण में सुख के सजातीय तत्वों का आगमन हुआ और वास हो गया।

क्योंकि -   **महिमा कहिअ कवन विधि तासू।**
सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू।।

पर यह सब श्रीराम के निर्गुण निराकार स्वरूप का ही प्रदिपादित स्वरूप का दर्शन है।

परन्तु योगमाया जो उन कृपानिधान की इच्छा मात्र से विलक्षण और आश्चर्यमय स्थितियों का निर्माण करती है, चित्रकूट को इतना पुण्यमय बना दिया कि

परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परम पद के अधिकारी।।

चित्रकूट की इस महिमा पूर्ण अन्तः बाह्य सजावट का प्रयोजन अवश्य ही किसी परमार्थिक सत्य के स्वरूप का हेतु होगा। चित्रकूट की महामहिमा का निखार तो अनन्तता में इस रूप तक में गायन योग्य हुआ कि -

पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखन राम रहे आई।।
कहि न सकहि सुषमा जसि कानन। जौ सत सहस होहि सहसानन।।

अर्थात् - छीर सागर और अयोध्या को त्याग कर जहाँ सीता जी लक्ष्मण जी और श्रीरामचन्द्र जी आकर रह रहे हैं उसकी शोभा का वर्णन यदि हजार मुख वाले शेष जी लाखों शेषनाग रूप धारण करके करें, तब भी नहीं कर सकते हैं।

वनवास काल में चित्रकूट के अतिरिक्त अन्य स्थलों में भी श्रीराम लक्ष्मण और सीताजी का वास हुआ है और वहाँ भी श्रीराम के रहवास में **''चित्रकूट रघुनन्दन छाये।''** की तरह ही श्री तुलसीदास जी ने छाये शब्दों के प्रयोग से उन श्रीराम के निराकार के भाव का दर्शन पाया। परन्तु चित्रकूट के वर्णनातीत अभिव्यक्ति की तरह उन स्थलों की प्रतीति का भान उनको सुलभ नहीं हुआ।

चित्रकूट की महिमा का वर्णन बृहद् वशिष्ठ संहिता में इस प्रकार है -

चित्रकूटेसु गङ्गायाः मृत्तिका मङ्गलायिनीम।
तिलके तु सदा ग्राह्या श्रीरामस्य पदाङ्किता।।

अर्थात् - श्री चित्रकूट तथा श्रीगङ्गा जी मङ्गलमयी मृत्तिका जो श्रीसीताराम जी के चरणों के अङ्कित भूमि के द्वारा प्राप्त की गई हो, वही तिलक करने के लिए सदैव ग्रहण करना चाहिए। मुनिवर बाल्मीक ने श्रीरामजी से चित्रकूट की महिमा का बखान करके ही वहीं पर श्रीराम जी को अपना निवास बनाने के लिए कहा -

चित्रकूट महिमा अमिल कही महामुनि गाय।

चित्रकूट महिमा के कारणभूत तत्त्व :-

महर्षि वशिष्ठ साकेत धाम के सात आवरणों की कथा भारद्वाज मुनि को सुनाते हुए कहते हैं

मिथिला चित्रकूटश्च श्रीमद् वृन्दावन तथा महा बैकुण्ठ मेतद्धि पञ्चावरणे मुने

हे भरद्वाज मुनि, साकेत धाम के चारों ओर पूर्व दिशा में मिथिला, दक्षिण में चित्रकूट, पश्चिम में श्रीमद्वृन्दावन तथा उत्तर दिशा में महाबैकुण्ठ ये चारों दिव्य धाम पञ्चम आवरण में विराजमान हैं। इनमें चित्रकूट -

भ्राजते चित्रकूट सच्चिद्रमयानन्द मूर्तिमान

अर्थात् महान गिरिराज चित्रकूट साक्षात् मूर्तिमान सच्चिदानन्दमय स्वरूप है -

जो अनेक प्रकार के रत्नों, शिखरों और मनोहर वृक्षों से सुशोभित है। निर्मल जल के झरनों के किनारे मतवाले मयूर नृत्य करते हैं। ऐसा यह चित्रकूट पर्वत श्रीसीताजी एवं श्रीराम जी के लीलारस को निरन्तर बढ़ाने वाला है। लताओं के जाल से वने कुञ्ज निकुञ्जों में भौंरे गुञ्जार रहे हैं, मतवाली कोयलें मधुर स्वर से बोल रही हैं। पक्षीगण आनन्दमग्न होकर अपने अपने स्वर में निनाद कर रहे हैं। जहाँ की भूमि चितस्वरूपा है, कञ्चनमयी है, तथा नाना प्रकार के रत्नों से जड़ी हुई चित्रों जैसी लगती है। चित्रकूट पर्वतराज के चारों ओर सघनवन शोभा दे रहे हैं, जहाँ पर परमरम्य श्रीमती मन्दाकिनी नदी स्फटिक मणि के समान निर्मल जल से भरी हुई प्रवाहित हो रही है। सोना हीरा मोती मानिक से दोनों तटों के किनारे जटिल हो रहे हैं।

श्रीजानकी जी तथा श्रीरामचन्द्र जी को, परमानन्द प्रदान करने वाले सहस्त्रों हजारों मधुर मनोहर स्थान श्री मन्दाकिनी के दोनों तटों पर विराजमान है। पद्मपुराण में सीताजी की वंदना-

नीलाम्भोजदलभिरामनयनां नीलाम्बरालङ्कृताम्।
गौराङ्गी शरदिन्दुसुन्दरमुखीं विस्मेर बिम्बाधराम्॥
कारुण्यामृत वर्षिणीं हरिहरब्रह्मादिभिर्वन्दिनाम्।
ध्यायेद् भक्त जनोप्सितार्थ फलदां रामप्रियां जानकीम्॥

अर्थात् - नीलकमल दल के समान अतिसुन्दर विशाल नयनों वाली, नीलकमल की साड़ी धारण किये हुए, गौराङ्ग वर्णवाली शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली, विस्मयप्रदायक आश्चर्य करने वाली लाल अरुणारे ओठ वाली, निरन्तर करुणारूपी अमृतरस बरसाने वाली ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्यादिक देवगणों द्वारा वन्दित पूज्य श्रीचरणों वाली सभी भक्तों के मङ्गलमय मनोरथों को पूर्ण करने वाली श्रीराम बल्लभा श्रीजानकी जी का ध्यान करें।

श्री जनकनंदिनी जूँ योगीजनों द्वारा एवं स्वयं योग द्वारा निरंतर रात दिन हृदय में भावनीय है।

रह रह हृदि मध्ये योग योगीश भाव्यम।

हनुमत्संहिता में अध्याय ५ श्लोक ७१ में श्रुतियाँ कहती है :-

अखण्डात् ब्रह्मणो रामात् प्रेरकः पुरुषस्तथा।

अर्थात् - अखण्ड परमब्रह्म श्रीराम ही सबके प्रेरक परम पुरुष हैं। तात्पर्य यह कि पुरुषोत्तम श्रीराम तथा उनकी शक्ति पराप्रकृति श्रीसीता ही संसार का मूल बीज कारण है।

अपनी माता के समीप वे ही पुरुषोत्तम राम अयोध्या में सीताजी से किसी प्रकार की चर्चा करने तक में संकोच करते हैं - **मातु समीप कहत सकुचाही।**

परन्तु श्रीराम लक्ष्मण और सीता जी जब चित्रकूट में रहने लगे तो चित्रकूट का समग्र वातावरण इस प्रकार उल्लसित हो उठा कि श्रीराम की प्रेरणा से योगमाया ने ही चित्रकूट के कण-कण में बिहार करने के योग्य मादकता का विस्तृत अनन्त सृजन कर दिया हो। योगीजन जिनका योग के माध्यम से किसी प्रकार दर्शन कर पाने में सक्षम हो पाते हैं, उन युगल स्वरूपों की बिहार लीला में श्री शृंगार रस या रसों के राजा को भी अपने को पवित्र करने और पुण्यमय बनाने के लिए उस चित्रकूट में आकर श्रीसीताराम के भावानुकूल ही रसराजता की सम्पूर्ण कलाविधि के साथ उन दोनों के श्रीचरणों में समर्पित होने का सौभाग्य मिला, इसलिए श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत किया -

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषण राम बनाये।।
सीतहि पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर।।

इसी भाव के तारतम्य में पद्मपुराण में श्रीलक्ष्मण जी के द्वारा कथित वाक्य हैं -

बिहर त्वम् सुखराम ! जानकी सहितोऽनघ।
अहं सेवां करिष्यामि जाग्रता स्वपनश्चते।

अर्थात् - हे परम पावन राम! आप तो श्रीजानकी जी के सहित सुखपूर्वक वन में बिहार करें। मैं आपको अपने जगते रहें अथवा सोते रहें, सभी प्रकार की योग्य सेवाओं का परम लाभ प्राप्त करता रहूँगा।

लीलावतार प्रभु श्रीराम के चार पादों में प्रथमपाद श्रीलक्ष्मण जी हैं। शेषनाग के स्वरूपभूत विश्व के आश्रय होने से थे 'विश्ववश्वानर' कहे जाते हैं। श्रीराम प्राप्ति हेतु इनकी कृपा प्रथम

उपाय है। वे सदा श्रीराम सेवा में जागरूक रहते हैं, अतएव वे 'जागरित स्थान' कहे जाते हैं। अवस्थाओं में ये जागृत, विभु में विश्व और व्यूह इनका संकर्षण हैं और ॐ में ये अ कार हैं।

इस प्रकार श्रीरामोत्तर तापनीयोपनिषद के मंत्र (६-९) कण्डिका ३ में प्रभु श्रीराम का चौथा पद है, जो सबके शासक परमेश्वर हैं। इनकी अवस्था तुरीय, विभु तुरीय, स्वरूप श्रीराम, श्रीसीता, व्यूह वासुदेव तथा ऊँ अर्धमात्रा एवं नादरूपा है। जिसकी प्रज्ञा न अन्तर्मुखी है न बाह्यमुखी और न अन्तर्बाह्य दोनों ओर मुख रखने वाली है।

जिसका न कोई खास लक्षण है और जो चिन्तन में पूर्णरूप से नहीं आ सकता है, और न जिसे किसी संकेत के द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसलिए एक मात्र उसकी स्वतन्त्र आत्म सत्ता ही साररूप है। ऐसे सर्वकल्याणमय अद्वितीय परमब्रह्म श्रीराम को ज्ञानीजन, ज्ञान के परम सूक्ष्म तत्व से दिग्दर्शन मात्र कर सकने के एवं योगी अपने योग के गूढ़तम् रहस्य के स्वरूप में कुछ प्राप्त कर सकने के योग्य हो पाते हैं।

तो ऐसे सर्वशक्ति सम्पन्न श्रीराम का स्वरूप ही श्रीराम श्रीसीता है, जिनका लीला बिहार कितना अद्भुत और चिन्मय हो सकता है यह अनिर्वचनीय है, जो उन प्रभु की कृपादायिनी शक्ति से चित्रकूट को सुलभ हुआ है।

जब कभी ज्ञानियों के योग परक तत्वों से परमशक्ति स्वरूपा जानकी जी और श्रीराम का भावोद्दीपक लीला बिहार श्रृंगारिक महाभाव में प्रतिष्ठित होकर बहिर्गत होता है तो उसके लिए श्री तुलसीदास ने सचेत करते हुए लिखा है -

भगवान शंकर पारवती जी से कहते है कि

उमा राम गुन गूढ़ पण्डित मुनि पावहिं बिरति।
पावहि मोह विमूढ़ जे हरि विमुख न धर्मरति।।

अब श्री भरतलाल जी को प्रभु श्रीराम के चार पादों में तृतीय पाद कहा गया है। अर्थात् जहाँ इन्द्रियाँ तथा मन दोनों सो जाते हैं उस शमदम से सम्पन्न स्थिरप्रज्ञता की अवस्था को यहां सुषुप्ति कहा गया है इसमें सप्त जितेन्द्रिय पुरुष न तो स्थूल भोगों की ही इच्छा करता है और न तो स्वप्न के सूक्ष्म भोगों की ओर ही देखता है। जितेन्द्रिय और स्थिर प्रज्ञता के कारण श्रीभरतलाल को सुषुप्तस्थान कहा गया है वे महाप्राज्ञ परम बुद्धिमान है। श्रीरघुनाथ जी का अनन्य भक्त होना ही तो बुद्धि के उत्कर्ष की चरम सीमा है। ये दिव्य सच्चिदानन्द के भोक्ता है। विवेक शक्ति का प्राधान्य होने से चेतोमुख कहा है। प्राज्ञ इसकी संज्ञा है। इस प्रकार अवस्था सुषुप्ति विभु प्राज्ञ स्वरूप श्री भरत जी व्यूह अनिरूद्ध और ॐ अकार है।

श्रीराम के पांदों का स्वरूप है – **श्रीरामं पादयति गमयति इति पादः** अर्थात् श्रीराम की ओर अपनी अवस्थानुसार जो चलता है –

इस पर भी बाल्मीकि रामायण में श्रीराम कहते हैं **'अन्यया हि मया सीता भास्करेण यथा प्रभा'** जैसे सूर्य से उसकी प्रभा पृथक नहीं वैसे ही श्रीसीता जी भी मुझसे सदैव अभिन्न ही हैं। तथा श्री भरतलाल जी के उद्गार हैं –

सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़इ अनुग्रह तोरे॥

पञ्च रात्र में यह गूढ़तत्व है –

दासा भूताः स्वतः सर्वेह्यात्मा बै परमात्मः।
नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च॥

सभी आत्मा परमात्मा के ही दास है, बन्धन में तथा मोक्ष में पद पाने पर भी सभी प्रभु के दास ही रहते हैं, दूसरा कोई लक्षण स्वरूप उनका नहीं है। इसलिए

दास्यमेव परधर्मं दास्यमेव पर हितम्।
दास्येनैव भवेन्मुक्तिरन्यथा निरयं ब्रजेत्॥
तस्माद्दास्य परां भक्तिं अवलम्ब्य नृपसत्तमे।
नित्यं नैमत्तिकं कर्म कुर्यात् प्रीत्य हरे सदा॥

वृद्धहरीतस्मृति अध्याय १ श्लोक १८

इस परम रहस्य के तत्व को परम प्रभु श्रीराम की सदिच्छा से परम प्रकाशमय बनाया श्रीभरतलाल ने और वह स्थल जो पूर्व से ही परम पवित्र निर्दिष्ट था, वह था चित्रकूट। जिसके लिए कविवर की बानी चित्रकूट की चिन्मयता, प्रेममयता और श्रीभरतलाल की सीता राम के प्रति प्रबल परमप्रेम की अधीरता की सुवासता के कारण है – **'अब चित्त चेत चित्रकूटहि चल।'**

क्योंकि चित्रकूट के पावन स्थल में प्रेम का जो स्वरूप प्रगट हुआ, वह था –

अगम सनेह भरत रघुवर को। जहँ न जाइ मन विधि हरिहर को॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥

महर्षि भरद्वाज तीरथराज प्रयाग में श्रीभरतलाल के प्रेमतत्व को समझ कर उनके सामने ही उस का वर्णन करते हुए कहते हैं :–

नवविधु विमल तात जस तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदिउ सदा अँथइहि कबहूँना। घटिहि न जग नभदिन दिन दूना॥

महर्षि भरद्वाज कहते हैं – "हे तात्! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है और श्रीरामचन्द्र के दास कुमुद और चकोर है, (आकाश के चन्द्रमा के अस्त होने और घटने से कुमुद और चकोर को कष्ट होता है) परन्तु तुम्हारा यशरूपी चन्द्रमा सदा उदय रहेगा। जगत रूपी आकाश में यह घटेगा नहीं, वरन दिन दिन दूना होगा।"

पूरणराम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहि दूषा॥
रामभगत अवअमिअँ अघाहूँ। कीन्हेइ सुलभ सुधावसुधाहूँ॥

यह चन्द्रमा (भरत जी) श्रीरामचन्द्र के सुन्दर प्रेमरूपी अमृत से पूर्ण है और गुरू के अपमान रूपी दोष से दूषित नहीं है। चन्द्रमा ने गुरु पत्नी को ही अपनी पत्नी बनाकर उसका उपभोग किया था।

भरत! तुमने यश रूपी, चन्द्रमा की सृष्टि करके पृथ्वी पर ही अमृत को सुलभ कर दिया है, अब श्रीराम के भक्त इस अमृत से तृप्त हो लें।

चित्रकूट के वन स्थल में ज्ञानी जनक जी और वशिष्ठ जी के अतिरिक्त महान महान योगियों तपस्वियों का समाज तथा अवधवासी जनकपुर वासी आदि के चित्त में करुण रस से अभिषिक्त रामप्रेम ही समाया था।

धन्य है वह चित्रकूट जहाँ पर प्रेमी भरत के चरण उस स्थल में पड़ते रहे होंगे। इसलिए-

सुमिरत भरतहि प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को।

स्फटिक शिला पर आसीन श्रीराम ने अपने करों से बनाये गये फूलों के आभूषणों से जानकी को सजाया। परन्तु इन्द्रपुत्र जयन्त ने काकरूप होकर अपने चोंच से सीता पर प्रहार किया। जहाँ से कुछ रक्त निकल पड़ा। तब श्रीराम ने धनुष पर मात्र सींक का बान जयन्त पर छोड़ दिया। जब वह भय से व्यथित होकर भागा तो अपने रूप में आने पर इन्द्र ने ही उसे अपने पास रखा और तब –

ब्रह्मधाम शिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका।

उस, राम के द्रोही को किसी ने शरण नहीं दिया। तब अन्त में वह उन्हीं प्रभु श्रीराम के शरण में 'त्राहि त्राहि' कहते हुए उन शरणागत वत्सल के चरणों में गिरकर कहा –

अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमन्द जान नहिं पाई॥

तो श्रीराम के अतुलित बल और अतुलित प्रभुता की लीला भी उसी चित्रकूट में हुई, जिनके बल, प्रभाव, प्रताप का विस्तार अखिल ब्रह्माण्ड में सम्व्याप्त था। ऐसा आभाष हो रहा है जैसे प्रभु श्रीराम ने अव्यक्त रूप से अपने जीवन में होने वाले कार्यों के निष्पादन की रूपरेखा ही सूक्ष्म

रूप से चित्रकूट के पवित्र स्थल में प्रगट कर दी हो। इसलिए चित्रकूट के पर्णकुटी में रहकर भी उनकी शोभा स्थिति है -

राम लखन सीता सहित सोहत परम निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सचीजयन्त समेत॥

अर्थात्, यह स्पष्ट है कि श्रीराम का राज्य शासन या रामराज्य पृथ्वी लोक से अलग स्वरूप का ही होगा, जो इस लोक से बहुत विलक्षण और श्रेयष्कर होगा।

तो दूसरी ओर उसी पर्ण कुटी में श्रीसीताजी और लक्ष्मण के साथ -

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु, सोहत धरे शरीर॥

इसमें प्रभु श्रीराम के श्रीविग्रह की शोभा ज्ञान के स्वरूप भूत है, इसलिए अपने अनन्तता की शैली पर वे अखण्डज्ञानी है। लक्ष्मण की तरह प्रभु के श्री चरणों में अप्रतिम प्रेम और सेवा का स्वरूप ही परम वैराग्य के लक्षणों का प्रतीक है। योगमाया सीता जी को तो पूर्व में ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में उन्हें भगति के स्वरूप में प्रभु ने स्वीकार किया है। यथा -

ज्ञान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानन्द।

इसके अतिरिक्त सीताजी के अपमान से जयन्त की दुर्दशा का यह भी दिशा निर्देश है, कि भक्ति के अपमानता का प्रतिफल -

काहूँ बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥

इस प्रकार चित्रकूट में प्रभु श्रीराम के पाँच प्रकार के स्वरूपों के दर्शन हुए - (1) कामदेव (2) इन्द्र (3) ज्ञान की सभा में सच्चिदानन्द (4) साक्षात् ज्ञान और (5) अतुलित बल प्रताप से पूर्ण स्वरूप धारी।

परन्तु श्रीराम तो यथार्थतः है - **राम काम शत कोटि सुभगतन** और **शक्र कोटि शत सरिस विलासा** हैं, फिर भी अनन्तता के मापदण्ड में कोटि सत कहने से अनन्तता का स्वरूप दर्शन सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता है - इसलिए -

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहैं।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहैं॥

इसलिए श्रीराम हैं - **अगुन अखण्ड अनन्त अनादी।**

पावन पञ्चवटी :-

दण्डकारण्य में स्थित पञ्चवटी की स्थिति चित्रकूट के बिल्कुल विपरीत है। जहाँ साकेत धाम के सात आवरणों में चित्रकूट को पाँचवा आवरण सुलभ है और ऐसा आभाष हो रहा है जैसे युगों पहिले श्रीराम-लक्ष्मण-जानकी के वनवास के स्थल की तैयारी चित्रकूट में प्रकृति ने ही सम्पूर्ण कर दी हो। फिर भी मुनिवर बाल्मीक ने कहा - '**राम देउ गौरव गिरवरहू॥**' तो यह तो योगमाया सीता के सानुकूलता में ही मुनिवर - आदेश है, जो '**सुन्दरता कहुँ सुन्दर करहीं॥**' के स्वरूपभूत हैं, परंतु पञ्चवटी में आश्रम बनाकर रहने के लिए अपने कथन के बाद ही ऋषि अगस्त कहते हैं-

दण्डकवन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिवर कर हरहू॥

पूर्व काल में इक्ष्वाकु के पुत्र दण्ड का दण्डकारण्य क्षेत्र में राज्य था। जिन्होंने शुक्राचार्य को पुरोहित पद में वरण कर राज्य का पालन प्रारम्भ किया, परन्तु राजा दण्ड़ एक बार काम के वशीभूत होकर भार्गव की ज्येष्ठ पुत्री अरजा के साथ बलात्कार कर डाला। तब शुक्राचार्य ने क्रोधावेश में श्राप दिया कि "राजा, पुत्र, सेना समेत सात रात के भीतर नष्ट हो जायेगा। इन्द्र भारी धूल वर्षा से दण्ड के राज्य को नष्ट कर देंगे। सब प्रकार के स्थावर जंगम जीव धूल की भारी वर्षा से सब ओर विलीन हो जायेंगे।" विन्ध्य और शैवल गिरि के मध्य में दण्ड का राज्य था। वही दण्डकारण्य है और वहाँ जिस स्थान पर कुछ तपस्वी आकर बस गये थे वही जन स्थान के नाम से प्रसिद्ध था। जहाँ रावण की ओर से खर-दूषण छावनियाँ बनाकर रहते थे।

तो शुक्राचार्य के उग्र श्राप से श्रापित उजड़े श्रीहीन हुए स्थान को भी प्रभु श्रीराम चित्रकूट की समकक्षता में सेवन योग्य बनाते हैं। इसलिए यहाँ स्पष्ट है कि अपने निराकारिक स्वरूपता में वे छवि बन कर उस क्षेत्रीयिता में व्याप्त होते हैं - यथा -

गिरि वन नदी ताल छबि छाये। दिनदिन प्रति अति होंहि सुहाए॥

तात्पर्य कि प्राकृतिक उपयोगी स्थल और अन्य स्थलों में भी उनकी सुन्दरता में इस प्रकार निखार आता गया कि वे दिन प्रति दिन अधिक अधिक सुहावने लगने लगे। इसके अतिरिक्त -

खग मृग वृन्द अनन्दित रहही। मधुप मधुर गुंजत छवि लहही॥

और अन्तोगत्वा चित्रकूट की ही भाँति इस वन में भी छवि निधि की छवि विस्तीर्णता के कारण वह इतना छविमय बन गया, जिसका स्वरूप शेषनाग के द्वारा भी बखान करने के लिए सम्भव नहीं हो सकता था। इस प्रकार श्रीराम के तीन स्वरूपों में भाव दर्शन की प्रतीति होती है - (1) अनन्तता (2) निराकारता और (3) समता

समता के स्वरूपगत तो चित्रकूट में जयन्त के द्वारा जो यह कहकर - **त्राहि त्राहि दयाल रघुराई। अतुलित बल अतुलित प्रभुताई॥** के स्वरूपभूत श्रीराम के प्रताप बल का उत्कर्ष हुआ। उसी प्रकार चौदह सहस्त्र निशाचरों का भी अन्त पञ्चवटी में अकेले श्रीराम के द्वारा हुआ।

करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपा निधान।

जिसको शूपर्नखा ने रावण सभा में अतिसारगर्भित भाव से श्रीराम के प्रताप का वर्णन किया

खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा॥

चित्रकूट में गहराई से देखने समझने में यह आता है कि जयन्त की दुर्दशा काक रूप से सीताजी पर प्रहार करने से हुई और इधर पञ्चवटी में सूपर्नखा के द्वारा श्रीराम से अपनी कामवासना मिटाने के लिए उन्हें पाने हेतु सीता को खाने के लिए उनकी ओर दौड़कर, उनको भयत्रस्त करने से हुई। चौदह हजार रजनीचरों का खरदूषण के साथ ही विनाश हुआ।

चित्रकूट के रहवास काल में यथार्थतः प्रभु श्रीराम स्वरूप दर्शन इसी रूप में सम्पन्न रहा कि **पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।** देवलोक, ब्रह्मलोक तक उनके प्रभाव प्रताप की दुन्दुभियाँ बजी। इसके अतिरिक्त वहाँ एक एक से प्रेमीजन, ज्ञानी, तपस्वी पहुँचे। यहाँ तक स्थिति थी, कि कोल किरातों तक के लिए ''हरषे जनु नवनिधि घर आई।'' जैसे श्रीराम के सगुन साकार स्वरूप में प्रेमाभक्ति का प्रकाश ही छा गया हो और सभी को उसमें लीन कराकर एक प्रेममयता स्वरूप की सृष्टि ही निर्मित हो गई हो।

परन्तु जब श्रीराम ने वनवास की अन्य यथेष्ट सिद्धियों को समझा तो **'सकल मुनिन्ह सन विदा कराई'** और वहाँ से विदा होने का कारण मात्र बतायां - **'होइहि भीर सबन्हि मोहि जाना।'**

पञ्चवटी में गोदावरी के निकट ही पर्ण कुटी तो बनी, पर वहाँ के वन में वास करने पर, मात्र वे उस क्षेत्रियता के मुनियों का त्रास मिटा रहे हैं और वे सुखी हो रहे हैं। **'सुखी भये मुनि बीति त्रासा।'** राक्षसों का इतना आतंक था कि वे मुनि चित्रकूट की तरह श्रीराम के पर्णकुटी में आवाजाही तक दर्शनार्थ नहीं कर सकते थे। परन्तु पक्षियों और मृगों के समूहों में श्रीराम के दर्शनों की स्वतंत्रता थी। इससे वे आनन्दित हैं, और तीसरे भौरों के समूह है, जो पञ्चवटी के छवि विस्तीर्णता में समाहित होकर आनन्द से गुञ्जन कर रहे थे।

इसी कारण से ज्ञान प्रकाश के तत्वों में मुनियों, सिद्धों और योगियों, ज्ञानियों में उन **''मायाधीश ज्ञान गुन धामू''** के पास मात्र श्री लक्ष्मण जी है, जिनका परम साध्य है **''सब तजि करौ चरन रज सेवा।''** अर्थात् वे जानते हैं कि उन प्रभु के चरणों का सेवाधिकार चरण अनुरागिन मिथिलेश कुमारी के पास सुरक्षित हैं इसलिए उन्हें चरणरज की सेवा की सिद्धि चाहिए। जिस सेवा के अन्तर्गत स्वयं श्री जी की भी सेवा समाहित है। कौसिल्या जी के द्वारा सीता को प्रदत्त उपाधि ही है ''रहै न रामचरण अनुरागी।''

राम प्रवरषन गिरि पर छाये -

श्री सुन्दरीतंत्र में श्रीजानकी जी श्रीजनक जी से कहती हैं -

राघवस्या प्रमेयस्य दृष्टादृष्टं विजानतः
गात्रं प्रति नरेन्द्रस्य स्वप्रकाशस्य धीमतः
अहंतु वसगायस्य जगदानन्द कारिणी।
पालयामि सृजाम्यद्य सर्वभूतानिहन्मि च॥

''अप्रमेयशक्ति सम्पन्न श्रीराम का ही यह दृष्ट अदृष्ट समस्त ब्रह्माण्ड शरीर है तथा स्वयं प्रकाश स्वरूप महाबुद्धिमान नरेन्द्र श्रीराम स्वयं प्रभु हैं। मैं भी जिनके वशीभूत रहकर इस जगत को आनन्दित करती हूँ तथा समयानुसार जगत की रचना पालन संहारादि कार्य करती रहती हूँ।''

निशाचरों से रहित पृथ्वी को करने हेतु श्री जानकी जी लङ्का में अपने प्रभु श्रीराम के श्रीविग्रह से दूर रह रहीं है, और वानरों के द्वारा ही रावण के लङ्काराज्य का विनाश करने हेतु श्रीराम वानरों के राजा सुग्रीव की राजधानी किष्किन्धा के समीप वर्षा काल को व्यतीत करने के लिए प्रवरषन गिरिपर छाये हुए हैं।

परन्तु प्रवरषन गिरि पर श्रीराम के टिकने की कुछ विशेषतायें हैं, जो पञ्चवटी से भी भिन्न स्थितियों की है। एक तो प्राकृतिक गिरिगुहा में दोनों भाइयों का निवास है, देवताओं ने अवश्य पहिले से यह जानकर कि उस स्थान पर श्रीराम आकर रहेंगे, अपनी सज्जाव्यवस्था से गिरि गुहा को रूचिर बना दिया था।

प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ।

दूसरे वर्षारितु होने के दो माह के अन्तराल में सुग्रीव अंगद श्रीहनुमान तक प्रवरषन पर्वत नहीं पहुँचे। यह योगमाया की ही मंशा थी कि उन श्रेष्ठ वानरों की गिरि गुहा जाने की प्रवृत्ति ही नहीं हुई, क्योंकि प्रवरषन पर्वत पर श्रीराम सुरभूप या देवराज इन्द्र के अतिरिक्त रमापति या विष्णु रूप में है यथा - **'रहे तहँ अनुज सहित सूरभूपा।'** और **'कीन्ह निवास रमापति जव ते।'** इस कारण से देवगण, भ्रमररूप से, सिद्ध जन पक्षियों के रूप में तथा मुनिजन मृगों के रूप में वहाँ रह कर प्रभु सेवा कर रहे हैं - यथा -

मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहि सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा॥

परन्तु मधुकर, पक्षी और मृग रूप में प्रभु की सेवा का क्या स्वरूप हो सकता है ? यह भी अस्पष्ट नहीं है। देवताओं के राजा इन्द्र अशोक वाटिका में ब्रह्मा के कहने से सिद्ध खीर लेकर गये थे। इन्द्र ने सीताजी को अपना परिचय दिया कि ''मैं देवराज इन्द्र हूँ और ब्रह्मा जी ने सिद्ध

खीर आपके लिए भक्षणार्थ दी है, उन्होंने खीर इसलिए भेजी है, ताकि आपको इसके भक्षण करने पर लङ्का के रहवास काल में न तो भूख प्यास का कष्ट होगा और न ही बिना खाये पिये रहने पर शारीरिक शक्ति घटेगी।'' सीताजी को जब यह विश्वास हो गया कि वह राक्षसी माया नहीं है इन्द्र जो खीर लेकर आये हैं, यथार्थतः इन्द्र ही है। देवताओं का त्रास मिटाने के लिए ही उनके हितार्थ में सीताजी अशोक वाटिका में रावण के आधीनस्थ है, तब सीताजी ने इन्द्र के कथनानुसार पायस का भक्षण कर लिया।

तो उन देवताओं के लिए प्रवर्षण गिरि पर श्रीराम सूरभूप या इन्द्र है जो उन्हीं के आदेश से भ्रमर रूप धारण कर सीता जी के पास से सन्देश ले आने और प्रवरषन गिरि से सन्देश ले जाने की सेवा कर रहे हैं। मथुरा से प्रेमास्पद श्रीकृष्णा के संदेश वाहक के रूप में भ्रमर ही परम प्रेमिकाओं को अपनी गुंजन शैली से उन कृष्ण प्रेम में डूबी गोपियों के लिए दूत का कार्य करते थे। श्रीमद्भागवत में भ्रमर गीत प्रसिद्ध है। इस प्रकार मधुकरों के सेवाओं से श्रीराम और सीताजी के बीच की सौ से भी अधिक योजन की दूरी होने पर समीपता का आभास युगल स्वरूपों के मध्य हो रहा है। अन्तर्ध्यान और प्रकट होने की कला की प्रवीणता में देवताओं के लिए सौ योजन की दूरी नगण्य है।

अब सिद्धगण खग (पक्षी) रूप धारण किये हैं पर उनके लिए श्रीराम रमापति हैं, क्योंकि वे बैकुण्ठ धाम भी बेरोकटोक से आ जा सकते हैं, तथा देवताओं की तरह उनके लिए भी सौ योजन समुद्र बाधक नहीं है। खगों के बोलियों में व उनके सांकेतिक भाव शैली में बिना भाषा ज्ञान के ही परिमार्जित बुद्धि में उनके तथ्य को समझने की सामर्थ्य होती है। भक्त कोकिल तो मनुष्य रूप में होते हुए कोकिल की भाव दशाओं में श्रीरामराज्य काल के सीता वनवास की स्थिति के वियोगी दशाओं में ही अहर्निश रमन करते हुए वनवासिनी सीता जी का सन्देश अयोध्या के राजमहलों में कौसलाधीश के पास ले जाते थे और श्रीराजाराम का सन्देश वनवासिनी सीता को सुनाते थे। सिद्धों की अव्याहत गति भी होती है साथ ही राक्षसों में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे उनकी गति में अथवा उनके कार्यनिष्पादन की दशाओं में किसी भी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न कर सके। खगों में भावभाषा व बोली की प्राधान्यता होती है और उनकी वे शैलियाँ मनुष्य के समझने के लिए अधिक ग्राह्य हैं।

अब तीसरे मुनिगण मृग बनकर श्रीराम की सेवा में है, पर उनके लिए श्रीराम, श्रीराम ही हैं। मुनियों के लिए सौ योजन समुद्र पार करके सीताजी के समीप तक पहुँचना सम्भव नहीं है, परन्तु मृगरूप धारण करके वे श्रीराम के लिए उपयोगी होकर सेवा करने के लिए प्रस्तुत हैं।

पर मृगों की सेवा भावों में विभिन्नता है। उनमें तीन प्रकार की भाव शैलियों का सन्निवेष है।

(1) सीताजी के नेत्रों की तुलना मृगों के नेत्रों से की गई है या वे 'मृगनयनी' है यथा-

ग्राम वधूटियों ने जब श्रीराम और लक्ष्मण का सीताजी से सम्बन्ध जानने के लिए उन तीनों के सुन्दर स्वरूप पर रीझकर पूछा -

सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे।

तव यथेष्ट उत्तर देने के पूर्व -

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी।
बोली मधुर वचन पिकवयनी॥

तो श्रीराम के सम्मुख मृगों के आने, उनके सामने खड़े होने अथवा बैठने और उनको चाटने तथा प्रेम से निहारने पर श्रीराम को सीता मृगनयनी के उपस्थिति का भान होता था और कुछ काल के लिए मृगों से वे इतना तदात्म हो जाते थे कि सीता वियोग में जैसे अग्नि सिञ्चन हेतु जल हो।

(2) वन में रहने वाले जानवरों में मृग वृन्द की ही चित्रकूट में यह स्थिति थी कि अन्य जानवर तो विगत बैर होकर विचरण करते थे परन्तु मृगों के समूह में श्रीराम के छवि का इतना बृहदत्तर आकर्षण था कि वे -

फिरत अहेर राम छवि देखी।
होहि मुदित मृग वृंद विशेषी॥

अर्थात् - मृगों का समूह बार-बार फिर फिर कर श्रीराम के सुन्दरता को देख कर आनन्दित होता था। इसलिए श्रीराम के मन में भी मृगजाति के लिए विशेष सद्भावित वृत्ति थी। उन श्रीराम को वे सीता से रहित हो जाने पर भी अपनी प्रवृत्ति के साथ सीता जी के भाव रस में श्रीराम को ले जाने में सफल थे।

(3) मृगों का समूह उन श्रीराम के सम्मुख मीठी उलाहना देकर भी उनका विनोद करने के लिए है। जैसे कि मृगवृन्द यह कह रहे हो कि ''प्रभो! देखिये न हमारी ओर, हम मारीच जाति के कञ्चन मृग नहीं है, आप तो कञ्चन मृग का ही शिकार करते हैं, पर हमारा शरीर तो प्रकृति निर्मित और सामान्य हिरन के रंग का ही है। हम सब प्राकृतिक मृग है, कपटी मृग नहीं। हम चित्रकूट की तरह ही आपके छवि का दर्शन करके आनन्दित हो रहे है। प्रभो! हम आपके मानसिक वियोगी दशा पर दुःखी भी है।''

तब अपने प्रवरषन गिरि के प्रवास काल में प्रभु श्रीराम लंका के अशोक वाटिका में विराजित वैदेही से सामीप्यता का भान करते हैं।

श्रीमद्बाल्मीकि रामायण में श्रीराम के लिए

रामस्य पुरुषोलोके सत्यः धर्मः यशो गुरौः।
समो न विद्यते कश्चित् विशेषश्च कुतः पुनः॥

अर्थात् - श्रीराम के समान सत्य धर्म यश और गुणों का धारण करने वाला कोई नहीं है।

रावण सीता जी का हरण करके वह अपने बल वैभव में अपने को इतना अद्वितीय योद्धा, नीति मर्मज्ञ समझता था कि वह अपनी सभा के मध्य अंगद से कहता है -

तुम्हरे कटक माझ सुनु अंगद। मो सन भिरहि कवन जोधावद॥
तब प्रभु नारि बिरह बल हीना। अनुज तासु दुःख दुखी मलीना॥

तो यशस्वी राम के लिए रावण की उस सभा में उसके इस भाव पर कि - ''तब प्रभु नारि विरह बल हीना'' का अपरमित उत्तर है कि श्रीराम देवराज इन्द्र हैं, रमापति विष्णु हैं और रावण के द्वारा जानकी जी के हरण करके लंका में रखने पर भी वे नारि विरह से व्यथित नहीं है। सौ योजन समुद्र के उस पार होने पर भी वैदेही उपयुक्त माध्यमों के द्वारा उनके सम्पर्क में हैं।

इसके भी बहुत आगे, वे परम परमार्थी श्रीराम जब यह आभाष करने लगे कि सूर्पनखा की दुर्दशा और चौदह हजार निशाचरों के वधोपरान्त रावण सीता जी को हरण करने का उद्योग कर रहा है तो रावण के द्वारा सीता जी का हरण हो, इसकी समुचित व्यवस्था करते हुए योगमाया सीता को स्वनिर्मित छाया सीता के हरण किये जाने की अपनी मंशा बताते हैं, ताकि रावण योगमाया सीता को स्पर्श करने पर भस्म होने से बच जाये। तदानुकूल कार्यसिद्धि से ही रावण द्वारा सीताहरण हुआ।

इस तरह प्रवरषण गिरि पर वर्षाकाल के अंतराल में श्रीराम के तीन स्वरूपों में दर्शन होते हैं-

(1) चक्रवर्ती महाराज दशरथ पुत्र श्रीराम जो मर्यादा पुरुषोत्तम तत्त्व के व्रती है। यही उनके नरलीला का स्वरूप दर्शन है। परन्तु इसी समयान्तर में वे सौ योजन से भी दूर लङ्का में आवासित सीता की भी अपने निराकारिक स्वरूप से उनकी यथेष्ट सरोकारिक सेवायें प्रस्तुत करते हैं।

(2) **ब्रह्मा विष्णु महेशाद्याः यस्यांशा लोक साधकाः।**
तमामि देवं श्रीरामं विशुद्ध परमं भजे॥

अर्थात् - लोक व्यवहार साधन पारायण ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादिक जिनके अंश है। उन आदि देव परम विशुद्ध भगवान श्रीराम का मैं भजन करता हूँ।

तात्पर्य यह है कि साधन रूप में श्रीराम अपने अंश में तदात्म होकर लोक व्यवहार की मर्यादा का पालन करते हैं। अथर्वण उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है -

यस्यांशेनवै ब्रह्मा विष्णु महेश्वर अपिजाता,
महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणांश्च स एव कार्यकारणयोः
परःपरमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव॥

अर्थात् - महाविष्णु जिनके दिव्य गुणों के प्रतीक हैं, वही कार्य कारण से परे पुरुष श्रीराम ही निश्चयपूर्वक दशरथनन्दन हुए।

(3) सनकादिकों द्वारा श्रीराम की स्तुति -

जय निर्गुन जय जय गुन सागर
नाम अनेक अनाम निरञ्जन
सर्व सर्वगत सर्व उरालय

अर्थात् श्रीराम निर्गुन होते हुए भी गुणों सागर हैं। वे सर्वरूप सबमें व्याप्त है और सबके हृदय रूपी घर में सदा निवास करते हैं।

इस निराकार रूप से भी और सर्वगत तथा सर्वव्याप्त रूप में वे श्रीराम, लङ्का के अशोक वृक्ष तले विराजित सीता को अपनी उपस्थिति का भान तो कराते है, पर मर्यादा के अन्तर्गत ही गुणों का परिपालन करते है।

भगवान श्रीराम सत्य संकल्प है, ब्रह्माण्ड में उनके सत्य संकल्प के परिपालन की व्यवस्था भी सर्वगत और सर्वव्याप्त है। इसलिए बहुदीर्घकालिक प्रभाव के लिए उनके लीला कथा का स्वभाविक रूप से ही उसी प्रकार की आचरण प्रधानता में विस्तार हो सके कि जिसे गा-गाकर ही नर-नारियों का उद्धार हो जाए।

गाय गाय भव निधि नर तरही।

तो दूसरी ओर अल्पकालिक स्थिति में श्रीरामजी विभीषण को लङ्का की भावी राज्यसत्ता दे चुके थे, परन्तु लक्ष्मण और मेघनाद के बीच महाभयानक युद्ध में घायल मेघनाद ने यमराज के द्वारा प्रदत्त बाण अपने चाचा विभीषण का वध करने के लिए उठाया तो उसकी काट का लक्ष्मण जी ने भी दूसरा बाण उठा लिया। वह बाण असुरों और इन्द्रादि देवताओं के लिए दुर्जय और असह्य था, परन्तु मेघनाद के द्वारा विभीषण पर छोड़े गये उस बाण की काट पहिले तो श्री सुमित्रानंदन के पास नहीं थी, पर श्रीराम के सत्य संकल्प स्वरूप विभीषण को जीवित रहना चाहिए। इस प्रतिक्रिया के कारण महात्मा कुबेर ने लक्ष्मण जी को स्वप्न में प्रगट होकर वह बाण और उसके सन्धान की शिक्षा उन्हें दी थी।

●○●○●

24. चित्रकूट-पञ्चवटी-प्रवर्षण में प्रतीकात्मक भाव

श्रीराम जी का चित्रकूट पञ्चवटी और प्रवर्षण पर्वत पर ''छाये'' शब्द के प्रयोग की अलग अलग प्रतीकात्मक भाव शैली है। यथा -

चित्रकूट :-

चित्रकूट के लिए है - **चित्रकूट रघुनन्दन छाये**। रघुनन्दन शब्द में श्रीराम दशरथ नंदन है या उनका जो सगुन साकार स्वरूप दशरथ पुत्र राम में सन्निहित है, वे वही हैं और निर्गुन निराकार तत्व तो उनके सभी स्वरूपों की आत्मा ही है। परन्तु वे चित्रकूट में सगुन की प्राधान्यता में ही- ''**चित्रकूट रघुनन्दन छाये।**'' हैं। जिसमें भक्ति की प्रबलता से सीता राम के प्रति प्रीति में ज्ञानी बिरागी महाराज जनक की दशा -

मोह मगन नहि मति विदेह की। महिमा सियरघुवर सनेह की॥

अर्थात् अब जनक जी का ज्ञान वैराग्य धन्य हो गया - ज्ञान वैराग्य तक अपने अस्तित्व की रक्षा भक्ति की गौरवशीलता पर ही कर पा रहे हैं -

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहि राम प्रेम परधानू॥

चित्रकूट में देवगण, मुनिजन, परिजन कोल किरात, वनचर जीव जन्तु वनस्पति, नदी पर्वत के अतिरिक्त ससमाज जनकपुर वासी और अवध वासी इस प्रकार प्रेम मग्न है कि उनकी यह स्वभाविक चाह बन चुकी है कि -

सीताराम संग बनवासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥

और - **सुख समेत सम्वत दुइसाता। पल सम होंइ न जनि हहि जाता॥**

अर्थात् सीताराम के संग में रहने से करोड़ स्वर्गीय सुखों की अनुभूति उन्हें हो रही है और चौदह वर्ष का वनवास काल उनके लिए पल के समान गुजर जायेगा। जहाँ -

यहि सुख जोग न लोग सब, कहहि कहाँ असभाग।
सहज सुभाय समाज दुह, राम चरण अनुराग॥

प्रभु श्रीराम ने बाल्मीक मुनिवर से अपने चित्रकूट में रहने का स्थान पूछा था, तब मुनिवर अपने भक्ति भाव से उनको चौदह स्थलों को कहा, जो श्रीराम की भक्ति भावना से युक्त थे।

सुनह राम अब कहहु निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥

चित्रकूट में भरत की महामहिमा, जिसे **'जानहि राम न सकहि बखानी'** है, में केन्द्रित होकर सब को वृत्ताकार रूप में अपनी सम्मुखता से सुशोभित कर सीताराम को सबके हृदय में विराजित करवा दिया।

सब सिय राम प्रीतिकि सिमूरति। जनु करुणा बहु भेष बिसूरति॥

पञ्चवटी :-

जहाँ प्रगटे रघुवीर बिराजा। यहाँ पर श्री रघुवीर विराजमान हैं, पञ्चवटी में रघुवीर नाम से है क्योंकि उनसे शूरवीरता का तत्त्व प्रकाशित होना है और श्री रघुवीर ने - **करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान।** परन्तु समर जीतने पर वे रघुनाथ हो गये। क्योंकि देवों, मुनियों और मनुष्यों के भय का अन्त हो गया, अत:

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुरनर मुनि सब के भय बीते॥

पञ्चवटी में प्रभु श्रीराम के निराकार के स्वरूप की प्रधानता है, परन्तु सगुण साकार भी है। पञ्चवटी में उनका स्वरूप है - **सब रूप सदा सब होइनगो।**

अर्थात् सदा सर्व रूप होते हुए भी वे सब कभी हुए ही नहीं। क्योंकि यह कल्पना मात्र नहीं है बल्कि वेद ही ऐसा कहते हैं - **इति वेद वदन्ति न दन्त कथा।**

इसलिए **जब ते राम कीन्ह तहँ बासा।**

तव से - **गिरि वन नदी ताल छवि छाये। दिन दिन प्रति अति होहि सुहाये॥**

छवि छाये की विशेषता है- **खग मृग वृन्द अनन्दित रहही।**

और **मधुप मधुर गुंजत छवि लहही॥**

या जन रहित पञ्चवटी में प्रभु छवि वन कर छाये है, जहाँ खग, मृग और मधुप है। अर्थात् मधुकरों के मधुर गुंजन तक में छवि समाई हुई है। इसलिए यहाँ पर प्रभु श्रीराम छवि स्वरूप में आकर वे अपनी निराकार निर्गुन प्रवृत्ति की प्राधान्यता बिखेरते हुए सगुन सकार में रघुवीर बनकर विराजित है। जो चित्रकूट में साकार की प्राधान्यता के स्वरूपभूत रघुनन्दन थे। महर्षि अगस्त्य के कथनानुसार ही प्रभु श्रीराम का स्वरूप दर्शन पञ्चवटी में हुआ, जो उनके भाव में निराकार और साकार का स्वरूप दर्शन था यथा -

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहि जेइ सन्ता॥
अस तव रूप बखानउ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥

इसी कारण से निर्गुन निराकार की प्रधानता में वे सगुन स्वरूप में है।

प्रवर्षण गिरि :-

मनु स्मृति में श्रीराम के स्वरूप का दर्शन है -

अंशभूतौ विराट ब्रह्म विष्णु रूद्रास्तथा परे।
ब्रह्म तेजो घनीभूतः वर्तते जानकी पतिः॥

विराट ब्रह्म - जिसके ब्रह्मा, विष्णु और शंकर जी सभी घनीभूत ब्रह्म तेज के अंश है, वे ही श्री जानकी पतिराम हैं। तो इस प्रभाव के जो श्रीराम है वे ही **'राम प्रवरषन गिरि पर छाये।'**

तात्पर्य है कि साकार और निराकार के समाहित तत्व, जो श्रीराम में निर्दिष्ट हैं वे उनमें तो परिलक्षित है ही, वरन् विराट ब्रह्म की सकारता के कारण वे अन्य गौण स्थिति में ही प्रभावशील है, क्योंकि प्रभु श्रीराम प्रवरषन गिरि पर सीताजी के साकार विग्रह से रहित है परन्तु दोनों भाई 'सीतान्वेषण तत्परौ' है। इसके अनन्तर भी सर्वकालिक साकार स्वरूप तो है ही -

ज्ञान अखण्ड एक सीता वर।

इसलिए -

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति विरति नृप नीति विवेका॥

यहाँ के वनवास की एक विशेषता और है; जहाँ पञ्चवटी में छविमूला जानकी जी की सानिध्य में पञ्चवटी शोभामय थी वही प्रवरषन गिरि उनके अभाव के कारण श्रीराम के गुणों के विशेषताओं से मात्र सम्पन्न है, जो हैं -

सुखस्वरूप रघुवंश मनि मङ्गल मोद निधान।

या, सुख स्वरूपता, मंगलपन और मोद ये निराकारिक शब्द हैं। इसलिए वहाँ -

मंगलरूप भयउ वन तव ते। कीन्ह निवास रमापति जवते॥

तीनों स्थलों के वास का सम्यकस्वरूप तत्वदर्शन :-

शास्त्रों में मनुष्य के जीवन काल को चार आश्रमों से गुजर कर मृत्यु तक पहुँचने या मोक्ष गामी होने का आग्रह है। मनुष्य का बालपन या ब्रह्मचर्य आश्रम ही श्रीरामचरित मानस का बालकाण्ड है, जो श्रीराम के जन्म से विवाहोपरान्त तक शोभायमान है, विवाहोपरान्त राजा दशरथ का कौशिल्या को आदेश है -

वधू लरकिनी पर घर आई। राखेउ नयन पलक की नाई॥

तो पति के आदेश से निष्ठानुसार कौशिल्या ने सीताजी का परिपालन परितोषन किया, यथा-

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअन भूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिटारन कहऊँ॥

चित्रकूट :-

तात्पर्य कि विवाह हो जाने पर भी गृहस्थ जीवन की श्रीराम के लिए कोई जिम्मेदारी नहीं थी और उनका ब्रह्मचर्य अखण्ड है इसलिए दशरथ जी के मरणोपरान्त माताओं भ्राताओं अनुज वधुओं और समूची राजा की जिम्मेदारी उनको चित्रकूट में मिली थी इसलिए चित्रकूट का वनवास स्थल वहाँ का वनवास काल श्रीराम का गृहस्थाश्रम है। जिस कारण से उनके वनवास में जाने पर भी श्रीरामचरितमानस में अयोध्याकाण्ड की संज्ञा दी गई। भले ही भरत चौदह वर्षों तक राजपद की सम्हाल करते रहे पर वे श्रीराम या राजाराम के प्रतिनिधि रूप से ही कार्य करते रहे। प्रेममय त्याग ही गृहस्थाश्रम की मुख्य शक्ति है, जो चित्रकूट में सम्पूर्णता की प्रवर स्थिति में प्रभावशील रही। जड़चेतन सभी प्रेममय थे, भरत के भातृप्रेम में।

पञ्चवटी :-

चित्रकूट से विदाई ही श्रीराम के वानप्रस्थाश्रम का प्रारम्भीकरण था, ऋंषियों मुनियों से भेंट, सभी मुनियों के आश्रमों में जाकर उनको सुखी बनाना और उनके अनुकूल आचरण करके दुःखदर्द के कारकों को समन करना। ब्रह्म की निराकारता में आत्मप्रतिष्ठान, आत्म दर्शन हो, पत्नी का संग हो, पर संसारिक तत्वों के संयोग का सम्पूर्ण त्याग और माया ब्रह्म जीव आदि के स्वरूपों का ज्ञान हो तथा ब्रह्मजीव की एकता परमार्थ विषय की चर्चा हो। इस प्रकार की सांगोपांग साधना की स्थिति श्रीराम की पञ्चवटी के निवास काल में पूर्णरूप से सम्पन्न हुई। श्रीराम लक्ष्मण जी को समझा रहे हैं -

माया ईश का आपु कहुँ, जान कहिअ सो प्रेरक जीव।
बन्ध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव॥

प्रवर्षण गिरि :-

मनुष्य जीवन में आश्रमों के विभाजन में अन्तिम मञ्जिल है - सन्यास। सन्यास का स्वरूप दर्शन गीता के छठवें अध्याय के प्रथम श्लोक में है -

अनाश्रितः कर्मफलम् कार्यम् कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

अर्थ – जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है वही सन्यासी और योगी है। केवल अग्नि को त्यागने वाला न सन्यासी है; न क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी है।

यदि यह कहा जाय कि प्रभु श्रीराम का इस प्रकार से गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ का काल तो बहुत ही अल्प था, तो इस पर श्रीराम के जीवन शैली से इस तथ्य का मर्म है कि सन्यास और योग की स्थिति ही तो जीवन की साध्य स्थिति है और अन्य तीन आश्रम सन्यास साध्य के साधन है। यदि बिना साधन के ही सन्यास की सिद्धि है तो यह तो जीवन दशा की सर्वोत्तम स्थिति है, परन्तु श्रीराम जो गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम से अपने जीवन की दशाओं को सजा रहे थे, उसका तात्पर्य है कि उन आश्रमों में उससे सम्बद्ध अन्य जनों के मध्य जो प्रीति की प्रवरता का दर्शन है, वही आश्रमों की सजीवता है, तथा उस वातावरण में ऐसे सजीवता का उन्मेष हो। यह श्रीराम के ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम में संयतता की अतिशयता है कि

समो न विद्यते कश्चित्, विशेषश्च कुत पुनः।

अर्थात् उनके समान ही कोई नहीं है, फिर बढ़कर उनसे अधिक कौन हो सकता।

दूसरे, प्रभु श्रीराम के अतिशयता से धर्म की प्रधानता को धारण करने की एक अन्य विशेषता है कि किसी विशेष प्रकार के धर्म पालन की विशेष और स्थाई छाप छोड़ने के लिए उस धर्म के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ श्रृजित होती है कि धर्म की जयता के लिए यदि उसकी स्थिति आकाशवत् मानी जाय तो उसके प्राप्यार्थ प्रारम्भिक साधन के पूर्व की स्थिति पातालवत् है। जैसे रावण ने ब्रह्माण्ड के अनेकों दिक्पालों को जीता और अनेक यक्ष, असुर, गन्धर्व, देवता, किन्नर, शक्तिसम्पन्न राजाओं को जीतकर उनकी राजकुमारियों को हरण कर लाया था, इसी प्रकार उसने अपनी छावनी जनस्थान के समीप से भी दो राजकुमारों के मध्य से बड़े राजकुमार की भार्या का हरण कर लिया था। जो घनघोर वन के मध्य पञ्चवटी में निवास कर रहे थे, तात्पर्य है कि त्रैलोक्य विजयी रावण की धुरंधरता के समक्ष दो तपस्वी राजकुमारों की शक्ति सामर्थ्य की औकात बहुत ही नगण्य समझने योग्य थी। उस पर भी महाविरही अतिकामी की तरह विलापना जो शौर्य गुण के बिल्कुल वैषम्य की स्थिति का सूचक है। पुनः सीता की खोज करने में ही शबरी ने बता दिया-

पम्पा सरहि जाउ रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥

मित्र सुग्रीव की शूरवीरता तो तत्कालीन में यह थी कि जो अपनी पत्नी की सुरक्षा नहीं कर पाया था और अपने बड़े भाई के डर से प्राण बचाने के लिए गुप्त रूप से ऋष्यमूक पर्वत पर रह रहा था और उसी भाई की भोग्या बन कर रह रही थी उसकी पत्नी। तो असह्य वेदनापूर्ण अपने पत्नी वियोग के व्यथोपरान्त अति कायर दशा के जीवन को जीने के लिए बाध्य सुग्रीव की मैत्री से रावण पर सम्पूर्ण विजय का अभियान प्रारम्भ होना है।

तो इस विजय के अभियान का प्रथम स्थल वर्षाकाल में, सीता से रहित मात्र अनुज लक्ष्मण के साथ का वनवास स्वरूप प्रवर्षण गिरि था।

एक तो सन्यास में प्रकृति प्रदत्त अति आवश्यक स्वभाविक रूप से प्राप्त होने वाले जीवन रक्षक पदार्थों स्थलों का सेवन सन्यास धर्म के अन्तर्गत हैं, इसी से गिरि गुहा का चयन और कन्द मूलाहार ही धर्मानुकूल था। इन बाह्य आयोजनों के बाद श्रीराम का अन्तःस्वरूप गीता के अठारहवें अध्याय के उनचासवें श्लोक पर आधारित था -

असक्त बुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगत स्पृहः।
नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां सन्यासेनाधि गच्छति॥

अर्थात् - सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धिवाला, स्पृहरहित और जीते हुए अन्तःकरण वाला पुरुष सन्यास के द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। नैष्कर्म्य सिद्धि ज्ञान योग की परानिष्ठा है जो एकान्त और विशुद्ध देश के सेवन करने, रागद्वेष से सर्वथा परे होने से दृढ़ वैराग्य का आश्रय लेने से परिग्रह का त्याग करने से निरन्तर ध्यान योग के पारायण होने से प्राप्तव्य है। ऐसे समता और शान्तियुक्त पुरुष ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्थित है, तो इस समग्र साधना में श्रीराम हैं। इस दुष्कर अभ्यन्तर साधना की सिद्धि के हेतु में प्रभु श्रीराम अपनी यौगिक व्यापकता में तीन महान सिद्धियाँ चाहते हैं - जो परम परमार्थ स्वरूप हैं।

यहाँ भी श्रीराम की भावात्मक स्थिति दर्शन करने योग्य है, जिनके पास लक्ष्मण जी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, परन्तु प्राप्त करने योग्य मंझिल की ऊँचाई सर्वोच्च है।

(1) रावण पर समग्र विजय का तात्पर्य रावण के पक्षधर जो शरीर का त्याग करें उनकी रावण समेत सद्‌गति बनें। अर्थात् युद्ध में शरीर के छत-विछत होने या अन्य युद्ध की कलाओं से शरीर से जीवात्मा का अलग हो जाना मृत्यु है, परन्तु जड़ शरीर से कोई सरोकार न रहने पर भी परमार्थ रूप में जड़ शरीर में रहने वाले नित्य आत्मा की सद्‌गति हों, यही तो यथार्थ में रावण और रावरारि में, अन्धकार और सूर्य के प्रकाश में तथा रावण के प्रताप और राम के प्रताप में अन्तर है। इसमें ईश्वरीय सर्वसमर्थता नहीं है यह भी प्रभु राम के नरलीला के अन्तर्गत होने से इसमें साधना की अपेक्षा है।

(2) अगली स्थिति :-

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूषेतु भद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८/५४)

अर्थात् – सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव से स्थिति में वह प्रसन्न मन वाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है और वह योगी – समः सर्वेषु भूतेषु अर्थात् समस्त प्राणियों में समभाव स्थिति वाला होता है।

इस प्रकार के श्रीराम के स्वरूप का दर्शन ही राम का रामत्व कहा जा सकता है, कि सन्यास के सर्वोच्च भावों में भावित होते हुए भी राम रावण से युद्ध की विभीषिका के मध्य रहते हुए वे सम्पूर्ण रूप से सन्यासी है –

''समः सर्वेषु भूतेषु'' के अन्तरङ्ग में यह तथ्य भी है कि यदि मर्यादा पुरुषोत्तम तत्व के अन्तर्गत श्रीराम ने सीता जी को यह कहकर कि **''मैं कछु करबि ललित नरलीला''** में उन्हें पावक में निवास करवा दिया तथा छाया सीता को रावण के द्वारा हरण करवाकर उन्हें अशोक वाटिका में रावण के द्वारा रखवा दिया, जिन्हें उन रामबल्लंभा सीता को राक्षसणियाँ अनेकों प्रकार से प्रताड़ित करके कष्ट दे रहीं हैं तो श्रीराम भी सामान्य नररूप में बनकर ही सन्यास धर्म के सांगोपांग अनुष्ठान के समरूपता में अपने को पारङ्गतता की स्थिति में पहुँचाकर रावण से युद्ध की भी अपनी तत्परता में रहेंगे।

दूसरी ओर वे परम आश्चर्य मय है, इसलिए अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियाँ सन्यास धर्म से ओतप्रोत होते हुए बाह्य स्थिति में वे विभूतियों में ''रामःशस्त्रभृतामहम्'' अर्थात् शस्त्रधारियों में मैं श्रीराम हूँ, इस प्रकार गीता में उनके लिए यह विशेषण श्रीकृष्णा के श्रीमुख से कहा गया है। कि ब्रह्माण्ड में सर्वश्रेष्ठ शस्त्रधारी श्रीराम ही हैं। तात्पर्य यह कि नररूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म में श्रीराम एकीभाव से स्थित होते हुए सर्वश्रेष्ठ शस्त्रधारी बनकर रावण के विरूद्ध युद्ध भी करेंगे। क्योंकि सूर्यवंश के कुल कलंक का मार्जन और सीताजी का उद्धार इसी प्रकार किया जाना है। तभी परमपरमार्थ रूप में रावण पर सम्पूर्ण विजय कही जा सकती है।

(3) सच्चिदानन्द ब्रह्म में ऐसी दृढ़ स्थिति के पश्चात् श्रीराम जो नररूप में दशरथ पुत्र हैं उन्हें पराभक्ति की प्राप्ति हो।

क्योंकि **'समः सर्वेषु भूतेषु भद्भक्तिं लभते पराम्'** अर्थात् समभाव वाला योगी या जो सब भूतों में सम है, उसे पराभक्ति की प्राप्ति होती है। इसलिए सीताजी पराभक्ति है। यह तो बाह्य रूप में है कि युद्ध में श्रीराम की रावण पर सम्पूर्ण विजय हुई, इसलिए सीताजी रावण के आधिपत्य से मुक्त हो गई और वे अपने पति श्रीराम के दर्शनों के लिए अति उत्कण्ठित है इस स्थिति में श्रीराम को बाह्य जगत चाहे इस रूप में भले ही दर्शन करे कि वे भी अपनी भार्या सीता को देखने के लिए समुत्सुक हो सकते हैं, परन्तु वे अब सन्यास धर्म में दीक्षित होकर अपने उस स्वधर्म पालन के ज्ञानयोग की परानिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं तो सीता उन्हें पराभक्ति के रूप में ही मिलेगी।

चित्रकूट के वन्य स्थल में श्रीमद् तुलसीदास ने श्रीसीताजी, श्रीरामजी और लक्ष्मणजी को भक्ति, ज्ञान वैराग्य के स्वरूप भूत उनको शोभायमान बनाकर दर्शन किया, यथा –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु सोहत धरे शरीर॥

इसलिए रावण के वधोपरान्त जब अशोक वाटिका से सीता लाई गई और वे चलकर श्रीराम के सम्मुख उपस्थित हुई तो श्रीराम ने उन्हें स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह सीताजी का छायास्वरूप तो मात्र लङ्का के निवास काल तक के लिए था, इसलिए वे श्रीराम के सम्मुख ही अग्नि में प्रवेश हुई। **श्री खण्ड सम पावक प्रवेश कियो सुमिर प्रभु मैथली।** परन्तु अग्नि में मैथली के प्रवेश करने के अनन्तर –

धरि रूप पावक पानि गहि श्रीसत्य श्रुति जग विदित जो।
जिमि छीर सागर इन्दिरा रामहि समर्पी आनि सो॥

तो जब स्वयं पावक देव ने प्रगट होकर भक्तिमयी सीता को ज्ञानमय श्रीराम के हाथों समर्पित किया तव – **सो राम बाम विभाग राजति रूचिर अति शोभा भली।**

परन्तु तात्विक दर्शन तो यह था कि उस समय श्रीरामज्ञान स्वरूप में और सीताजी पराभक्ति के रूप में सुशोभित होने से उनकी शोभा अपार हो गई।

जनकसुता समेत प्रभु शोभा अमित अपार।

वैसे तो श्रीराम मायाधीश ज्ञान गुण धामू हैं परन्तु अग्निदेव के द्वारा उनको समर्पण समय में ज्ञान के धाम की ही विशेष सरोकारता थी, क्योंकि वे मूर्ति मान ज्ञान ही है।

इसी प्रकार सीता **सर्वश्रेयष्करीं सीतां नतोऽहंरामबल्लभाम्।**

परन्तु वे रामबल्लभा मूर्तिमती भक्ति है और भक्ति की विशेषता है – **भक्ति स्वतन्त्र सकल गुन खानी।** और सम्पूर्ण स्वतन्त्र वह है जो ब्रह्म के आधीन है। किसी काम के आगम के पूर्व ही प्रभु श्रीराम उस कार्य विशेष के विपरीत गुणों को धारण करते हैं। जनकपुर के पुष्प वाटिका में जब जनकनन्दिनी श्रीराम के प्रथम दर्शन करती है तो प्रभु के पुष्प चयन करने मात्र के श्रम के कारण उनके ललाट मण्डल में स्वेद (पसीना) बिन्दु झलक रहे थे। **भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाये।** यह सुकुमारता की सीमा है।

परन्तु सीता जी के हृदय ने प्रभु राम के प्रति बढ़ते प्रेम से जब शंकर जी के धनुष की कठोरता जानी तो वे मन में ही विलाप करने लगी थी।

जानि कठिन शिव चाप बिसूरति। चली राखि उर श्यामल मूरति॥

इसके पश्चात् जब प्रभु राम धनुष खण्डन करने के निमित्त मञ्च पर खड़े हुए तब भी सीताजी को वे अपने श्यामल मृदु गात और किशोर रूप में ही उन्हें दर्शन दे रहे हैं।

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ श्यामल मृदु गात किशोरा॥

तब भक्ति मूर्ति सीता जी शम्भू के चाप से प्रार्थना करती है -

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी॥

इसी प्रकार प्रवरषन गिरि में वे वर्षा काल के अपने प्रवास में सन्यास धर्म की सर्वोच्च इकाई के साधना में आसक्त है, क्योंकि इस धर्म के बिल्कुल विपरीत स्थिति युद्धकाल की होती है, जिसके लिए स्वभाविक गुण हैं -

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम्।

अर्थात् - शूरवीरता तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना ये युद्धकाल के गुण हैं, जो क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म भी है।

परन्तु श्रीराम की प्रयोजनीयता के लिए साक्षात् काल भी कृतज्ञ हो कर कार्यसिद्धि कर अपने को धन्य मानता है। वे स्वयं भी 'भुवनेश्वर कालहु कर काला' है।

दूसरी तथ्य पूर्ण स्थिति यह भी है कि -

रीति नीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जतारथ।

तो दशरथनन्दन श्रीराम नर लीला के अन्तर्गत ही एक साधक के स्वरूपभूत भक्ति को प्राप्त कर अगली सिद्धि स्थिति की ओर अपने भावों की दशाओं को उन्मुख किये हैं। जो गीता योग शास्त्र के अनुसार हैं :-

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है :-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८/५५)

अर्थात् उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा का वैसा तत्व से जान लेता है तथा उस भक्ति से मुझको तत्व से जान कर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

यथार्थतः तत्व से जानने का तात्पर्य कि श्रीकृष्ण कहते हैं - मेरा निर्गुण निराकार रूप क्या है? और सगुण निराकार तथा सगुण साकार रूप क्या है? मैं निराकार से साकार कैसे होता हूँ? और पुनः साकार से निराकार कैसे होता हूँ। यह जानने पर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है।

रावण और राक्षस कुल का विनाश तो प्रभु श्रीराम के संकल्प बल सामर्थ्य से ही हो चुका था परन्तु श्रीराम लोक सग्रह के निमित्त ही इस प्रकार क्रमिक साधना में अपने ज्ञान को परिमार्जित करना उचित समझ रहे थे ताकि उनकी ईश्वरीय सत्ता का स्वरूप दर्शन सम्भव न हो सके।

दूसरी बात यह भी है कि प्रभु राम यह जानते थे कि रावण वध के अनन्तर में ही उन्हें रामराज्य की स्थापना का शुभारम्भ करना है जिसकी मञ्ज़िल प्राप्त करने हेतु जिस ज्ञान गौरव की यथेष्टता चाहिए, उसके लिए भी वनवास काल उन्हें साधन रूप में प्राप्त हुआ था।

दूसरे शब्दों में वनवास की सार्थकता उन प्रभु राम के लिए अद्भुत सिद्धदायी होना चाहिए। गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम उनके वनवास काल में ही अपनी सम्पूर्णसार्थकता के साथ सुलभ रहें। ताकि उनके भोग के बाद बाह्य रूप से वे कौशलाधीस बनकर राज्य सिंहासन पर अपने पिता के उत्तराधिकारी रूप में रहेंगे, पर मात्र कौसलाधीश के पद की गरिमा उन 'मायाधीश ज्ञानगुण धामू' के लिए बहुत ही अल्प स्वरूप का बौना पद रहेगा, जो महाराज दशरथ के राज्यकाल तक था।

पर वनवास काल में सीता हरण हो जाने पर ऐसे संकेत सूत्र होना चाहिए जो इस तथ्य को पुष्ट करें कि पञ्चवटी प्रस्थान से श्रीराम का चौथा या सन्यासाश्रम का काल था। तो रामचरित मानस में सांकेतिक छाया का स्वरूप दर्शन मिलता है कि चित्रकूट व पञ्चवटी का प्रभु श्रीराम का वनवास काल गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ के स्वरूप भूत था।

चित्रकूट में गृहस्थाश्रम :- श्रीराम, सौमित्र और सीताजी के साथ मुनिराज बाल्मीक से चित्रकूट में कुछ सहज पालनीय सुलभता पर तीनों के रहने योग्य स्थल पूछा। यथा -

अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उद्वेग न पावै कोई॥
मुनि तापस जिन्ह ते दुखलहही। ते नरेश बिनु पावक दहही॥
मङ्गल मूल विप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
अस जिय जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्र सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृनशाला। वासु करौं कछु काल कृपाला॥

प्रभु श्रीराम के द्वारा कहे गये शब्दों के भावों में यह सहज प्रतीति हो रही है कि उन्होंने अपनी माता कौसिल्या के परितोषन में कहा था कि -

पिता दीन्ही मोहि कानन राजू। जहँ सब भाति मोर बड़ काजू॥

और उसी आधार पर ही -

मुनि तापस जिनते दुःख लहही। ते नरेश बिनु पावक दहही॥

के अनुसार वे चित्रकूट में नरेश रूप में वास करेंगे। तो माता को दिए वचनों को सत्य करने के लिए वे कानन में नरेश बनकर ही वास करेंगे। तब महारानी सीता के लिए भी तो स्त्री संवर्ग की सहेली होना चाहिए।

प्रभु श्रीराम पहिले ही मुनिराज बाल्मीक की विशेषता में कह चुके हैं। -

तुम्ह त्रिकाल दर्शी मुनि नाथा। विश्व बदर जिमि तुम्हरे हाथा॥

उनके विशेषण में भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञान के अतिरिक्त समूचा विश्व ही मुनिराज के हाथों में बेर के समान उन्हें दृष्टिगत हैं। तब मुनिराज़ ने समयोचित उत्तर दिया -

चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥

अर्थात् - चित्रकूट गिरि में श्रीराम के निवास करने पर सभी प्रकार सुपास है, अर्थात् श्रीराम के स्वरूपगत जो भी उन्हें दर्शित करना है, उसके लिए परम उपयुक्त स्थल चित्रकूट गिरि है -

क्योंकि एक तो चित्रकूट गिरि सुहावना (राजधानी बनाने योग्य) और पवित्र है जहाँ हाथी, सिंह, मृग और पक्षियों के समूह बिहार करते हैं। अर्थात् ये प्रजारूप में रहेंगे, क्योंकि मुनिराज यह जानते हैं कि उन प्रभु के लिए वन में नरेश होने पर प्रजा चाहिए।

सैल सुहावन कानन चारु। करि केहरि मृग विहंग विहारु॥

क्योंकि श्रीराम के कानन के राजा बनने पर प्रजा -

करि केहरि कपि कोल कुरङ्ग। विगत बैर विचाहि सब सङ्ग॥

अब नरेश के रहने के लिए महल होना चाहिए। तो प्रभु श्रीराम स्वयं कह रहे हैं -

तहँ रचि रुचिर पर्ण तृन शाला। वासु करौं कछु काल कृपाला॥

अर्थात् - पत्तों और घासफूस से बनी पर्णशाला सुन्दर होना चाहिए। और उसे रच रच कर

बनाना है। साथ साथ वह स्थल वहाँ होना चाहिए जहाँ से मुनियों, तपस्वियों को कोई कष्ट न हो, क्योंकि -

मुनि तापस जिन्ह ते दुख लहही। ते नरेश बिनु पावक दहही॥

तो परोक्ष रूप से श्रीराम ने स्पष्ट कर दिया कि उनके नरेशरूप से चित्रकूट में वास करने से तपस्वियों, मुनियों के मन में उद्वेग न हो या नरेश रूप में वे गृहाश्रम धर्म की स्थिति में हैं। इसके आगे मुनिराज कहते हैं।

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि प्रिया निज तप बन आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक ड़ाकिनि॥

तो - **सैल सुहावन कानन चारु।**

शैल पुलिङ्ग संवर्ग का है जो राजा राम के लिए उपयुक्त है पर गङ्गाजी धारा मंदाकिनी तो महारानी सीता की सहेली रूप में सहज सुलभ है।

अब चित्रकूट शैल पर कानन में राज्य के स्वरूपभूत महलों का निर्माण हुआ। महलों का निर्माण देवताओं ने किया। जो कानन में भवन निर्माण हेतु ही श्रीराम के समीप चित्रकूट में आये हुए थे।

रमेउ राम वनु देवन्ह जाना।
चले सहित सुर थपति प्रधाना॥
कोल किरात वेष सब आये।
रचे परन तृन सदन सुहाये॥
बरनि न जाय मञ्जु दुइ साला।
एक ललित लघु एक विशाला॥

एक ललित लघु परन तृन सदन तो महारानी सीता के अन्तःपुर निवास हेतु देवों ने निर्मित किया। इन सभी तथ्यों के आधार पर तो प्रभु श्रीराम के चित्रकूट बनवास को कवियों तक ने गृहस्थाश्रम के अनुरूप बास निरूपित किया। यथा -

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥

और सच में चित्रकूट गिरि पर राजाओं का रनिवास समेत ब्रह्मवेत्ताओं का मुनियों का महिसुरों एवं उनकी पत्नियों, माताओं, सचिवों और सेवकों तक का आना हुआ।

पञ्चवटी में वानप्रस्थाश्रम का स्वरुप -

सुनियोजित कार्यक्रम के अनुसार प्रभु राम दण्डकारण्य में रहने के लिए महर्षि अगस्त से उस प्रकार निवास बनाने का स्थल नहीं पूछा था जिस प्रकार उन्होंने मुनिराज बाल्मीकि से पूछा था वरन् सीधे अपना आने का अभिप्राय ही प्रगट कर दिया -

तुम्ह जानहु जेहि कारण आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥
अवसो मन्त्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही॥

चित्रकूट में श्रीराम ने मुनिवर बाल्मीक से अपने वनवास स्थल के लिए यह उत्तम सेवा भाव के प्रतीति की भी शर्त जोड़ दी थी -

अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उद्वेग न पावै कोई॥

परन्तु अब पञ्चवटी में उन्हीं मुनियों के द्रोहियों को मारने के लिए उचित स्थल में ठौर (निवास स्थल) महर्षि अगस्त से पूँछ रहे हैं।

पञ्चवटी में, चित्रकूट की तरह रुचिर पर्ण तृणशाला तक बनाने की कोई मानसिक रूझान नहीं है अर्थात् वानप्रस्थाश्रम सन्यास धर्म को सम्पूर्णता से अपना लगाव या समर्पण करने हेतु पूर्व तैयारी है। जिस तैयारी के हेतु में पत्नी का सहयोग और उसके धर्मपालन के प्रति भी सहयोग की भावना निहित है।

रामचरित मानस में दर्शित तथ्य भाव में भी इसकी पुष्टि हुई है, जो इस प्रकार सन्निहित भाव को दर्शाते हैं सुन्दरी तन्त्र में, जानकी श्री अपने पिता जनक जी से कहती हैं -

योनि रूपा तु या शक्तिः दिव्या सा मा श्री तनुः।

अर्थात् - योनि रूपधारी जो दिव्य शक्ति है, वह मेरे शरीर से उत्पन्न है।

तथा - **मम लिङ्ग धरानार्यः पुरुषा राम लिङ्गतः।**

या - मेरे चिन्ह को धारण करने वाली नारियाँ है और श्रीराम के चिन्ह को धारण करने वाले पुरुष मात्र हैं। देवनदी गङ्गा नारी रूप है, इससे समस्त नदियाँ स्त्रीलिङ्ग में ही सर्वमान्य हैं।

वनवास काल में अयोध्या से लेकर पञ्चवटी तक अर्थात् जब तक श्रीरामजी का देवी सीता का साथ रहा तब तक नारी रूप में नदियों ने भी सीताजी का साथ नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि जब राम लक्ष्मण और सीता जी को सुमन्त जी वन में भेजकर उन तीनों के वन यात्रा की चर्चा करते हैं तो महाराज दशरथ से सन्देश रूप उनसे निवेदन करके कहते हैं।

प्रथम वास तमसा भयउ दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जल पानु करि सिय समेत दोउ वीर॥

वन यात्रा में सीताजी गङ्गा जी से ही अपने पति और देवर के साथ सकुशल वापस आने पर उनकी पूजा करने को कहकर उन गङ्गा से आशीर्वाद चाहती है, यही नहीं वे दिव्यवाणी में सीताजी की स्तुति करके आशीर्वाद भी देती है।

चित्रकूट में गङ्गा की ही धारा मंदाकिनी और पञ्चवटी में गोदावरी नदी के रूप में सीताजी के सहेली रूप में ही सही पर श्रीराम की सेवा में इन नारी जाति की प्रकृति निर्मित नदियों की भागीदारी थीं।

इसके अतिरिक्त पञ्चवटी में एक अन्य सत्य भी उजागर होता है कि वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थाश्रम धर्म के भावों की सम्पूर्ण निवृत्ति नहीं होती है, अर्थात् पितृ भावों की या पितरों से सम्बद्धता का तत्व बना रहता है। इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए ही यह संयोग पञ्चवटी में बना कि जटायु पञ्चवटी के समीप ही रहते थे, जो पूर्व में श्रीराम के पूज्य पिता दशरथ जी के मित्र थे। जटायु को पाकर प्रभु श्रीराम को अपने पिता से मानसिक लगाव पुनः जागृत हो गया और श्रीराम जटायु को पितावत् ही आदर करने लगे तथा जटायु भी श्रीराम को पुत्रवत् और सीताजी को पुत्रीवत् मानने लगे। अन्त में श्रीराम ने पितावत् उन गीधराज का दाहक संस्कार तक किया।

पर एक साथ ही सीताजी से विलगाव और जटायु का मरण यह सत्य प्रगट करता है कि पितृकुल के भी जो मानसिक संस्कार रूझान रूप में शेष थे वे भी समाप्त होकर योगमाया की संक्रियता श्रीराम को पञ्चवटी छोड़ने को बाध्यकर सन्यासाश्रम में प्रवेश करने की स्वीकृति (अभिमति) प्रदान करती है। इस रूप में स्त्रिलिङ्ग जाति में सुमार गोदावरी का भी श्रीराम से साथ छूटा।

●○●○●

25. पञ्चवटी से प्रस्थान स्वरूप में श्रीराम एवं साधना सिद्ध श्रीराम दर्शन

प्रभु श्रीराम का भार्यासीता हेतु का वियोग विलाप प्रसिद्ध है -

यहि विधि खोजत विलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥

यहाँ बिरही के पूर्व महा और कामी के पूर्व में अति विशेषण भी उन पूर्ण विरही राम के लिए ओछे शब्द मान लिए जाए तो कोई श्रीराम के पूर्ण विरह व्यथा के लिए अतिशयोक्ति नहीं होगी। परन्तु श्री तुलसीदास प्रभु श्रीराम के जिस भाव के भक्त हैं, उस भाव में कविवर उनकी असीम व्यथा को हृदयाङ्गम करने की सक्षमता में अन्य दशाओं के वर्णन हेतु अक्षम हो सकते थे। परन्तु प्रभु श्रीराम वे ही राम है -

जो अगुन अखण्ड अनंत अनादी। जेहि चिंतहि परमारथवादी ॥

और - **नेति नेति कह वेद निरूपा। निजानन्द निरूपाधि अनूपा ॥**

पर दोनों स्थितियों में अन्तर भी तो अनन्त होना चाहिए, यह भी तो उनके अनन्त गरिमा का स्वरूप है, कि संसारिक भावों की अभिव्यक्ति में अनन्त होते हुए भी अपने यथार्थ निराकार स्वरूप में वे अनन्त है। श्रीराम और रावण का युद्ध भी श्रीराम के पूर्ण सन्यास गुणों से अभिर्भूत गुणों के स्वरूप गत ही हुआ। जिसमें उनके शौर्य, तेज युद्ध बल को तो बाह्य जगत में देखा और सुना जा सकता था, परन्तु वे परम प्रभु निरगुण निराकार में समाहित थे।

वहीं रावण पर विजय प्राप्त करने पर लङ्का में ब्रह्मा जी पधारकर विजयी श्रीराम की अनेकानेक विशेषताओं के साथ उनकी स्तुति किया और आगे कहा कि ''मैं अपनी भेद उत्पन्न करने वाली बुद्धि से विपरीत कर्म करता हूँ और उसके कारण जो दुःख है उसी को सुख मानता हूँ। उसे हर लीजिए।''

जेहि ते विपरीत क्रिया करिए। दुःख से सुख मान सुखी चरिए।

परन्तु प्रभु श्रीराम के अन्तःभाव में अनन्त निर्गुत्व का सागर लहरा रहा था और बाह्य स्वरूप की अभिव्यक्ति एक सम्पूर्ण सफल योद्धा के स्वरूपगत थी। इसके पूर्व से जब देवताओं के साथ पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए ब्रह्मा स्तुति कर रहे थे, तब भी वे परम प्रभु - **हरि व्यापक सर्वत्र समाना।** स्वरूप में थे और ब्रह्मवानी के द्वारा बहिर्गत हुए थे। दोनों स्थितियों में अन्तःस्वरूप समान हैं - निर्गुन - निराकार।

पञ्चवटी में नदी रूप से स्त्रिलिङ्ग का साथ गोदावरी का भी सीताहरण के पश्चात् छूट गया। एक वह भी पञ्चवटी वास के पूर्व का समय था कि

मुनि समूह महँ बैठे, सम्मुख सब की ओर।

परन्तु उनका "**जेहि प्रकार मारौ मुनि द्रोही।**" के कर्म की बाध्यता से पञ्चवटी में वास हुआ था, और वही से राक्षसों का संहार भी प्रारम्भ हो गया।

परन्तु अब सन्यास की स्थिति में स्त्री स्पर्श का निषेध है, इसलिए गोदावरी के स्पर्श के पश्चात् प्रभु श्रीराम अयोध्या आ गये। परन्तु कहीं भी ऐसी स्थिति नहीं बनी कि मज्ञन आदि में नदी का स्पर्श हो वरन् किष्किन्धा तक की यात्रा में पम्पा सरोवर के दर्शन हुए जो पुलिङ्ग संवर्ग में है। उसके पवित्र जल का स्पर्शन भी किया।

बल्कि संयोगात्मक स्थिति से तो यह झलक रहा है पवित्र सरोवर के स्पर्शन मज्ञन से यह परिणाम हुआ कि दुराचारी बालि का वध हुआ और जलधि अनन्त जल के स्पर्शन मज्ञन से तो समूचे राक्षस कुल का विनाश हो गया। पर यह तो स्पष्ट है कि सीता खोज में बहुत से वनों का भ्रमण हुआ और किष्किन्धा से लङ्का तक भी प्रभु पैदल ही गए परन्तु नदी की सम्मुखता नहीं हुई। शबरी से भेंट तो योगिनी, भक्ता के रूप में उसके प्रभु से हुई तथा सीता जी पराभक्ति के रूप में उनके वामाङ्ग में लङ्का में सुशोभित हुई।

परन्तु ये स्थितियाँ तो एक निश्चित सत्य के संकेत के प्रतीक मात्र है, जो प्रभु की वैचारिक लीला का दर्शन है।

मन की एकाग्रता की सिद्धि में मनुष्यों में भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस का अपनी पत्नी शारदा के साथ-साथ रहने पर भी वे शारदा को साक्षात् उमा मानते थे और उनकी समयाधीन पूजा करते थे। तात्विक सम्बन्ध में तो उनका सम्बन्ध इष्टदेवी उमा का था।

महाराज मनु ने अपनी तपस्या के पूर्व यह अभिलाषा किया था कि जो अगुन अखण्ड अनन्त और अनादि ब्रह्म है, भक्तों के लिए वे लीला का शरीर ग्रहण करते हैं -

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहही। भगत हेतु लीला तनु गहही॥

तो वे प्रभु ही दशरथ नन्दन बन कर सेवक दशरथ के आदेशाधीन होकर नरलीला करते हुए सीताजी की खोज में वन वन भटक रहे थे।

वे सर्वज्ञ होकर भी कबन्ध से सीता के विषय में पूछते है। जब कबन्ध के शरीर को दोनों भाइयों ने जला दिया; तब वह हंसों के विमान में बैठा हुआ अंतरिक्ष से ही इस प्रकार श्रीराम चन्द्र से बोला -

"रघुनन्दन आप ऐसे पुरुष को ही अपना मित्र बनाइए, जो आपकी तरह ही दुर्दशा में पड़ा हुआ हो। मैं ऐसे पुरुष का परिचय दे रहा हूँ, उनका नाम है सुग्रीव। वे ही सीता की खोज के लिए आपके सहायक होंगे।" तो उसके सलाह के अनुसार ही और उसके बताए मार्गों के चिन्हों का अनुसरण करते हुए श्रीराम अनुज लक्ष्मण के साथ सुग्रीव से मिलने के लिए अपने कार्यसिद्धि की आकांक्षा में आगे बढ़ने लगे। सीता खोज के साधन में कुछ आशा का सम्बल मिला। सुग्रीव राज्य से निष्काषित अपने भाई से डर कर ऋष्यमूक पर छिपे थे, सुग्रीव को अपना मित्र बनाने के लिए प्रभु वन वन भटकते हुए आगे बढ़ रहे थे। यही है **'भगत हेतु लीला तनु'** जिसमें मर्यादा का भी बन्धन जकड़े हुए है और सुग्रीव मैत्री, साधन रूप में अभीष्ट है। प्रभु के दूसरे स्वरूप के दर्शन में -

लव निमेष परमानु जुग, वरष कलप सर चण्ड।
भजसि न मन तेहि राम को, काल जासु को दण्ड।।

अर्थात् - जिन अनादि ब्रह्म श्रीराम के लव, निमेष, परमाणु, वर्ष, युग और कल्प जिनके प्रचण्ड बाण है और काल ही जिनका धनुष है।

ब्रह्मा ने पृथ्वी की ओर से परद्रोही रावण से व्यथित पृथ्वी की दुर्दशा का अन्त करने के लिए उन अनन्त निराकार परम प्रभु से प्रार्थना किया, तो उन्होंने ब्रह्मा को कार्यसिद्धि का आश्वासन दिया और अपने दूसरे क्षण में ही कार्यसिद्ध करके पुनः ब्रह्मा की स्तुति सुनने लगे।

अवतार उदार अपार गुनं। महि भार विभञ्जन ज्ञान घनं।।

अर्थात् - आपका अवतार श्रेष्ठ अपार दिव्य गुणों वाला पृथ्वी का भार उतारने वाला और ज्ञान का समूह है।

प्रभु श्रीराम शबरी से भी एक साधारण मनुष्य की तरह घबड़ाये हुए पूछते हैं -

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करि वर गामिनी।।

तब शबरी ने अपने योग से देवताओं के द्वारा कही बात सुनायी -

पंपा सरहि जाउ रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।।
सो सव कहहि देव रघुवीरा। जानतहूँ पूँछहु मति धीरा।।

वे प्रभु शबरी के कथनानुसार भी सुग्रीव से मिलने के लिए ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचकर-

कपि चञ्चल सबही विधि हीना।

या हीन वानर जाति में जन्मे सुग्रीव से मैत्री करने के लिए अनुज लक्ष्मण से प्रस्ताव रखवाते है और मैत्री को दृढ़ करने हेतु अग्नि को साक्षी रूप में रखकर सुग्रीव से मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं। इसके अनन्तर भी कही सुग्रीव को असंतोष हो जाता है, तो उसकी सफाई भी श्रीराम देते हैं। यथा - बालि के द्वारा प्रथम बार के मल्लयुद्ध में जब सुग्रीव पिट गये और श्रीराम बालि पर प्रहार नहीं कर पाये तो सुग्रीव ने उलाहना भरे शब्दों में कहा और उन्हें सशंकित भाव में देखा और कहा -

मैं जो कहा रघुवीर कृपाला। बन्धु ने होय मोर यह काला॥

जिसका उत्तर श्रीराम ने सुग्रीव को दिया -

एक रूप तुम्ह भ्राता दोउ। तेहि भ्रम ते नहि मारेउँ सोऊ॥

जनकपुर में जब भगवान के अंशावतार भगवान परशुराम अपने पास रखे धनुष को चढ़ाने के लिए राम को देने की क्रिया किया, तब वह दिव्य धनुष ब्रह्म के पूर्णावतार राम के भगवत्ता की परीक्षा को ही निषिद्ध समझते हुए स्वयं ही जड़ से चेतनत्व में आकर श्रीराम के कर में सुशोभित होने लगा। यथा -

देत चाप आपहि चलि गयऊ। परशु राम मन विसमय भयऊ॥

वही श्रीराम ललित नरलीला के अन्तर्गत अपने कपि मित्र सुग्रीव को प्रसन्न करने के लिए एक ही बाण से बालि वध करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

सुनु सुग्रीव मारिहऊँ बालिहि एकहि बाण।
ब्रह्म रुद्र शरनागत गये न उबरहि प्राण॥

परन्तु प्रतिज्ञा किये जाने पर भी सुग्रीव को श्रीराम पर विश्वास नहीं है कि वे एक ही बान से बालि का वध कर सकने में सक्षम हो सकेंगे ? इसमें सुग्रीव को यह डर था, कि यदि कहीं श्रीराम बालि का वध न कर पाये तो बालि हर स्थिति में मेरा वध कर ही देगा। इस कारण से श्रीराम के बल सामर्थ्य की थाह लेने के लिए जब प्रभु श्रीराम सुग्रीव को यह समझा रहे थे कि वे (श्रीराम) सब प्रकार से उसका हित साधन का कार्य करेंगे, तभी सुग्रीव की संशयात्मक बुद्धि डगमगा गई और वे श्रीराम से बोल पड़े - ''हे प्रभो! **'बालि महाबल अति रनधीरा।'** इसलिए प्रभो! बालि वध करने की क्षमता हेतु आपको बालि के द्वारा मारे गये दुन्दुभि दैत्य की अस्थियों के ऊपर उगे हुए सात ताड़ के वृक्षों को एक ही बाण से गिराना होगा, तो मुझे विश्वास होगा कि आप सचमुच बालि का वध कर सकेंगे।''

श्रीराम ने सुग्रीव की शर्त को माना और तदानुसार -

दुन्दुभि अस्थि ताल देख राये, बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये॥

राम हैं- **लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुशासन माया।।**

माया हैं- **जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।।**

सोइ प्रभु भ्रू विलास खग राजा। नाच नटी इव सहित समाजा।।

और - **शिव चतुरानन जाहि डेराही। अपर जीव केहि लेखे माही।।**

तो यह है प्रभु श्रीराम के नरलीला का स्वरूपदर्शन जो वानर के अनुशासनाधीन उनको बनाकर मैत्री धर्म को पुष्ट कर रहा है।

कौरवों के छल कपट की क्रियाओं से द्रोपदी का चीरहरण हो रहा था, पर उस स्थिति में भी धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन के क्रोधावेष के कारणभूत होने वाले दुर्योधन, दुःशासन के विरूद्ध क्रियाओं को रोक रहे थे, क्योंकि धर्मराज धर्म के तत्विक मर्म के ज्ञाता थे, दुर्दशा हो जाए पर अधर्म न हो।

एक किसान के हल जोतने में एक बैल बार बार बैठ जाता था, तव किसान उसको बेरहमी से पीटता था उधर से एक सिद्ध महात्मा यह देखकर किसान के पास आये और उन्होंने उस बैठने वाले बैल के कान में कुछ कह दिया। तव से बैल ने बैठना बन्द कर दिया, जब किसान ने उस मन्त्र को महात्मा जी से पूछा, तव महात्मा जी ने बताया कि ''यह बैल तुम्हारे पिछले जन्म का कर्जी है, जब तक कर्ज नहीं पट जाएगा, तब तक इस बैल को बैल बनकर तुम्हारी सेवा करना पड़ेगा। मैंने केवल इतना कहा कि अच्छे मन से कर्ज पटाओ। क्यों मार खाते हो? यह बात बैल के समझ में आ गई और उसने बैठना बन्द कर दिया।''

इस प्रकार मनुष्य के कर्मों के संस्कारों के फलीभूत होने पर वह बँधता है और अपमानजनक स्थितियों से उसे गुजरना पड़ता है।

परन्तु श्रीराम कर्मबन्धन के अधीन नहीं है, बल्कि सुग्रीव के आधीन कार्य करने पर वे प्रभु श्रीराम जिस मर्यादा में बद्ध है उसी प्रकार वे अपनी अनन्तता में भी स्वस्वरूपदर्शी हैं, इसलिए उनके यथार्थ तत्व और क्रियाओं में अनन्तता का अन्तर है, दूसरे वे नारद के श्राप से ही सही, कि **''करिहहि कीस सहाय तुम्हारी।''** वे बन्दरों की सहायता से कार्य सिद्ध करेंगे। परन्तु परमार्थ में तो यह हो रहा था, कि वे बन्दर जब सहायता करेंगे तब, परन्तु उन बन्दरों के हितार्थ उनकी अनन्त सेवा तो श्रीराम से होना ही चाहिए। तीसरे जीवन को कर्त्तव्य भावना से इतना सजाना चाहिए, कि उसका फल इस जीवन में या भावी जीवन में बहुत नीचे की स्थिति में ले जाकर न गिरा दें बल्कि वह ऊर्ध्वगामी हो। आगे चलकर प्रभु मानव लीला के ही अन्तर्गत ''राम प्रवरषन गिरि पर छाये।'' यहाँ न तो वास करने का उचित स्थल और न तो पूछने पर बताने वाला समर्थ

सद्ज्ञानी महात्मा है और न कोई प्रयोजन ही सिद्ध करने की कार्यप्रधान योजना है। मात्र वर्षाकाल का समय सीता खोज के लिए उपयुक्त न होने के कारण समय व्यतीत करना है। इसलिए वे परम प्रभु जीवन के चारों आश्रमों के धर्मों के पालन अनुष्ठान के लिए कार्यशील है।

पञ्चवटी में वैदेही हरण के पश्चात् से ही श्रीराम के अन्त:भाव में सन्यास धर्म के अनुकूल तत्वों का समावेष जागृत हो चुका था, ताकि बाह्यरूप से नारद के श्राप **''नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी''** के कारण वे अपरमित बिरह वेदना से व्यथित तो दृष्टिगत होंगे, पर अन्त:करण में उनकी स्थिति गीता के अनुसार निम्न प्रकार से होगी।

अपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे, स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २/७०)

अर्थात् जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं। वैसे ही सब भोग (चाहे वह दुर्गतिपूर्ण हो या सद्गति पूर्ण) जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किए बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोग की कामना करने वाला व भोग जिसका चहेता हो चुका है।

बालि वध और सुग्रीव राजतिलक के पश्चात् जो श्रीराम का प्रवरषनं गिरि पर वास हुआ वह सन्यासाश्रम के धर्म निर्वहन के लिए आश्रम वास में सन्यास धर्म के नियमों को पालन करते हुए ही हुआ।

इस प्रकार प्रभु श्रीराम की वियोग लीला, सीता अन्वेषण तत्परता, सुग्रीव मैत्री और यहाँ तक कि राम रावण युद्ध भी श्रीराम के **''ज्ञान अखण्ड एक सीतावर''** के अन्तर भावों में ही हुआ। यही तो श्रीराम के अखण्ड ज्ञान की शोभादायिणी सामर्थ्य है कि सम्पूर्ण रजोगुणी वृत्तियों से होने वाले, दीर्घकार्य एवं मन को उद्वेलित करने वाले कार्यों से सम्बद्ध रहते हुए भी अपने अचल और अखण्ड ज्ञान से इस प्रकार वे परिपूर्ण है, कि उस अखण्ड ज्ञान के आनन्द में रजोगुणी कार्यों से उत्पन्न भाव उस आनन्द को स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं।

भक्ति रसामृत सिन्धु में लिखा है, कि जिसको भगवान की प्रेमाभक्ति करने की इच्छा होती है, वह इस जगत में वद्ध होते हुए भी मुक्त है क्योंकि इदम् ज्ञानम् (यह ज्ञान) ही शुद्ध भक्ति का ही द्योतक है। भगवान के सन्देश शक्तियों से पूरित होते हैं, परन्तु जब भक्त, भगवत् कथाओं में चाहे वे परस्पर चर्चा के माध्यम से हो या परमेश्वर की सेवा में लगे रहने से हो, तो उनको अनुभूत ज्ञान या विज्ञानमय ज्ञान स्वत: प्राप्त होता है, क्योंकि भगवान उस जीव विशेष की मानसिकता से अवगत होते हैं –

मच्चिता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यम् तुष्यन्ति च रमन्तिच॥
तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तम् येन मामु पयान्ति ते॥

(गीता १०/९-१०)

अर्थात् निरन्तर मुझमें मन लगाने वाले और मुझमें ही प्राणों को अर्पण करने वाले भक्तजन मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा वापस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव में ही निरन्तर रमण करते हैं।

तो उन निरन्तर मेरे ध्यान आदि में लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों के मैं वह तत्व ज्ञान रूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।

परन्तु श्रीराम में एक अद्भुत विशेषता तो यह है कि वे अखण्ड ज्ञान के अन्तर्गत अनन्त कृपालु भी है परम प्रभु राम तो बैर भाव रखने वाले राक्षसों द्वारा उन्हें अपने शत्रु के रूप में निरन्तर स्मरण किए जाने से भी वे प्रसन्न हो जाते हैं और उन्हें परम गति प्रदान कर देते हैं।जब भगवती पारवती ने इसका कारण भगवान शंकर से पूछा तो उन्होंने इसका सीधा सा उत्तर दे दिया कि "अस कृपाल को कहहु भवानी।" वे प्रभु जिनके पास कृपालुता का ही सागरभरा हो, तो वह भी प्रभु की समदृष्टि में कृपा पाने का अधिकारी है।

तो नरलीला के अंतर्गत प्रभु श्रीराम युद्ध काल की स्थिति में तो समः सर्वेषु भूतेषु अर्थात् समस्त प्राणियों में सम भाव वाला योगी के रूप में तो थे, इसके अनन्तर "भद्भक्ति लभते पराम" स्थिति में अग्निदेव ने भक्तिदेवी सीता उन्हें समर्पित किया। भक्ति की सान्निध्यता से श्रीराम की साधना पक्ष की इकाई में उनको परमात्मा के निराकार साकार स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हुआ। गीता में भगवान श्रीकृष्णा अर्जुन से कहते हैं -

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणम् कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तम वाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ३/२१-२३)

अर्थात् - श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है और वह जो प्रमाण देता है, समस्त मनुष्य उसी के अनुसार बरतने लग जाते हैं। मुझे तो तीनों लोकों में न तो कुछ कर्त्तव्य है और न कोई प्राप्त करने योग वस्तु है, जो अप्राप्त है। तो भी मैं कर्म में बरतता हूँ। यदि मैं कर्म में न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जायेगी, क्योंकि मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

अब मानवोचित व्यवहार तो, स्वरूपगत होते रहे आये, परन्तु जो प्रभु नरलीला के अन्तर्गत दशरथ पुत्र राम है उनमें वनवास काल के साधनाओं की क्रियाशीलता से उनमें नर से नारायण बनने की सिद्धि स्थिति समाहित है। क्योंकि योग शास्त्रान्तर्गत क्रमिक साधना और उसकी सिद्धि स्थितियों के भी दर्शन श्रीराम के वनवास से वापस अयोध्या आने तक हुए।

गीता के पन्द्रहवें अध्याय का पहला श्लोक है -

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेद वित्॥

अर्थात् - आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार रूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।

इस अश्वत्थ वृक्ष की शाखायें नीचे को हैं, जिस वृक्ष के मूल आदि पुरुष परमेश्वर है। ब्रह्मा रूपी वृक्ष की शाखायें उस मूल के नीचे है और इसी प्रकार उस मुख्य शाखा वाले वृक्ष के नीचे ही छोटी शाखायें टहनियाँ पत्ते आदि है, जो क्रम से ही नीचे की ओर ही विस्तारित हैं।

वैदिक कर्मों के अंतर्गत ही स्वधर्म, वर्णधर्म और आश्रम धर्म आदि करणीय धर्म कर्म को करने के बाद साधक अपनी साधना की तीव्रता या मन्दगतियों से परमेश्वर रूप मूल में पहुँचने के लिए प्रयासरत रहता है। उसकी सिद्धि स्थिति आदि पुरुष परमेश्वर मूल में पहुँचना है। राम रावण के युद्ध काल में ही श्रीरामचन्द्र कोसलाधीश घोषित हो चुके है। युद्ध के अन्तिम चरण में जब इन्द्र के सारथी मातलि ने लङ्का के युद्ध भूमि में श्रीराम के युद्ध करने के लिए दिव्यरथ और अन्य दिव्यास्त्रों को श्रीराम की सेवा में उपस्थित किया और अपना अभिप्राय निवेदन किया कि ''ब्रह्मा जी के कहने पर इन्द्र ने अपना दिव्यरथ आपको युद्ध करने के लिए भेजा है।'' मातलि के कथन को सत्य परख कर प्रभु उस दिव्य रथ पर चढ़ने को उद्यत हुए। तो -

तेज पुञ्जरथ दिव्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर भूपा॥

तात्पर्य यह है कि कौशलपुर नरेश की समस्त तात्विक योग्यताओं से वे सम्पूर्ण हैं, जिसकी आसीनता अखण्ड असीम होगी। राम रावण युद्ध में श्रीराम की विजय पर शंकर जी ने भी पुलकायमान शरीर से गदगद होकर श्रीराम की स्तुति की और अन्त में कहा -

नाथ जबहि कौशलपुरी होइहि तिलक तुम्हार।
कृपा सिन्धु मैं आउव देखन .चरित उदार॥

या प्रभु श्रीराम के राजतिलक से सन्निहित उनके चरितावली को देखने की लालसा परमार्थवादी शिवजी में भी है। इसके साथ ही साथ इन्द्र भी युद्ध स्थल में उपस्थित होकर उन प्रभुश्री को कौशलाधीश के स्वरूप गत ही दर्शन कर रहे हैं। यथा -

अनुज जानकी सहित प्रभु कुशल कौशलाधीश।
सोभा देखि हरषि मन अस्तुति कर सुर ईश॥

इसलिए कौशलाधीश का पद जो प्रभु श्रीराम के द्वारा शोभायुक्त होगा, वह पृथ्वीलोक में होते हुए भी ब्रह्माण्ड व्यापक है। इसके पूर्व भी श्री हनुमान जी महाराजकी प्रथम लङ्का यात्रा में लङ्किनी हनुमान जी से कहती हैं -

जब रावनहि ब्रह्म वर दीन्हा। चलत विरञ्चि कहा मोहि चीन्हा॥
विकल होहि तै कपि के मारे। तव जानेसु निशिचर संहारे॥

पुनः उपदेश रूप में कौशलाधीश के प्रताप को अपने पूर्व ज्ञान केप्रभाव से कहती है -

प्रविसि नगर कीजै सब काजा।
हृदय राखि कौशलपुर राजा॥

तात्पर्य यह कि ब्रह्मलोक में भी कौशलाधीश के प्रताप ऐश्वर्य का प्रभाव था परन्तु कौसलाधीश के स्वरूप में श्रीरामचन्द्र के राज्य की महिमा ही वर्णनातीत है, जिनके प्रताप रवि के हृदय में उदय हो जाने से अविद्या जनित संस्कारों का मूलोच्छेदन हो जाता है और जिस प्रताप रवि प्रकाश से सद्विद्या के प्रकाश का आलोक हृदय में छा जाता है।

पद्मपुराण में वे राम हैं -

श्रीरामेति परंनामं रामस्यैव सनातनम्।
सहस्त्र नाम सद्दशं विष्णोर्नारांणस्य च॥

अर्थात् श्रीराम का ही सनातन परात्पर नाम है जो विष्णु तथा नारायण के हजारों नामों के समान है।

ब्रह्माण्ड पुराण में वे राम है -

यस्मिन् रमन्ते मुनयोविद्यया ज्ञान प्राप्तये।
तं गुरूः प्राह रामेति रमनति राम इत्यपि॥

मुनिजन सद्विद्या द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिए जिसमें रमण करते हैं तथा जो सबमें रमण करता है वे ही राम है और इसीलिए गुरूदेव वशिष्ठ ने उन प्रभु का 'राम' नाम ही कहकर नामकरण किया।

शेषावतार श्रीलक्ष्मण कुमार ने भी श्रीराम के कौशलाधीश के पदासीन के पूर्व भी कौसलाधीस के प्रताप ज्ञान के पूरित होने के कारण अन्तिम युद्ध पर जब श्रीराम ने लक्ष्मण कुमार को मेघनाद के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा और कहा - **''तुम लछिमन मारेहु रन ओही।''**

तव लक्ष्मण जी को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब वे मेघनाद का वध अवश्य कर सकेंगे। तो -

जब रघुवीर दीन्ह अनुशासन। कटि निषङ्ग कसि साजि सरासन॥
प्रभु प्रताप उर धरि रनधीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥
जौ तेहि आज बधे बिनु आवौं। तो रघुपति सेवक न कहावौ॥

अनेकों कलाविधियों से युद्ध लक्ष्मण जी और मेघनाद के मध्य होता रहा, पर कोई हार जीत का प्रतिफल नहीं हुआ, तब अन्त में लक्ष्मणजी ने -

सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा। सर सन्धान कीन्ह करि दापा॥

तो कोसलाधीस के प्रताप का स्मरण करने मात्र से फल यह हुआ कि -

छाड़ा बान माझ उर लागा। मरती बार कपटु सब त्यागा॥

तो लक्ष्मण जी सृष्टि में अजेय और महानतर योद्धा मेघनाद का वध श्री कौसलाधीश के प्रताप से ही सम्भव कर पाये।

इसलिए रामायण के अनुसार जो राम -

परं ब्रह्म परं तत्वम् परम ज्ञानं परं तपः।
परं बीजं परं क्षेत्र परं कारण कारणम्॥

अर्थात् परम ब्रह्म, परम तत्व, परम ज्ञान, सर्वोत्त्कृष्ट तप, परम श्रेष्ठ बीज परम पावन क्षेत्र सभी के परम कारणों का भी कारण श्रीराम है।

ऐसे परम कारणों के भी कारण श्रीराम होते हुए भी अपनी मानवीय लीलाओं के कारण जो उनके नर स्वरूप विग्रह में दशरथ नन्दन राम बन कर हो रही थी। वे अनुशीलन मात्र के लिए नहीं बल्कि अनुकरण करने योग्य हैं। इसलिए श्रीऱाम का आग्रह यह बना रहता था। कि उनके नरलीला के स्वभाविक गुणों में परात्पर राम की स्वरूपधारिता के कारण कहीं भी विक्षेप न हो।

●○●○●

26. साकेत : अयोध्या धाम

श्रीराम नरलीला में ही तदात्मता स्वीकार करते हुए नर भाव से अपनी अन्तरङ्ग साधनाओं में इस प्रकार संलग्न और दत्तचित्त थे, कि कौसलाधीस की पदासीनता स्थिति में उन साधनों के द्वारा भी इतने गौरवशील हो सके कि कौशलदेश के जिस राजसिंहासन पर उनके पिता महाराज दशरथ और अन्य पूर्वज विराजमान होते आये थे, और कौशलेश अयोध्यापति के नाम से सम्मानित हुए थे, वह अयोध्या और कौशलदेश श्रीराम के कौसलाधीस होने पर अपने अन्तर्भूत गुणों को प्रगट करें।

कौसिल्या गर्भ से प्रगट होने पर बाललीला में हर्षित होने वाले भक्तों, देवताओं का गुप्त रूप से अवध में आना जाना रहा, परन्तु अवध के साकेत धाम के मौलिक तत्वों गुणों का तो स्वरूप अभी गुप्त ही था।

अब उसके भी प्रगट होने का जब समय आया तब अवधपुरी के महात्म्य की गाथा प्रभु श्रीराम के श्रीमुख से प्रगट होने लगी।

पुष्पक विमान से जब प्रभु श्रीराम, सुग्रीव, विभीषण, अंगदादि के साथ अपने नगर अवध के समीप पहुँचे, तब एक तो तुलसीदास ने उन प्रभु को भानुकुल के कमल का दिवाकर या सूर्यवंश के कमल का सूर्य बना दिया क्योंकि वे सूर्यवंश के सूर्य को प्रताप के सूर्य से एकीकृत करना चाहते थे ऐसा इसलिए कि प्रताप का सूर्य अविद्या के अंधकार का भी नाशक है।

श्रीराम कहते हैं -

जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। वेद पुराण विदित जग जाना।।
अवधपुरी मम प्रियनहि सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोऊ कोऊ।।
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तरदिशि बह सरजू पावनी।।
जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पाविहि बासा।।
अति प्रिय मोहि इहाँ के वासी। मम धामदा पुरी सुख रासी।।

भरद्वाज मुनि के पूछने पर महर्षि वशिष्ठ परमधाम अयोध्या का वर्णन करते हैं कि पृथ्वी पर अत्यन्त दुर्लभ भावनागम्य श्रीअयोध्या नाम का यह अखण्ड सच्चिदानन्दमय परम दुर्लभ दिव्यधाम भारतवर्ष में हैं, जो मन बानी से अगोचर तीनों कालों में एक रूप एक रस अविचल रहने वाला धाम है। यद्यपि यह प्रकृति मण्डल में भूलोक में हैं, तथापि उसको प्राकृतिक गुणों का स्पर्श नहीं होता है। जैसे जल में कमल निर्लेप रहता है, वैसे ही यह सदा निर्विकार अलौकिक

धाम है। यह काल, कर्म स्वभाविक माया के विकारों से रहित है। काम क्रोधादिक विकारों से, षडविकार तथा भूख प्यासादिक उर्मियों से निर्लेप रहता है।

संसारिक विकारों का प्रादुर्भाव इसमें कभी नहीं होता है, क्योंकि इसी के दिव्य अंश से लीलाविभूति तथा दिव्य विभूतियाँ दोनों प्रकाशित होती हैं। भूतल में तथा उर्ध्वलोकों में नित्य सनातन परम अद्‌भुत इसका प्रकाश होता है। महारामायण में

गोलोकाच्च परंज्ञेयं साकेतान्तः पुरं प्रियम्।
गोप्याद गोप्यतरागोप्या सायोध्यातीव दुर्लभा॥

श्रीअयोध्या साकेत धाम गोलोक से भी परे प्रभु का अत्यन्त प्रिय गुप्त से भी गुप्त परम दुर्लभ धाम है। रूद्रमाल में श्रीअयोध्या महात्म्य :-

यस्याः भाति प्रमोद काननवरं रामस्य लीला स्पदं
यत्र श्रीसरितां वरा च सरयू रत्नाचलः शोभितः।
सायोध्या परमात्मनो विजयते धाम्ना परामुक्तिदा
ध्येया ब्रह्मा महेश विष्णु मुनिभिरानन्द दा सर्वदा॥

जिन श्री अयोध्या जी में परम श्रेष्ठ प्रमोद वन शोभा पाता है, जो श्रीराम का लीला धाम है। जहाँ पर नदियों में परमश्रेष्ठ श्री सरयू नदी शोभा देती है। जहाँ मणि पर्वत सुशोभित हो रहा है। जो ब्रह्मा विष्णु महेशादि देवो तथा मुनियों द्वारा ध्येय सदैव आनन्द प्रदायक है। उस परमात्मा का परमधाम मोक्षप्रद श्री अयोध्या जी की जय हो।

इस प्रकार परम पावन सच्चिादामय अयोध्या धाम की महिमा और स्वरूप जो यथार्थ है। वह भी प्रभु श्रीराम के कौसलाधीस स्वरूप दर्शन के पूर्व भी था, परन्तु वह प्रभु श्रीराम का गुप्त से भी गुप्त और दुर्लभ धाम होने के कारण उस समय तक भी गुप्त ही बना रहा। क्योंकि उसके सच्चिदानन्द और दुर्लभतम् स्वरूप के प्रकट करने के हेतु का पवित्र काल ही प्रगट नहीं हुआ था। परन्तु जैसे ही प्रभु श्रीराम का स्वरूप अयोध्यापति, कौसलाधीस के स्वरूपभूत हुआ, वैसे ही सम्पूर्ण गुण, जिन्हें श्री अयोध्या साकेतधाम धारण किये था वे सब प्रगट हो गये, और उन महाराजाधिराज के अनुकूल सेवा समर्पित करने लगे। तो प्रभु श्रीराम ने वनवास वापसी में जो श्रीअयोध्या धाम और श्री सरयू जी के महात्म्य का वर्णन सूक्ष्म में किया उसका तात्पर्य ही यह था कि वे सभी गुण धाम के प्रगट हो।

दूसरी ओर श्रीराम का गृहस्थाश्रम के पूर्व का ब्रह्मचर्याश्रम तो अयोध्या के महलों में व्यतीत हुआ परन्तु गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और सन्यासाश्रम उनके वनवास काल में सम्पन्न हुए। परन्तु लोक

मर्यादा की रक्षा करने के निमित्त ही सभी आश्रमों के मूल धर्मों के अनुकूलन में वे रहे और उनका विधिवत् पालन किया। जबकि -

सर्व वेदाश्रय त्वाच्च सर्वलोकस्य कारणात्।
ईश्वर प्रतिपाद्यत्वात् अखण्ड ब्रह्म वाचकः॥

(पुलह संहितायाम्)

अर्थात् - सभी वेदों के आश्रय तो वे स्वयं राम है और वे सभी लोकों के कारण है तथा परम् ब्रह्म ईश्वर का साक्षात् प्रति पादक होने से राम अखण्ड ब्रह्म है।

तो जो प्रभु श्रीराम उन गुणों को धारण करते हैं, जो अगुन, अखण्ड, अनन्त और अनादि है, जो निराकार, निर्गुन, और निजानन्द तथा निरुपाधि हैं और उन्हें ही पृथ्वीलोक के अयोध्यानगरी में महाराजाधिराज कोसलाधीस के पदासीनता को सुशोभित करना है तो उनके गुणों के तन्द्रुप उनकी राजधानी का भी स्वरुप हो तभी तो समता का स्वरूप रहेगा।

इसलिए अयोध्यापुरी सर्व देवमयी है

अकारो ब्रह्मा च प्रोक्ता यकारो विष्णुरुच्यते।
धकारो रूद्ररूपश्च अयोध्या नाम राजते॥

जो सभी प्रकार से युद्धों में जीती न जाय, उसका नाम अयोध्या है, जो श्रुति स्मृति पुराणों में प्रकाशित हो रहा है। अ कार ब्रह्मा है, य कार श्री विष्णु हैं, 'ध' कार श्री शंकर जी है, या सभी देवताओं का वाचक है।

अभी तक प्रभु श्रीराम कौशलेश दशरथ के जाये के स्वरूप में सामान्यतः जाने जाते थे। इसी रूप में तो परद्रोही रावण श्रीराम के विषय में रावण राज्यसभा में दूत अंगद से कहता है-

अगुन अमान जान तेहि दीन्ह पिता वनवास।
सो दुःख अरु जुबती बिरह पुनि निस दिन मम त्रास॥

और वे ही राम रावणदल के विरुद्ध युद्ध में -

नाग पाश बस भये खरारी।
स्व बस अनन्त एक अधिकारी॥

क्योंकि उस समय वे नृपसुत ही हैं, क्योंकि ऐसा न किये जाने पर वे अपने प्रेमी भक्तों के गुणों को, पौरुषता को, मैत्री धर्म और सेवक धर्म को प्रकाशित नहीं कर सकते थे। हनुमान जी महाराज की **'राम काज लगि तव अवतारा'** का स्वरूप दर्शन तो तभी सम्भव हो पाया जब

नर धर्मों के अनुरूप श्रीराम उन कार्यों के करने में सक्षम नहीं थे और वानर होने तथा अतुलित बल के और बुद्धि के धाम होने के कारण श्री हनुमान जी श्रीराम के नर रूप की सक्षमता से बहुत श्रेष्ठ माने गये परन्तु अंगद के नायकत्व में सीता अन्वेषण दल के श्री हनुमान जी महाराज से जब श्रीराम ने पूछा कि लंका दहन कैसे किया ?

केहि विधि दहेउ दुर्ग अति बंका।

तब हनुमान जी ने जानबूझकर उल्टा सीधा उत्तर देकर अन्त में यथार्थ सत्य श्रीराम को निवेदित कर दिया।

सो सब तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

इसी प्रकार साधारण वानर अंगद के चरण को रावण की राज्यसभा में पटक कर भूमि में जमाने मात्र से सभा में डर से खलबली मच गई और अंगद के एक चरण को पृथ्वी से अलग करने में -

कोटिन्ह मेघनाद सम सुभट उठे हरषाइ।
झपटहि टरै न कपि चरण पुनि बैठहि सिर नाइ॥

और अन्त में मात्र अंगद के पौरुष समन्वित कार्य से -

जातुधान अंगद पन देखी। भय व्याकुल सब भये विशेषी॥

तात्पर्य है कि बाह्य रूप से श्रीराम मात्र दशरथसुत के नररूप में भले ही साधारण मानवीय व्यवहार ही करते थे पर अपने निर्गुनत्व की प्रतिष्ठा में वे सर्व समर्थ की स्वरूपता को परोक्ष रूप में क्रियाशील बनाये रखते थे। युद्धोपरान्त रावण पर सम्पूर्ण विजय का श्रेय -

''तुम्हरे बल मैं रावण मारयो।'' के अनुसार उन सभी वानरों को हो दे दिये थे।

जनकपुर श्रीराम के द्वारा धनुष भङ्ग हो जाने पर महाराज जनक अगले कर्तव्य के ज्ञान की नियत से जब श्री विश्वामित्र के समीप गये तव विश्वामित्र जी ने राजा जनक को इस विषय में अपने विचारोद्गार प्रगट किये।

(1) टूटत ही धनु भयउ विवाहू।

(2) तदपि जाइ तुम करहु अव, जथा बंस व्यवहारु।

इसी प्रकार भरत जी के द्वारा अयोध्या के राजतिलक का समर्पण तो चित्रकूट के पावन स्थल में हो ही गया था, परन्तु पिताश्री के आदेश पालन की कर्त्तव्य निष्ठा चौदह वर्ष के लिए श्रीराम को वनों में रहने के लिए बाध्य कर रही थी। इसलिए धरोहररूप में ही अयोध्या का राज्य भरत जी के अधिकार में था। इस कारण श्रीरामचन्द्र के अयोध्या में राजतिलक की औपचारिकता मात्र शेष थी। भरतलाल जी महापाज्ञ, चेतोमुख, जितेन्द्रिय और दिव्य सच्चिदानन्द के भोक्ता है। रघुनाथ जी का ही चिन्तन करने के कारण वे उनके साथ अपने को तपाकर एक हो गये हैं, इसलिए वे प्रज्ञान घन तथा परम बुद्धिमान है भरत जी के गुण, त्याग, समर्पण, प्रेम, भक्ति अज्ञता अनन्यता सेवा सभी मिलकर एक तीव्रगतिमान महानद रूप हो गये थे, जो अनन्त निर्गुण समुद्रवत् गम्भीर, समूचे, ब्रह्माण्ड में मात्र एक रामराज्य के महाराजाधिराज कौशलाधीश श्रीरामचन्द्र जू के अथाह ज्ञान गुन समुद्र में ही शान्त हो सकते थे।

महाराज दशरथ के अप्रतिम पुत्र प्रेम के कारण ही कि उन्होंने अपने पुत्र को अयोध्या का राज सिंहासन न देकर विधि के विधान के अनुसार राम को वनवास दिया और वे प्रेम के वशीभूत होकर शोक से विह्वल हो गये और अन्त में पुत्र प्रेम में ही प्राणों को भी न्यौछावर कर दिया। इस असीम पुत्र प्रेम में मरण के कारण प्रभुराम ने अपने कौशलाधीश पद पर आसीनता के पूर्व लङ्का में ही उन्हें परमार्थ ज्ञान से पूरित किया, ताकि उन पिताश्री को ज्ञानदृष्टि के द्वारा अनन्त गरिमामयी अयोध्या और अप्राकृत राज्य वैभव के दर्शन हो सके, यही मात्र अपने पिता के अपने प्रति प्रेम मरण का बदला चुकाने का अपरमित साधन था, कि श्रीराम निर्गुन निराकार स्वरूप में जो केवल ज्ञानदृष्टि पथ में आ सकते थे, महाराज दशरथ के दृष्टिपथ में हो सके।

साधक रूप में श्रीराम भक्ति के प्राप्त हो जाने पर परमात्म ज्ञान से सम्पन्न थे।

ततो मां तत्वतोज्ञात्वा विशते तदन्तरम्॥

(गीता १८/५५)

इसके पश्चात् तत्वतः अगली इकाई में उनका प्रवेश है, जो गीता योगदर्शन के अनुसार है-

सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यपाश्रयः
मत्प्रसादाद वाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्

(गीता १८/५६)

अर्थात् - मेरे परायण हुआ योगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है।

यह अविनाशी परम पद श्रीराम के लिए क्या हो सकता है? वे तो उस अविनाशी परम पद के प्राप्यर्थम् आकांक्षी भी नहीं हो सकते। अविनाशी परमपद ही जिनकी कृपा मात्र से सुलभ्य है।

इसलिए उस अविनाशी परम पद के स्वरूप को ही पृथ्वी लोक में ही आना पड़ेगा। क्योंकि श्रीराम स्वयं है –

सन्त्यवतारा बहवो विष्णो लीलानुकारिण:
तेषाम् सहस्त्राणि कृत्वा रामो ज्ञानमयं शिवम्॥

अर्थात् विष्णु के लीलावतार अनन्त है, उनसे भी हज़ारों गुणा विशेष श्रीराम ज्ञानमय तथा कल्याण स्वरूप है।

इसलिए – वशिष्ठ संहिता में यह वर्णन है कि प्रकृति मण्डल के सभी लोकों के ऊपर विरजा के उस पार श्रीबैकुण्ठ नाम का परमधाम है, उससे ऊपर दिव्य सच्चिदानन्द, दिव्य इन्द्रियों द्वारा दिव्यात्माओं का निवास गो लोक है, उसके मध्य में श्रीराम जी का परात्पर धाम श्री साकेत धाम है। यह रामजी का परात्पर सनातन धाम है। इसी का प्रतिरूप पृथ्वी में भारतवर्ष में अत्यन्त दुर्लभ श्री अयोध्याधाम है। यह परम अद्‌भुत अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप है, यह मन वानी से अगोचर तीनों कालों में एक रूप अविचल धाम है, इसके तीन ओर पूर्व, पश्चिम और उत्तर सरयू जी की धारा प्रवाहित होती है, जिसके दिव्यांश से विरजादिक परम श्रेष्ठ नदियाँ प्रकाशित होती हैं।

पृथिव्या भारत वर्षे ह्ययोध्याख्यम् दुर्लभम्
अखण्ड सच्चिदानन्द सन्दोहं परमाद्भुतम्॥

इसलिए श्रीराम का परात्पर धाम श्री साकेतधाम ही परम अद्भुत सच्चिदानन्द स्वरूप है, तो उसी साकेत धाम को ही अयोध्या में अपने स्वरूप से आना पड़ा।

अविनाशी परमपद, जो गीता (१८/५६) में साधक को प्राप्त हो जाता है तो उस परम पद को पृथ्वी लोक में ही अवतरित होकर श्रीराम के ही स्वरूपगत भावों के अनुकूलन में प्रतिष्ठित होना है। इसी तारतम्य में लोक संग्रह हेतु श्रीराम वैदिक क्रियाओं के और ज्ञान के सूक्ष्म परिमार्जन से गीता के १५/१ के आधारभूत आदि पुरुष परमेश्वर जिस सनातन अश्वत्थ वृक्ष के मूल है, वहाँ उनकी मौलिक वृत्तियाँ साधना के अन्तिम छोर में सिद्धिगत हो गई।

इस प्रकार रामराज्य में प्राकृत गुणों का समावेष ही नहीं है। जिस राज्य के राजा राम है। जब यह पूछा जाय कौन राम ?

तो इसका उत्तर है – **रघुपति राघव राजाराम**

और यदि यह कहा जाय कि और भी उनकी कोई विशेषता है,

तो उत्तर है, हाँ, वे हैं – **पतित पावन सीताराम।**

अर्थात् वे पतितों को भी पावन करने वाले और सीता जी वाले राम हैं, अर्थात् सीता जी के साथ है। तो वे वही राम है, जिसके अंश से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादिक भी उत्पन्न हुए है, महाविष्णु जिनके दिव्य गुणों के प्रतीक है वही कार्य कारण से परे पुरुष श्रीराम है, जो दशरथ जी के पुत्र हैं।

और वे ही प्राकृत गुणों से परे पृथ्वीलोक में अवस्थित साकेत धाम अयोध्या नगरी में कौशल देश के राज सिंहासन को सुशोभित करते हैं अब श्रीराम के क्रिया भाव एवं तत्व में समानता है। सिंहासनारूढ़ होने पर वे सीता जी तक को वन निर्वासित करने के अनन्तर प्रजाजनों की सेवा उसी भाव से करते हैं, जैसे सीता जी के त्याग किए जाने का उनके मन में कोई प्रभाव ही न रहा हो और न हुआ हो।

श्रीराम के चरित्र इतने उदार है कि -

ज्ञान गिरा गोतीत अज माया गुन गोपार।
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित उदार॥

चित्रकूट में बाल्मीक आश्रम में मुनिवर के निर्गुन, निराकार परक उद्गार **'राम स्वरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर। अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कहँ।'** इसके अतिरिक्त उनका कथन था -

चिदानन्द मय देह तुम्हारी। रहित विकार जान अधिकारी॥

अर्थात् - जो विकार से रहित अधिकारी जन है, वे ही श्रीराम में सच्चिदानंद स्वरूप का दर्शन कर पाने के अधिकारी थे।

●○●○●

27. जानि समय सनकादिक आये

श्रीराम के कौशलाधीस सिंहासनासीनता पर जब प्रभु राम भाइयों के सहित श्री हनुमान जी समेत सुन्दर उपवन में थे तो एक विचित्र स्थिति हुई कि -

जानि समय सनकादिक आये। तेज पुञ्ज गुन शील सुहाये॥

इसके पूर्व न तो रामजन्म में न विवाह में, न चित्रकूट में और यहाँ तक कि रावण पर विजयोपरान्त लङ्का में ब्रह्मा और शंकर जी तो आये परन्तु सनकादिकों का शुभागमन श्रीराम के समीप वहाँ भी नहीं हुआ। फिर श्रीरामराज्य के अवसर पर सनकादिकों का शुभागमन अयोध्या के उपवन में श्रीराम के दर्शनों के लिए हुआ। श्री तुलसीदास ने लिखा है कि ''जानि समय सनकादिक आये'' अर्थात् उन्होंने जब ऐसा समय जाना कि उनको श्रीराम दर्शनों को जाना चाहिए। वे तभी आयें इसलिए श्रीराम के जन्म से लेकर रामराज्य के स्थापना में या पूर्व तक अयोध्या में वह पात्रता ही विद्यमान नहीं थी कि सनकादिकों का वहाँ आगवन हो सके, परन्तु '' जानि समय सनकादिक आये'' के पूर्व तो उनके अयोध्या आने की स्थिति बनी है और वह भी दिन प्रति नारद जी के साथ आते थे, परन्तु इन आगमनों की स्थितियों के बाद भी सनकादिकों को ''जानि समय'' की मानो प्रतीक्षा रही हो।

इस तथ्य में कोई गूढ़ रहस्य होना चाहिए तभी तो श्रीमद्तुलसीदास की भक्ति भावना में यह तथ्य आया। तथ्य के स्पष्टीकरण में - लक्ष्मण जी साक्षात् वैराग्य है, यथा -

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु सोहत धरे शरीर॥

(रामचरितमानस अयोध्या. ३२१)

तो वैराग्य की शोभा भक्ति और ज्ञान से है, तो इस प्रकार जब यह निश्चय हो गया कि श्रीराम और सीता वन को जायेंगे, तब लक्ष्मण जी भी उन दोनों के साथ वन जाने के लिए अपनी माता सुमित्रा से स्वीकृति लेने के लिए गये। सभी घटना क्रमों का ज्ञान होने पर सुमित्रा ने सीता राम जी के साथ लक्ष्मण जी को जाने का भावपूर्ण आदेश दिया यथा -

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइ दिवस जहँ भानुप्रकाशू॥
जौ पै सीय राम वन जाही।
अवध तुम्हार काज कछु नाही॥

तो सीता राम के वनवास में जैसे अयोध्या श्रीराम के साथ ही चली गई थी और पुनः उनके वापस आ जाने पर उन्हीं सीताराम के साथ आ गई हो।

परन्तु पुष्पक विमान पर आसीनता की स्थिति में श्रीराम के द्वारा अवध (अयोध्या) की महिमा सुग्रीव विभीषणादि से कहने का तात्पर्य है कि अयोध्या में भी वे अपने साकार विग्रह के अतिरिक्त चित्रकूट, पञ्चवटी, प्रवरषन की तरह अपने निराकार स्वरूप पर छायेंगे, परन्तु गुण वैशिष्टय के साथ

रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि न जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ॥

इसलिए -

अवधपुरी वासिन्ह कर सुख सम्पदा समाज।
सहस शेषनहि कहि सकहि, जहँ नृप राम बिराज॥

तो अवधपुरी की इसी अनन्त सुख सम्पदा की स्थिति में -

नारदादि सनकादि मुनीसा। दर्शन लागि कौशलधीशा॥

वे दिन प्रतिदिन आते तो कौशलाधीश के दर्शनों के हेतु में परन्तु श्रीराम के निराकार स्वरूप में अवध नगर को देखने मात्र में वे उसी नगर दर्शन के रागी हो गये थे, क्योंकि उनके ज्ञानदृष्टि के विस्तार में ही प्रभु का निराकार स्वरूप ही विराजित था, जिस में नगर की दर्शनीयता में ही तृप्त होकर वे दिन प्रति आते जाते रहे। जब उन्हें यह परम सत्य आभाषित हुआ कि

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू॥
जहँ नहि रामप्रेम परधानू॥

तव उनके बोध स्वरूपता में यह तथ्य भी समाहित हुआ कि जिन प्रभु के नगर की दर्शनीयता में विराग की वृत्ति का ही विस्मरण हो जाए, तो उन परम प्रभु का ही दर्शन इस प्रकार किया जाय कि नगर दर्शन के बिना ही प्रभु का दर्शन सुलभ हो जाए और इसके लिए प्रभु श्रीराम स्वयं अपने भाइयों और मारुतिनन्दन के साथ निर्धारित समय में जब सुन्दर उपवन को जाए। तो उस समय का ज्ञान सनकादिकों को पूर्व से ही था, जिस समय को ध्यान कर वे तेज के पुञ्ज गुण और शील से सम्पन्न सनकादिक अवध के राजकीय उपवन में आकाश मार्ग से आये। जानि समय सनकादिक आये।

दूसरे वे इतने महाज्ञानी थे कि उनके पिता ब्रह्मा को भी उनके अगम ज्ञान सम्पन्न प्रश्नों के उत्तर देने में अपनी अक्षमता का भान होता था तो ज्ञान के महागौरव की सजावट में ही यह हो सकता है कि ... उन्हें यह भान ही न रहा हो कि जहाँ और जब उनके पिता ब्रह्मा और प्रभु शंकर जी जा सकते थे, तो वहाँ भी तव वे नहीं जा सकते थे।

इसलिए प्रभुराम के दर्शनोत्सुक होते हुए भी श्री कौशलाधीश के दर्शनों से वञ्चित ही रहे। यह प्रभु श्रीराम की ही माया विलास का स्वरूप दर्शन था।

अयोध्या में साकेतधाम का अवतरण ही उन प्रभुराम का ही निराकार स्वरूप दर्शन है, 'भगवती पारवती' भगवान शंकर से अयोध्या पति दशरथ सुत राम के विषय में विविध प्रश्नों में एक तथ्य यह कहती हैं – कि

प्रभु जे मुनि परमारथ वादी।
कहहि राम कहु ब्रह्म अनादी॥

अर्थात् – दशरथ नन्दन जो श्रीराम है, उन्हें परमारथवादी मुनीश्वर अनादि ब्रह्म कहते हैं।

तो सनकादिक तो परमारथवादी, मुनीश्वर है और वे कौशलाधीश श्रीराम को अनादि, अखण्ड और अगुन ब्रह्म स्वीकार करते हैं। तो अपने ज्ञान गौरव से निरगुनत्व और अनादित्व का स्वरूप दर्शन जब उन्हें कौशलाधीश श्रीराम में होने का पूर्णा आभाष हो गया और अनुभव में आया कि जब उनके प्रबल-प्रताप का छावना (छाए) उनके परमार्थिक ज्ञान को प्रभावित कर सकता है कि वे प्रभु अनादि ब्रह्म ही है, तव कहीं **''जानि समय सन सनकादिक आये।''**

तो उनके सगुण स्वरूप के श्री विग्रह को ही सूर्य के रूप में स्वीकार करके प्रबल प्रताप को ही सूर्य के प्रकाश के रूप में स्वीकारा गया है प्रबल प्रताप को अनुभवित करना और उसकी तदात्मता में अपने स्वरूप को समझना यही तो मुक्तावस्था की दशा है, जो इसी देह में ही उनके रामराज्य में सुलभ थी। जिस प्रताप को प्रगट करने के लिए प्रभु श्रीराम ने सभी प्रकार के उद्गम श्रोतों को साधना रूप में स्वीकार किया था।

प्रभु श्रीराम ने अपने प्रजा जनों के सम्बोधन में यह कहा था कि ''साधनधाम मोक्ष कर द्वारा'' अर्थात् यह मनुष्य का शरीर ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। तो प्रभु श्रीराम के रामराज्य की तात्विक स्थिति ही मोक्ष का द्वार है और वे अपनी प्रजा के अधीश्वर पद पर है इसलिए समूची कौशलदेश की प्रजा के लिए ही मोक्ष का द्वार वे अपने स्वरूप के प्रबल प्रताप के माध्यम से रामराज्य में अन्तनिर्हित किये हैं।

दूसरी बात इस प्रबल प्रताप की सिद्धि स्थिति की साधनायें भी उन्हें योगमाया की सुव्यवस्थित क्रिया शैली पर ही सुलभ होती गई, जो श्री कौशलाधीश की पद गरिमा में प्रगट होने वाले प्रताप से ही दूरगामी स्वरूप में सम्बद्ध थी। उदाहरणार्थ – कौशलदेश के सिंहासनाधिकार प्राप्ति के कारण, वनवास, महाराज दशरथ का असीम पुत्र प्रेम और पुत्र राम का राज्याभिषेक की वञ्चना से वनवास के कारण ही उनका स्वर्गलोक गमन, भुवन में अग्रगन्य भातृ प्रेमी भरत-

राम सनेह सुधाकर सारु।

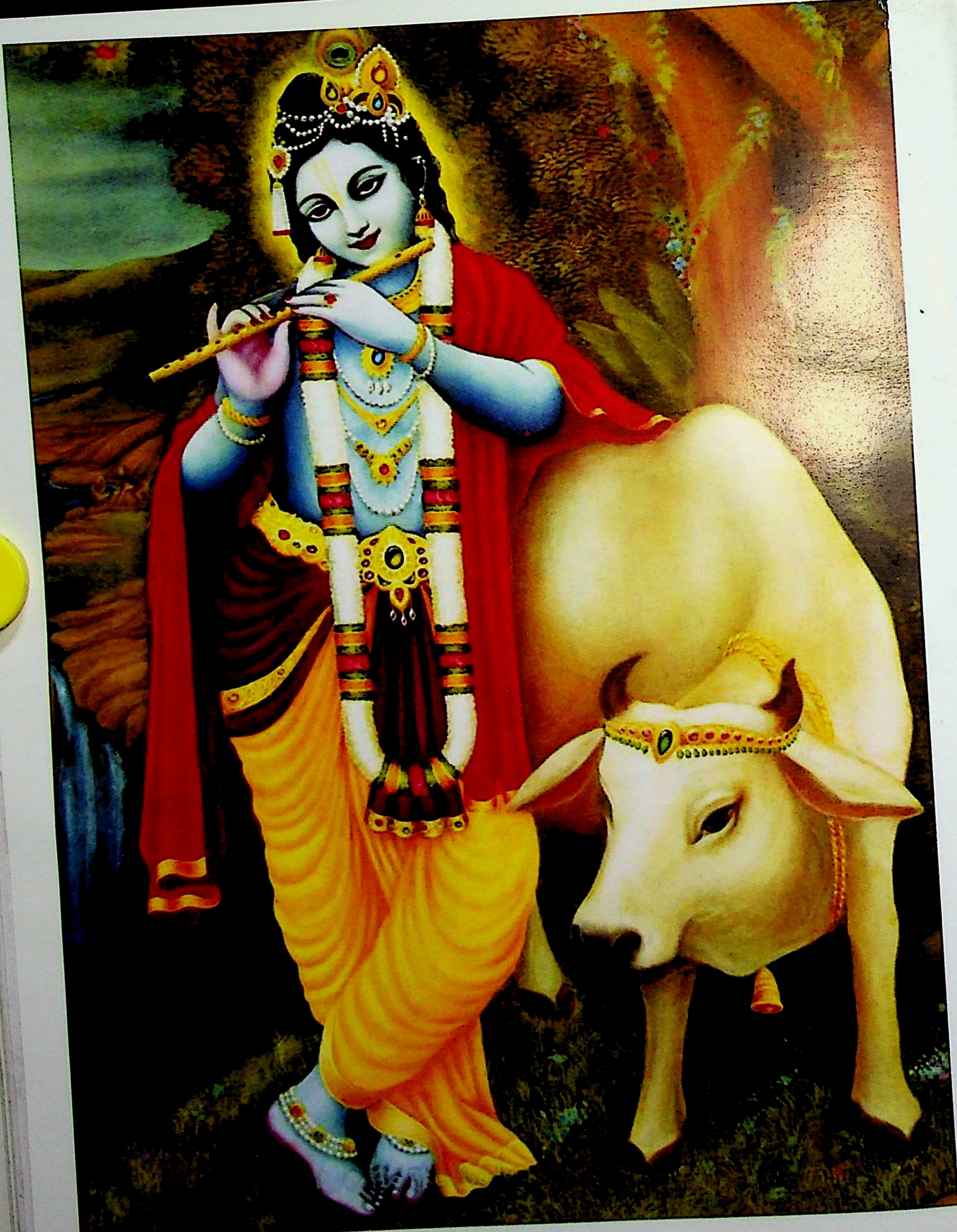
भरत के द्वारा श्रीराम को अयोध्या राज्य का समर्पण, वनवास काल में सभी आश्रमों के पश्चात् सन्यास की सर्वोपरिता के गुणों की गृहणीयता। त्रैलोक्य आतंकी अधर्मी रावण के राज्य को धर्ममय राज्य में परिवर्तन, वानर भालु कोल किरात आदि वनचर प्राणियों से मैत्री पूर्ण व्यवहार आदि पुरुष परमेश्वर के समीप मूल में वैदिक क्रिया कलापों के द्वारा पहुँचने की क्षमता का अर्जन, योग की अन्तः साधना से भक्ति की प्राप्ति और परमात्म स्वरूपता में तदात्मता और अन्त में भी साधनों की प्रावीण्यता के स्वरूप दर्शन में अभिन्न स्वरूप सीता तक के त्याग की परीक्षा में भी सम्पूर्ण सफलता।

मनुष्य का कल्याण तो उनके प्रबल प्रताप के निर्गमित कारकों के चिन्तन मात्र से हो जाता है। इतना गहन गम्भीर जीवन शैली को आधीन रखने वाला एक पूर्णतम् परमात्मा के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता है और वे पूर्णतम् परमात्मा हैं श्रीराम।

॥इति॥

●○●○●

भक्ति
भाव
सद्दर्शन



1. भगवान बुद्ध देव

भगवान बुद्ध कृपा और करुणा के अवतार है, साथ ही भगवान विष्णु के इक्कीसवें अवतार के रूप में मायादेवी के गर्भ से सम्भूत हुए। आपके पिता शुद्धोधन थे -

ततः फलौ सम्प्रवृते सम्मोहाय सुराद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजन सुतः कीकटेषु भविष्यति॥

(श्रीमद्भागवत १/३/२४)

तुलसीदास जी ने भी विनय पत्रिका में लिखा है -

प्रबल पाखण्ड महि मण्डलाकुल देखि, निंद्यकृत अखिल मख कर्म जालं।
शुद्ध बोधै कथन ज्ञानगुण धाम, अज बौद्ध अवतार वन्दे कृपालं॥

वैदिक धर्मानुष्ठान में विविध जीवों की हत्या का स्वरूप दर्शन उस ब्रह्म हेतु जो ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, उसी स्वरूप को विलासमय चतुराई से ब्रह्म मानकर यथार्थ ब्रह्म के स्वरूप की अवमानता की जाती रही। तब करुणा से आद्रबुद्ध के रूप में भगवान विष्णु ने अवतार धारण किया -

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार आपकी स्तुति इस प्रकार है -

निन्दासि यज्ञाविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदय हृदयदर्शित पशुघातम् ।
केशव धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे॥

अर्थात् - हे केशव! आपने अपने दया पूर्ण और कोमल हृदय के कारण पशु हिंसा वाले यज्ञों की निन्दा की है। हे बुद्ध शरीरधारी जगदीश! आपकी जय हो।

इस प्रकार राजा शुद्धोधन के महलों में रहते हुए भी आपने अपने पुत्र राहुल और सुन्दर पत्नी यशोधरा को छोड़कर संसार के प्रति करुणा दया से आभिर्भूत होकर तप करने लगे। अन्त में आपको ज्ञान प्राप्त हुआ और 'अहिंसा परमो धर्मा' के इस महावाक्य को आपने इतना विस्तीर्ण किया कि वह उनके नाम से बौद्ध धर्म के रूप में न केवल अपने देश भारत में बल्कि भारत के पड़ोसी देशों को प्रभावित किया। सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को इस धर्म को विस्तारित करने हेतु दूसरे देशों को भेजा। आज भी अनेकों देशों में बौद्ध धर्म, अपने स्वरूप में है। इस धर्म में महान से महान विद्वान हुए है। अपने देश में भी इस धर्म के मानने वाले हैं।

●○●○●

2. भगवान वेद व्यास (कृष्णद्वैपायन) एवं श्रीमद्भागवत महापुराण

यह भविष्यवाणी थी कि अठ्ठाइसवें द्वापरान्त में सोलह कलाओं से युक्त भगवान का पूर्णावतार होगा। तो एक ही काल में भगवान का पूर्णावतार और अंशावतार युगान्त समय में इस धरा में रहा। भगवान वेद व्यास के पिताश्री, पाराशर और माता सत्यवती है। कालान्तर में सत्यवती शान्तनु की पत्नी हुई। जिनके पुत्रों से धृतराष्ट्र और पाण्डु हुए।

भगवान वेद व्यास का अवतार तो कलयुगी प्राणियों के लिए ऐसे समाधान युक्त और विस्तारपूर्ण सनातन धर्मग्रन्थ की रचना करने के लिए मुख्य प्रयोजनीय था। अतः उन्होंने वेदों का विभाजन कर अपने शिष्यों को अलग अलग ज्ञान की शिक्षा दिया और विद्वत समाज में सभी के लिए वेदों को ज्ञानगम्य बना दिया। श्री महाभारत की रचना कर कर्मों के तत्वों का स्पष्ट और सूक्ष्म रहस्य खोल कर पाँचवें वेद के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की।

सत्रह पुराणों की रचना करने के पश्चात् भी जब भगवान व्यास तो आन्तरिक शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने श्री नारद के उपदेश से ही भक्ति परक 'श्रीमद्‌भागवत महापुराण' की रचना की।

श्रीराम भक्ति शाखा के लिए तो आदिकवि बाल्मीक द्वारा विरचित रामायण महाकाव्य था परन्तु कृष्णानुरागियों के लिए श्रीमद्‌भागवत ही एक ऐसा प्रथम ग्रन्थ है जो भक्ति रसायन में सराबोर भक्तों के लिए जीवनाधार है।

भक्ति भक्त भगवन्त गुरू चतुर्नाम वपु एक॥

अर्थात् - भक्ति की और भगवत भक्तों के महिमा की सीमा ही नहीं है।

भगवान ऋषभ देव के पुत्र परम योगीश्वर करभाजन, परम ज्ञानी मिथिला नरेशों के पूर्वज महाराज निमि को उपदेश देते हुए कहते हैं।

कलि समाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तने नैव सर्वाः स्वाथौऽभिलभयतेः॥

न ह्यता परमो लाभो देहिनां माम्यतामिह।
यतो बिन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृति॥

(श्रीमदभागवत ११/३६,३७)

अर्थात् - कलियुग में केवल संकीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ बन जाते हैं। इसलिए इस युग का गुण जानने वाले सारगाही श्रेष्ठ पुरुष कलियुग की बड़ी प्रशंसा करते हैं, इससे बड़ा प्रेम करते हैं। देहाभिमानी जीव इस संसार चक्र में अनादि काल से भटक रहे हैं, उनके लिए भगवान की लीला गुण और नाम के संकीर्तन से बढ़कर और कोई परम लाभ नहीं है, क्योंकि इससे संसार में भटकना मिट जाता है और परम शान्ति का अनुभव होता है।

कृतादिषु प्रजा राजान् कला विच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण पारायणा:॥

राजन्! सत्ययुग त्रेता और द्वापर की प्रजा चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो, क्योंकि कलियुग में कहीं कहीं भगवान के शरणागत उन्हीं के आश्रय में रहने वाले बहुत से भक्त उत्पन्न होंगे।

कथानुसार कलियुग के प्रारम्भ में ही जिस समय राजा परीक्षित का राज्य था। अपने भ्रमण काल में उन्होंने एक राज भेषधारी शूद्र जो हाथ में एक डण्डा लिए हुए गाय बैल के एक जोड़े को इस प्रकार पीटता जा रहा है, जैसे उसका कोई स्वामी ही न हो। वृषभ, जो एक पैर से खड़े काँप रहे थे, वे धर्म थे, और गौ रूप में साक्षात् पृथ्वी थी।

सम्राट परीक्षित इस प्रकार शूद्र राजा साक्षात कलियुग को मार डालने के लिए तीक्ष्ण तलवार उठा लिया, परन्तु वध नहीं किया, क्योंकि भ्रमर के समान सारग्राही सम्राट परीक्षित कलियुग से कोई द्वेष नहीं रखते थे।

भगवान श्री कृष्ण के परम धाम सिधारने के पश्चात जब विरह वेदना से व्यथित उनकी सोलह हजार रानियों ने श्रीकृष्णचन्द्र की चतुर्थ पटरानी कान्लिदी को आनन्दित और सौभाग्यपूर्ण स्थिति में देखा तो अन्य रानियों में रोहिणी ने कालिन्दी से पति वियोग न होने का कारण पूछा।

तब कालिन्दी ने बताया कि "श्रीकृष्णचन्द्र की सभी रानियाँ श्री राधा की अंश विस्तार हैं, तुम लोगों का भी सर्वांश में श्रीकृष्ण के साथ वियोग नहीं हुआ है, परन्तु तुम लोग इस रहस्य को इस रूप में न जानने के कारण ही इतनी व्याकुल हो रही हो। अत: यदि तुम लोगों को उध्दव जी का सत्संग प्राप्त हो जाय तो तुम लोग भी श्रीकृष्ण के साथ नित्य बिहार का सुख प्राप्त कर सकोगी।"

कालिन्दी के निर्देशानुसार मथुरा के साथ ब्रजनाभ और परीक्षित के व्यवस्थापन पर गोवर्धन के निकट वृन्दावन के भीतर कुसुम सरोवर पर वीणा, वेणु और मृदंग आदि वाद्य सामग्रियों के साथ भगवान के नाम लीलाओं के कीर्तन, भगवत् सम्बन्धी काव्य कथाओं के श्रवन, तथा भगवत् गुणगान युक्त सरस संगीतों द्वारा उत्सव मनाया गया। इससे सब के देखते देखते उध्दव जी सब के सामने प्रकट हो गये।

भक्त जनों का यथोचित स्वागत करने के पश्चात् उध्दव जी ने श्री कृष्ण विरह व्यथित रानियों की व्याकुल पूर्ण दु:ख दर्द का समन करने के लिए एक माह के श्रीमद् भागवत का पारायण करने का आदेश दिया। उध्दव के आदेश पर ही निर्विघ्न भागवत कथा के अनुष्ठान कीर्तन की सम्पूर्णता के लिए परीक्षित को कलियुग को वश में करने के लिए भेजा गया। श्री उध्दव जी ने वहाँ एक महीने तक श्रीमद् भागवत कथा के रस की धारा बहाई। उस रस का आस्वादन करते समय सभी की दृष्टि में सभी ओर भगवान की सच्चिदानन्दमयी लीला प्रकाशित हो गई, और सर्वत्र श्री कृष्णा का साक्षात्कार होने लगा। इस प्रकार ब्रजनाभ, रोहणी आदि मातायें रानियाँ और जो जो भी श्रोतागण वहाँ उपस्थित थे, वे भी भगवान की नित्य अन्तरंग लीला में सम्मिलित होकर इस स्थूल व्यावहारिक जगत से तत्काल अन्तर्ध्यान हो गये।

उध्दव जी ने कहा –

श्रीमद्भागवत शास्त्र यत्र भागवतैर्यदा।
कीर्त्यते श्रूयते चापि श्री कृष्णस्तत्र निश्चितम्॥

(भाग. महात्म/31)

यदि कोई भगवान श्री कृष्ण चन्द्र का प्रकाश पाना चाहे, तो उसे वह श्रीमद् भागवत से ही प्राप्त हो सकता है।

इतना ही मात्र नहीं बल्कि इसके भी आगे भक्त उध्दव जी का कथन हैं :-

श्रीमद् भागवतम् यत्र श्लोकं श्लोकार्धमेव च।
तथापि भगवान कृष्णौ वल्लवीभिर्बिराजते॥

अर्थात् जहाँ श्रीमद्भागवत के एक श्लोक या आधे श्लोक का ही पाठ होता है, वहाँ श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा गोपियों के साथ विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्ण भक्त उध्दव जी यद्यपि श्री हनुमान जी महाराज की तरह कलियुग में सम्व्याप्त हो कर श्रीकृष्णानुरागियों के लिए सुलभ नहीं है फिर भी श्रीमद्भागवत के कथा का अनेक रूपों में विस्तार हो रहा है। श्रीमद्भागवत कथा सप्ताह पारायण (संगीतमय मधुर ध्वनि से पूर्ण) प्रवचन रूप में, लीला मञ्चन के रूप में (रासमण्डली) तथा टी.बी. या दूरदर्शन में भी बहुत ही आकर्षक और तात्विक भावों से पूर्ण होता है। और किसी प्रकार श्रीकृष्ण-लीलाओं से कलियुग दोष का समन होता है।

○●○●○

3. आदि शंकराचार्य

भगवान शंकर ने ही नास्तिकवाद, मिथ्यावाद प्रपञ्च में डूबे हुए नर नारियों को उबारने के लिए शंकराचार्य के रूप में अंशावतार लिया था। महर्षि कुमारिल जिस नास्तिकता का निष्कासन समाज से सम्पूर्ण रूप में नहीं कर पाये थे, उन्हें अनेकों रूपों में समाज में सत्य धर्म की प्रतिष्ठा कर भगवान शंकराचार्य ने पूर्ण रूप से किया। वे योगी थे और उसमें उन्होंने आकाश गमन तथा परकाया प्रवेश जैसी यौगिक सिद्धियों को कार्यसिद्धि के लिए प्रयोग किया। अल्पवय में ही सन्यास ग्रहण कर अपने लक्ष्य सिद्धि की ओर प्राणपण से पयाण किया। महर्षि कुमारिल के निर्देशानुसार उन्होंने शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र को तो परास्त किया, परन्तु मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी के परास्त न होने पर वह भगवान शंकराचार्य का सम्पूर्ण विजय नहीं माना गया। इसलिए मिश्र जी की पत्नी शारदा को पराजित करने के लिए भगवान शंकराचार्य को अपने योग संक्रियता से परकाया प्रवेश की विद्या का सहारा लेना पड़ा। कामशास्त्र की व्यवहारिक शिक्षा का ज्ञान प्राप्त कर अन्त में परम विदुषी शारदा को भी परास्त कर दिया। दोनों महान विभूतियों (मण्डन एवं शारदा) को अपने मत में दीक्षित किया तथा बहुत से विद्वान शिष्यों के साथ अपने मत निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया।

शंकराचार्य का तात्विक दर्शन इतना सारगर्भित और लोकप्रिय था, कि जिसका प्रसार द्रुत गति से समाज में सम्व्याप्त हुआ। बौद्ध धर्म में नास्तिकवाद में गिरावट आई और जो बौद्ध धर्म सर्वमान्य एवं हितकारी स्वरूप में अंगीकृत था, उसको एक तरफ धकेल दिया गया। भगवान शंकराचार्य भारतदेश के चारों दिशाओं में ऐसे मठों का निर्माण कराया, जो ज्ञान के मुख्य स्थल माने जाते थे। उनकी कार्यशैली ही इतनी विलक्षण और आकर्षक थी कि सद्धर्म के स्वरूप का और उसमें लौकिकता, पारलौकिकता का परिज्ञान का आलोकन स्पष्ट था।

उनके धर्मस्थापना की संक्रियता में, जो सत्य का स्थापन था। उसके कारण ही उनके नाम से भारत के मुख्य मुख्य धार्मिक संस्थानों में शंकराचार्य का पद महान विद्वान, तपस्वी, योगी, त्यागी और धर्मज्ञानी को समर्पित किया जाने लगा। आज तक भगवान आदिगुरू शंकराचार्य के नाम की स्तुति में देश में हजारों शंकराचार्य होकर समाज में अपने ज्ञान से कुरीतियों और पाखण्डवाद को दूर भगाने के सतत् प्रयत्न में कार्यशील रहे हैं और कार्य कर रहे हैं।

कहा जाता है कि काशी में स्वयं विश्वनाथ ने चाण्डाल भेष में इन्हें दर्शन देकर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने और धर्म प्रचार के लिए आज्ञा दी थी। अपनी धर्मप्रचार की यात्रा में उन्होंने सभी मतों की उपयोगिता को स्वीकार किया है। उन्होंने अन्तःकरण को शुद्ध बनाने के लिए धर्मानुकूल कर्म योग और भक्ति पर जोर दिया है: जिस स्थिति में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सहज

है। यद्यपि उनकी विचार शैली निर्विशेष ब्रह्मनिरूपण की थी। परन्तु कालान्तर में वह सगुण ब्रह्म में प्रदीप्त हो चुकी थी।

यही नहीं, उनके श्रीमुख से भक्ति की अमृतमयी सरिता का प्रवाह फूट चला। यथा –

कंदर्प कोटि सुभगं वाञ्छित फलदं दयार्णव कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुग द्रष्टमुत्सहते॥

अर्थात् – जो करोड़ो कामदेवों से भी सुन्दर है, वाञ्छित फल देने वाले हैं, दया के समुद्र है, उन कृष्णचन्द्र को छोड़कर ये नेत्र युगल किस विषय के देखने के लिए उत्सुक होते हैं?

इनका सिद्धान्त इतना ऊँचा था कि उस भाव तक पहुँचने के लिए अधिकारी पुरुषों को भी कठिनता का सामना करना पड़ता था।

फिर भी भगवान शंकराचार्य के उपस्थिति काल में, और उसके अनन्तर भी दूषित ज्ञान का तिरोभाव हो गया और बौद्धधर्म के पाखण्डवाद में, जिसमें कलिकाल की जड़ मजबूत हो रही थी उसका विखण्डन हो गया।

●○●○●

५. महर्षि कुमारिल भट्ट

बौद्ध धर्म यद्यपि भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों में भी प्रभावशील था। देश के प्रभावशाली महानुभावों के संरक्षण में यह धर्म खूब फला फूला था। परन्तु दो सहस्त्राब्दी होते होते इस धर्म में पाखण्डवाद और घोर नास्तिकता के तत्व समाहित हो गये। परन्तु इन दुर्गुणों के अनन्तर भी राजाओं का संरक्षण इस धर्म की प्रतिष्ठा, प्रसार, प्रचार में मिलने के कारण प्रजा में नास्तिकवाद का बोलबाला होने लगा और कलयुगी दुर्गुणों की बढ़ोत्तरी होने लगी।

महर्षि कुमारिल यद्यपि अद्वैत मत के महान से महानतर विद्वान और सिद्धहस्त वक्ता थे, परन्तु बौद्ध धर्म पर उनका ज्ञान बिल्कुल नहीं था। इसलिए महर्षि ने सामान्य जन में नास्तिकवाद की जड़ को काट डालने के लिए उपाय का मार्जन किया। सबसे पहिले बौद्ध धर्म के महान् विद्वान और गुरूतत्वधारी बौद्ध को गुरू बनाकर बौद्ध धर्म की शिक्षा प्राप्त की। जब शिक्षा की पूर्णता इस स्थिति तक उपलब्ध हो गई, कि उस धर्म में जो भी मौलिक कमियाँ थी, उनका स्पष्टीकरण किया जा सकता था, और उसका दुष्प्रभाव जन साधारण पर जिस रूप में परिलक्षित हो सकता था। तब महर्षि ने उन्हीं गुरूदेव को, जिनसे उन्होंने बौद्ध धर्म की शिक्षा पाई थी, अपने अद्धैत और सनातन धर्म के पक्षधर बन कर बौद्ध धर्म के विरूद्ध चुनौती दे दी। सत्यासत्य के परिमार्जित दर्शन से बौद्ध धर्म की राजाओं और विद्वत समाज के द्वारा पराजय स्वीकार की गई। महर्षि के मत का स्वागत हुआ और समाज में बौद्ध धर्म के स्थान पर अद्वैत सनातन धर्म की प्रतिष्ठा प्रारम्भ हो गई, इस रूप में समाज नास्तिकवाद से उबर कर सत्यबोध की स्थिति में तो आने लगा। परन्तु महर्षि कुमारिल ने जब धर्म स्थापन का अपना कार्य कर लिया और कलियुग दूषण - पाखण्ड से मुक्त करवा दिया। तब अन्तिम समय में गुरू को परास्त करने के निमित्त अपने लिए शास्त्रीय प्रायश्चित का विधान किया। जिसकी परिणिति में प्रयागराज त्रिवेणी घाट के पवित्र स्थल में भूसी (धान आदि का छिलका) की आग में अपने शरीर को धीरे धीरे जलाकर अन्त में शरीर का परित्याग किया। समाज में सत्य और धर्म की स्थापना के लिए मर मिटने वाले तो बहुत है, परन्तु अज्ञानी से ज्ञानी बनना और ज्ञानी बनकर समाज से नास्तिकवाद को अलग करना और पुनः इस कार्य सिद्धि के लिए गुरू को हराने के तात्विक अपराध के लिए धीरे-धीरे जल कर शरीर त्याग करना, महर्षि ने सम्भव किया। शरीर त्याग के पूर्व आदि गुरू शंकराचार्य महर्षि से ज्ञान प्राप्त करने के लिए आकाश मार्ग से प्रयागराज आये थे परन्तु ज्ञानदान में अपने को उन्होंने असमर्थ बताया, आशीर्वाद दिया और मण्डन मिश्र - शारदा, विद्वान-विदुषी को शास्त्रार्थ में परास्त करने लिए उपदेश दिया।

●○●○●

5. भगवान श्रीरामानुजाचार्य

भगवान रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव ईसा की ग्यारवीं सदी के अन्त और बारहवीं सदी के मध्य तक विद्यमान था। आचार्य विशिष्टाद्वैत के प्रचारक भगवान विष्णु और उनके अवतारों के परम भक्त थे। वे अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे।

श्रीरंगम् दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। मठ में अभी तक महर्षि यमुनाचार्य मुख्य मठाधीश रहकर अपनी विद्वता, भक्ति, ज्ञान की अमिट छाप छोड़ रखी थी। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की हो चुकी थी। उन्होंने कभी रामानुजाचार्य को देखा था। उनके भव्य मुखमण्डल को देखकर और अपने शिष्य महापूर्णा से उनकी प्रतिभा सुनकर महर्षि ने यह निश्चय कर लिया था कि "रामानुजाचार्य एक अवतारी महापुरुष है और वे ही श्रीरंगम् मठ के मठाधीश होने की पात्रता रखते हैं" अतः महर्षि श्रेष्ठ ने श्रीरामानुजाचार्य के दीक्षा गुरू महापूर्ण को लिवा लाने के लिए कहा। तव महापूर्ण अपने गुरू भाई बाराबंग के साथ यतिराज रामानुजाचार्य के हेतु श्रीरंगम् को लिवा लाने के लिए काँची गये। बाराबंग के साथ जव यतिराज श्रीरंगम् पधारे तो इसके पूर्व ही महर्षि यमुनाचार्य का शरीर शान्त हो चुका था, परन्तु मरणोत्तर में महर्षि की तीन अंगुलियाँ मुड़ी हुई थीं। श्रीरामानुजाचार्य तुरन्त समझ गए कि महर्षि श्री यमुनाचार्य का यह दिव्य संकेत यतिराज के लिए है, तुरन्त रामानुजाचार्य ने यह प्रतिज्ञा की, कि वे ब्रह्मसूत्र, विष्णुसहस्त्रनाम् और आल बन्दारों के दिव्य प्रबन्धम् की टीका लिखेंगे या लिखवायेंगे। आचार्य श्री के इतना कहने मात्र से श्री यमुनाचार्य की तीनों अगुलियाँ सीधी हो गई। श्रीरामानुजम् ने आल बन्दारों के भक्ति का प्रचार करने के लिए सारे भारत की यात्रा की। उनके कुल चौहत्तर शिष्य थे, जो सन्त भावों से भक्ति मार्ग के प्रचार प्रसार में लगे रहते थे।

श्रीरंगम् से कुछ दूरी पर गोष्ठीपुर में गोष्ठीपूर्ण नाम के एक बहुत विद्वान और सिद्ध महात्मा रहते थे। आचार्य के गुरू महापूर्ण ने रामानुजाचार्य को वैष्णव धर्म का महामन्त्र और उसका गूढ़ार्थ जानने के लिए गोष्ठीपूर्ण के पास भेजा। गोष्ठीपूर्ण ने उन्हें देखकर समझ लिया कि वे महामन्त्र के अधिकारी है। सन्त गोष्ठीपूर्ण ने श्रीरामानुजाचार्य के महामन्त्र ज्ञान की तीव्रता भाँपने के लिए अठारह बार वापस किया। अन्तिम बार रामानुजाचार्य दुःख से कातर होकर रोने लगे, तब गोष्ठीपूर्ण को दया आ गई और उन्होंने यह कहते हुए कि "कलियुग में तुम्हें छोड़कर इस मन्त्र को पाने का कोई अधिकारी नहीं है, क्योंकि जो इसे सुनेगा उसके इहलोक और परलोक दोनों सध जायेंगे। और अन्त में उसे बैकुण्ठ धाम की भी प्राप्ति होगी। अतः तुम किसी अन्य को यह मन्त्र न देना।"

महामन्त्र सुनते ही रामानुजाचार्य को रोमांच हो आया और उनका हृदय एक दैवीय आनन्द से भर गया। समस्त पृथ्वी उन्हें बैकुण्ठ धाम लगने लगी। बार-बार गुरू श्री चरणों को प्रणाम करने लगे। पुनः अपने भावों को संयतकर श्रीरंगम् की ओर प्रस्थान किया।

परन्तु श्रीरामानुजाचार्य एक असाधारण दैवी शक्ति सम्पन्न महान सन्त थे। उन्हें संसार के सहस्त्र नर नारियों के भवरोग से पीड़ित दशाओं का परिज्ञान था। अतः भवरोग की अमोघ औषधि महामन्त्र को उन्होंने सर्वसाधारण में वितरण करने की मनःस्थिति बनाई तथा गोष्ठीपुर में ही एक विष्णु भगवान के विशाल मन्दिर के ऊपर चढ़ गये और उनकी पूर्व घोषणा के अनुसार एकत्रित हजारों नर नारियों को सम्बोधित करते हुए तीन बार महामन्त्र का उच्चारण किया और जन समूह से उसकी आवृत्तियाँ करवाईं। उपस्थित सभी व्यक्तियों का हृदय आनन्द से भर उठा। हजारों लोगों को दिव्य-आनन्द का वितरण कर श्रीरामानुजाचार्य जी आत्मविभोर हो कर नाचने लगे।

गोष्ठीपूर्ण ने जब यह सुना, तो क्रोधावेश में आग बबूला हो गये। श्रीरामानुज सीधे गुरूचरणों में उपस्थित हुए। तब गोष्ठीपूर्ण ने रामानुजाचार्य को फटकारते हुए कहा "रे मूर्ख! तुझ जैसे विश्वासघाती को महामन्त्र देकर मैंने बड़ी भूल की। क्या तू नहीं जानता कि सार्वजनिक रूप से महामन्त्र देने के कारण तुझे अनन्तकाल तक नरक यातना भोगनी पड़ेगी।"

तब गुरू के श्री चरणों में प्रणाम कर श्रीरामानुजाचार्य ने अत्यंत नम्रता से निवेदन किया, "भगवन्! मैं यह भली भांति जानता हूँ। पर आपने जो यह कहा था कि 'जो इस महामन्त्र को सुनेगा, उसका इहलोक और परलोक दोनों सध जायेंगे, उनका जीवन धन्य हो जायेगा।" प्रभो! मुझ एक दास के नरक भोगने से यदि सहस्त्रों नर नारी परमधाम के अधिकारी होते हैं, तो मैं सहस्त्र सहस्त्र बार नरक भोगने को प्रस्तुत हूँ। श्रीरामानुजाचार्य की यह देव दुर्लभ करुणा और उदारता सुन कर गोष्ठीपूर्ण का क्रोध गंगा में गिरने वाली चिन्गारी की तरह शान्त हो गया, और वे हाथ जोड़कर विनीत भाव से रामानुजाचार्य के सम्मुख खड़े हो गये और बोले "आज से तुम ही मेरे गुरू हो तुम्हारी करुणा और उदारता अद्वितीय है। निश्चय ही तुम विष्णु के अवतार हो।" अन्त में यतिराज को हृदय से लगाया और अपने पुत्र सौम्य नारायण को उनका शिष्य बनवा दिया।

जिस समय श्रीरामानुजाचार्य श्रीरंगक्षेत्र में विराजे थे। उससे कुछ दूरी पर उरयूर नामक स्थान में धनुर्दास नाम का एक पहलवान था, जो अपने अद्भुत निम्न आचरण के लिए प्रख्यात था। उसने हेमाम्बा नामकी एक परम सुन्दरी वेश्या को अपने घर में रख लिया था। श्री रंगनाथ में बसन्ती महोत्सव (चैत्रोत्सव) के समय वह अपनी प्रेयसी हेमाम्बा को लेकर नौकर चाकरों के साथ श्रीरंगम् आ गया। रास्ते में वह आगे आगे हेमाम्बा को देखते हुए पीठ की ओर उलटे चलता था। गर्मी के दिन थे, रंगनाथ के प्राङ्गण में भी वह एक हाथ में छाता लिए स्वयं धूप में पसीने से लथपथ उस स्त्री की ओर मुंह करके पीठ की ओर पीछे चल रहा था।

श्रीरामानुजाचार्य ने जब यह दृश्य देखा। तो पूछा कि "वह निर्लज्ज कौन है? उससे जाकर कहो कि तीसरे पहर मठ पर आकर वह मुझसे मिले।" धनुर्दास घबरा तो गया परन्तु मठ पर जाना उसने स्वीकार कर लिया।

उसी समय आचार्य श्रेष्ठ ने भगवान रंगनाथ के मन्दिर में जाकर प्रार्थना की – "मेरे दयामय स्वामी एक विमुख जीव को अपने सौन्दर्य से आकर्षित करके श्रीचरणों में स्वीकार करो।"

धनुर्दास निर्धारित समय पर मठ पहुँच गया। आचार्य वर ने उसे भीतर बुला लिया। आचार्य के पूँछने पर धनुर्दास ने बताया कि "प्रभो मैं उसके रूप लावण्य पर पागल़ हो गया हूँ, मैं उसे न देखूँ तो बहुत बेचैन हो जाता हूँ।"

स्वामी जी बोले – "यदि हम तुमको उससे बहुत अधिक सुन्दर मुखमण्डल तुम्हें दिखलाये तो?" "मैं उसे (सुन्दरी) एक दम परित्याग कर सकता हूँ।" धर्नुदास ने कहा।

आचार्य ने कहा "ऐसा नहीं होना चाहिए, अब वह सुधर गई है, उसे तुम अपनी पत्नी बनाकर अपने पास रहने दो। तुम्हें यदि यह मंजूर है तो संध्या के समय जब श्री रंगनाथ की आरती होती है, उस समय तुम मन्दिर में आकर मुझसे मिलना, अकेले ही आना।"

संध्या के समय जब धनुर्दास श्री रंगनाथ के मन्दिर में गया, तो भीतर जाने से किसी ने उसे रोका नहीं। आचार्य स्वामी ने उसे ध्यानपूर्वक आरती के समय भगवान के दर्शन करने को कहा। धनुर्दास उस सौन्दर्यसार सर्वस्व की एक झलक पाई, और जब वह झाँकी अदृश्य हो गई, तब पागल की भाँति धनुर्दास आचार्य स्वामी के श्री चरणों में लिपट गया और फूट-फूट कर रोने लगा, रोते-रोते ही कहा "स्वामी जी मुझे जो आज्ञा दो मैं वही करूंगा अपने हाथ से अपने देह की बोटी-बोटी काट दूँ पर वह त्रिभुवन मनमोहन मुख मुझे दिखाओ। ऐसी कृपा करो कि वह मुख मेरे नेत्रों के सामने ही रहे।

स्वामी जी के कहने पर धनुर्दास किसी प्रकार घर आया, अब वह स्त्री उसे बहुत ही कुरूप लगने लगी। कुछ दिनों बाद पति पत्नी, श्रीरामानुज स्वामी के शिष्य हो गये। दोनों का आचरण आदर्श हो गया। और धनुर्दास, स्वामी जी का अतिविश्वस्त अनुचर हो गया। इस प्रकार धनुर्दास-हेमाम्बा में वैष्णव गुणों का समावेश हो गया जिसके कारण दोनों की रहनी करनी परम पवित्र हो गई।

अपने वृद्धावस्था समय में, जाति से नीच होने पर भी परम वैष्णव गुणों के कारण स्वामी जी कावेरी में स्नान करने पर धनुर्दास के कन्धे का सहारा लेकर आया जाया करते थे, जिससे मठ के अन्य ब्राह्मण शिष्य कुढ़ते थे और कानाफूसी करते थे। एक दिन एक ब्राह्मण शिष्य ने इस विषय की आचार्यवर से चर्चा भी कर दी। तब भक्त धनुर्दास और हेमाम्बा का महात्म्य प्रकट करने के लिए आचार्य स्वामी ने एक युक्ति की।

एक दिन स्वामी जी ने अपने एक विश्वस्त शिष्य से ब्राह्मण शिष्यों के एक-एक वित्ता कपड़े फाड़कर लाने को कहा। सवेरे अपने कपड़े फटे देखकर वे लोग परस्पर झगड़ने लगे। स्वामी जी ने उन्हें बुलाकर नये कपड़े दिये, जिससे वे सभी संतुष्ट हो गये। इसके कुछ दिनों बाद स्वामी जी ने उन्हीं ब्राह्मण शिष्यों को बुलाकर कहा ''आज यहाँ अधिक रात तक हम धनुर्दास को सत्संग में रोके रखेंगे, उसी बीच तुम लोग उसके घर जाकर हेमाम्बा के गहने चुराना और लाकर हमें दे देना।''

अंधेरा होने पर वे लोग धनुर्दास के घर गये। वैष्णवों को लुकते छिपते दबे पैर घर में घुसते देखकर हेमाम्बा यह समझ गई कि ये लोग कुछ चोरी करने को आए हैं। मन में यह बात आते ही उसने अपने नेत्र बन्द कर लिए और झूँठे घुर्राटे लेने लगी। उसे बेसुध सोते देखकर इन लोगों ने उसके शरीर के एक ओर के गहने जो ऊपर थे, धीरे-धीरे उतार लिए। हेमाम्बा ने सोचा ये लोग दूसरी ओर के गहने भी ले लें, तो अच्छा हो। इसलिए उसने करवट बदली और ब्राह्मणों ने उसे समझा कि वह जाग गई है, इसलिए वे भाग गये और मठ आकर सभी आभूषण श्री आचार्य को दे दिए।

आचार्य की आज्ञा से धनुर्दास घर की ओर चले तो आचार्य ने पुनः उन्हीं ब्राह्मण शिष्यों को धनुर्दास के पीछे-पीछे जाने को कहा। जिससे यह पता चल सके कि दोनों स्त्री पुरुष में क्या बातें हुई।

जब सब बातें पत्नी ने धनुर्दास से बताया तो धनुर्दास ने हेमाम्बा से कहा ''तुम्हारी अभी धन दौलत पर लालच है, करवट बदलकर तुमने उन वैष्णवों को चौंका दिया। मैं तुम्हें अब अपने पास नहीं रखूँगा। वैष्णवों की भक्ति जिसमें नहीं उससे मुझको क्या प्रयोजन!'' बेचारी पत्नी उसके पैरों में गिर पड़ी और बताया कि ''मैं तो दूसरी ओर के गहनों को उतरवाने के लिए ही करवट बदली थी, पर मेरा दुर्भाग्य कि वे लोग भाग गये। मैं अब बहुत अधिक सावधान रहूँगी।''

वे ब्राह्मण शिष्य जब लौट कर स्वामी जी के पास आये तो आचार्य ने उस दिन के फटे कपड़े निकाल कर उन्हें दिखाते हुए कहा ''तुम लोग इतने कपड़ो के लिए परस्पर झगड़ते थे। और धनुर्दास की वैष्णव भक्ति तुमने देख ही ली। इसीलिए मैं उसका आदर करता हूँ और स्नान के बाद उसका सहारा लेकर लौटता हूँ।

जिस देश और जिस काल में वैष्णव धर्म के परम अधिष्ठाता स्वामी श्रीरामानुजाचार्य इस धरा में रहे होंगे और उनके अनुयायी भागवत धर्मों के अनुसार आचरण में सहज रूप में रहते रहे होंगे, वहाँ कलियुग भले ही काल के रूप में प्रतिष्ठित हो परन्तु उन परमाणुओं में दुष्ट से दुष्ट और पददलित नर नारियों की बुद्धि भी वैणष्व धर्मावलम्बी बनकर बैकुण्ठ धाम की ओर जाने का रास्ता प्रशस्त करती है।

वे प्रपत्ति पर बहुत जोर देते थे, भगवान में आत्म समर्पण करना प्रपत्ति है।

अन्त में सवा सौ वर्ष से भी अधिक आयु व्यतीत कर उन्होंने इहलोक की लीला पूर्ण की।

●○●○●

6. संत ज्ञानेश्वर देव

महाराष्ट्र में शायद कदाचित ही ऐसा कोई होगा, जो सन्त ज्ञानेश्वर को न जानता होगा। ये सारे महाराष्ट्र के भक्ति के आद्य प्रवर्तक और धर्मगुरू थे। इनके पिता विट्ठल पंत अपनी सुशील पत्नी को उसके गृहग्राम आलन्दी में छोड़कर सन्यासी हो गये थे। संयोग से भगवान श्रीरामानन्द स्वामी अपने यात्राकाल में रात्रि को आलन्दी में रुके। जब रुक्मिणी बाई (विट्ठलपंत की पत्नी) ने श्री स्वामी जी से प्रणाम किया, तब स्वामी जी के श्रीमुख से 'पुत्रवती भव' का आशीर्वाद निकला। यह सुनकर रुक्मिणी बाई को हंसी आ गई। अन्त में रहस्य उद्घटित होने पर श्री स्वामी जी ने अन्दाज लगाया कि वह चैतन्याश्रम स्वामी ही है। निःसन्तान युवती को छोड़कर सन्यास लेने वाला और उसका गुरू दोनों दोषी हैं. अतः स्वामी जी रुक्मिणी बाई और उसके पिता को लेकर काशी लौट आए। और चैतन्याश्रम स्वामी को पुनः गृहस्थ जीवन बिताने की आज्ञा दी। समय आने पर इसी दम्पत्ति से तीन पुत्र और एक पुत्री ने जन्म ग्रहण किया। दूसरी संतान ज्ञानेश्वर देव थे, जो सन् 1276 ई. के भाद्रमास की कृष्णाष्टमी को जन्म ग्रहण किए थे, इनसे एक बड़े भाई निवृत्तिनाथ और एक छोटे भाई सोपानदेव तथा सबसे छोटी एक बहिन मुक्ताबाई थी। सबमें दो-दो वर्ष का अन्तर था। ज्ञानदेव के पाँच वर्ष की आयु में इनके माता-पिता त्रिवेणी संगम में जल समाधि लेकर इहलोक से विदा हो गये थे।

पिता विट्ठलपंत के सन्यास से गृहास्थाश्रम में प्रवेश के अपराध में ब्राह्मण समुदाय इनके उपनयन संस्कार करने को तैयार नहीं थे। तब ये अपने मातृगृहग्राम से अपने पितृगृहग्राम पैठन आ गये। वहाँ ब्राह्मणों की सभा में इनके लिए यह निर्णय हुआ -

विसृज्यस्मयमानान् स्थान दृशंव्रीडाच लौककीम्।
प्रण मे दण्डवद् भूमावाश्व चण्डाल गोखरम्॥

- श्रीमद् भागवत

अर्थात् - अपने ऊपर हँसने वाले लोगों को, और देहदृष्टि तथा लोक लाज को त्यागकर ये लोग कुत्ते चण्डाल और गौसमेत सबको भूमि पर लेटकर प्रणाम करें और इस प्रकार भगवान की भक्ति करें। इस निर्णय को सुनकर चारों भाई-बहन परम सन्तुष्ट हुए। चारों जन्मजात भगवान की भक्ति के प्रेमी थे ही। निर्णय की संक्रियता से भक्ति मार्ग का स्वाभाविक कर्म मिल गया।

सन्त ज्ञानदेव महान भक्त के साथ-साथ योगी भी थे। दुष्ट व्यक्तियों के छेड़छाड़ करने पर उनके द्वारा ही एक भैंसे पर किये प्रहार को ज्ञानदेव ने पीठ पर दिखा दिया। जब दुष्ट व्यक्तियों ने इतने से ज्ञानदेवादिको का पीछा नहीं छोड़ा, तब ज्ञानदेव की प्रेरणा से भैंसा ॐ का उच्चारण करके वेदमन्त्र बोलने लगा।

इसी प्रकार एक दिन एक ब्राह्मण के घर श्राद्ध के अवसर पर ज्ञानदेव ने ध्यान करके जैसे ही 'आगन्तव्यम्' कहा तो उनके पितरों को सशरीर भोजनार्थ आना पड़ा। पैठन में इन्होंने अपने भक्तिमय आचरण से नर नारियों को भगवत् भक्ति का मार्ग दिखाया। चारों भाई बहिनों का समूचा जीवन ही अर्थाभाव परेशानी और जातीय अपमान जनक स्थितियों से गुजरने के अनन्तर भी कभी इन सबको, इन्होंने अपने मन में कोई स्थान नहीं दिया। नेवासे नामक ग्राम में रहकर पंद्रह वर्ष की अवस्था में ज्ञानदेव ने गीता का स्वानुभूत भाष्य कहना प्रारम्भ किया। यह भाष्य 'ज्ञानेश्वरी गीता' के नाम से उपलब्ध है, इसके अतिरिक्त अपने अल्प वय में ही इन्होंने श्रीमद् शंकराचार्य का भाष्य, श्रीमद्भागवत, योग वशिष्ठ आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया और अन्त में ज्ञान भक्ति प्रचारार्थ अपनी तीर्थ यात्रा प्रारम्भ की। यात्रा में एक से एक महान भक्तों की मण्डली चल रही थी। जिनमें गुरू निवृत्ति नाथ, सोपानदेव और मुक्ताबाई तो थे ही, साथ में बिसोवा खेचर, गोरा कुम्हार, चोखा-मेला, नरहरि सोनार आदि भक्त भी थे। पण्ढ़रपुर में श्री विट्ठल भगवान के दर्शन हुए जहाँ परम भक्त नामदेव से भी भेंट हुई। उन्हें भी साथ लेकर श्री ज्ञानेश्वर असंख्य नर नारियों का उद्धार करते हुए उज्जैन, प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारिका, गिरनार की यात्रा की और पुनः पण्ढरपुर लौट आये।

इनके जीवन दर्शन में यह स्पष्ट परिलक्षित है कि चारों भाई बहिनों के पास न घर द्वार और न समाज और ना ही कोई पद ही रहा, जहाँ इनके जीवन का स्थायित्व हो सके, परन्तु भक्ति की महिमा ही इतनी महान है जिसके सामने संसारिक दुःखों को झाँकने तक का अवसर ही नहीं था। यही नहीं, जिनके जीवन का उद्देश्य है कि कलिकाल के द्वारा भ्रमित किये गये नर नारियों को ज्ञान और भक्ति का धनी बनाकर अत्याधिक दुःख निवृत्ति के लिए तैयार किया जाय।

स्मृति पटल में यह आ रहा है कि जिस प्रकार ब्रह्मा के प्रथम चार मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार संसार के दीन-हीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए विचरण किया करते हैं उसी प्रकार निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव व मुक्ता भी कलिमल हरण हेतु प्राणियों पर अनुग्रह करने हेतु अवतरित हुए और प्राणियों पर अनुग्रह की वर्षा किया।

सन्त ज्ञानदेव के काल में एक महान योगी च्वांगदेव, जो योगबल से चौदह सौ वर्ष के थे, इन महानुभावों से मिलने के लिए सिंह की सवारी में आये। सन्त ज्ञानदेव एक अधबनी दीवार पर बैठकर अपने भाई बहिन के साथ सुबह की धूप ले रहे थे। अतः इतने महान आगन्तुक से मिलने के लिए अगवानी रूप में इन्होंने जड़ दीवार को ही चलने का आदेश दे दिया। दीवार चल पड़ी। योगी च्वांगदेव के योगबल का गर्व चूर-चूर हो गया और वे चरणों में गिर पड़े तथा शरण में लेने के लिए प्रार्थना किया। तब श्रीज्ञानदेव ने मुक्ताबाई के द्वारा च्वांगदेव को गुरूदीक्षा मन्त्र प्रदान करवाया।

मनुष्य के लिए कलियुग में निर्धारित पूर्ण आयु सौ वर्ष है, परन्तु सन्त ज्ञानदेव ने सम्पूर्ण आयु के पाँचवे भाग में ही सभी करणीय कार्यों को करके इक्कीस वर्ष तीन माह पाँच दिन में सन् 1297 ई. के मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी को जीवित समाधि ले ली। सन्त ज्ञानदेव के समाधि लेने के बाद एक वर्ष के भीतर ही निवृत्तिनाथ, सोपानदेव और मुक्ताबाई भी इस लोक से परमधाम को पधार गये।

सन्त ज्ञानदेव की भक्ति उपासना इतनी प्रखर और आदरणीय थी कि सन्त नामदेव और ज्ञानदेव के साथ भगवान श्री कृष्ण अपने भक्तों के संग का रस प्राप्त करने हेतु दूसरे भक्तों के घर जाया करते थे।

7. श्रीमद्रामानन्दाचार्य एवं द्वादश भक्ति के आचार्यों का अवतरण

द्वापर में भगवान श्रीकृष्ण के धरा छोड़कर परमधाम पधारने के बाद से ही कलयुग का काल प्रारम्भ माना जाता है। चार सहस्त्राब्दी तक तो कलियुग अपने प्रारम्भिक काल में बालपन में रहा परन्तु इसके पश्चात् का समय बड़ा ही विलक्षण था बल्कि उस समय को क्रान्ति युग कह सकते हैं। भारत वर्ष में चारों ओर राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति मची हुई थी। ऐसी मान्यता थी कि जो दिल्ली के सिंहासन पर विराजमान रहते थे, वे भारत के सर्वश्रेष्ठ नरपति थे। यही नहीं, इस काल में भारत में यवनों का शासन दिल्ली में था, जो किसी भी प्रकार हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन कराकर इस्लाम धर्म की नसीहत देकर इस्लाम धर्म में शामिल कर मुसलमान बना लेते थे। स्थिति यहाँ तक भयावह थी कि यदि कोई हिन्दू वर्ग का व्यक्ति इस्लाम धर्म को कबूल करने में आनाकानी करता था, तो उसे तत्काल मौत के घाट उतार दिया जाता था। सनातन धर्मावलम्बियों का यह धर्म क्षेत्र अधर्म देश के रूप में रूपान्तरित हो चुका था।

इन स्थितियों में एक ब्राह्मण जो शुद्ध आचरण और भक्ति भाव से सन्निहित था। अपना देश ग्राम छोड़कर भगवान राम की तपस्या करने लगा। उसके पर दुःख कातरता के लिए की गई तपस्या से शीघ्र भगवान श्रीराम प्रकट हुए और ब्राह्मण भक्त के श्रेष्ठ वर के अनुसार सशीघ्र अवतार ग्रहण कर रामानन्दाचार्य के रूप में अवतरित हुए। प्रयाग के त्रिवेणी तट पर कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल में पुण्य सदन व श्रीमती सुशीला को पिता माता का श्रेय प्रदान किया। अवतरण विक्रम सम्वत् 1354 के माघकृष्ण सप्तमी भृगुवार को हुआ। कुल पुरोहित के आज्ञानुसार बालक को तीन वर्ष तक घर से बाहर नहीं निकाला गया। उनकी हर रुचि का ध्यान रखते हुए तीन वर्ष तक केवल दूध ही पिलाया गया। चौथे वर्ष अन्नप्राशन में अनेक पकवानों के रहने के अनन्तर भी बालक ने खीर ही खाई, जो इसके बाद उनका एक मात्र आहार बन गया। बालक की श्रवन शक्ति और धारणाशक्ति इतनी विलक्षण थी कि आठ वर्ष की अल्पावस्था में बालक को कई ग्रन्थ कण्ठस्थ हो गये।

उस समय पञ्चगंगा घाट स्थित श्रीमठ के आचार्य त्रेता में भगवान राम के गुरू वशिष्ठावतार श्री राघवानन्दाचार्य जी थे। उन्हीं गुरू श्रेष्ठ से विरक्त दीक्षा ग्रहण कर श्री बोधायनाचार्य प्रभृति पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीरामभक्ति व षडाक्षर मंत्र की परंपरा का विशेष रूप से संवर्धन किया।

भगवान श्रीराम ने जैसे अपने अवतार काल में निषाद, गुह, केवट, शबरी, गीध और वानर भालुओं को गले लगाया। उसी प्रकार अपने इस अवतार में श्रीरामानन्दाचार्य घूम-घूम कर उपर्युक्त आदर्शों को पल्लवित पुष्पित एवं फल युक्त किया।

इनके द्वारा शंखवादन करने पर उसकी ध्वनि सुनकर लोग सफल मनोरथ हो जाते थे, मानो उस ध्वनि में संजीवनी शक्ति थी। परन्तु शंख ध्वनि से भीड़ बढ़ने के कारण भजन में विघ्न पड़ने लगा अतः मात्र प्रातः काल शंख बजाना स्वामी जी ने लोककल्याणार्थ चालू रखा। स्वामी जी से काशी में शुभ पर्व पर विभिन्न प्रान्तों से श्रद्धावान पुरुष एकत्रित होकर मुसलमानों के अत्याचारों की शिकायत की। ये सब अत्याचार धर्म के नाम पर होते थे। स्वामी जी के शरणागत होकर दुष्टों को दण्ड दिलाने की प्रार्थना की।

इसके पश्चात् ही स्वामी जी की तपस्या के प्रभाव से अज़ान के समय मुल्लाओं के कण्ठ अवरूद्ध होने लगे। राजा एवं मौलवी मुल्ला सभी परेशान थे। अज़ान के समय उनके जुबान पर लकवा मार जाता था। तब कुछ विद्वान और प्रतिष्ठित मुसलमान काशी आकर श्री कबीरदास को अपने साथ लेकर भगवान रामानन्द स्वामी के पास गये। उसी समय स्वामी जी ने अपना शंख बजा दिया। जिससे सभी मुसलमान बेहोश होकर जमीन में गिर पड़े। उस दशा में उन मुसलमान लोगों ने अपने पैग़म्बर मुहम्मद साहब को देखा, जिन्होंने सभी मुसलमानों को स्वामी जी की आज्ञा पर चलने का आदेश दिया।

मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर ढाये गए अत्याचारों से द्रवित होकर स्वामी जी ने समानता रूप में हिन्दुओं के पक्षधर बनकर बारह प्रतिज्ञाओं को पूरा करने के लिए मुसलमानों को कहा और अन्त में यह भी कहा कि उनमें से किसी भी प्रतिज्ञा का पालन न होने पर राज्य नष्ट हो जायेगा। मुसलमान भी उनके प्रतिभा और दैवी शक्ति को समझते थे। इसलिए समूचे मुसलमान समुदाय को पतन से बचाने के लिए तत्कालीन दिल्ली बादशाह गयासुद्दीन के सामने श्री स्वामी जी द्वारा सुझायी गयी सभी शर्तें रखी गई। बादशाह ने सभी शर्तों में सच्चाई देखी, और उसने शाही फरमान लिखवाकर उस पर अपने हस्ताक्षर करके शाही मुहर लगवा दी। ऐसा करने पर अज़ान नमाज़ का कार्य तुरन्त चलने लगा। इस प्रकार इस्लामी शासन और उनके अधिकारी कार्यकर्त्ताओं के द्वारा हिन्दुओं पर जो अत्याचार का सिलसिला चल रहा था उसका समन हो गया।

एक दूसरे प्रसंग में एक बार अयोध्या से श्री गजसिंहदेव, आचार्य के आश्रम में आये और निवेदन किया कि "मैं अयोध्यापति हरिसिंह देव का भतीजा हूँ और सूर्यवंशी हूँ। मेरे चाचा जूना खाँ चुगलक के भय से तराई में भगवत भजन के बहाने भाग गये हैं, तब से अयोध्या का सिंहासन खाली पड़ा हुआ है। मेरे पिता का हत्यारा जूना खाँ, अभी तक बीसों हजार प्राणियों का धर्म भ्रष्ट करके म्लेच्छ बना चुका है, म्लेच्छ स्पर्श से मैं भी भ्रष्ट हो गया हूँ। तब से आज तक पचास वर्ष के भीतर म्लेच्छों की संख्या बढ़ती ही गई है। दयानिधान! आप सब का उद्धार कीजिए।"

तब अपनी शिष्य मण्डली के साथ स्वामी जी अयोध्या आये और सरयू किनारे ले जाकर सबको शुद्ध किया तब समाज ने सभी को स्वीकार कर अपने जाति बिरादरी में शामिल किया।

तीर्थयात्रा करने के लिए स्वामी अपनी शिष्य मण्डली के साथ जगन्नाथ पुरी और विजय नगर गये, विजय नगर के महाराजा ने इनका अद्‌भुत स्वागत किया। नौ दिन विजय नगर में ठहरने के उपरान्त स्वामी जी रामेश्वर गये पुनः काञ्ची, श्रीरंगम्, जनार्दन और द्वारकापुरी, मथुरा, वृन्दावन, मायापुरी, चित्रकूट, प्रयागराज होते हुए काशी में अपनी कुटी में लौट आये। अपनी इस तीर्थ यात्रा के काल में हजारों नर नारियों को अपनी दिव्यता से प्रभावित कर हिन्दू धर्म निष्ठा का वर्धन किया।

श्रीरामानन्दाचार्य ने अपने ''वैष्णव मताब्ज भास्कर'' में बताया है, कि जगत प्रभु के पादपद्मों में समर्थ असमर्थ भी प्रपत्ति के अधिकारी है, उनमें न उत्तम कुल न पराक्रम न कालविशेष और न शुद्धता की ही अपेक्षा है। यथा -

सर्वे प्रपतेरधिकारिणः सदा, शक्ता अशक्ता अपि नित्य रङ्गिणः।
अपेक्ष्यते तत्र कुल बलं च, नो न चापि कालो नहि शुद्धता च॥

उनका दिव्य तेज राजनीति में भी उसी प्रकार दमकता था जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में। तैमूर लंग के आक्रमण काल में हिन्दुओं की दशा अत्यन्त संकटपूर्ण थी, निस्सन्देह उस भयङ्कर समय में देश धर्म और आर्य जाति की रक्षा करने के लिए श्री भगवान रामानन्द जैसे सर्वशक्तिशाली दिव्य महापुरुष की आवश्यकता थी। वे अध्यात्मिक जगत के सार्वभौम चक्रवर्ती थे। सब जगत उनका था और वे सारे जगत के थे। अतः जगतगुरू शब्द उनके लिए अक्षरशः सत्य है।

श्रीरामानन्दाचार्य समुदाय में गृहस्थ एवं विरक्त वैष्णवों के लिए सतत् उर्ध्व पुण्ड्र तिलक एवं तुलसी की युगल माला को धारण करना आवश्यक है। सदा भगवन्मय रहना ही जीवन का परमोद्देश्य है। पुराणों में वर्णित भगवदपराधों और भागवतापराधों से अपने को बचाते हुए पूर्ण वैराग्य के साथ ही शास्त्रानुशीलन करते हुए सदैव श्री सीताराम नाम जाप करना ही सम्प्रदाय के वैष्णवों की मुख्य दैनिकचर्या एवं जीवनचर्या है।

जगत्पते श्रीश जगन्निवास, प्रभो जगत्कारण रामचन्द।
नमो नमः कारुणिकाय ते सदा, पदाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु मे॥

इत्यादि मन्त्रों के माध्यम से स्वदैन्यभाव को प्रकट करते हुए श्री भगवत-शरणागति को प्राप्त करना ही जीवन का परमोद्देश्य तथा जीवनचर्या का मूल है।

इस तरह जो प्रभु चौबीस अवतारों के रूप में अवतरित होकर नाम रूप लीला धाम द्वारा एवं कभी कभी शब्द द्वारा भी जगत का कल्याण करते हैं वे ही प्रभु विधर्मियों द्वारा अक्रान्त भारतभूमि को अक्रान्त देखकर श्रीरामानन्द के रूप में अवतार धारण तो किया ही, साथ में भगवत प्रेरणा से चतुर्दिक धर्मस्थापना हेतु भक्ति द्वादस (बारह) आचार्यों ने भी अवतार ग्रहणकर श्रीरामानन्द स्वामी से शिष्यत्व प्राप्त कर उनके आदेश और भावों के अनुसार कलिकाल के महादूषण काल को सन्तुलित करते हुए धर्म का प्रचार किया, एवं श्रीराम भक्ति के सारतत्व का प्रकाश नर नारियों पर करके श्रीरामानन्दाचार्य के अवतरण हेतू में सहयोग प्रदान किया।

श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री यमराज के श्री मुख से द्वादश भागवतधर्मवेत्ता है :-

स्वयंभू नारद शम्भूःकुमारः कपिलो मनुः
प्रह्लादो जनकों भीष्मोबलिर्वैयासर्किवयम्।

(1) ब्रह्माजी (2) देवर्षि नारद (3) भगवान शंकर (4) सनद्कुमार (5) कपिलदेव (6) मनु (7) भक्त प्रह्लाद (8) राजा जनक (9) भीष्म पितामह (10) राजा बलि (11) शुकदेव (12) धर्मराज।

क. अनन्तानन्द जी

ब्रह्मा ने ही अवतार ग्रहण कर योगनिष्ठ सदाचार पारायण अनन्ताचार्य के नाम से स्वामी रामानन्दाचार्य के शिष्य हुए। अनन्ताचार्य अयोध्या के पास महेशपुर में श्री विश्वमणि त्रिपाठी के यहाँ जन्म ग्रहण किया। आपने तथा आपके शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा भागवत धर्मों व भक्ति का प्रचार हुआ।

ख. श्री सुरसुरानन्द जी

जातः सुरसुरानन्दी नारदो मुनिसत्तमः लखनऊ के पास परखम ग्राम निवासी श्री सुरेश्वरजी शर्मा की परमभक्तिमती श्रीदेवी के गर्भ से नारद जी ने सुरानन्द के रूप में अवतार ग्रहण किया। ये बड़े ही नामानुरागी सन्त थे, भगवत् प्रसाद किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए। भक्त मालाकार ने लिखा है -

महिमा महाप्रसाद की सुरसुरानन्द साँची करी।

आपके प्रश्नों के उत्तर रूप एक ग्रन्थ का निर्माण हुआ, जो "श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर" के नाम से प्रसिद्ध है। यही नहीं यह वैष्णवों का हृदय हार मानकर सम्पूरित है।

ग. श्री सुखानन्द जी

शम्भूरेव सुखानन्द पूर्वाचार्यार्थ निष्ठकः।

उज्जैन के निकट किरीटपुर ग्राम में श्री त्रिपुर भट्ट की गृहणी श्री गोदावरी के गर्भ से जानकी नवमी (वैशाख शुक्ल नवमी) को साक्षात् भगवान शंकर ही अवतरित हुए।

आप जन्म जात योगसिद्ध थे आपने श्रीरामानुजाचार्य से दीक्षा ग्रहण कर भक्ति का प्रचार प्रसार किया एवं सुखसागर नामक दिव्य ग्रन्थ की रचना किया।

घ. श्री नरहरियानन्द

कुमारो नरहरियानन्दो जातधीर उदारधीः।

सनदकुमार जी ही नरहरियानन्द के रूप में अक्षय तृतीया को अवतरित हुए। आपके पिता महेश्वर मिश्र एवं माता का नाम श्रीमती अम्बिका देवी था। दीक्षा तो आपने आचार्य रामानन्द से ग्रहण किया और अनन्ताचार्य के द्वारा संस्कारित हुए। श्री नरहरियानन्द जी ने अपनी दिव्य शक्तियों से संसार में भक्ति का खूब प्रचार किया। आपको श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास के दीक्षागुरू बनने का श्रेय है।

ङ. श्री योगानन्द जी

बुधे अर्केऽथ कपिलो योगानन्दो जनिष्यति।

आपका जन्म गुजरात प्रान्त के सिद्धपुर क्षेत्र के निवासी मणिशंकर शर्मा के घर हुआ। आपके बारे में लिखा है -

योगनिष्ठो महायोगी सततसेवित पदाम्बुजः।
सदा वैष्णव धर्माणामुदेश परायणः॥

आप हमेशा योग में निरत रहते थे, आपने हमेशा वैष्णव धर्म का ही उपदेश दिया और वैष्णवता का प्रचार किया।

इसीलिए भक्तभाल में आपके लिए कहा गया है -

योग सुपथ उद्धार हित योगानन्द कपिलभये।

च. श्री पीपाजी

मनु पीपानिधो जात उत्तराफाल्गुनी।

श्री मनुजी महाराज कलियुग में धर्म प्रचार एवं भक्ति की महिमा का विकास करने के लिए राजस्थान प्रान्त के गांगरोन गढ़ के राजघराने में चैत्र पूर्णिमा को अवतरित होकर रामानन्द स्वामी से दीक्षा ग्रहण किया। श्री नाभा जी ने इनके विषय में लिखा है -

श्रीरामानन्द पद पाई भयो अति भक्ति की सीवा।

दीक्षोपरान्त इनको गुरू विरह असह्य हो गया था, इसलिए इन्होंने स्वामी जी को गांगरोन गढ़ पधारने का निमन्त्रण दिया। आचार्य प्रवर चालीस भक्तों के साथ आये। भक्त रैदास और कबीर भी थे। महाराज पीपा ने स्वामी जी की पालकी में कंधा लगाया, ठाठ-बाट से शोभायात्रा निकाली। गांगरौनगढ़ को पवित्र करने के बाद स्वामी जी ने द्वारिका जाने की इच्छा प्रकट की, परन्तु पीपाजी का मन गुरू चरणों में इतना आसक्त था कि वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते थे, अतः वे भी द्वारका के लिए तैयार थे। उनकी बारह रानियों में सभी की इच्छा साथ चलने की होने पर भी श्री गुरूदेवादेश से सीतासहचरी नाम की रानी को पीपाजी अपने साथ ले चले। सीतासहचरी में संस्कार और गुरूभक्ति अति श्रेष्ठ थे।

श्रीरामानन्दचार्य द्वारका से काशी लौट आये परन्तु पीपाजी गुरू आज्ञा से सीता सहचरी के साथ वहीं रूक गये। भगवत विरह के उन्माद में वे एक दिन सपत्नीक समुद्र में कूद पड़े। वे सात दिनों सीता सहचरी के साथ समुद्र में ही रहे आये। श्रीकृष्ण और उनकी पटरानी रूक्मिणी ने दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया। वे भगवान की छाप लेकर सात दिनों के बाद समुद्र से बाहर निकल आये। द्वारिकावासियों ने देखा कि उनके वस्त्र तक गीले नहीं हुए हैं। पीपाजी ने मन्दिर के पुजारी को भगवान की छाप दी। उन्होंने कहा जिसका इससे स्पर्श होगा वह भवसागर से पार हो जायेगा।

द्वारका के समीप जिस स्थल पर पीपाजी ने कुटी बना रखी थी। वहाँ के एक समीप गाँव का सेठ था जिसके मन में सीता सहचरी के लिए काम विकार था। उसके हाव भाव के कारण पीपाजी कभी उसके यहाँ से भिक्षा नहीं लेते थे। एक दिन अचानक ही शिष्य मण्डली के साथ भगवान रामानन्द का शुभागमन पीपा के आश्रम में हो गया। उस समय पीपाजी भिक्षा हेतु कहीं गये हुए थे। आश्रम में केवल सीता सहचरी भर थी। अपने आश्रम में जब उन्होंने भगवान गुरूदेव का शिष्यों सहित दर्शन किया तब उनकी गुरूभक्ति और भगवतनिष्ठा के कारण किसी प्रकार की बेचैनी नहीं हुई, क्योंकि कुटी में उस समय भोजन सामग्री कुछ भी नहीं थी। अपने पति

के अनुपस्थिति काल में वे सीधे अपने प्रति चाह रखने वाले उस सेठ के घर गई और वांछित भोजन सामग्री की याचना करते हुए रात को उस सेठ की सेवा में उपस्थित होने का वचन दिया। भोजन सामग्री लाकर यथाविधि पकवान कार्य में रत हो गई। तभी श्री पीपाजी आये और उन्होंने भोजन सामग्री प्राप्ति का ब्यौरा पूछा। सीता सहचरी ने सब यथेष्ट बात अपने पति से प्रकट कर दिया। श्री पीपाजी बहुत प्रसन्न हुए।

पीपाजी सबको शयन कराने के अनन्तर सीता सहचरी का श्रृंगार करवाया और उस सेठ को सौंपने के लिए सीता सहचरी के साथ बाहर आये। उस दिन हल्की वर्षा के कारण रास्ते में कुछ कीचड़ होने की वजह से श्रीपीपाजी ने सीता सहचरी को अपने कंधों पर बैठाया और सीधे उस सेठ के छायादार बरामदे में सीता सहचरी को उतारकर कुछ दूर पर आकर खड़े हो गये। सीता सहचरी ने दरवाजा खटखटाया, सेठ बेसब्री से दरवाजा खोला, उसने सिर से नख तक सीता सहचरी का दर्शन किया और चरणों में उसकी नज़र अटक गई और उसने सीता सहचरी से पूछा कि ''आपके पैर सूखे हैं इसकी वजह क्या है?'' तब सीता सहचरी ने इसका कारण अपने पति के द्वारा कन्धों पर लेकर आना बताया। भगवान श्रीरामानन्द अपनी दिव्य अंतर्दृष्टि से सब देख रहे थे। सीता सहचरी के चरण दर्शन मात्र से वह कामुक सेठ उनके चरणों में गिरकर फूट-फूटकर रोने लगा और बोला कि ''मुझ जैसे पापी के लिए तो नरक में भी स्थान नहीं है। सीता सहचरी श्री पीपाजी के साथ आश्रम आ गई। इतनी अटूट गुरूभक्ति सीता सहचरी और पीपाजी में थी कि सांसारिक भोग उन्हें अति दूषित दिखता था।

एक बार सपत्नीक श्री पीपाजी एक दारिद्रभक्त चीथड़ के यहाँ गये। उन्होंने दोनों का भरपूर स्वागत सत्कार किया। परन्तु भक्त चीथड़ की पत्नी स्वागत सत्कार में नहीं दिखी, अतः सीता सहचरी ही उनसे मिलने अंदर गई। उन्होंने देखा कि वे तो वस्त्र हीन दशा में है। अतः सीतासहचरी ने अपनी साड़ी के ही दो भाग किये और आधी आधी साड़ी पहिन कर दोनों बाहर आई। चारों ने साथ साथ भोजन किया।

अपनी टोडे ग्राम की यात्रा में एक पोखर पर स्नान करते समय श्री पीपाजी ने सोने की कुछ अशर्फियाँ देखी, और छोड़कर चल दिये और सीता सहचरी से मोहरों की चर्चा कर ही रहे थे कि कुछ चोरों ने उन दोनों के वार्तालाप को सुनकर पोखरे में जा कर ढूढ़ा। पर पात्र में उनको साँप बिच्छू नजर आये। अतः उस पात्र को ले जाकर उन्होंने श्रीपीपाजी के ऊपर उड़ेल दिया। पीपाजी के लिए तो उस पात्र में अशर्फियाँ ही थीं। उन्होंने साधु सन्तों की सेवा में उन अशर्फियों का उपयोग किया। टोड़े के राजा सूर्यसेन ने दर्शन किया और श्री पीपाजी से दीक्षा लेकर कृतार्थ हुआ। श्रीपीपाजी जी महान भक्त थे और उनकी पत्नी भी महान भक्तिमती थी।

छ. श्री कबीरदास जी

प्रह्लादोऽपि कबीरस्तु कुजेसिंहे च शोभने।
जातो वेदान्त संनिष्ठा क्षेत्र वासरतः सदा॥

भक्तों में शिरोमणि प्रह्लाद ही भगवत आचार्यों में कबीर के रूप में अवतरित होकर और वेदनिष्ठा के साथ विशेष रूप से काशीक्षेत्र निवासी होकर लोगों को सद्धर्म परायण किया।

प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार किसी महान योगी के औरस और प्रतीचि नामक देवाङ्गना के गर्भ से भक्तराज प्रह्लाद ही कबीर के रूप में अवतरित हुए। प्रतीचि ने उन्हें कमल के पत्ते में रखकर लहर तारा तालाब में तैरा दिया था, और नीरू नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति जब तक आकर उस बालक को नहीं ले गये तब तक प्रतीचि उसकी रक्षा करती रही।

जुलाहा दम्पत्ति के घर में पालन पोषण होने से ये मुसलमान माने जाने लगे। प्रारम्भ से ही उनमें ज्ञान का अक्षय कोष विद्यमान था। अतः दीक्षा गुरू स्वामी रामानन्द को ही वरण करने के लिए इन्होंने एक दिन एक पहर रात रहते सीढ़ियों पर लेट गये, वहीं से श्री आचार्य स्नान करने के लिए सीढ़ियों से उतरा करते थे, श्रीरामानन्द का पैर अंधेरा के कारण श्री कबीर के ऊपर पड़ा और श्री गुरूमुख से अनायास ही ''राम राम'' का उच्चारण हुआ जिसको ही श्री कबीरदास ने गुरूमन्त्र मानकर श्री आचार्य को गुरू मानने लगे। पश्चात् में कबीरदास ने इस बात का रहस्योद्घाटन किया।

श्री कबीरदास की गुरू भक्ति इतनी प्रबल थी कि गुरू की सन्निधि छोड़ कर वे कहीं भी जाने को तैयार नहीं होते थे। जनश्रुति के अनुसार इनके पत्नी का नाम 'लोई' और पुत्र का नाम कमाल तथा पुत्री कमाली थी। गृहस्थाश्रम के अनुसार अपनी जुलाहा वृत्ति में करघे से सूत कातने का काम करते थे। पढ़े लिखे बिल्कुल नहीं थे, फिर भी ज्ञान भक्ति के इतने धनी थे कि बड़े-बड़े ज्ञानी सन्त भी आपके पास आकर शंका का समाधान कराते थे।

कबीर दास ने परमात्मा को मित्र, माता-पिता और पति रूप में देखा है। कभी वे कहा करते थे, ''हरि मोर पिय, मैं राम की बहुरिया'' और कभी कहते थे ''हरि जननी मैं बालक तोरा'' अपनी उलट वाणियों में उनका भगवान के साथ जो मधुर प्रगाढ़ सम्बन्ध था उसका स्वरूप ही भक्तों के हृदय को सरस बना देता था। परम ज्ञानी और भक्ति के कारण काशी नरेश इनके शिष्य बन कर अपने को धन्य मानते थे।

जब यश और प्रसिद्धि की उन पर दृष्टि होने लगी, तो जन समुदाय के एकत्रीकरण से कबीरदास दुःखी होकर काशी की एक सौन्दर्यशीला वेश्या के घर गये। दूसरे दिन दो बोतलों

में गंगाजल रंगीन बनाकर उसी सजी धजी वेश्या के साथ मतवाला रंग ढंग का स्वांग करते हुए वेश्या आशिक स्थिति के दिखावा के साथ काशी के प्रसिद्ध जन समुदाय के स्थलों पर नाचते हुए घूमते रहे। इस क्रियाकलाप के बाद इनके आवास स्थल पर लोगों का आना बन्द हो गया। श्री आचार्य के एक शिष्य ने कबीर की पूरी करनी गुरूश्री से निवेदित कर दिया, तब आचार्यवर मुस्कराये और बोले कोई विशेष कारण होगा। उन्हें कबीर के करनी पर कोई हताशा नहीं हुई।

जब समूचे काशी में कबीरदास की यह बदनामी फैल गई, तब एक दिन कबीरदास अपने राजा शिष्य के महलों में गये, शाम का समय था, अंगीठी जल रही थी। इस बार राजा ने पूर्ववत् अपने गुरू की अगवानी और स्वागत नहीं किया। जिसका कबीर ने बदनामी को कारण समझा। परन्तु शिष्य के हृदय में गुरू के प्रति हेय दृष्टि से शिष्य का कल्याण बाधित होगा इसलिए उसी समय कबीरदास ने लोकहित के लिए यह क्रिया किया कि आग की बड़ी अंगीठी से कुछ कोयले के अंगार जो धरती पर गिर गये थे, उन पर एकाएक गिलास से पानी छोड़कर बुझाते हुए बोल पड़े ''बचा तो लिया, बचा तो लिया।''

इस आश्चर्यमयी शब्दावली को सुनकर काशी नरेश ने ही पूछ लिया ''गुरूदेव किसको बचा लिया और क्या हुआ ? उत्तर में कबीरदास ने कहा ''राजन्! इसी प्रकार की अंगीठी पुरी में जगन्नाथ भगवान् के प्राङ्गण में लगी थी जहाँ अंगीठी के पास से ही पुजारी जी व्यञ्जनों से भरी थाल को रात्रि भोग लगाने हेतु भगवान के सम्मुख जा रहे थे। कुसंयोग से उनका एक पाँव आग से दहकती एक बड़े कोयले पर पड़ने वाला ही था, कि मैंने गिलास के जल से उसकी आग को शान्त कर दिया और पुजारी जी जलने से बच गये, अन्यथा थाली के गिरने पर व्यञ्जन जमीन में फैल जाते और पुजारी के पाव में फफोले भी निकल आते।''

अन्त में काशीनरेश ने अपने विश्वसनीय और चतुर अनुचरों को जगन्नाथ पुरी भेजकर श्री कबीरदास के कथन की पुष्टि करवाई, जिसमें पुजारी जी ने वहाँ कबीरदास की उपस्थिति बताकर अपने को जलने से बचाने के लिए कबीरदास को ही निमित्त बताया गया।

अनुचरों के मुख से सम्पूर्ण वृतान्त सुनने पर काशी नरेश को गुरू परमेश्वर के प्रति दुर्भावना पूर्ण दृष्टिकोण और कार्यविधि पर महान पश्चाताप हुआ। तब ''दसन गहहु तृन कण्ठ कुठारी'' के अनुसार नरेश ने अपने मुख में तृन (घास का टुकड़ा) दबाकर गले में कुल्हाड़ी लटकाया और खुले बदन होकर काशी का परिभ्रमण करते हुए गुरू के श्रीचरणों में उपस्थित होकर साष्टाङ्ग लोट गये। शिष्य के द्वारा किए गए इस प्रायश्चित से कबीर दास प्रसन्न हो गये। गुरू शिष्य सम्बन्ध यथावत हो गया।

कहते हैं इस धरा पर सौ वर्ष रहने के उपरान्त इन्हें ले जाने के लिए बैकुण्ठ से पार्षद आए। परन्तु इन्होंने जाने से साफ मना कर दिया कि "मैं रामानन्द की सन्निधि तुलसीदास और अन्य महान सन्तों की चरण धूलि से पवित्र की गई धरा को छोड़कर बैकुण्ठ नहीं सकता। सन्तों की चरण धूलि और सत्सङ्ग से जो सुख मुझे यहाँ पृथ्वी में है, वह बैकुण्ठ में नहीं मिलेगा।" पार्षदों ने इस परम सत्य को स्वीकारा और कबीरदास को बैकुण्ठ नहीं ले गये।

कलयुग के समयावधि में ही इस पृथ्वी में ऐसे तत्व थे जो अपवर्ग सुख को भी तिरस्कृत करते थे। अन्त में एक सौ उन्नीस वर्ष की आयु पूरी कर कबीरदास सशरीर बैकुण्ठ धाम पधारे।

ज. श्री भावानन्द जी

भावानन्दोऽथ जनको मूले परिघसंयुते।

महात्मा भावानन्द को ही जनक जी का अवतार कहा गया है आपके पूर्वज मिथिला निवासी ही थे, जो कालान्तर में पण्डरपुर के समीप ही आलिन्दी ग्राम में आकर बस गये थे। वही श्री रघुनाथ मिश्र के घर में आपने जन्म लिया था। आप सदा ही रामसेवा पारायण रहे।

झ. श्री सेन जी

भीष्मो सेनभिघो नामतुलायां रविवासरे।

भगवताचार्य भीष्म पितामह ने ही मध्यप्रदेश के बघेलखण्ड क्षेत्रान्तर्गत बान्धवगढ़ में सेनभक्त के रूप में अवतार ग्रहण किया। आपने अपने गुरूश्रेष्ठ की आज्ञा से भक्तों की सेवा को ही प्रधानता प्रदान की।

श्रीसेन परम सन्तोषी, उदार और विनयशील थे। राज परिवार से उनका नित्य का सम्पर्क था। उस समय महाराज वीरसिंह, बघेल खण्ड़ क्षेत्र का राज्य संभालते हुए बान्धवगढ़ की राजधानी में ही विराजते थे। सेन का नित्य का काम था - राजा का बाल बनाना और तेल लगाकर स्नान कराना। एक दिन निर्धारित समय में घर से निकले ही थे कि उन्होंने देखा कि एक सन्त मण्डली मधुर ध्वनि से भगवान के नामों का संकीर्तन करती हुई उन्हीं के घर की ओर आ रही है। सन्त समागम का पवित्र अवसर मिला, इससे बड़कर आनन्द की दूसरी स्थिति नहीं हो सकती है। सेन ने बड़े प्रेम से सन्तों की चरण धूलि ली, सन्तों को अपने घर लिवा लाये और यथाशक्ति उनकी सेवा पूजा की, सत्सङ्ग किया। सेन सन्तों की सेवा पूजा स्वागत सत्कार में इतने निमग्न थे कि उन्हें तनिक भी बाह्य ज्ञान नहीं था। काफी धूप चढ़ चुकी थी महाराज वीरसिंह को प्रतीक्षा करते करते अधिक समय बीत गया। इतने में सेन नाई के रूप में स्वयं लीला बिहारी राजमहल में पहुँच कर राजा के सिर पर तेल लगाया, शरीर में मालिश की, दर्पण दिखाया। उनके कोमल कर कमलों

से राजा को उस दिन जितना सुख मिला उतना उन्होंने इसके पहिले कभी अनुभव नहीं किया था। उस दिन राजा ने यह अनुभव किया कि सेन के रूप में कोई दिव्य प्राणी ही उतर आये थे। दैनिक सेवा करके सेन रूपधारी लीला बिहारी चले गये।

इधर भक्त मण्डली के चले जाने पर भक्त सेन को बाह्य ज्ञान हुआ और स्मरण आया कि उन्हें राजा की सेवा में जाना है। आवश्यक सामान रख कर डरते डरते राज पथ पर पैर रखा। राजमहल पहुँचते पहुँचते एक राज सैनिक ने उन्हें टोक दिया "कुछ भूल तो नहीं आये हो" अपने प्रत्युत्तर में सेन ने कहा "अभी तो राजमहल ही नहीं जा सका।" पुनः जब राजसैनिक ने कहा "आपको कुछ हो तो नहीं गया - आप सचमुच भगवान के भक्त हैं, भगवान के भक्त कितने सीधे-सादे होते हैं इसका पता तो आज ही चल सका, आज राजा आपकी सेवा से इतने प्रसन्न है कि इसकी चर्चा समूचे नगर में फैल रही है।"

सेन को पूरा विश्वास हो गया कि मेरी प्रसन्नता के लिए भगवान को मेरी अनुपस्थिति में नाई का रूप धारण करना पड़ा। अपने को धिक्कारते हुए कहने लगे एक तुच्छ सेवा पूर्ति के निमित्त शोभा निकेतन श्री राघवेन्द्र को बहुरूपिया बनना पड़ा। उन्होंने अपने कन्धे पर छुरे आदि की पेटी लटकाने में भी रस की अनुभूति की।

राजमहल में पहुँचने पर राजा ने बड़े विनय से सेन का स्वागत सत्कार किया। सेन ने बड़े संकोच से विलम्ब की क्षमा माँगी और सन्तों के अचानक मिल जाने की बात कही। राजा ने सेन के चरण पकड़ लिए और कहा "राजपरिवार जन्म जन्म तक आपका और आपके वंशजों का आभार मानता रहेगा। भगवान ने आपकी प्रसन्नता के लिए मङ्गलमय दर्शन देकर हमारे असंख्य पाप तापों का अन्त किया है।" भक्त सेन तो प्रेम विह्वल थे उनमें विलक्षण भाव कम्पन था।

अन्त में राजा वीरसिंह ने कहा "अब आपको राजमहलों में आने की आवश्यकता नहीं है, राजपरिवार ही आपके दर्शनों के लिए आपके घर जायेगा।"

वे भगवान के महान कृपापात्र भक्त थे। उनके प्रभाव से प्रजा में भी भक्ति भावना और सन्त सेवाभाव बहुत प्रभावशील बनकर सभी को सन्त सेवी बना दिया।

ञ. श्री धन्ना जी

धन्नाभि बलिः साक्षातपूर्वाषाढ़युते शिवे।

आपका जन्म राजस्थान के टोंक इलाके में धुवन ग्राम में हुआ था। आप भक्ति सेवा पारायण थे। इनके पिता साधुसेवी सरल हृदय एक साधारण किसान थे। ये बलि के अवतार थे।

धन्ना की पाँचवे वर्ष की उम्र में इनके घर में एक ब्राह्मण पधारे। स्नानोपरान्त ब्राह्मण देवता ने शालिग्राम की पूजा की। विधिपूर्वक की गई पूजा को धन्ना बड़े ध्यान से देखता रहा, और अन्त में धन्ना ने ब्राह्मण देवता से कहा ''एक मूर्ति मुझे भी दे दीजिए, मैं भी पूजा करुँगा।'' तब ब्राह्मण देवता ने एक काला पत्थर पास से उठाकर देते हुए कहा ''बेटा, ये ही तुम्हारे भगवान हैं तुम इनकी पूजा किया करो।''

धन्ना को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई, ब्राह्मण को जैसी पूजा करते वह देखता था, वैसी ही पूजा करने का आयोजन उसने किया। हाथ जोड़कर प्रेम से दण्डवत किया और माता ने जो बाजरे की रोटियाँ उसको खाने को दी थी। उन्हीं को धन्ना ने भगवान के आगे रखकर आँखे बन्द कर ली। आँख खोलने पर जब उसने देखा कि भगवान ने रोटियाँ नहीं खाई है, तब उसने भगवान से रोटी खाने के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार बार-बार प्रार्थना करने पर जब रोटियां ज्यों की त्यों रखी रही तब उसने सोचा, भगवान नाराज है। भगवान भूखे रहें और वह स्वयं रोटी खा लें, यह उसके लिए किसी प्रकार उचित नहीं था, इसलिए उसने तमाम रोटियाँ जंगल में फेंक दी।

कई दिन इस प्रकार बीत गये, भूख के मारे धन्ना का शरीर दुबला होता जा रहा था, उसको अपने शरीर के दुबले होने का कोई दुःख नहीं था, दुःख केवल इस बात का था कि भगवान उससे नाराज हैं। आखिर एक दिन धन्ना ने रोटियाँ रखीं और भगवान प्रकट होकर लगे भोग लगाने। जब आधी रोटियाँ खा चुके तब धन्ना ने भगवान का हाथ पकड़ लिया और कहा - ''ठाकुर जी इतने दिनों तक तो तुम आये नहीं, मुझको भूखों मारा और आज आये हो तो सारी रोटियाँ अकेले ही खा जाना चाहते हो! मुझे क्या थोड़ी रोटी भी न दोगे।'' बची हुई रोटियाँ भगवान ने धन्ना को दे दीं। बाल क्रीड़ा के बाद इनमें गंभीरता आई। भगवान ने भी इनके साथ बाल क्रीड़ा बन्द की और परम्परा की रक्षा हेतु दीक्षा लेने का आदेश दिया। काशी जी जाकर इन्होंने श्रीरामानन्दाचार्य से दीक्षा ग्रहण किया। गुरूदेव की आज्ञा लेकर ये घर लौट आए। धन्ना को अब सर्वत्र सब में भगवान का दर्शन होने लगा। एक दिन पिता ने उन्हें गेहूँ बोने भेजा।

सन्तों ने भिक्षा मांगी। धन्ना तो सर्वत्र अपने भगवान को ही देखते थे, भूखे सन्त माँग रहे थे। धन्ना ने समस्त गेहूँ सन्तों को दे दिया। माता-पिता के असन्तुष्ट और दुःख के कारण धन्ना ने खेत को इस प्रकार जोता, जिससे यह पता चले कि गेहूँ बो दिया गया हो। भक्त की प्रतिष्ठा रखने के लिए भगवान ने लीला की। धन्ना के खेत को गेहूँ के पौधों से भर दिया। सर्वत्र यह सुनने को मिला कि धन्ना का खेत इस वर्ष ऐसा उठा है जैसा कभी सुना नहीं गया। धन्ना भी लोगों की बात सुनकर स्वयं गये और लहलहाते खेत को देखकर प्रभु की कृपा समझकर आनन्द निमग्न होकर प्रभु का नाम ले लेकर नाचने लगे।

ट. श्री गालवानन्द जी

वासवो गालवानन्दो जात एकादशी तिथौ।

भगवत्स्वरूप व्यास नन्दन शुकदेव जी ही सिन्धु प्रान्त के पावाया नामक ग्राम में गालवानन्द के रूप में अवतार धारण किया, परिपक्व ज्ञान की अवस्था से युक्त, वेद वेदान्त निरत, भगवत् रतियुक्त ये महायोगी थे। वे हमेशा अपनी ज्ञानावस्था में छके रहते थे।

ठ. भक्त रमादास (रैदास)

यम एवं रमादास स्त्वाष्ट्रे प्रादुर्भविष्यात।

काशीवासी रघुनायक के घर साक्षात् यमराज ने ही भागवत धर्म को विस्तारित करने के लिए रमादास के रूप में अवतार धारण किया।

इनके घर में परम्परागत रूप से जूते बनाने का काम चलता रहा था, जिसको भक्त रैदास भी करते थे। ये अपने पास किसी भी प्रकार के धन का संग्रह नहीं करना चाहते हैं। पूजा के अनन्तर इन्हें पाँच अशर्फियाँ मिलती थी, जिसे वे गंगाजी में चिमटा से पकड़कर ले जाते और वहाँ छोड़ देते थे, वे स्वर्ण स्पर्श तक से डरते थे तब भगवान ने इन्हें स्वप्नादेश में कहा कि धन संग्रह से धर्मशाला बनवाओ और संत सेवा करो। तब अपने प्रभु की बात मानकर वैसा ही करने को उद्धत हो गये।

एक समय उस राज्य के राजा भक्त रैदास का दर्शन करने पधारे भक्त रैदास ने अपने कटौता का गन्दला और दुर्गंधयुक्त जल चरणामृत में राजा को भी दे दिया। राजा ने उसे मुख में न ले जाकर अपने कोट के जेब में पोंछ दिया। बाद में वह दाग बन गया। उसी कोट को जब धोबी ने साफ करना चाहा तो उसके लाख प्रयत्न पर भी दाग न छूट सका। अन्ततोगत्वा उसने अपने तीक्ष्ण दाँतों से उसे छुड़ाना चाहा जिससे चरणामृत का कुछ दाग रूप का अंश उसके मुँह में भी चला गया। इतने मात्र से धोबी के हृदय में प्रेमाभक्ति का सञ्चार हुआ।

भक्त रैदास स्वामी श्रीरामानन्द को बहुत प्रिय थे इसलिए जहाँ कहीं भी वे यात्रा में जाते थे, भक्त रैदास को अवश्य ले जाते थे।

एक बार उनके ग्राम का एक ब्राह्मण प्रयागराज जाने के लिए इन्हें भी कहने आया, परन्तु अपने काम की व्यस्तता बताकर भक्त रैदास तो नहीं जा सके, परन्तु एक नारियल देते हुए ब्राह्मणदेव से कहा कि जब वे अपनी पूजा पाठ से निवृत्त हो जायें तो उनका (रैदास) नारियल ले कर गंगाजी के प्रवाह में फेंकते हुए कह दें कि रैदास ने आपको भेंट दिया है। प्रयागराज में

ब्राह्मण देवता जब अपनी पूजा-अर्चना से फुर्सत हुए तब उन्हें रैदास की बात याद आई और रैदास के कथन अनुसार ही उन्होंने रैदास का नाम लेते हुए नारियल को गंगा जी के प्रवाह में फेंक दिया। इसके तुरन्त बाद ही धारा से एक दिव्य नारी की हथेली निकली। रैदास के भेंट नारियल को ग्रहण किया और तुरन्त ही उसी दिव्य हस्त से एक दिव्य कड़ा फेंककर ब्राह्मण देवता के पूजा स्थल में गिर आया। ब्राह्मण देव चकित होकर सब देखते रहे। गंगा की धारा से आवाज आई "यह कड़ा रैदास को प्रसाद में दे देना।"

ब्राह्मण देवता घर तो आये परन्तु दिव्य कड़ा देने वे भक्त रैदास के घर न जाकर सीधे राजा के महल पहुँचे और वहाँ से उस अमूल्य कड़े का बहुमूल्य पारितोषिक धनराशि लेकर घर आ गए। राजा ने जब कड़ा रानी को दिया तब रानी ने एक दूसरा कड़ा सुलभ होने पर प्राप्त कड़े की उपयोगिता का राजा को भान कराया। ब्राह्मण की तलाश में राज कर्मचारी दौड़ गये। शीघ्र ही ब्राह्मण देवता राजमहल में उपस्थित हुए, जिनसे इसी प्रकार दूसरे कड़े की आवश्यकता का भान कराया गया। ब्राह्मण देव सच्चाई बताने के लिए बाध्य हुए, तब राजा ने भक्त रैदास के पास जाकर वैसे ही एक कड़ा की याचना की। तब भक्त रैदास ने राजा को आज्ञा दी कटौता के चरणामृत से ही जितने कड़ा चाहो निकाल लो। जब महाराज ने उस कटौता में हाथ डाला तो पाया कि उसमें अनगिनत कड़े भरे पड़े हैं, उन्होंने एक कड़ा निकाला, चरणामृत लिया, उस स्थान की रज माथे में लगाई और वापस आ गये।

उनके सिद्ध दशा को देखकर बड़े बड़े ज्ञानी, विज्ञानी तपस्वी आश्चर्य चकित हो जाते थे और भक्त की जै जै करते जाते थे। यहां तक कि चित्तौड़गढ़ की रानी जो काशी यात्रा में आई थी, रैदास की महिमा सुनकर उनको अपना गुरू बना लिया था।

उन्होंने पूरे 120 वर्ष का निस्पृह जीवन भक्तिमय भावना से साधुसेवा सत्संग करते हुए भगवत्धाम पधार गये।

भगवान श्रीरामानन्दाचार्य के बारह भगवताचार्य अवतरित शिष्यों के अतिरिक्त पाँचसौ से अधिक शिष्य थे। आचार्य ने निम्न वर्ग से दो को अपनी शिष्यायें बनाया था। कहते हैं रामानन्द सम्प्रदाय की प्रवर्तिका जगतजननी श्री सीता जी हैं। इन्होंने पहले श्रीहनुमान जी को उपदेश दिया था और फिर श्री हनुमान से संसार में इस रहस्य का प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम 'श्री सम्प्रदाय' है। और इस मुख्य मन्त्र को रामतारक कहते हैं। इस पवित्र मन्त्र का गुरू शिष्य के कान में लग कर दीक्षा देता है। पूर्णतया भजन में रहना ही इस सम्प्रदाय का मत है। अधिकांश सन्त परमहंसी जीवन व्यतीत करते हैं। सम्वत् 1515 के रामनवमी के दिन पूर्व स्वामी जी ने अपने शिष्य मंडली को सम्बोधित करते हुए कहा "सब शास्त्रों का सार भगवतस्मरण है।

कल रामनवमी है, मैं अयोध्या जी जाऊँगा और अकेला ही जाऊँगा। सब लोग यहीं रहकर उत्सव मनावें। कदाचित मैं न लौट सकूं।'' दूसरे दिन स्वामी जी अपनी कुटी में अन्तर्ध्यान हो गये।

इसके बाद भी उनके द्वारा प्रवर्तित और प्रवर्द्धित योजनाबद्ध कार्य शैली संचालित होकर जन जागृति में अपना कार्य करती हुई चल रही है। उनके अवतरण पूर्व और उनके शैशव काल तक हिन्दू समाज विधर्मियों की बलि बन रहा था और अत्याचार सहकर जी रहा था, परन्तु उनके यौगिक और तेजप्रतिभा के प्रतीकार से इस्लाम धर्म भी भय खाने लगा था।

उन्होंने इस प्रकार कलिकाल की आततायी स्थिति को भक्ति भावना सत्सङ्ग और स्वधर्म में परिवर्तित कर सामाजिक सन्तुलन के सामञ्जस्य की स्थिति को बरकरार रखा।

●○●○●

८. द्वारकाधीसावतार श्रीरामदेव जी

राजस्थान के बाड़मेर जिले की उण्डू एवं काश्मीर रियासत के राजा अजमल के कोई सन्तान नहीं थी। एक बार किसान खेत जोतने के लिए अपने घरों से निकले, पर उनके सम्मुख राजा अजमल आ गये। जिसके कारण किसान उनके दर्शन को अपशकुल समझ कर लौट आये। क्योंकि वे निःसन्तान थे। जब राजा को इस बात का पता चला तो उन्होंने अपनी रानी मैनादे के साथ द्वारकाधीश की यात्रा करने का निश्चय किया। इसके पूर्व उन्होंने काशी जाकर भगवान आशुतोष का भक्तिभाव से पूजन किया। भगवान शिवप्रकट होकर उन्हें द्वारकाधीश श्री कृष्ण के पास जाकर अपनी मनोकामना पूर्ण करने हेतु आदेश दिया। वहाँ पहुँचकर राजा ने आर्तस्वर से भगवान के साक्षात् दर्शन की पुकार की। जब उनके पुकारने पर दर्शन नहीं हुए तब राजा ने क्रोधपूर्वक चूरमे का लड्डू विग्रह पर मारा और कहा कि ''मेरी पुकार यदि नहीं सुनी, तो मैं अपने प्राणों की आहुति दे दूँगा।''

तब वहाँ के पुजारी ने कहा ''महाराज आपको उनके दर्शन हेतु स्वर्णपुरी द्वारका के सागर में जाकर उनके मिलने का प्रयत्न करना चाहिए।''

यह सुनकर राजा अजमल सागर किनारे जाकर, द्वारकाधीश के ध्यान में मग्न होकर बैठ गये। कुछ क्षणों बाद उन्हें सुनाई पड़ा ''आ जाओ, आ जाओ।'' राजा सागर में कूद पड़े जल में उन्हें स्वर्णपुरी द्वारका दिख पड़ी। वही भगवान श्री कृष्णा के साक्षात् दर्शन हुए। भगवान ने भक्त को गले लगाया। भगवान के माथे में बँधी पट्टी के विषय में जब राजा ने पूछा तब उन्होंने कहा ''मृत्युलोक में एक भक्त ने लड्डू मार कर मेरा माथा फोड़ दिया है, अतः यह पट्टी बाँधनी पड़ी।'' राजा प्रभु चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगे।

जब राजा से वहाँ तक आने का कारण पूछा गया तब राजा अजमल ने सन्तानाभाव और भैरवासुर का राज्य में आतंक व उससे डर होने का कारण बताया।

तब प्रभु श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम अपने प्रथम पुत्र का नाम वीरमदेव रखना और दूसरे पुत्र के रूप में मैं स्वयं जन्म लूँगा। उस समय तुम्हारे सम्पूर्ण गृह में तेज प्रकाश फैल जायेगा। तुम्हारे घर के आँगन का पानी दूध में बदल जायेगा। सभी स्थानों में शंख ध्वनि और घण्टा ध्वनि होने लगेगी और घर में कुमकुम के नन्हें चरणों के चिन्ह बन जायेंगे।

वरदान प्राप्त कर राजा अजमल विदा हुए उन्हें प्रभु ने अन्य सामग्रियों के साथ एक शंख भी दिया। भगवान के कथनानुसार सम्वत् १४०६ में भादौ शुक्ल पञ्चमी को मैनादे की कोख

से श्रीकृष्ण ने ही अवतार लेकर पुत्र रूप में जन्म लिया। जन्म समय में जैसा प्रभु श्रीकृष्ण ने राजा अजमल को लक्षण बताया था, सभी लक्षण प्रकट.होकर श्री कृष्णावतरण की पूर्व सूचना दे रहे थे। शिशु का नाम पूर्व निर्धारित रामदेव था। अतः रामदेव नामकरण हुआ।

यही रामदेव अपनी अलौकिक लीलाओं द्वारा श्रीकृष्ण के कलियुगी अवतार के रूप में मान्य है।

उन्होंने आसुरी शक्तियों का नाश कर लोगों में हिन्दू धर्म के प्रति आस्था जगाने का अनोखा कार्य किया, जबकि उस समय भारत यवन विधर्मियों के अधिकार में था। यही नहीं उन्हीं ने समाज से कुरीतियों को मिटाकर सच्चे ज्ञान का प्रकाश किया। वे जाति-पाति ऊँच-नीच में विश्वास नहीं करते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनके भक्त थे। उन्होंने भगवत भक्ति और सत्सङ्ग पर विशेष जोर दिया। लोक कल्याण करते हुए उन्होंने भाद्र शुक्ल नवमी को समाधि ले ली थी।

रामदेव के नाम से पोखरण के पास रामदेवरा नामक एक प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ पर अपनी मन्नतें माँगने के लिए लोग वहाँ जाते हैं।

उनकी अलौकिक लीलाओं के गीत राजस्थान में भोपाओं द्वारा रजतगा के रूप में अब भी गाये जाते हैं -

रामदेव अवतारी ।
इनकी लीला न्यारी॥

गलमाल कर माला, इनका वेष निराला।
अजमल का है लाला, भक्तों का रखवाला॥

इनसा देव न दूजा।
घर घर इनकी पूजा॥

●○●○●

9. प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्यदेव गौराङ्ग पार्षद एवं हरिनाम सङ्कीर्तन

शंकराचार्य के पश्चात् याज्ञिक कर्मों में जिन लोगों की रूचि हुई थी, वह तान्त्रिक और शक्ति पद्धतियों के कारण लुप्त प्राय हो चुकी थी। वैदिक कर्मों के प्रति मनुष्य उदासीन हो चले थे, वे मस्तिष्क विद्या से ऊब कर हृदय ग्रन्थि खोलने की विद्या की तलाश में थे।

इस अभिप्राय: सिद्धि के लिए सबसे पहिले भगवान श्रीरामानन्दाचार्य अवतरित होकर भगवत्भक्ति में जाति पाति का बन्धन मिटा दिया। इनका सूत्र था हरि का भजै, सो हरि का होय, जाति पाँति पूँछै नहिं कोय। उनकी इस भाव सिद्धि के लिए कबीरदास परम उच्च स्थिति के महापुरुष हुए।

इसके पश्चात् ही महाप्रभु चैतन्य का प्रादुर्भाव विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुआ। वे आधी शताब्दी तक निरामय श्री कृष्ण प्रेम पीयूष का पान कराते रहे। चैतन्य महाप्रभु के जीवन में सर्वव्यापी प्रेम के सभी लक्षण यथावत् प्रकट हुए। महाप्रभु अपने समय के प्रेमी ओर भावुक महापुरुषों में सर्वश्रेष्ठ महापुरूष जाने जाते हैं। उनका श्री विग्रह ही कृष्ण वियोग का साकार स्वरूप बन गया थां। किसी मनुष्य के शरीर में विरह जन्यभावों की इतनी ऊँचाई नहीं देखी गई। विलखते रहना ही उनके समूचे जीवन की सर्वोत्कृष्ट संजीवनी थी, जो कृष्णसुधा रस का एक बूँद पाने के लिए बिलखते तड़पते और छटपटाते रहते थे।

बंगदेश में जहाँ प्रवेश करने पर ब्राह्मण अपवित्र हो जाते थे, जहाँ शाक्त और तन्त्र विद्या तथा नर पशु बलि की प्राधान्यता रही हो, उस स्थल को वृन्दावन के समान पवित्र बनाने की सामर्थ्य प्रेमावतार महाप्रभु चैतन्य देव में ही निहित थी।

गोपी परमप्रेम रूपा, भक्ति का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। वे जगत विषयों से सर्वथा वैराग्य में सन्निहित बनी थीं यथा –

त्यक्त्वा च सर्वं विषयांस्तव पाद मूलम्।

अर्थात् सब कुछ त्याग कर वे भगवान श्रीकृष्ण के शरणापन्न थीं। उन गोपियों में राधा जी अग्रणी है और राधा जी कृष्णकर्षिणी अह्लादिनी शक्ति ही है।

तप्तकाञ्चन गौराङ्ग, राधा भाव में भक्ति से भावित होकर नित्य निरन्तर श्रीकृष्ण रस का पान करते थे। इसी से माध्वगौडीय सम्प्रदाय में श्री चैतन्यदेव महाप्रभु के विषय में गाया जाता है।

भाव राधिका माधुरी, आस्वादन सुखकाज।
जयति कृष्ण चैतन्य जै, कलि प्रकटे बृजराज॥

यहाँ बृजराज शब्द प्रतीकात्मक है, जो यह दर्शाता है जब तक प्रभु श्रीकृष्ण बृज में रहे उस काल तक के लीलाबिहारी कृष्ण ही चैतन्य रूप में प्रकट होकर अपने ही प्रेम तत्व का आस्वादन किया। जैसे भगवान श्री कृष्ण जब दर्पण में अपने मुख का दर्शन करते थे, तो स्वयं उस रूप में ही मोहित हो जाते थे, यह तो उनके स्वरूप की विलक्षणता थी। चैतन्यदेव के जीवन काल में ऐसे अनेकों प्रमाणित साक्षों के दर्शन हुए थे, जो इस सत्य को पूर्णरीत्वा मानने को तैयार है कि - चैतन्य महाप्रभु में जिन अलौकिक गुणों का सन्निवेष था, वह परमात्मा के अतिरिक्त अन्यों में एक साथ किसी भी प्रकार एकत्रित ही नहीं हो सकता है।

कलिदोषान्छन्नकाल में, जगत्जीवों के उद्धार हेतु शक सम्वत् १४.०७ की फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन नवद्वीप (नादिया नगर, पं. बंगाल) में श्री जगन्नाथ के पुत्र रूप में शचीमाता के गर्भ से महाप्रभु चैतन्य का प्राकट्य हुआ। नीम के पेड़ तले अवतार होने से इनका बालपन का नाम निमाई था। षडैश्वर्य सम्पन्नता के कारण पिता ने इनका नाम विश्वम्भर रखा। श्रीकृष्ण द्वैपायन वेद-व्यास ने कलियुग के प्रारम्भ में समग्र भावोन्मेष के साथ वन्दना करते हुए समाधि भाषा में सूत्र रूप में युग धर्म इस प्रकार संकेतित किया है।

नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपाप प्रणाशनम्।
प्रणामो दुःख शमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

भगवान के नामों का संकीर्तन सारे पापों को समूल नष्ट कर देता है, उनके चरणों में प्रणति सब प्रकार के दुःखों को शान्त कर देती है। उन्हीं श्री हरि को प्रणाम है।

भगवान वेद व्यास का कथन है कि कलियुग में भगवान भेष बदल कर प्रच्छन्न रूप में अवतार लेते हैं। अतः महाभाव प्रतिष्ठिता राधा भाव में ही भगवान श्री कृष्णा ही अपना प्रेमास्वादन करने के लिए ही शची के गर्भ से सम्भूत हुए। इसके पूर्व शची के विश्वरूप पुत्र भी थे।

पहिले ये बहुत रोया करते थे एक दिन जब ये बहुत रो रहे थे, तब माता शची देवी ने चुप कराने की अनेक चेष्टाएँ कीं। इसके बाद भी जब ये चुप नहीं हुए तब माता ने इन्हें "हरि हरि बोल, बोल हरि बोल, मुकुन्द माधव गोविन्द बोल।" यह पद गा गाकर धीरे-धीरे हिलाने लगी। बस पद का श्रवन करना, कि ये चुप हो गये। इसके पश्चात् जब ये रोते तव माता इसी पद को गाने लगती थी, जिसे सुन कर ये चुप हो जाते थे।

निमाई हरिनाम संकीर्तन से ही परम प्रसन्न होते थे, और सुनते सुनते किलकारियाँ मारने लगते थे। इस प्रकार दिन भर शची माता के घर हरि हरि बोल...... पद की ध्वनि गूँजती रहती थी।

एक दिन शची माता ने निमाई को विश्वरूप की गोद में रखकर रसोई बनाने अन्दर आ गई। विश्वरूप निमाई को अपने बगल में बैठाकर पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हो गये। इतने में निमाई वहां से भाग निकले। छोड़ी देर में जब बालकों की कोई सुगबुगाहट न सुनने को मिली, तब शची माता विश्वरूप को पुकारते हुए बाहर आई, और सबने देखा कि ''एक किनारे पर एक काला सर्प गुड़मुड़ी मारे बैठा है और उसके ऊपर निमाई सवार हैं, उसने अपना फन ऊपर उठा रखा है।'' इस दृश्य को देखकर सभी के हृदय में एक विचित्र आन्दोलन हुआ परन्तु जैसे ही शची माता उस ओर बढ़ी कि वह जल्दी से अपने बिल में चला गया और निमाई हँसते हँसते माता की ओर चले।

एक दिन बहुत से आभूषणों को धारण किये हुए निमाई एकान्त रास्ते में खेल रहे थे। इतने में एक चोर उधर की ओर निकला। वह इन्हें अपने पीठ पर बैठा कर एकान्त स्थान की ओर जाने लगा। परन्तु निमाई के स्पर्श मात्र से ही चोर को अपने कुकृत्यों पर रह रह कर पश्चाताप होने लगा। निमाई का एक पैर कन्धे के नीचे लटक रहा था, जिसे देखकर चोर का हृदय भर गया। उसने एक बार निमाई के मुख की ओर देखा, निमाई हँस रहे थे। चोर का हृदय पानी पानी हो गया। जगदुद्धारक के रूप में निमाई का वह प्रथम कृपा पात्र रहा।

एक दिन निमाई के पिता ने एक ब्राह्मण देवता को ''अतिथि देवो भव'' के रूप में पूजकर बड़ी ही पवित्रता के साथ उन्हें भोजन बनाकर प्रसाद पाने के लिए आमन्त्रित किया। ब्राह्मण देवता द्वारा सभी भोजन सामग्री सिद्ध हो जाने पर थाली में भोजन परोसा, तुलसी दल डालकर जैसे ही आँख बन्द करके सभी पदार्थों को विष्णु भगवान को अर्पण करने लगे, इतने में निमाई वहाँ आ पहुँचे और थाली से चावल लेकर खाने लगे। आँखे खोलने पर ब्राह्मण देवता चौंक पड़े और कहा कि ''यह क्या हो गया।'' निमाई वहाँ से भागकर माता के पैरों में लिपट गये। सभी के द्वारा प्रार्थना करने पर ब्राह्मण देवता पुनः भोजन बनाने को राजी हो गये। पूर्व क्रियाओं के करने के पश्चात् जैसे ही आँख बन्द करके भगवान को अर्पण किया गया कि पुनः निमाई आकर चावल को उठाकर खा रहे थे और दाल शरीर में मल रहे थे। यह दृश्य ब्राह्मण देवता ने देखा। किसी प्रकार बात टली, निमाई माता की गोद में चुपचाप लेटे हुए थे।

विद्यालय से विश्वरूप के आने और उनके विनीत प्रार्थना से द्रवीभूत होकर पुनः ब्राह्मण देव रसोई बनाने को तैयार हुए। इस बार निमाई को रस्सी से बाँधकर माता तथा विश्वरूप ने अपने पास ही सुला लिया था, रात्रि हो गई थी। दैव की गति कि सभी को उस समय निद्रा आ गई और उसी समय ब्राह्मण देव ने ज्यों ही भगवान को भोजनार्पण किया, त्यों ही साक्षात् चतुर्भुज भगवान उनके सामने प्रकट हो गए। देखते ही देखते वे अष्टभुज में आ गये। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म विराजमान थे, एक में माखन रखा था, और दूसरी भुजा से खा

रहे थे। शेष दो भुजाओं से मुरली बजा रहे थे। भगवान ने हँसते हुए कहा ''मुझे बुलाते थे, मैं बाल रूप में तुम्हारे पास आता था, तुमने मुझे पहिचाना नहीं, मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, मुझसे अभीष्ट बर माँगो।''

ब्राह्मण देवता ने धीरे - धीरे कहा ''हे पुरुषोत्तम! आपकी अनन्त माया के सामने मैं एक छुद्र प्राणी उसे कैसे समझ सकता हूँ। हे निरञ्जन! मुझ अज्ञानी के ऊपर आपने इतनी कृपा की, जिसके लिए मैं सर्वथा अयोग्य हूँ। हे नाथ! यदि आप मुझे वरदान ही देना चाहते हैं, तो यही वरदान दीजिए कि आपकी मञ्जुल मूर्ति मेरे मन मन्दिर में सदा बनी रहे।''

''एवमस्तु'' कह कर प्रभु अर्न्यध्यान हो गए। बड़े सन्तोष और उल्लास से ब्राह्मण देव ने प्रसाद पाया। तब तक सभी जाग गये। ब्राह्मण देवता के निर्विघ्न प्रसाद पाने से सभी सन्तुष्ट थे। प्रातः काल निमाई को मन ही मन प्रणाम कर ब्राह्मण देवता चले गये। वे जब तक वहाँ आस पास में रहे, नित्य प्रति किसी न किसी समय आकर निमाई के दर्शन कर जाते थे।

श्री नरसिंहावेश -

श्रीवासपण्डित, निमाई के पिता के विश्वसनीय मित्र थे। निमाई के प्रति उनका पुत्र भाव था। उन्हीं के भक्ति भाव में, स्वाभाविक भक्ति रूचि के महानुभावों का संगठन, रात्रि को प्रतिदिन श्री हरिसंकीर्तन करता था। किवाड़े बन्द कर दिये जाते और अनर्गल विचारधारा के व्यक्तियों का संकीर्तन में प्रवेश नहीं था। संकीर्तन और सत्कर्म जैसे शुभकार्यों में स्वाभाविक द्वेष रखने वाले व्यक्तियों का समूह कीर्तन बन्द करने का पड़यन्त्र करने लगा। उनमें एक विद्वेषकर्त्ता तो यहाँ तक कहने लगा, कि मैंने आज ही सुना है कि ''राजा की ओर से दो नावें कीर्तन करने वालों को बाँध कर ले जाने के लिए आ रही हैं।''

इन अफवाहों के सुने जाने पर प्रभु के एक परिचित पण्डित महाप्रभु को समझाते हुए कहा ''तुम्हें पकड़ने के लिए राजा की तरफ से सेना आ रही है यदि ऐसी बात है तो तुम नवद्वीप छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जाओ, राजा तो हमारे धर्म का स्वयं विरोधी है उससे विरोध करना ठीक नहीं है।'' यह सब सुनकर प्रभु श्रीवास पण्डित की ओर चल पड़े।

श्रीवास पण्डित नृसिंह भगवान के उपासक थे। जिस समय में, नृसिंह भगवान का अपने घर के अन्दर बैठकर वे पूजन कर रहे थे उसी समय बाहर के किवाड़ों पर जोर-जोर से खट खट की आवाज आई। किवाड़ खोलने पर श्रीवास ने देखा कि शचीनन्दन निर्भय भाव से उनके पूजा गृह में जा रहे थे। जाते ही प्रभु पूजा के सिंहासन में विराजमान हो गये। उनके हाथों में शङ्ख, चक्र गदा और पद्म थे। गले में वैजन्ती की माला पड़ी हुई थी। एक बड़े भारी सिंह की भाँति हुँकार कर रहे थे। इस रूप को देखकर श्रीवास भयभीत हो गये।

महाप्रभु सिंह की भाँति दहाड़ते हुए कहने लगे ''तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए। भक्तों को कष्ट पहुँचाने वाला कोई भी दुष्ट हमसे बच नहीं पायेगा। तुम घबराओ नहीं शान्त चित्त से हमारी स्तुति करो।''

प्रभु के आज्ञानुसार श्रीवास ने श्रीमद् भागवत के श्लोकों से स्तुति किया और अन्त में अपने भावानुसार ''आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही शिव हैं, सृष्टि के आदि कारण आप ही है। आपकी जय हो।''

नृसिंहावेश में महाप्रभु की आज्ञानुसार श्रीवास के सम्पूर्ण परिवार सदस्यों ने पूजन किया ''तुम सब की हममें भक्ति हो'' ऐसा आशीर्वाद दिया और क्रोधावेश में कहने लगे ''सभी जीवों से कृष्ण संकीर्तन कराकर हम संकीर्तन के महत्व को प्रकाशित करेंगे और यवनों से भी कृष्ण कृष्ण बुलवायेंगे। तुम निर्भय हो जाओ।''

इतना कहकर प्रभु ने श्रीवास की भतीजी नारायणी को अपने पास बुलाया और कहा ''बेटी! नारायणी तुम कृष्ण प्रेम में उन्मत्त हो कर रूदन तो करो।'' इतना सुनना था कि चार वर्ष की बालिका श्रीकृष्ण प्रेम में मूर्छित होकर गिर पड़ी और जोरों से ''हा कृष्ण, हा कृष्ण।'' कहकर रूदन करने लगी। इस प्रकार रूदन को सुनकर सभी उपस्थित नर नारी आश्चर्य सागर में गोते लगाने लगे।

अन्त में हँसते हँसते प्रभु ने कहा ''इसी प्रकार हम सबसे कृष्ण कीर्तन करायेंगे।'' ऐसा श्रीवास को आश्वासन देकर प्रभु मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और बहुत देर के अनन्तर होश में आये और इधर उधर देखने लगे और बोले – ''पण्डित जी, मैं यहाँ कैसे आ गया, मैंने यहाँ कोई चपलता तो नहीं कर डाली मुझे कुछ भी मालूम नहीं कि मैं यहाँ कैसे आया और मैंने क्या-क्या किया ? और क्या-क्या कहा?''

तब श्रीवास पण्डित ने कहा, ''अब तो मुझे आपका सत् स्वरूप मालूम पड़ गया है, आप के श्री चरणों में मेरा इसी प्रकार अनुराग बना रहे ऐसा आशीर्वाद दीजिए।'' श्रीवास के ऐसा कहने पर प्रभु मन ही मन प्रसन्न हुए और लजाते हुए से अपने घर की ओर चल दिए।

श्रीवाराहावेश -

मुरारीगुप्त वाराह भगवान के उपासक थे। गुप्त जी के स्तोत्रपाठ सुनकर प्रभु को वराह का आवेश हो गया। शूकर शूकर चिल्लाते हुए उन्होंने अपनी दाढ़ों से रास्ते में रखे एक जलपूर्ण कलश को उठाकर दूसरी ओर फेंक दिया।

एक दिन संकीर्तन करते करते बीच में प्रभु ने कहा ''नादिया में अब एक महापुरुष आने वाले हैं। जिनके द्वारा नवद्वीप के कोने कोने में, घर घर में श्रीकृष्ण संकीर्तन का प्रचार होगा।'' एक दिन संकीर्तन के पश्चात् प्रभु ने कहा – ''मेरे अग्रज, मेरे सखा महापुरुष अवधूत वेष में नवद्वीप आ गये हैं।'' प्रभु की आज्ञा पर उन्हें खोजने के लिए भक्तगण वहाँ से चले पड़े।

अवधूत नित्यानन्द

नरनारायण सरिस सुभ्राता। जगपालक विशेषी जनत्राता॥

(निताई-निमाई)

नित्यानन्द (निताई) का जन्म राढ़देश के वीरभूमि जिले के एक चाका ग्राम में हुआ था। इनके पिता हाडाई ओझा और माता पद्मावती थीं। दम्पति भागवत और सद्वैष्णव थे। एक दिन एक सन्यासी महाराज ने ओझा दम्पति से उनके प्राणों से भी अधिक प्रिय उनके ज्येष्ठ पुत्र नित्यानन्द को उसके कल्याणार्थ ही याचना की। विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण की याचना पर राजा दशरथ की तरह मन:स्थिति हाडाई की हुई और उन्होंने भी सन्यासी शाप डर से धर्मनिष्ट नित्यानन्द और पद्मावती के सहमति पश्चात् उन्हें सन्यासी महाराज को समर्पित कर दिया। तीर्थ यात्रा भ्रमण में नित्यानन्द का श्रीमन्माघवेन्द्रपुरी से साक्षात्कार हुआ, उनके द्वारा श्रीकृष्ण-भक्ति प्राप्त कर ये प्रेम विह्वल हो गये और ब्रज में आ गये। सन्यासी महाराज का साथ छूट चुका था। बृज में ही इन्हें पता चला कि 'नवद्वीप में गौरचन्द्र (निमाई) के उदय होने पर वे अपने श्री कृष्णा संकीर्तन रूपी अमृत से सभी को शीतलता प्रदानकर रहे हैं।' यह सुनते ही ये सीधे प्रयाग काशी होते हुए नवद्वीप पहुँच गये और नन्दनाचार्य के घर ठहर गये, जिन्हें अपनी दिव्यदृष्टि से गौराङ्ग ने पहिले ही देख लिया था।

जब सभी भक्तजन श्री नित्यानन्द को तलाश नहीं सके, और वापस प्रभु चरणों में आ गये, तब प्रभु मुस्कराये और सबकी ओर देखते हुए बोले ''हम सभी मिलकर उन्हें ढूढ़ने चलें।'' और महाप्रभु भी उसी समय उठकर चल दिये। उनके पीछे अन्य भक्तगण भी थे। वे सीधे पण्डित नन्दनाचार्य के घर पहुँचे और देखा कि एक दिव्य कान्तियुक्त महापुरुष अपने अमित तेज से आलोकित पद्मासन में विराजमान है।

गौराङ्ग व उनकी भक्तमण्डली ने अवधूत नित्यानन्द की चरण वन्दना की और एक ओर चुपचाप बैठ गये। किसी ने किसी से कुछ बात नहीं की। नित्यानन्द अनिमेष दृष्टि से गौराङ्ग के मुखचन्द्र की ओर देख रहे थे, भक्तों ने देखा कि अवधूत नित्यानन्द के पलकों का गिरना बन्द हो गया। भक्तगण भी मन्त्रमुग्ध की भाँति ही अवधूत नित्यानन्द जी को निहार रहे थे। गौराङ्ग प्रभु नित्यानन्द की महिमा प्रकट करने लिए श्रीवासपण्डित को कोई स्तुति श्लोक सुनाने को कहा।

प्रभु के मनोभावों के अनुकूल ही श्रीवास ने श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय का पाँचवा श्लोक सुनाया जिसे सुनकर पूर्वकाल में अवधूत शिरोमणि शुकदेव श्लोक वक्ता के पास खिचें चले आये थे। श्लोक श्री नित्यानन्द के कर्णपुटों से हृदय में प्रवेश करते ही वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और पुनः सुनने पर जोर जोर हुँकार करने लगे। अविरल सभी के रोम खड़े थे। पसीने से शरीर भीग गया और प्रेम के उन्माद में वे नृत्य करने लगे। गौराङ्ग प्रभु ने नित्यानन्द को गले से लगाया। वे दोनों एक दूसरे का आलिङ्गन करने लगे। नित्यानन्द 'हा कृष्ण हा कृष्ण' कहकर रुदन कर रहे थे और हुँकार भी करते जाते थे। भक्तगण उनकी हुँकार सुनकर थर-थर काँपने लगे। इसी बीच नित्यानन्द बेहोश होकर गौराङ्ग प्रभु की गोद में गिर पड़े। उनके कर स्पर्श से नित्यानन्द को परमानन्द की प्रतीत हुई। पुनः प्रकृतिस्थ होने पर गौराङ्ग प्रभु कहने लगे, "आप जैसे अवधूतों के दर्शन हम जैसे संसारी पुरुषों को हो ही कैसे कहते हैं ? हम कृतकृत्य हुए जो अपनी अहैतुकी कृपा से हमें दर्शन देने आ गये।"

गौराङ्गदेव की प्रेममयी वाणी सुनकर श्री नित्यानन्द ने कहा "हमने श्रीकृष्ण दर्शन के निमित्त, देशभर की यात्रा की परन्तु मुख्य मुख्य पुण्य स्थानों के बड़े बड़े देवालयों में उनके सिंहासनों को हमने खाली पाया। भक्तों से जब पूछा कि इन स्थानों के भगवान कहाँ चले गये ?" तब उन बहुतों में से एक भक्त ने मुझसे कहा "भगवान नवद्वीप में प्रकट होकर श्रीकृष्ण संकीर्तन कर रहे हैं। तुम वहीं जाओ तुम्हें शान्ति की प्राप्ति होगी।" मैं नवद्वीप आ गया और उन्होंने स्वयं मुझको दर्शन दिए। अपनी शरण में मुझे लेने की बात वे जानें।

गौराङ्ग प्रभु उन्हें उठाते हुए नम्रता से बोले, "आपके शरीर में सभी ईश्वरत्व के चिन्ह प्रकट होते हैं, मुझे भुलावें के लिए आप मेरी स्तुति कर रहे हैं। हम साधारण जीव आपकी कृपा के भिखारी हैं।"

नन्दनाचार्य का घर प्रेम का सागर बना हुआ था, जिसमें प्रेम की लहरें हिलोरें मार रहीं थीं। हृदय को पिघलाने वाली ध्वनियों से उनका घर गूँज रहा था। पुण्यात्मा ही ऐसे पुण्य स्थलों के दर्शनाधिकारी होते हैं।

●○●○●

10. आचार्य अद्वैत (अद्वैताचार्य)

आचार्य अद्वैत वैष्णव धर्मानुरागी थे और गीता के निम्न श्लोकार्थ के गुणों से विभूषित थे।

सन्तुष्टः सततम् योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः

इनके पिता न्याय के मूर्धन्य विद्वान थे और अन्यत्र से आकर नवद्वीप के शान्तिपुर में आकर रहने लगे थे। यहीं पर कमलाक्ष (अद्वैताचार्य) का जन्म हुआ। ये इतने निर्भीक थे कि राजा दिव्यसिंह और अपने पिता के सामने ही कालीमाई के मन्दिर में जहाँ बकरे और भैंसों की बलि चढ़ती थी, रोष के साथ कड़ककर कहे थे "देवी तो जगज्जननी है, जो माता अपने पुत्रों को खाती है, वह राक्षसी है। एक सच्चिदानन्द भगवान ही पूजनीय और वन्दनीय है, उनको प्रणाम करने से सबको प्रणाम हो जाता है।"

पिता के परलोकवासी होने के बाद इन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी, जिसमें सामयिक विषयों के अतिरिक्त भक्तिमार्ग की भी शिक्षा दी जाती थी।

अद्वैताचार्य गौरधर्म के मूल स्तम्भ हैं। चिरकाल से आचार्य ने गंगाजल और तुलसी से भक्तमय भञ्जन भगवान का पूजन अर्चन इस निमित्त से किया था, कि भगवान विश्वम्भर के रूप में प्रकट होकर भक्तों के भय को दूर करें। चिरकाल से चली आ रही आचार्य की यह साधना गौरहरि को देखकर फलित हुई कि आभाषित होने लगी। इस प्रकार ये गौर लीलाओं के प्रवर्तक और संयोजक समझे जाते हैं। गौरलीला के लिए अनुकूल रंगमञ्च तैयार करके गौराङ्ग को प्रधान अभिनय कर्त्ता बनाकर इन्होंने भाँति भाँति की लीलायें कराई।

शान्तिपुर में रहकर ही भक्ति भाव की बातें सुनकर आनन्द में विभोर हो कर नृत्य करने लगते। परन्तु नवद्वीप नहीं जाते थे। इधर भावावेश में गौराङ्ग प्रभु चिल्ला उठते कि "हमें बुला कर वह शान्तिपुर में जा छिपा।" प्रभु ने स्वयं बताया कि "उन्हीं की प्रार्थना पर हम जगदुद्धारक के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।"

प्रभु ने एक दिन श्रीवास के छोटे भाई राम को अद्वैताचार्य को बुलाने के लिए भेजा। प्रेमावेश में आचार्य, पत्नी सीतादेवी और पुत्र तीनों आकर नन्दनाचार्य के यहाँ ठहर गये। श्रीवास के अनुज अपने घर चले गये।

शाम के समय सभी भक्तजन श्रीवास के घर इकट्ठा होने लगे। आज प्रभु भावावेश में जल्दी से भगवान के आसन पर विराजमान हो गये और कहनें लगे हमारी परीक्षा के लिए वह अब भी शान्तिपुर से आकर नन्दनाचार्य के घर छिपा बैठा है। उसी समय राम पण्डित नन्दनाचार्य के

घर जाकर प्रभु की सभी बातें बता दीं। सब वृतान्त सुनकर आचार्य चकित से हो गये और गिरते पड़ते श्रीवास के घर जहाँ प्रभु विराजमान थे, आये। गृहप्रवेश पर ही अद्वैताचार्य को लगा जैसे कोटि सूर्य के सदृश का प्रकाश उस घर में विराजमान है, प्रभु की तेजोमयी मूर्ति के स्पष्ट दर्शन नहीं हो सके। वे असह्य तेज को न सहन कर सके, आँखों के सामने चकाचौंध की स्थिति हो गई और वे मूर्छित होकर वहीं पर गिर पड़े। देहरी तक भी न जा सके, भक्तों ने आचार्य को उठाकर प्रभु के सम्मुख किया। बेहोशी स्थिति में लम्बी साँस खींचकर जोरों से वे रूदन करने लगे। सभी भक्त मण्डली आनन्द सागर में गोते खाने लगी।

थोड़ी देर के बाद प्रभु ने कहा - ''आचार्य! उठो, अब देर करने का क्या काम है, तुम्हारी मन:कामना पूरी हुई। चिरकाल की अभिलाषा के सफल होने का समय अब नजदीक है अब उठकर हमारी पूजा करो।'' भक्तों के शिरोमणि महामान्य वयोवृद्ध आज तेइस वर्ष के युवक के आदेश को अपना सर्वोत्कृष्ट सौभाग्य मानकर पूजा करने को तैयार हो गये। पर यही तो भगवत्ता है, जिसके सामने सभी प्राणी छोटे हैं। उन्होंने विधिवत पद प्रलाक्षन, पाद्य, अर्घ्य देकर सुगन्धित चन्दन का लेपन किया। अन्त में ताम्बूल देकर स्त्रोतों से स्तुति करने लगे। पुनः वे मूर्च्छित हो गये। इसी बीच अद्वैताचार्य की पत्नी ने भी प्रभु की पूजा की। प्रभु ने दोनों के मस्तकों पर अपने श्री चरण रखे थे।

प्रभु के आदेश से आचार्य संकीर्तन करने लगे। आज के संकीर्तन में सभी प्रेम में इतने मतवाले हो रहे थे कि कहीं पैर रखते थे और कहीं पैर पड़ते थे। धीरे-धीरे अद्वैताचार्य के शरीर में सभी सात्विक भावों का उदय होने लगा। अपूर्व आनन्द आया। सभी ने यह अनुभव किया, कि आज का संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ रहा। क्योंकि प्रेम के मतवाले तीन महापुरुषों - निताई, निमाई और अद्वैत के कारण अद्वितीय और अलौकिक आनन्द आना ही चाहिए था।

इस प्रकार अद्वैताचार्य कि चिराभिलषित भावना पल्लवित, पुष्पित और फलित होने लगी। नवद्वीप प्रेमार्णव में, सभी प्रेम के तत्वों का समावेष होने लगा।

इसके अनन्तर भी अद्वैताचार्य की बुद्धि इस संशय में थी कि गौराङ्ग देव हमारे इष्टदेव हैं, या और कोई! ठीक भी है -

यथा -

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोय।
सगुन अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय।।

फिर भी उनका मन स्वत: ही गौराङ्ग देव की ओर आकर्षित हो गया था, उन्हें महाप्रभु की स्तुति मात्र से परमानन्द प्रतीत होता था। इसलिए संशय बुद्धि से वे एक दिन नवद्वीप पधारे। उस दिन प्रभु श्रीवास पण्डित के यहाँ श्रीकृष्ण-कथा कह रहे थे। यथोचित श्रद्धाभक्ति के साथ सबको समादर करते हुए अद्वैताचार्य भक्त मण्डली के साथ बैठ गये।

थोड़ी देर पश्चात् श्रीवास कहने लगे ''प्रभो! आचार्य अत्यन्त दु:खी है, उनका कथन है, कि नित्यानन्द के ऊपर कृपा कर के तो प्रभु ने उन्हें असली रूप के दर्शन करा दिये, परन्तु न जाने क्यों हमारे ऊपर कृपा नहीं करते ?'' प्रेमरस में पगी अनेक वार्ताओं के अनन्तर प्रभु ने कहा ''यदि आचार्य श्यामसुन्दर के ही दर्शन करना चाहते हैं तो आँखें बन्द करके ध्यान करें, तो बहुत सम्भव है कि श्यामसुन्दर की मनोहर मूर्ति के दर्शन कर सके।''

तब अद्वैताचार्य ने कुछ सन्देहात्मक स्थिति में अपनी आँखें बन्द कर लीं। भक्तों ने देखा आचार्य मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर पूरा गिर पड़े। चेतना शून्य स्थिति में श्रीवास ने उनके नासिकाछिद्रों पर हाथ रखा तो देखा कि उनकी साँस भी नहीं चल रही है। निष्प्राण जैसे शरीर में भी चेहरे की कान्ति में अपूर्व तेज था। शरीर रोमाञ्चित था। भक्त मण्डली की घबड़ाहट देख कर प्रभु ने कहा - ''आप लोग भय न करें, मालूम होता है, कि आचार्य को हृदय में अपने इष्टदेव के दर्शन हो गये।'' तब श्रीवास पण्डित कहने लगे कि आचार्य सौभाग्यशाली है जो इच्छा करते ही उन्हें आपके श्याम सुन्दर स्वरूप के दर्शन हो गये।

श्री आचार्य के चैतन्य होने पर, जब श्रीवास पण्डित ने पूछा - आचार्य क्या देखा ? तब गद्गद् कण्ठ से आचार्य कहने लगे - ''ओ हो - मैंने प्रयत्क्ष देखा स्वयं गौर ही श्यामसुन्दर वनवारी पीतपटधारी मुरली मनोहर मेरे सामने प्रगट हुए। गौर ने ही ऐसा रूप धारण कर मन्द-मन्द मुस्कान से मुझे बेसुध सा बना दिया। मैं उस रूप माधुरी के पान करने में अपने आप को ही खो बैठा। यह कहते कहते आचार्य प्रेम बरबस रुदन करने लगे। आँखों की कोरो से ठण्डे आंसुओं की दो धारायें सी बह रही थीं।

आचार्य अधीर हो कर प्रभु गौराङ्गदेव के श्री चरणों में गिर पड़े। और कहने लगे ''अब तो आपके श्रीचरणों में विश्वास हो जाए ऐसा ही आशीर्वाद दीजिए।'' प्रभु ने आचार्य को उठाकर गले से लगाया और कहा ''आप परम भागवत है, आपकी निष्ठा बहुत ऊँची है, जिसका ही प्रत्यक्ष फल है कि नेत्र बन्द करते ही आपको भगवान के दर्शन होने लगे।''

वे ही आचार्य गौराङ्ग महाप्रभु के प्रथम पार्षद स्वरूप में गिने जाते हैं।

●○●○●

11. यवन भक्त हरिदास

मुसलमान वंश में उत्पन्न होने पर भी भगवन्नाम में निष्ठा थी। चौबीस घन्टे में एक बार खाकर महामन्त्र – ''हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'' का तीन लाख का जाप करते थे। निर्जन वन में कुटी बनाकर रहते थे। इनके यश सौरभ को धूल में मिलाने और मुसलमान होने पर वैष्णव धर्म का आचरण यह तत्कालीन जमींदार रामचन्द्रखान को अच्छा न लगा और उसने हरिदास को पतित करने के लिए एक अति सुन्दर षौडशवर्षीय वेश्या को रात्रि के समय इनके भजन को भंग करने के लिए भेजा। चार दिन लगातार आने पर और श्री हरिदास का लगातार दर्शन पाकर वह कृतार्थ हो गई और कहने लगी ''सचमुच में आप पतित पावन हैं। अब मैं आपके चरणों की शरण हूँ।'' उसने हरिदास के आदेशानुसार अपना सर्वस्व दान करके अकिञ्चनों सा भेष धारण लिया। थोड़े समय में उसके भक्ति की ख्याति दूर दूर तक फैल गई। हरिदास की कुटिया में ही वह भजन करती थी। वे अव शान्तिपुर के समीप फुलिया में एक कुटिया बनाकर रहने लगे। वहाँ एक महा भयंकर विषधर सर्प रहता था। आगन्तुक भक्तों द्वारा सर्प के सम्बन्ध में कुछ कहने पर हरिदास ने कहा या तो कल सर्पराज ही जायेंगे या मैं ही इस स्थान को छोड़ दूँगा। दूसरे दिन सायंकाल अंधेरे में भी प्रकाश मालूम पड़ा ? कुछ देर में सबके देखते देखते सर्पराज सिर में मणिधारण किए गंगा जी की ओर चले गये।

अद्वैताचार्य की सन्निधि में रहते हुए एक दिन किसी ब्राह्मण के घर श्राद्ध में प्रथम वृद्धान्न हरिदास को दिए जाने पर आचार्य के ऊपर पण्डित ब्राह्मण कुपित होकर कुछ बुरा भला कहने लगे। तब आचार्य श्री ने निर्भयता से गरज कर कहा ''हरिदास को भोजन कराने से मैं करोड़ों ब्राह्मणों के भोजन कराने का महात्म समझता हूँ।''

वही हरिदास, प्रभु के प्रधान कृपा पात्रों में गिने जाने लगे। इन्होंने अपना सर्वस्व प्रभु के पाद पद्मों में समर्पित कर दिया था। प्रभु भी इन्हें बहुत चाहते थे। श्रीवास के घर में संकीर्तन में ये रात्रि भर नृत्य करते थे और बेसुध होकर गिर पड़ते थे।

अन्त में जब गौराङ्ग की लीलास्थली नीलांचल में विनिर्मित हुई, तब वहाँ जाकर हरिदास भी एकान्त स्थान में अपना निवास बनाया। प्रभु समुद्र स्नान करके दिन में एक बार हरिदास से अवश्य मिलते थे।

अन्त समय में जब प्रभु हरिदास से मिलने आये, तब हरिदास ने कहा – ''मुझे आप के श्री चरणों में एक निवेदन करना है।'' प्रभु को सुनने का उत्सुक देखकर कहने लगे ''प्रभो! आपके लक्षणों से यह प्रतीत होता है कि आप अब लीला संवरण करना चाहते हैं। यह दुःखप्रद दृश्य

मुझे अपनी आँखों से न देखना पड़े। मेरा हृदय फट जायेगा। हृदय फटकर मैं मृत्यु नहीं चाहता। आपके चारु चरित्रों का चिन्तन करते करते आपके सामने मैं शरीर का त्याग करूँ। यह साध और उत्कृष्ट अभिलाषा है। आप समर्थ है इस भिक्षा को आप अवश्य दे दें।''

एक दिन जब प्रभु नित्य की तरह हरिदास के आश्रम में पहुँचे तो पृथ्वी पर पड़े धीरे-धीरे वे महामन्त्र का जप कर रहे थे। आये हुए नीलांचल के सभी भक्त उन्हें घेर कर बैठ गये। हरिदास पिपासु की तरह प्रभु की मकरन्द माधुरी का पान कर रहे थे। उनके पलक गिरते नहीं थे। श्रीकृष्ण चैतन्य नामों का उच्चारण करते करते हुए उनके प्राण पखेरु उनके कलेवर को छोड़कर चले गये। आँखें खुली रह गई। भक्तों का कीर्तन चल ही रहा था। प्रभु हरिदास के प्राणहीन शरीर को लेकर नृत्य कर रहे थे। विमान सजाकर, वाद्य कीर्तन के साथ उनके गुणों का बखान करते हुए महाप्रभु गद्‌गद् कण्ठ से कहने लगे। ''समुद्र आज से पवित्र हो ग़या।'' यह कहकर उन्होंने हरिदास का पादोदक पान किया, और अपने को कृतकृत्य माना। एक गड्ढा खोदकर हरिदास को समाधिस्थ किया गया। बाद में समाधि पर एक चबूतरा बनाया गया। हरिदास का विजयोत्सव मनाने के लिए प्रभु रो रो कर अपना आञ्चल पसार कर भिक्षा माँगने लगे।

●○●○●

12. गौराङ्गदेव में भगवद्भाव महाप्रसाद

गौराङ्गदेव यद्यपि सदा अमानी भगवत्-भक्त भाव में रहते थे, परन्तु कभी-कभी उनके शरीर में भगवत्-भाव प्रकट भी हो जाया करता था। उस समय उनकी सभी चेष्टायें भगवत्मय हो जाया करती थीं। यद्यपि अभी तक ऐसे भावों का जब उदेक हुआ था, तो कुछ समय बाद ही भगवत् भाव शमन हो जाता था। परन्तु एक बार प्रभु सात पहर तक उसी भाव में ही बने रहे। यद्यपि उस समयान्तर में बहुत से भक्त थे परन्तु उनमें कुछ अपने आँखों देखा हाल चैतन्य चरित्र में लिखा है।

भक्तों को उस दिन प्रभु का सम्पूर्ण शरीर ही देवोमय दिखलाई पड़ने लगा, उनकी ओर किसी को देखने का साहस नहीं था। एक दम चारों ओर विमल धवन की किरणें छिटक रही थीं और उनका चेहरा दैदीप्यमान हो रहा था।

प्रभु ने गम्भीर भाव से कहा "आज हम तुम लोगों की मनोकामना पूर्ण करेंगे।" चैतन्यदेव की माता शचीदेवी भी बुलाई गई। अद्वैताचार्य के कहने पर जैसे माता ने आगे बढ़कर प्रभु को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और गद्गद् कण्ठ से प्रार्थना करने लगी "भगवन्! मैं अल्पज्ञ स्त्री तुम्हारे विषय में कुछ नहीं जानती कि तुम कौन हो।" प्रभु ने उनके मस्तक पर अपने चरण रख दिये और कहा "जाओ वैष्णव अपराध क्षमा हुए और तुम्हारे ऊपर पूर्ण कृपा हुई।"

पुनः मुरारी गुप्त की जब बारी आई तब उनको प्रभु ने कहा "हनुमान से समान तुम्हारा भाव और विग्रह है, तुम साक्षात् हनुमान ही हो, अपने स्वरूप का चिन्तन करो।" जैसे ही मुरारी गुप्त ने गौराङ्गदेव के कथनानुसार अपने को हनुमान रूप में माना वैसे ही उन्हें भगवत् भाव पूरित गौराङ्गदेव में सीताराम के दर्शन होने लगे।

इस प्रकार सभी भक्तों को अपनी अपनी भावनानुसार श्यामवर्ण - मुरलीमनोहर, सीताराम, राधाकृष्ण, देवी देवता तथा अन्य भगवत् स्वरूपों के दर्शन प्रभु के शरीर में ही हुए ?

●○●○●

13. सन्त स्वभाव की अनुपम झाँकी : निताई - निमाई (जगाई और मधाई)

भगवान तो अवतार तब धारण करते हैं जब पृथ्वी पर बहुत से क्रूर धर्म करने वालों का समूह हो जाता है। क्रूर कर्मा पुरुष, अपनी क्रूरता में कभी पीछे नहीं हट सकते और सन्त महात्मा अपने परमार्थ और परोपकार के धर्म को छोड़ नहीं सकते और अन्त में **''यतो धर्मस्ततो जय:''** की स्थिति सृजित होकर जनमानस में धर्म पर विश्वास कराती है।

महाप्रभु के अभ्युदय काल में गौङदेश के अधीश्वर की ओर से नवद्वीप मण्डल के जगन्नाथ (जगाई) और माधव (मधाई) दो ब्रह्म राक्षस प्रजा का संहार करने के लिए कोतवाल बनाये गये थे। कोतवाल तो नाम के थे, ये एक छत्र सम्राट ही थे। **''राक्षसा: कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्म योनिषु''** या कलियुग में राक्षस लोग ही ब्राह्मण के घर उत्पन्न होगें। अत्याचार, अनाचार, आततायी बनकर अपने आतंकी स्वभाव के कारण ही गौड़ राजा ने इन्हें अपने क्षेत्र में दबदबा बनाकर लोक अप्रिय कार्य करने के लिए पूरी छूट दे रखी थी। जिस मोहल्ला में डेरा डाल देते थे। उस मोहल्ला के लोगों के प्राण सूख जाते थे।

एक दिन ये दोनों मदिरा मद में उन्मत कहीं जा रहे थे कि नित्यानन्द और हरिदास ने उनको देखा। लोगों से पूछने पर उनके विषय में जानकारी प्राप्त किया और लोगों ने उनके पास न जाने की इन दोनों को हिदायत भी दिया।

परन्तु नित्यानन्द सोचने लगे कि यदि ऐसे नराधम, पाप छोड़कर भगवान्नाम का आश्रय लेकर प्रभु की शरण में आ जाय तो यह असली भगवन्नाम महात्म का स्वरूप होगा।

सन्त स्वभाव बस नित्यानन्द सिहर उठे, और उन दोनों का उद्धार करने के लिए दृढ़ संकल्पित हो गये। हरिदास जी ने नित्यानन्द के संकल्प सुनने पर रोका, परन्तु महात्मा नित्यानन्द की दृढ़ वाणी ने हरिदास को भी उनका अनुगामी बना दिया।

दृढ़ निश्चय के अनुसार षोढ़स अक्षर मन्त्र का गायन करते हुए सन्त द्वै उनके डेरे के सामने से गुजरे। दोनों सुरामद में चूर पलंगों में बैठे थे। उसी स्थिति में गायन करते देखकर दोनों मदान्धों ने उनसे पूछा ''तुम लोग कौन हो? और क्या चाहते हो?''

इसके अनन्तर, उत्तर में नित्यानन्द ने कहा ''हम भिक्षुक है आपसे भिक्षा मांगने आये हैं। आप अपने मुख से 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारी। हे नाथ नारायण वासुदेव॥' नामों का उच्चारण करिये। यही हम लोगों की भिक्षा है।''

तब उन दोनों क्रूरों ने इन दोनों को पकड़ने का उपक्रम करते हुए झपटे। हरिदास और नित्यानन्द दोनों भागने लगे और गौराङ्ग प्रभु के पास पहुँचे और सभी घटना से अवगत कराया। प्रभु ने हँसकर कहा ''वे महाभागवत पुरुष कौन हैं? जिन्हें श्रीपाद को उनके उद्धार की चिन्ता है।'' तब गंगादास और श्रीवास ने उन ब्राह्मण कुल कलङ्क क्रूर स्वभाव के दोनों व्यक्तियों की क्रूरताओं का वर्णन किया। तब प्रभु ने दृढ़ता के साथ कहा ''श्रीपाद (नित्यानन्द) जिसे चाहे उसे भक्त बना सकते हैं चाहे वह कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो।''

एक दिन रात्रि के समय नित्यानन्द जानबूझकर इन्हीं दोनों भाइयों के डेरों के सामने से ही गुजर रहे थे कि मधाई ने पूछा ''कौन जा रहा है ?'' विनोद के साथ नित्यानन्द ने कहा ''हमारा नाम है अवधूत, प्रभु के यहाँ संकीर्तन में जा रहा हूँ।'' अवधूत का नाम सुनते ही, क्यों रे बदमाश! कहते हुए मधाई एक घड़े के बड़े टुकड़े को नित्यानन्द के सिर में जोर से मारा। सिर में जोर का प्रहार होने पर एक टुकड़ा टूटकर नित्यानन्द के सिर में गड़ गया, रक्त की धारा बहने लगी, सभी वस्त्र रक्त रंजित हो गये। पर नित्यानन्द को क्रोध नहीं आया, वे आनन्द के साथ भगवन्नाम लेकर नृत्य करने लगे और उसके ऊपर दया दर्शाते हुए प्रभु प्रार्थना करने लगे - ''हे दयालु प्रभु इन ब्राह्मण कुमारों की रक्षा करो। इनकी सोचनीय दशा से मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है।'' मधाई चिढ़कर दूसरी बार प्रहार करने को उद्यत हुआ कि जगाई ने उसे रोक दिया।

लोगों ने जल्दी गौराङ्ग महाप्रभु को यह संवाद सुनाया। प्रभु कीर्तन भक्त मण्डली के साथ वहाँ पहुँचे। प्रभु ने रक्त से लथपथ प्रेम से उन्मत्त नित्यानन्द को आनन्द से नृत्य करते देखा। मस्तक से खून टपटप चूँ रहा था। जिससे वहाँ की भूमि गीली हो गई थी। नित्यानन्द की यह दशा देखकर प्रभु अपनी सब प्रतिज्ञायें भूलते हुए आकाश की ओर देखा और हुँकार मारते हुए ''चक्र-चक्र'' इस प्रकार कहने लगे। दोनों को यह प्रतीत होने लगा, कि सुदर्शन चक्र उनके संहार के लिए नीचे उतर रहा है, उसके दर्शन से वे बहुत अधिक भयभीत हो गये और थर थर काँपने लगे। दोनों भाइयों की मनोगत दशा देखकर नित्यानन्द प्रभु से आकाश में ही चक्र के रुके रहने की प्रार्थना करते हुए कहने लगे ''प्रभो आप ही इस युग में पापियों को दण्ड देंगे तो फिर यह पापियों का उद्धार कहाँ हुआ ? यह तो संहार ही हुआ। सामने खड़े इन दोनों महापातकियों का उद्धार करके आप अपने पतितपावन नाम को सार्थक क्यों नहीं करते? दण्ड यदि देना है तो मधाई मात्र को दीजिए, जगाई तो मेरी रक्षा करने वाला है।'' यह सुनते ही प्रभु जगाई के ऊपर प्रसन्न होकर अपना प्रेमालिङ्गन दान किया। वह प्रेमालिङ्गन पाते ही मूर्च्छित हो गया और प्रभु के चरणों में लोटने लगा। उसके पापक्षय हो गये और आंसुओं के रूप में पश्चाताप की आँच से पिघल पिघल कर धरती पर गिरने लगे वह प्रभु चरणों में फूट फूट कर रोने लगा।

जगाई की यह स्थिति देखकर मधाई भी गद्‌गद् कण्ठ से कहने लगा "प्रभो! हम दोनों ही लोकनिन्दित पातकी हैं, एक भाई को आपने अपने चरणों की शरण दी है, हम दोनों को ही अपनाइये, हम दोनों की रक्षा कीजिए।" यह कहते कहते मधाई भी प्रभु के चरणों में लोटने लगा। दोनों का शरीर धूल और कीचड़ में सना हुआ था। मधाई के प्रति प्रभु का क्रोध शान्त नहीं हुआ था, उन्होंने कहा "मधाई! यदि श्रीपाद नित्यानन्द तुम्हें क्षमा करदे तव तो तुम मेरे प्रिय हो सकते हो। जाओ नित्यानन्द की शरण लो।" अब मधाई प्रभु के चरणों को छोड़ नित्यानन्द के चरण में लोटने लगा और फूट फूट कर रोने लगा। चारों दिशाओं में सन्नाटा छा गया। प्रभु ने तब नित्यानन्द को कहा "श्रीपाद! आप के अपराधी को क्षमा करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं हैं, आप ही इसे क्षमा कर सकते है।" तब नित्यानन्द जी ने प्रभु को सम्बोधित करते हुए कहा "प्रभो! यह तो सदा से आप की रीति रही है कि आप अपने सेवक के सिर पर श्रेय का सेहरा बाँधते आये हैं पर सभी जानते हैं कि पतित पावन गौर में ही ऐसे पतितों के उबारने की सामर्थ्य है।" अन्त में सबके सामने सन्त नित्यानन्द कहने लगे, "यदि जन्म जन्मान्तरों में कोई भी सुकृत मैंने किया हो तो उन सबका पुण्य मैं इन दोनों भाइयों को प्रदान करता हूँ।" इतना सुनते ही प्रभु दौड़कर मधाई को अंक में उठाकर जोरों से आलिङ्गन किया और कहने लगे "मधाई, अब तुम मेरे अत्यन्त ही प्रिय हो गये, अपने सभी पुण्य प्रदान करके श्रीपाद ने तुम्हें परम भागवत वैष्णव बना दिया। तुम आज से मेरे अन्तरङ्ग भक्त हुए।" मधाई उसी क्षण प्रभु के पादपद्मों में गिर कर मूर्च्छित हो गया था। सभी नर नारी मन्त्र मुग्ध की भाँति पतितोद्धार के इस दृश्य को देख रहे रहे थे। उसी समय प्रभु ने दोनों भाइयों को उठाया और संकीर्तन करने की आज्ञा दी। वे दोनों भाई भी सभी भक्तों के साथ "**हरे राम हरे राम .... कृष्ण कृष्ण हरे हरे**" इस महामन्त्र का कीर्तन करते हुए प्रेम में पागल बने हुए प्रभु के घर पहुँचे।

दोनों भाई, प्रभु की भक्त मण्डली के साथ अपने सिर नीचा किये हुए बैठे थे। दोनों, प्रभु और नित्यानन्द की कृपा के बोझ से दबे जा रहे थे। उन्हें अपने शरीर का होश नहीं था।

जब दोनों भाईयों ने कहा "प्रभो! हमें अपने पापों का फल भोगने दीजिए। हम आपकी इस अहैतुकी कृपा को सहन न कर सकेंगे, हे नाथ हमारा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है।"

प्रभु ने दोनों भाइयों को सभी भक्त के चरण वन्दना करने को कहा, तब दोनों भाईयों ने सभी भक्तों के चरणों को अपने आँसुओं से भिगोते हुए चरण वन्दना करने लगे। भक्तों ने हृदय से उन्हें परम भागवत होने का आशीर्वाद दिया। अब प्रभु ने उनकी शान्ति के लिए दूसरा उपाय किया। चाँदनी रात्रि में दोनों भाइयों को साथ लेकर भक्तों सहित कीर्तन करते हुए गङ्गाजी के

तट पर गए। प्रभु ने कीर्तन बन्द करने की आज्ञा दी, और दोनों भाईयों को लेकर गङ्गाजी के जल में प्रवेश किया। बीच धारा में पहुँचकर प्रभु ने दोनों के हाथों में गङ्गाजल लेने को कहा, और अत्यन्त दयार्द्र होकर कहा "आज तक दोनों भाइयों ने जितने पाप किये हो इस जन्म या पिछले जन्मों में उन सभी को मुझे दान कर दो।" तब दोनों भाइयों ने कहा "प्रभो! हमारा हृदय फट जायेगा। हम आपकी इतनी कृपा को सहन नहीं कर सकते। संसार हमें धिक्कारेगा। प्रभो! हम दब जायेंगे, यह काम प्रभो हमसे नहीं होगा।"

जब नित्यानन्द ने उन दोनों भाइयों से कहा "संकोच मत करो, ये तो जगत् को पावन बनाने वाले हैं, पाप इनका क्या बिगाड़ सकते हैं?" नित्यानन्द की बात सुनकर दोनों ने हाथ में जल लिया और नित्यानन्द ने संकल्प पढ़ा और प्रभु ने दोनों हाथ फैला कर दोनों भाइयों के सम्पूर्ण पापों को ग्रहण कर लिया। पापों को ग्रहण करके प्रभु बोले "अब तुम दोनों निष्पाप हो गये और मेरे अत्यन्त प्रिय परम भागवत वैष्णव बन गये। आज से यदि कोई तुम्हारे पुराने पापों को स्मरण करके तुम्हारे प्रति घृणा प्रकट करेगा, तो वह वैष्णव द्रोही समझा जायेगा।" यह कहते हुए प्रभु ने दोनों को गले लगा लिया। वे प्रेमालिङ्गन में मूर्च्छित होकर जल में गिर गये। भक्तों ने उन्हें जल से बाहर किया। उस समय सुवर्ण के समान रंग वाला प्रभु का शरीर किञ्चित कृष्ण वर्ण का हो गया। सभी भक्तगण स्नानोपरान्त अपने अपने घर को चले गये, और जगाई मधाई उस दिन से अपने घर नहीं गये, श्रीवास के घर रहने लगे। दोनों भाई अपना घर परिवार छोड़कर श्रीवास पण्डित के घर पर ही श्रीकृष्ण संकीर्तन और भगवत्नाम का जाप करने लगे। वे दोनों दो लाख का जाप नियम से करते थे। आँखे सदा आँसुओं से भीगी रहती थी। पुरानी बातों को याद करकर दोनों भाई अधीर बने रहते थे।

एक दिन अपने रुदन का कारण बताते हुए दोनों भाइयों ने प्रभु से कहा "प्रभो! हमें तो आपके अहैतुकी कृपा के ऊपर रुदन आता है। उसका स्मरण कर हमारे अश्रु नहीं रूकते।" जगाई तो कुछ शान्त हुआ परन्तु मधाई को रह रहकर नित्यानन्द के ऊपर किये गये प्रहार की ख्याल आती थी। "उस समय यदि सुदर्शन चक्र ही मेरा सिर काट लेता या नित्यानन्द ही मेरा वध कर देते तो मैं कृतकृत्य हो जाता।" एक दिन मधाई ने रोते रोते यह उद्‌गार प्रगट किया।

पुनः मधाई ने श्रीमद् नित्यानन्द के चरण पकड़ लिए, और कहा कि आपके ऊपर जो मैंने प्रहार किया था, वह तो भुलाने से भी नहीं भूलता। भुलाने की चेष्टा करने पर वह अधिक भीतर गड़ता जाता है मधाई की बात सुनकर श्रीपाद नित्यानन्द ने कहा "यदि तुम्हारे हृदय में दुःख है तो तुम गंगाजी पर एक सुन्दर घाट बनवा दो और वही अमानी तथा नम्र बनकर तप करते हुए निवास करो।

श्रीपाद् की आज्ञा शिरोधार्य कर मधाई ने स्वयं अपने हाथों गङ्गाजी के किनारे एक सुन्दर घाट बनवाया, वहीं कुटी बना कर रहने लगा और उस घाट पर जो भी स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित, चण्डाल, पतित स्नानार्थ आते मधाई उन्हीं के चरण पकड़कर अपने अपराधों के लिए क्षमा याचना करने को कहता था। सभी उसकी इस नम्रता से रोने लगते और भाँति भाँति से आशीर्वाद देते। धीरे-धीरे मधाई की इस दीनता और महासन्तों की अहैतुकी कृपा से उसमें भगवत् भक्तों के सभी गुण आ गये। उनकी भक्ति की दूर दूर तक ख्याति हो गई और वे ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

●○●○●

14. काजी की शरणागति

गौराङ्गदेव के बढ़ते प्रभाव को देखकर विद्वैषी स्वभाव के व्यक्तियों ने मुसलमानों को भड़काया। मुसलमानी शासन होने के कारण मुसलमानों की बात पर विशेष गौर किया जाता था। बंगाल के नवाब हुसैन शाह ने नादिया परगना के लिए चाँद खाँ को काजी नियुक्त कर दीवानी, फौजदारी मामलों का निर्णय उसी के अधिकार क्षेत्र में कर दिया था।

विद्वैषी हिन्दू और मुसलमानों ने जब कई बार काजी के यहाँ संकीर्तन के विरूद्ध अभियोग चलाया। तब काजी एक दिन अपने दल बल के साथ कीर्तन करने वालों को रोकने के लिए चले। जब प्रेम में उन्मत्त भक्त मण्डली ने कोई ध्यान नहीं दिया तो काजी ने स्वयं घुस कर खोल फोड़ दिये और कहा ''खबरदार आज से किसी ने यदि शोर मचाया तो जेल भेज दूँगा। इसी प्रकार काजी के आदमी अन्यत्र भी जाकर कीर्तन बन्द करा आए।

संकीर्तन बंद कराये जाने से लोगों के मन में काजी का डर व्याप्त हो गया। समूचे नवद्वीप में कीर्तन कर रोक लगने और लोगों की डरी हुई स्थिति को देखकर गौराङ्गदेव ने काजी का दमन करने का दृढ़ निश्चय किया।

दूसरे दिन महाप्रभु ने नित्यानन्द को आज्ञा दी कि सम्पूर्ण नगर में इस संवाद की मुनादी सुना आओ कि ''आज शाम को हम काजी की आज्ञा के विरूद्ध नगर में संकीर्तन करते हुए निकलेंगे। सभी एक एक मशाल के साथ आकर हमारे घर एकत्रित हो।''

गोधूली के समय सभी जनसमूह इकट्ठा हो गया। चार टोलियों में विभाजन कर संकीर्तन मण्डली नृत्य गीत के साथ, सारा जन समूह काजी के निवास स्थल की ओर बढ़ने लगा। रास्ते में मनुष्यों की अपार भीड़ थी। इस प्रकार जन समुदाय सांसारिक विषयों का चिन्तन छोड़ कर संकीर्तन की प्रेमधारा में बहने लग। सभी के लिए यह नई बात थी। मुसलमान शासक के शासन में ऐसा करने की हिम्मत ही किसकी हो सकती थी ? परन्तु प्रभु के प्रभाव से सभी अपने को स्वतन्त्र समझते थे। उनके हृदयों में केवल प्रभु का ही साम्राज्य था।

संकीर्तन जनमण्डली मधाई घाट होते हुए बेल पुखरा की ओर चल पड़े, यहीं काजी रहता था। लोग आवेश में आकर चिल्ला रहे थे कि ''काजी को पकड़ लो जान से मार डालो।'' परन्तु प्रभु तो ''सविनय अवज्ञा'' ''निष्क्रिय प्रतिरोध'' के अस्त्र का ही प्रयोग करना चाहते थे।''

जब प्रभु ने देखा कि उत्तेजना प्रिय अज्ञानी जन वृक्षों की शाखायें तोड़-तोड़कर काजी के घर में घुस गये और उसकी फुलवारी तथा बाग नष्ट करने लगे। तव उसी समय उन्होंने संकीर्तन

बन्द करने की आज्ञा दी। अपनी मेघ गम्भीर वाणी से दिशाओं को गुँजाते हुए उच्च स्वर में कहा – ''खबरदार कोई भी काजी को तनिक भी क्षति पहुँचाने की कोशिश नहीं करेगा।'' सभी उपद्रवी चुपचाप वहीं बैठ गये। तब प्रभु ने काजी के नौकरों को बुलाकर अपना सन्देशा काजी को बताने और उन्हें बुलाने के लिए कहा कि हम कोई अभद्र व्यवहार नहीं करेंगे।'' काजी बाहर निकलकर आया, उसकी प्रेमपूर्वक सभी ने अभ्यर्थना की। बैठ जाने के अनन्तर प्रभु ने प्रेम से काजी से कहा ''हम आपके द्वार पर आपके अतिथि बन कर आये, और आप घर में जा छिपे, यह कहाँ की रीति है ?'' काजी ने विनीत भाव से कहा ''हमने आपको क्रोधित समझकर आपका सामना करना उचित नहीं समझा।'' दोनों में पारस्परिक सद्भावना पूर्ण बातें हो रही थीं। इस बीत काजी ने बताया कि ''गौराङ्ग! जिस दिन मैंने एक भक्त के घर में जाकर खोल फोड़ा था और संकीर्तन के विरूद्ध अपने लोगों को नियुक्त किया था। उसी रात को मैंने एक बड़ा भयङ्कर स्वप्न देखा मानो एक बड़ा भारी सिंह मेरे पास आकर कह रहा है कि आज से यदि तुमने संकीर्तन का विरोध किया तो उस खोल की तरह ही मैं तुम्हारा पेट फोड़ दूँगा। यह कहकर अपने तीक्ष्ण पंजों से मेरे पेट को विदीर्ण करने लगा। मेरी नींद खुल गई और उसके नखों के चिन्ह अभी तक प्रत्यक्ष बने हुए है।'' यह कहकर काजी ने भक्तों के सामने वे चिन्ह दिखा दिये।

यह सुनकर प्रभु ने काजी का जोरों से आलिङ्गन किया जिससे काजी का रोम रोम खिल उठा। आलिङ्गन से काजी के शरीर में नवजीवन का संचार होता हुआ दिखाई पड़ा। तब प्रभु ने कहा कि ''अब आप संकीर्तन का विरोध न करें।'' काजी ने शपथ पूर्वक दृढ़ता से कहा – ''गौरहरि! मैं अपने कुटुम्बी जातिवालों का त्याग कर सकता हूँ, किन्तु संकीर्तन का कभी विरोध नहीं करूँगा। तुम साक्षात् नारायण स्वरूप हो।'' प्रभु के पुनः प्रगाढ़ालिङ्गन करने पर काजी प्रेम के आंसू बहाते हुए लोगों के साथ ''हरि बोल हरि बोल'' का उच्चारण करता हुआ भक्त मण्डली के साथ चलने लगा। कुछ दूर तक चलने के बाद प्रभु ने उसे लौट जाने के लिए कहा। वह प्रभु को नम्रता पूर्वक प्रणाम करके लौट गया। उस दिन से उसने ही नहीं उसके वंश के सभी लोगों ने संकीर्तन का विरोध करना छोड़ दिया। यही नहीं, उसके वंश धर संकीर्तन में अपना योगदान देना प्रारम्भ किया।

●○●○●

15. भगवद्भक्ति-भाव की अद्भुत महिमा का स्वरूप दर्शन - भक्त श्रीवास

एक दिन सभी भक्त श्रीवास के आँगन में अलौकिक आनन्द के साथ संकीर्तन कर रहे थे। इतने में प्रभु भी आ गये और नृत्य करने लगे। तब श्रीवास भी नृत्य में सम्मिलित हो गये। तभी दासी के संकेत से श्रीवास घर के अन्दर गये। वहाँ जाकर देखा कि उनके एक मात्र पुत्र की, बीमारी में अन्तिम साँसें चल रही हैं। कुछ देर में उसके प्राण पखेरु किसी अज्ञात लोक में चले गये। इकलौते पुत्र की माता मालती तो चीत्कार कर बेहोश हो गयी। सभी जनों को रूदन करते देख श्रीवास ने बड़ी ही दृढ़ता से समझा कर अन्त में कहा ''खबरदार, यदि किसी ने साँस भी निकाली तो मैं अभी जाकर गङ्गाजी में प्राण दे दूँगा। प्रभु के आनन्द में भंग नही होना चाहिए। पुत्र की मृत्यु का इतना शोक मुझे नहीं, जितना प्रभु के आनन्द में विघ्न पड़ने से होगा।'' मालती को समझाते हुए कहने लगे ''साक्षात् गौराङ्ग के नृत्य समय में इसने शरीर त्याग किया है। वे ही तो सबके स्वामी हैं। तुम्हारे पुत्र का इससे बढ़कर क्या सौभाग्य हो सकता है। प्रभु के नृत्य करने तक कोई न रोने पावे।''

श्रीवास पुन: आकर नृत्य करने लगे। अर्द्धरात्रि तक भक्तों में यह बात फैल गई। खोल, करताल सभी वाद्य अपने आप बन्द होने लगे। प्रभु ने भी नृत्य बन्द कर दिया और किसी अमंगल होनी के विषय में पूछने लगे। तब किसी भक्त ने श्रीवास के पुत्र का परलोक गमन का दु:खदायी समाचार प्रभु को बताया। भक्त ने यह भी कहा कि ''ढाई पहर पहिले की इस होनी घटना को इसलिए अप्रकट रखा गया कि आपके आनन्द में विघ्न न हो।'' यह सुनकर प्रभु की आँखों से अविरल अश्रु धारा बहने लगी। प्रभु ने कहा ''श्रीवास! आपने आज श्रीकृष्णा को खरीद लिया है, ओ हो! इतनी भारी दृढ़ता! इकलौते मरे पुत्र को भीतर छोड़कर आप उसी प्रेम से कीर्तन कर रहे हैं। धन्य है, आपकी भक्ति को और बलिहारी है आपके कृष्णा प्रेम को। सचमुच आप जैसे भक्तों के दर्शनों से ही कोटि जन्मों के पाप क्षय हो जाते हैं।'' यह कह कर प्रभु फूट फूट कर रोने लगे। प्रभु को रोते देख, श्रीवास ने कहा ''हे सम्पूर्ण प्राणियों के एकमात्र आश्रयदाता! मैं आपको रोते हुए नहीं देख सकता।''

इतने में कुछ भक्त श्रीवास के मृत पुत्र को आँगन में उठा लाये। उसके सिरहाने में बैठ कर प्रभु अपने कोमल कर से उसका स्पर्श करते हुए मृत शरीर के जीवात्मा से पूछने लगे। उस समय प्रभु के अंतरङ्ग भक्तों को मानो स्पष्ट सुनाई दे रहा था। जीवात्मा ने अपने उत्तर में कहा ''इस शरीर से हमारा इतने ही दिनों का संस्कार था, हम अब बहुत उत्तम स्थान में हैं और अति प्रसन्न है।'' जीव का ऐसा उत्तर सुनकर लोगों का शोक मोह दूर हो गया। तब प्रभु ने कहा ''अब हम और श्रीपाद् नित्यानन्द दोनों आपके पुत्र हुए। आप हम दोनों को अपने सगे पुत्र ही समझें।'' प्रभु की इस प्रेममयी वाणी को सुनकर श्रीवास की आँखों में प्रेमाश्रु बहने लगे। भक्ति की इस निराली महिमा में अपूर्व रस का दर्शन कितना आनन्ददायी है। पिता के आँखों से अपने एक मात्र पुत्र के मृतस्थिति के पश्चात् प्रेम और आनन्द के अश्रुपात हो रहे हों।

●○●○●

16. महिमामयी विष्णु प्रिया

महाप्रभु गौराङ्गदेव तो त्याग की सजीवमूर्ति थे उनका कथन – ''**संदर्शनम् विषयिणामण्य योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्य साधु।**'' या विषयी लोगों का तथा कामिनियों का दर्शन भी विष भक्षण से बढ़कर है।

अपने इस कथन को महाप्रभु ने अपने जीवन में अनेकों स्थलों में भक्तों, प्रेमियों और अधिकारियों को दर्शन कराया और अपने महान त्याग को पराकाष्ठा की सीमा में पहुँचा दिया।

परन्तु जिस प्रकार श्रीराम की परम शक्ति सीता ने अवतार लेकर रावण वध से लेकर राम राज्य की सम्पूर्णता और श्रीराम के मर्यादा पुरुषोत्तम तत्व को सम्पूर्णता के शिखर तक ले जाने में अपने सम्पूर्ण समर्पण के साथ योग दान दिया। उसी प्रकार गौराङ्ग के महान त्याग वैराग्य और लोक में प्रेम प्रतिष्ठा के स्वरूप का जो वैभव निखर कर जगत को पवित्र किया और कर रहा है, उसका असली अंतरङ्ग स्रोत तो गौराङ्ग की शक्ति स्वरूपा उनकी अर्धाङ्गिनी विष्णुप्रिया ही थी। जिन्होंने अपने पत्नी भाव में गौराङ्ग देव के प्रति समर्पण, प्रेम और कुल मर्यादा के अनुरूप आचरण कर अपने समूल धर्म को उन्हीं के श्रीचरणों में समर्पित कर अपने अंतरङ्ग भावों को पवित्रतम् स्वरूपों में सम्मुज्वल परिभाषित किया। और गौराङ्गदेव की सहधर्मिणी शब्द की सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठा की।

महाप्रभु अब अपने असीम कार्य क्षेत्र और स्वरूप को, असीम की धारा में ले जाने के लिए परम वैराग्य युक्त संन्यास की प्रबल इच्छाशक्ति में चल रहे थे। आत्मा की पूर्ण शान्ति के लिए उन्होंने सिर मुड़ा कर सन्यासी बनकर अपने विरोधियों का भी उद्धार करने के लिए महान त्याग का उपक्रम कर रहे थे।

प्रभु के सन्यास ग्रहण करने की बात भक्त मण्डली और शचीमाता को भी विदित हुई। शची माता को समझाते हुए गौराङ्ग ने कहा – ''माँ, मैं क्या करूँ मेरा मन मेरे बस में नहीं है, मैं ऐसा करने के लिए विवश हूँ, आप वीर जननी हो। माता सुनीति ने अपने पुत्र ध्रुव को पाँच वर्ष की अवस्था में ही तपस्या के लिए भेजा था। मदालसा ने अपने सभी पुत्रों को सन्यास धर्म की शिक्षा दी थी।'' अन्त में माता ने कहा ''बेटा, तू जिस बात को ठीक समझता है, उसी को करता है, तेरी प्रसन्नता में ही मुझे प्रसन्नता है, चाहे गृहस्थी में रहं, चाहे यति बन कर रह, भगवान तेरा कल्याण करे।''

अपने पति के सन्यास ग्रहण करने की बात सुनकर विष्णुप्रिया अपने पिता के घर से पति देव के यहाँ आई। जब विष्णुप्रिया को यह निश्चय हो गया कि उनके पतिदेव सन्यास ग्रहण करेंगे

ही। तब वेदना के आवेश में रोते रोते उन्होंने पतिदेव से कहा ''हाय मुझे अपने सौभाग्य सुख का बड़ा भारी गर्व था, ऐसे त्रैलोक्य सुन्दर जगतवन्द्य अपने प्राण प्यारे पति को पाकर मैं अपने को सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यशालिनी समझती थी। नवद्वीप की नारियाँ मेरे जिस सौभाग्य सुख की भूरि भूरि प्रशंसा किया करती थी, वे ही कालान्तर में मुझको सौभाग्यहीना सी समझकर द्वार द्वार भटकते देख, मेरी दशा पर दया प्रकट करेगी। मैं अनाथिनी अब किसकी शरण में जाऊँगी।''

जब चैतन्यदेव ने विष्णुप्रिया को समझाते हुए कहा ''तुम श्रीकृष्ण का सदा चिन्तन करती रहोगी, तो तुम्हें मेरे जाने का तनिक भी दुःख नहीं होगा।'' इस पर रोते रोते ही विष्णुप्रिया ने कहा ''देव! आपके अतिरिक्त कोई दूसरे श्रीकृष्ण हैं, उसे मैं आज तक जानती ही नहीं, और न आगे जानने की इच्छा है। मेरे तो हरि, ईश्वर, परमात्मा जो कुछ भी हैं आप ही हैं। इन श्री चरणों के अतिरिक्त दूसरा चिन्तनीय पदार्थ मेरी दृष्टि में है ही नहीं। मुझे इन चरणों के अतिरिक्त किसी संसारी सुख की इच्छा भी नहीं है।''

जब प्रभु ने कहा ''जीवों के कल्याण के लिए मुझे शरीर से तो तुम्हारा त्याग करना ही होगा।'' तब इस पर विष्णुप्रिया का शब्दावली का प्रत्युत्तर था ''मैं सदा अपने पितृ गृह में रहकर आप के गङ्गास्नान के समय में कहीं से छिप कर आपके दर्शन कर लिया करूँगी।''

जब महाप्रभु ने सन्यास लेने में अपनी विवशता बताई और माता के आदेश मिलने की स्थिति प्रकट कर दी तब विष्णुप्रिया से भी अनुमति मिल जाने की अपनी इच्छा प्रकट की।

तब अपने दुःख के आवेग को बलपूर्वक रोकते हुए कहा, ''आपके प्रसन्नता में ही मेरी प्रसन्नता है, आप जिस दशा में भी रहकर प्रसन्न हो वही मुझे स्वीकार है। स्वामी के निमित्त दासी सब कुछ सहन करने में समर्थ है, किन्तु मेरा स्मरण बना रहे, यही मेरी विनती है।'' तब प्रभु अपने सहृदय वीर पत्नी की सराहना करते हुए कहा ''इतना साहस तुम जैसी पति पारायणा सती साध्वी स्त्रियाँ ही कर सकती है। तुम सदा मेरे हृदय में बनी रहोगी।''

विष्णुप्रिया को प्रभु के सन्यास ग्रहण हेतु जाने की रात्रि का पता चल गया था। वे रात्रि भर प्रभु के चरणों को दबाती रहीं, पर भावी बड़ी प्रबलता में थी रात्रि भर की जगी विष्णुप्रिया को नींद आ गई और प्रभु ने खूँटी पर टँगे अपने वस्त्र पहिने एक बार फिर अपने प्रियतमा को निहारा और लोक की कल्याणमयी स्थिति के सृजन हेतु एकदम उस कक्ष को हमेशा के लिए छोड़ दिया।

छः वर्ष पश्चात् चैतन्य देव अद्वैताचार्य के आश्रम में शान्तिपुर पधारे तो प्रभु के शान्तिपुर में पधारने की चर्चा समूचे नवद्वीप में फैल गयी थी। शची माता के शान्तिपुर जाने के निमित्त भक्तों ने पालकी मँगाई थी। शची माता शान्तिपुर जाने के लिए तड़प रही थीं। पर विष्णुप्रिया

के लिए, उनके प्राणेश्वर चाहे नीलांचल में हो, या शान्तिपुर में दोनों ही स्थान समान हैं। विष्णुप्रिया अपनी मनोव्यथा को किसके सामने प्रकट करती ? इसे तो कोई भुक्तभोगी ही समझ सकता है, वाणी में भी प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं है।

शान्तिपुर प्रस्थान के ठीक पहिले विष्णुप्रिया को एक कमरे में जाकर जब शची माता ने देखा तो वे एक दम भयभीत हो गई। विष्णुप्रिया की आँखें बिना पलक मारे एकदम खुली हुई थी। चेहरे पर विरह जन्य वेदना की रेखायें व्यक्त करके उनके आन्तरिक असह्य दुःख की स्पष्ट सूचना दे रही थीं। उनका शरीर जड़ वस्तु की तरह निर्जीव सा लग रहा था। भयभीत होकर माता ने पुकारा बेटी! बेटी! विष्णुप्रिया! तू भी मुझे धोखा दे गई क्या! यह कहकर माता विष्णुप्रिया के शरीर को झकझोरने लगी। तब विष्णुप्रिया भौचक्की सी होकर कहने लगी - क्या सचमुच में मुझे सोता ही छोड़कर चले गये। हाय मैं लुट गई। वह देखो खूँटी तो खाली पड़ी है उनका पीताम्बर भी नहीं है। यह कहकर विष्णुप्रिया पछाड़ खाकर गिर पड़ी। माता ने सहारा देते हुए कहा, - "बेटी! यह तुझे क्या हो गया है, मैं शान्तिपुर जा रही हूँ तू क्या कहती है ?"

विष्णुप्रिया को अब होश हुआ और अपने अंतरङ्ग भावों को छिपाते हुए कहा "अम्मा जी, मुझे नींद आ गई थी - स्वप्न देखा और उसी में कुछ बकने लगी थी। आप शान्तिपुर जाकर उन्हें देख आवें। मेरे भाग्य में उनके दर्शन नहीं बदे है न सही, मेरा इतना ही सौभाग्य क्या कम है कि उनके दर्शन के लिए लाखों लोग जा रहे हैं। आप जायें मेरी चिन्ता न करें।" अपनी पुत्रवधू की ऐसी हृदय विदारक दृढ़ता की बातें सुनकर आन्तरिक दुःख तो शची माता ने प्रकट नहीं किया परन्तु उनको एकटक देखती हुई वे पालकी में बैठ गयीं।

महाप्रभु छः सात दिन नवद्वीप के समीप ही कुलिया में ठहरे। वहाँ उनके दर्शन के लिए मेला सा लगा था। फिर भी विष्णुप्रिया सती साध्वी कुलवधू की तरह घर से बाहर नहीं निकली। अब तो प्रभु अपने दर्शनों से कृतार्थ करने के निमित्त ही नवद्वीप जाने की इच्छा प्रकट की। तुरन्त ही अन्तरङ्ग भक्तों के साथ नौका से वे नवद्वीप घाट पहुँच गये। वहाँ से शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी की कुटिया पहुँचे। शची माता ने भी समाचार पाकर जल्दी ही वहाँ पहुँच गई। प्रभु माता की चरण वन्दना करते करते कुछ सोच रहे थे, तब प्रभु पैरों में खड़ाऊ पहने शची माता के साथ ही धीरे-धीरे घर की ओर चलने लगे। घर के सामने आकर प्रभु खड़े हो गये। विष्णुप्रिया का दिल धड़कने लगा। झरोखों से ही विष्णुप्रिया ने अपने जीवन सर्वस्व की झाँकी की। मुँडे हुए सिर और गेरुआ वस्त्र धारण किये, प्रभु को उसने सर्वप्रथम देखा था। उसने अपने प्रभु के इतने भारी बोझ को सहन करने में समर्थ नहीं पाया कि एक सन्यासी होकर जब उन्होंने इतनी अनुकम्पा की, कि मुझे चरण दर्शनों के निमित्त ही ये यहाँ पधारे हैं, तो मुझे बाहर जाने में अब क्या लाज है ? यह सोचकर वे जैसी थीं उसी स्थिति में चल पड़ीं। आभूषण रहित, केशसज्जारहित और अल्प

आहार के कारण क्षीणकाय शरीर में मलिन वस्त्र धारिका विष्णुप्रिया किसी की ओर न देखते हुए प्रभु की ओर चल पड़ी। प्रभु भी खड़े खड़े कुछ ताक रहे थे कि इतने में उन्होंने देखा कि मलिन वस्त्रपहिने एक स्त्री उनके चरणों में गिर पड़ी। स्त्री स्पर्श के डर से प्रभु एक कदम पीछे हट गये। विष्णुप्रिया सिसकियाँ भर भर कर रुदन करने लगी। प्रभु भर्राई आवाज में पूछा "तुम कौन हो ?" वैराग्य की परम परिमिति में ही जीवन सर्वस्व, इष्टदेव, स्वामी और साक्षात् पति देव, जिसके साथ छः वर्ष पूर्व तक आदर्श दम्पत्ति जीवन में अपने सेवाभाव और कर्त्तव्यनिष्ठा से जिसने जीत लिया था। उसी से यह प्रश्न कि "तुम कौन हो ?" किसी के प्रत्युत्तर न देने की स्थिति में करुण स्वर में "मैं आपके श्रीचरणों की अति छुद्र दासी हूँ।" उत्तर मिला।

पुनः महाप्रभु ने कहा "तुम क्या चाहती हो।"

विष्णुप्रिया कातर वाणी में कहा, "आपकी कृपा!" "विष्णुप्रिये! संसार में विष्णुभक्ति ही सार है, उसी को प्राप्तकर तुम जीवन को सार्थक बनाओ।" प्रभु ने कहा। इस पर रोते-रोते विष्णुप्रिया ने कहा "आपके अतिरिक्त कोई दूसरे विष्णु है, न मैं यह जानती हूँ और न जानने की ही इच्छा है।"

इस उत्तर को सुनकर सभी स्त्री पुरुषों के नेत्रों से गङ्गा जमुना की बाढ़ आ गई। पुनः विष्णुप्रिया ने कहा - "प्रभो! आप जगत उद्धारक है फिर इस अभागिनी विष्णुप्रिया को जगत के बाहर क्यों निकाल दिया गया?"

प्रभु ने पुनः कहा "तुम्हारी क्या अभिलाषा है?" पुनः सुबकियाँ भरते हुए विष्णुप्रिया ने कहा "जीवनयापन के लिए कुछ आधार मिलना चाहिए।" कुछ सोचकर प्रभु ने अपने चरणों के दोनों खड़ाउओं को उतारते हुए कहा - "यह लो तुम इन चरण पादुकाओं के ही सहारे अपने जीवन को बिताओ।" तब विष्णुप्रिया ने अपना मस्तक उठाया और धूलि से सनी उन दोनों काष्ठ निर्मित चरण पादुकाओं को अपने शिर पर चढ़ाया और वे रुदन करने लगी।

इस दृश्य को देखकर जन समूह में हाहाकार मच गया और सब चीत्कार मार मार रोने लगे। प्रभु माता को प्रणाम कर लौट गये। बिना पीछे देखे प्रभु जल्दी से आगे बढ़ गये।

विष्णुप्रिया का एक मात्र आवलम्बन प्रभु की वे ही पुनीत काष्ठ पादुकाएँ थीं। पूजा गृह के उच्च आसन पर उनको विराजित कर वे नित्य प्रति धूप दीप नैवैद्य आदि से पूजा करती और षोढ़स मन्त्र का जाप निरन्तर चलता था।

इधर वृद्धा माता ने एक दिन भक्तों के द्वारा भगवती भागीरथी के तट पर लाई गई साथ में विष्णुप्रिया भी थी, वहीं उन्होंने इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। माता के वियोग के कुछ कालान्तर में ही उन्हें अपने प्राणेश्वर के भी नित्य धाम में पधारने का हृदय विदारक समाचार

मिला। तब से उन्होंने कठोर व्रत धारण करते हुए अन्न लेना भी बन्द कर दिया। तब स्वप्न में साक्षात् गौराङ्ग देव ने उन्हें कुछ दिन और शरीर धारण करने की आज्ञा दी। तब से विष्णु प्रिया ने थोड़ा अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ किया।

एक दिन पुनः स्वप्न में गौराङ्ग ने प्रत्यक्ष आकर कहा ''जिस नीम के पेड़ के नीचे मैंने माता के स्तनपान किये थे, उसी के नीचे काष्ठ की मेरी मूर्ति स्थापित करो मैं उसी में आकर रहूँगा।'' ठीक उसी समय बंशीवादन नाम का भृत्य जो बाहर बरामदह में शयन कर रहा था, ने भी वही स्वप्न देखा। प्रभु के स्वप्नादेशानुसार उसी नीम के पेड़ की लकड़ी से मूर्ति बनी और वही भक्तों को बुलाकर धूमधाम से मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दी गई। मूर्ति मन्दिर में प्रतिष्ठित हुई। नियमित पूजा पाठ होने लगा। कुछ कालान्तर में वृद्ध वंशीवादन भी परलोकगामी हुआ। पहिले तो विष्णु प्रिया अंधेरे में काञ्चना सहेली के साथ गङ्गा स्नान कर आती थी, परन्तु अब गङ्गाजल मंगाकर घर में स्नान करने लगी। उन्होंने पर पुरुष से जीवन भर बातें नहीं की। अभी तक भक्तों को दर्शन देती थी पर अब परदे की आड़ में शाम के समय उनके चरणों के दर्शन होते थे।

पुनः विष्णुप्रिया ने अपने तप को कठोरतर और अलौकिक रूप में संचालित करना प्रारम्भ किया। वे सदा पूजा मन्दिर में बैठी रहती, एक पात्र में चावल भर देती और दूसरे खाली पात्र में भरे पात्र से 'हरे राम हरे राम .... कृष्णा कृष्णा हरे हरे' मन्त्र के एक बार के जप में एक चावल का दाना उसमें डालती जाती। दिन के तीसरे पहर में खाली पात्र जितना जप संख्या से भर जाता था उतने चावल मात्र (बिना नमक) पका कर भोग लगाती, और प्रसाद रूप में सायं पा लेती थी। कुछ बचा कर छोड़ देती जो भक्तों को प्रसाद रूप में वितरित होता था।

गौराङ्गदेव अपने अर्द्धाङ्गिनी की कठोर धर्मारूढ़ता की मनःस्थिति को समझते थे वे यह भी समझते थे कि पृथ्वी लोक में मेरे रहने मात्र से विष्णु प्रिया वियोगिनी भले बनी रहे, परन्तु मेरे शरीर धारण का आधार विष्णुप्रिया के जीवन धारण के लिए पर्याप्त सम्बल रूप था इसलिए अपने सन्यासी धर्म की उच्चतम इकाई में उन्होंने अपनी चरण पादुकायें मात्र देकर सामीप्य का आधार बनाया। परन्तु जगन्नाथ के श्रीविग्रह में समाहित होने के पश्चात् सन्यास धर्म के विलगाव में उन्हें विष्णुप्रिया की कठोर साधना के कारण महाप्रभु को उनकी प्रीति रीति के स्वरूप से बहुत समीप्य की स्थिति में ला दिया। वे यह चाहते थे, कि मेरे सन्यास धर्म की कठोर बन्धन से मुक्ति और मेरे निराकार स्वरूप की स्थिति में, विष्णुप्रिया के श्रेयस्कर तत्वों का सार्वमौलिक परिज्ञान भक्तों को हो। और सभी उनके यथार्थ स्वरूप का दर्शन अपने अन्तरङ्ग भाव से कर सके। इसीलिए प्रभु ने विष्णुप्रिया की साधना की सिद्धि हेतु अपनी काष्ठ प्रतिमा की स्थापना कराकर उसमें स्वयं विराजित हो गये।

अब विष्णुप्रिया का वियोग दुःख, असह्य स्थिति में होने लगा, उनके दिन रात रोते रहने से काञ्चना उन्हें चैतन्यलीला सुनाकर सांत्वना प्रदान करती थी। वे अब अपने पति के वास, पतिलोक जाने को अविछिन्न गति से तड़भड़ा रही थी।

फाल्गुन मास की पूर्णिमा चैतन्य देव के जन्म दिन पर उनकी अधीरता चरम सीमा में पहुँच गई। तब वे, प्राणनाथ, जीवन सर्वस्व कह कह कर लम्बी लम्बी साँसें लेने लगी। विष्णुप्रिया ने मन्दिर में प्रवेश किया। कपाट बन्द करने पर भी काञ्चना द्वार पर खड़ी थी। जब बहुत देर हो गई तब कपाट खोलने पर विष्णुप्रिया को मन्दिर के आचार्य ने उन्हें सजीव नहीं पाया। वे अपने पति के साथ एकीभूत हो गई थी, जैसे उनके प्राणपति भगवान जगन्नाथ के श्रीविग्रह में समाहित हुए थे। विष्णुप्रिया गौरहरि भी सीताराम, राधाकृष्णा, गौरीशंकर की युगल द्युति मन्त्र का रूप धारण कर भक्तों को प्रेम मार्ग का सूक्ष्माति सूक्ष्म दर्शन कराने लगा।

गौरशक्तिं महामायां नवद्वीपं निवासिनीम।
विष्णुप्रिया सतीं साध्वीं तां देवीं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

○●○●○

17. श्री रघुनाथ दास जी

महात्मा रघुनाथदास उन महान धीर पुरुषों में हैं, जो राजाधिराज जैसे महामहिम के घर पालित पोषित होने पर भी वैराग्य की महामहिमा से अपने को समंलकृत कर भगवान गौराङ्गदेव की प्रेमलीला में उनके अव्यक्त आन्तरिक भावों के पारखी बनकर उसका प्रकाश आलोकित करवाया।

ये गोवर्धनदास मजूमदार जिनकी वार्षिक आय उस समय आठ लाख थी, के एक मात्र पुत्र थे। शान्तिपुर के प्रवास में श्री गौराङ्ग के प्रति इनके हृदय में सात दिन तक उनकी सेवा करने के अनन्तर उत्कट वैराग्य जगा, और मन प्राण से उनके पुनदर्शन के लिए अन्दर ही अन्दर ये तड़पने लगे। प्रभु गौर देव ने उन्हें शान्तिपुर में यह कहा था कि उनके वृन्दावन वापसी पर वे पुरी में आकर उनसे (प्रभु गौर) से मिले।

पुरी पहुँचकर रघुनाथ वही प्रभु से पास रहने लगे, और गोविन्द प्रभु का आज्ञाकारी सेवक प्रभु का उच्छिष्ट प्रसाद नित्य उन्हें प्रतिदिन देने लगा। पाँच दिन इसी प्रकार महाप्रसाद लेने के अनन्तर रघुनाथ के वैराग्य ने करवट लिया, और रघुनाथ ने महाप्रसाद न लेकर अपनी उदरपूर्ति का साधन भिक्षा माँगना बनाया। इसी कारण रघुनाथ सिंह द्वार पर खड़े होकर अन्य भिक्षुकों की तरह फटी गुदड़ी ओड़कर भिक्षा माँगने लगे। प्रभु के पूछने पर गोविन्द ने रघुनाथ के भिक्षावृत्ति की स्थिति बताया। प्रभु सन्तुष्ट हो गये और कहा गोविन्द! रघुनाथ रत्न है। इतने त्याग से रघुनाथ को कुछ शान्ति तो मिली। इधर महाप्रभु ने प्रेम की उपलब्धि साधन नामस्मरण बताया, पर नामस्मरण की मञ्जिल वैराग्य की भीति पर खड़ी होना चाहिए। अब रघुनाथ का अहर्निश नाम संकीर्तन और भगवन्नामों का जप चलने लगा। वे नाम मात्र को सोते थे। वे उस समय सभी विरक्त वैष्णवों में अधिक तितिक्षु माने जाते थे।

रघुनाथ ने अब सिंहद्वार की भी भिक्षा लेना बन्द कर दिया। लोग उनके पूर्वाश्रम की प्रतिष्ठा से परिचित हो गये थे। उनके वैराग्य की प्रबलता के कारण प्रभु ने इन्हें शंकरारण्य सरस्वती द्वारा प्रदत्त गुञ्जमाला और गोवर्धन शिला प्रदान किया। वस्त्रों में ये केवल एक फटी गुदड़ी ही रखते थे। जिह्वा का स्वाद इन्होंने कभी लिया ही नहीं। ये दोपहर को क्षेत्र से भिक्षा लाते थे परन्तु भण्डारी इन्हें अधिक भिक्षा देने लगा इसलिए इन्होंने क्षेत्र से भी भिक्षा लेना छोड़ दिया। अब अपने पेट रूपी गड्ढे को भरने के लिए इन्होंने अन्य उपाय सोचकर उसे करना प्रारम्भ किया। दुकानदारों का भगवान प्रसादी भात जब दो तीन दिनों तक नहीं बिकता था, तब दुकानदार उस सड़े भात को वहीं डाल देते थे। गायें भी जब उसे नहीं खातीं थीं, तब उसी भात को रघुनाथ उठा लाते थे और उनमें से जो कुछ सड़ने से बच जाते थे उसी को बहुत सा जल डाल कर साफ कर

लेते थे। थोड़ा सा उसमें नमक मिलाकर खा लेते, और पानी पी लेते। इस काम को वे रात्रि में करते थे ताकि कोई देख न पावे। गोविन्द से यह वृतान्त जान लेने पर प्रभु एक दिन सायंकाल के समय उनके स्थान पर गये। उस समय वे धीरे-धीरे खा रहे थे। रघुनाथ को प्रभु के वहीं खड़ा होने का कोई पता नहीं था। प्रभु ने पास जाकर धीरे से कहा "क्यों जी हमारा निमन्त्रण भी बंद कर दिया और ऐसे सुन्दर पदार्थों को छिपकर चुपके-चुपके ही खा जाते हो।" यह कहते हुए प्रभु ने पात्र में से एक मुट्ठी चावल अपने मुँह में डाल लिया। उस पात्र को दोनों हाथों से पकड़े हुए रघुनाथ कहने लगे, "प्रभो आप यह क्या कर रहे हैं ? इस गले हुए उच्छिष्ट अन्न को खाकर आप मुझे पाप का भागी न बनाइए। प्रभु जैसे ही दूसरा ग्रास लेने को लपके इतनें में हल्ला गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी वहाँ आ गये और उन्होंने प्रभु का हाथ पकड़ लिया और कहा "यह आपके योग्य नहीं है।"

तब प्रभु ने कहा, "स्वरूप! जितना स्वाद आज के इस चावल में आया उतना जीवन पर्यन्त किसी पदार्थ में नहीं मिला। यह प्रभु के मन के उत्कट वैराग्य का स्वाद था, जिसे रघुनाथ प्रति दिन सेवन करते थे। इस प्रकार त्याग वैराग्य की उत्कृष्ट स्थिति में रहते हुए, महाप्रभु के सान्निद्ध में रहकर सोलह वर्षों का समय रघुनाथ ने पुरी में बिताया।

पुनः महाप्रभु के इस लोक को त्यागने के पश्चात ये वृन्दावन आकर प्रभु पार्षद-रूप सनातन के आज्ञानुसार रहकर प्रेम से राधे राधे चिल्लाते रहते थे। राधा कुण्ड के समीप रहकर चौबीस घण्टे में मात्र मट्ठा पीकर रहते थे। जब शकाब्द 1512 में श्री निवासाचार्य वृन्दावन गये, तब इनसे निवासाचार्य मिले। महाप्रभु की अलौकिक और अद्भुत लीलाओं का रहस्य इन्हीं से उनको प्राप्त हुआ।

●○●○●

18-श्रीरूप गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी

इनके पूर्वज कर्नाटक देश छोड़कर नवहट्ट में आकर बस गये थे। अपनी कुशाग्र बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति के कारण गौड़ के बादशाह हुसैनशाह ने इन्हें मन्त्री पद दे दिया। इन्हें अब मुसलमानों से कोई परहेज नहीं था, यहाँ तक कि बादशाह ने रूप का नाम शाकिर मल्लिक और सनातन का नाम दबिर खास रख दिया था। रामकेलि नामक स्थान में इन्होंने अपना महल बनवाकर ठाटबाट से रहते थे। फिर भी साधु वैष्णवों का सम्मान करते थे। धीरे धीरे वैराग्य की वृत्ति जागने से इन्हें अपने पतित जीवन से घृणा होने लगी। उसी समय गौराङ्ग महाप्रभु का भगवन्नाम संकीर्तन और पतितों के उद्धार की बात सुनकर इन्होंने महाप्रभु को अपनी पतित स्थिति का वर्णन करते हुए अपने उद्धार की चर्चा एक पत्र के द्वारा बताया। जब महाप्रभु के द्वारा इन दोनों को यह जानने को मिला कि भगवन्नाम प्रभाव से घोर से घोर पापी भगवान के पादपद्मों में पहुँच सकता है तब तो इनके प्रसन्नता की सीमा न रही। जब वृन्दावन जाने की इच्छा से गौराङ्ग प्रभु रामकेलि पधारे तब छिपेछिपे अर्द्धरात्रि के समय अत्यन्त ही दीन होकर दाँतों में तृण दबाकर प्रभु के निवास स्थान में पहुँचे। नित्यानन्द और हरिदास के माध्यम से गौराङ्ग प्रभु के समीप पहुँच कर उनके पादपद्मों में गिरकर आँसुओं की धारा से उनके चरणों को पखारने लगे। तब प्रभु ने इन्हें आश्वासन दिया कि ''तुम दोनों ही परम भागवत हो, और जन्म जन्मान्तर के मेरे सुहृद हो। मैं तुम लोगों के लिए ही रामकेलि आया था। आज से तुम दोनों का नाम रूप और सनातन हुआ।''

युद्धकाल का समय होने के कारण सनातन ने महाप्रभु से वृन्दावन यात्रा फिलहाल स्थगित करने की प्रार्थना की, जिसे महाप्रभु ने सहर्ष मान लिया। महाप्रभु के दर्शन मात्र से दोनों भाइयों का मानसिक कायाकल्प हो चुका था।

रूप को अपना मन्त्री पद घोर बन्धन सा दिखने लगा, और वे लौटकर गौड़ गये ही नहीं। आधा धन ब्राह्मणों और कंगालों में बाँटकर, बची सम्पत्ति लेकर फतेहाबाद चले गए। पुनः अपने छोटे भाई अनूप के साथ प्रयाग दारागंज में भक्तों के साथ नृत्य करते हुए प्रभु का दर्शन किया। प्रभु, रूप की अलौकिक प्रतिभा, त्याग, वैराग्य और भक्ति भावना की प्रखरता को समझते थे, इसलिए दस दिन अपने पास रखकर भक्ति के गूढ़ रहस्यों को समझा दिया, और उन्हें वृन्दावन जाकर गुप्त तीर्थों को प्रकट करने तथा भक्ति के रहस्य को जन मानस में सक्रिय बनाने का आदेश देकर दोनों भाइयों को विदा किया। वृन्दावन के ब्रह्मकुण्ड में रूप ने अपना निवास बनाया।

इधर रामकेलि में महाप्रभु के दर्शनोपरान्त सनातन की दशा, संसार और राजकाज से उपराम हो गई। राजकाज पर बुरा प्रभाव पड़ने से ये जेल में बन्द कर दिये गये। किसी प्रकार बन्दी गृह से शीघ्र छूट जाने पर सनातन ने अपने प्रेमावेश में सब कुछ छोड़ कर महाप्रभु से काशी में

चन्द्रशेखर वैद्य के घर पर प्रभु को आत्म समर्पण किया। प्रभु ने गङ्गा जी में उनका क्षौर कर्म कराया और अपने पास दो माह रखकर भक्ति मार्ग की गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को समझा कर उन्हें भी वृन्दावन जाने की आज्ञा प्रदान की।

दोनों भाइयों की, प्रभु प्रदत्त सौभाग्य की स्थिति अब अकथनीय थी। गुरू-मार्गदर्शक प्रेमावतार चैतन्य महाप्रभु, स्थल-प्रेम भूमि वृन्दावन, वैराग्य की प्रखरतर स्थिति और शास्त्र चिन्तन में अग्रगण्य, मेधाशक्ति तीव्र और राधे रानी तथा भगवानं कृष्णा की कृपा का शुभाशीर्वाद। इन सभी स्थितियों ने दोनों भाइयों के हृदय में भक्ति का साम्राज्य स्थापित कर दिया।

रूप हमेशा युगल माधुरी में छके रहते थे। इनका आहार था प्यारे प्यारी की रूप सुधा का पान और प्रेमानन्द में मग्न रह कर नाम जप करना। एक दिन इनको कहीं से भिक्षा न सुलभ हो पाई तब एक काले रंग का ग्वाले का बालक एक मिट्टी के पात्र में दुग्ध ले आया और बोला- ''लो बाबा! इसे पीलो, भूखे भजन क्यों कर रहे हो।'' रूप जी ने जब वह दुग्ध पान किया तो उसमें अमृत से भी बढ़कर स्वाद था। वे समझ गये कि साँवरे रंग का बालक कौन था! आश्चर्य यह था कि वह अपने आप लोप हो गया। यह सुनकर सनातन दौड़े आये और रूप से कहने लगे ''भैया यह मनमोहन बड़ा सुकुमार है, इसे कष्ट मत दिया करो। तुम खुद मधुकरी मांग लाया करो।''

एक दिन सनातन रूप के स्थान में उनसे मिलने आये। रूप को मन में आया कि आज अपने अग्रज को खीर का भोजन कराया जाय। मन में यह आते ही एक लाली बालिका आयी और श्रीरूप से कहने लगी ''बाबा! मेरी अम्माने आपके लिए यह दूध भेजा है, और बाबा! अम्मा ने यह भी कहा है कि बाबा जी को खीर भी बना देना।'' खीर बनाकर बालिका चली गई और रूप ने अपने अग्रज को खीर खिलाया। उस खीर की भोग प्रसादी करके जैसे ही सनातन अपने मुख में ग्रास रखा कि उनकी आँखों से प्रेमाश्रु टप-टप गिरने लगे, वे रूप से बोले ''रूप! तुम राधारानी को बहुत कष्ट देते हो, तुम्हारे इच्छा की पूर्ति उन्हें खुद करनी पड़ती है।''

उस रात्रि रूप द्वारा रचित काव्य में उन्होंने राधा रानी की वेणी की उपमा काली नागिन से किया था। यह उपमा सनातन को दुःखदायी लगी, परन्तु जब सुबह सनातन अपने स्थान को जाने लगे तो उन्हें सामने कदम्ब के वृक्ष पर प्यारे के साथ प्यारी जी झूलती हुई दिखाई पड़ी। उनके सिर पर काले रंग की नागिनें सी लहरा रही थीं, परन्तु नागिनें तो परम सौम्या, चञ्चलाचपल और प्रेमियों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने वाली थीं। उनकी शंका का समाधान हो गया, और प्यारे प्यारी के, दर्शनों से उनके आनन्द का अतिरेक हो गया।

सनातन के पास एक दिन एक ब्राह्मण ने आकर धन की याचना की उसने सनातन से कहा कि ''अनेकों वर्षों तक धन की कामना से मैंने शिव जी की आराधना किया है। शिव जी ने सन्तुष्ट होकर मुझे स्वप्न में कहा कि ''तेरी मनो कामना वृन्दावन में सनातन गोस्वामी के पास जाने से पूर्ण होगी।'' मैं अब उन्हीं के आदेश से आपके पास आया हूँ।''

सनातन उस ब्राह्मण को यमुना जी किनारे ले गये और दूर से अँगुली के इशारे उसे पारस की जगह बता दी। पारस पाकर ब्राह्मण ने उसकी लोहा के टुकड़ों से परीक्षा ली। लोहा सोना बन गया। ब्राह्मण देवता घर की ओर तो चले परन्तु कुछ दूर जाने पर वापस लौट आये और सनातन से बोले – ''मुझे इससे भी कीमती पदार्थ चाहिए। पारस देकर आपने मुझे बहका दिया।'' तब उसके वैराग्य को देखकर, सनातन, पारस को जमुना जी में फेंकवा दिया और ब्राह्मण देवता को अमूल्य हरिनाम का उपदेश किया। कुछ काल में वह परम सन्त बन गया।

सनातन मथुरा में एक चौबे घर में मधुकरी के लिए जाया करते थे। चौबे की पत्नी श्री मदन मोहन भगवान की परम उपासिका थीं, चौबिन का एक बालक था जिसके साथ मदन मोहन खेला करते थे। एक दिन सनातन ने चौबिन से मदन मोहन का उच्छिष्ट प्रसाद माँगा। अब वे नित्य प्रति उच्छिष्ट प्रसाद पाने के लिए आने लगे। एक रात मदन मोहन ने चौबिन को स्वप्न में कहा ''तू मुझे सनातन साधु को दे दे'' और ठीक उसी समय सनातन को भी स्वप्नादेश हुआ कि ''तुम मुझे उस चौबिन के यहाँ से ले आओ।'' आँखों में आँसू भरकर चौबिन ने मदन मोहन, सनातन को दे दिया।

जब सनातन ने सूखे टिक्कड़ो का भोग लगाया, तो मदनमोहन कहने लगे – ''साधु बाबा! थोड़ा घी भी कहीं से लाया करो तो अच्छा हो।'' तब सनातन अपने मदन मोहन को खरी खोटी सुनाते और कहते ''मैं किसी धनिक के यहाँ घी-बूरा माँगने नहीं जाऊँगा। थोड़े जमुना जल के साथ गटक लिया करो।''

दूसरे दिन एक धनिक व्यापारी इनके पास आया और कहा कि ''मेरा जहाज जमुना जी में अड़ गया है, ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि वह निकल जाय।'' तब सनातन ने कहा ''भाई मैं कुछ नहीं जानता, जो इस झोपड़ी में बैठा है उससे कहो।'' धनिक ने कहा – ''हे भगवान यदि मेरा जहाज निकल जाय तो बिक्री के आधे द्रव्य से मैं आपकी सेवा करूँगा।'' बस, फिर क्या था, जहाज निकल गया और माल भी दुगुने दामों में बिका। तब धनिक महाजन ने उदारता के साथ मदन मोहन का मन्दिर बनवाया और भगवान की सेवा के लिए पुजेरी, रसोइया, नौकर चाकर रख दिए। वह मन्दिर वृन्दावन में अभी तक विद्यमान है।

रूप के भक्तिभावपूर्ण सोलह ग्रन्थ मिलते है। चौहत्तर वर्ष तक इस धराधाम में रहकर भक्ति तत्व का प्रकाश करते रहे। इनका बैकुण्ठ वास सन् 1563 सम्वत् 1620 श्रावण शुक्ल द्वादशी माना जाता है। **सनातन** परम रसिक, भागवत और भगवतरस रसिक वैष्णव थे, इनके भक्तितत्व के चार प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सत्तर वर्ष की आयु अवस्था में सन् 1558 ई. सम्वत् १६१५ की आषाढ़ सुदी चतुर्दशी को इन्होंने गोलोक धाम की यात्रा की।

दोनों भाई मुसलमानियत मजहब के रहनी करनी में रहते हुए भी महाप्रभु गौराङ्ग देव के कृपाप्रसाद और तीक्ष्ण वैराग्य से युक्त होकर प्रभु श्रीकृष्णा और राधे रानी के अत्यान्तिक दयालुता, कृपालुता के सुपात्र बनकर पतितजनों को भी भगवत-सम्मुख करने में बड़े ही प्रवीण हुए।

●○●○●

19. श्री जीव गोस्वामी

श्री जीव गोस्वामी रूप सनातन के अनुज, अनूप के पुत्र थे। रूप ही इनके दीक्षा गुरू थे। भक्ति प्राधान्यजन को शास्त्रार्थ के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। यह न जानने के कारण जीव ने एक दिग्विजयी पण्डित को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इस गलती पर गुरू रूप ने इनका त्याग कर दिया था। ये भूखे प्यासे रहकर बैचैनी के साथ दिन काटते थे। यह समाचार सुन सनातन रूप के स्थान में आकर समझा बुझा कर जीव को अन्ततोगत्वारूप के चरणों में डाल दिया। गुरू शिष्य प्रेमाश्रुओं से सराबोर हो गये। ये वृन्दावन धाम में भक्ति ज्ञान वैराग्य के सिरमौर माने जाते थे। रात्रि को कहीं अन्यत्र विश्राम न करने का इनका नियम था। मीराबाई कृष्णभक्ता के रूप में इनसे मिली थीं, जब मीराबाई ने सन्देश भेजा कि वृन्दावन श्रीकृष्ण का अन्तःपुर है यह गोपियों की सिद्धभूमि है, यहाँ तो पुरुष को ही नहीं रहना चाहिए। तब स्वयं जीव गोस्वामी आकर मिले।

वृन्दावन में रहकर ये भक्तिविहीन क्षेत्र में भक्तिरस के रसिकों को भेजकर उस क्षेत्र में अनेक माध्यमों से भक्ति भावना जागृति का काम करते थे।

एक बार अकबर की प्रार्थना पर ये आगरा गये थे, परन्तु अकबर ने ऐसी सुनियोजित व्यवस्था कर रखी थी कि रात्रि विश्राम समय में जीव गोस्वामी अपने स्थान पर पहुँच सके थे।

●○●○●

20. महाप्रभु बल्लभाचार्य - पुष्टि मार्ग प्रवर्तक

विक्रम सम्वत् १५३५ में एक तैलंग ब्राह्मण दम्पत्ति, लक्ष्मण भट्ट व इल्लम्मा तीर्थ यात्रा करते हुए काशी में ठहरे थे, कि काशी पर यवनों का आक्रमण सुनकर वे दोनों दक्षिण की ओर चलकर चम्पारण्य नामक वन में आये। जहाँ इल्लाम्मा ने वैशाख एकादशी को पुत्र रत्न को जन्म दिया। जो बल्लभ हुए। वहाँ से वे पुनः लौटकर काशी के हनुमान घाट में रहने लगे। बाल्यावस्था में बल्लभ समस्त वैष्णव शास्त्रों में पारङ्गत हो गये और उनमें भगवद्भक्ति का उदय होने लगा। तेरह वर्ष की अल्पायु में वे वेद, वेदाङ्ग, पुराण, धर्मशास्त्र में पूर्ण निष्णात हो गये। विष्णु स्वामी, सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धान्तों से वे प्रभावित थे। उन्होंने विजय नगर की राजसभा में शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों में मायावाद और अद्वैतवाद के ग्राह्य स्वरूप का खण्डन करके भगवान की शुद्ध भक्ति की मर्यादा स्थापित कीं। उनका कनकाभिषेक हुआ और 'जगद्गुरू महाप्रभु श्रीमदाचार्य' की उपाधि से उनको विभूषित किया गया। उन्होंने भागवत धर्म के प्रचार हेतु उत्तर भारत की यात्रा की।

अठ्ठाइस वर्ष की आयु में उन्होंने साध्वी महालक्ष्मी के साथ विवाहसूत्र में बँधकर प्रयाग के सन्निकट अड़ैल में रहने लगे।

उन्होंने पुष्टिमार्ग की स्थापना की और श्रीमद्भागवत के साप्ताहिक पारायण का स्थान स्थान पर प्रचलन प्रारम्भ करवाया। पुष्टिमार्ग या भगवदानुग्रहं या कृपा पर जोर देकर भगवान के यशलीला गान को, इस मार्ग में विशेष श्रेयस्करी के रूप में वरण किया गया।

उन्होंने वैष्णवों को गुरूतत्व सुनाया; भेद बताया। इनके शिष्य सूरदास, इनकी चरण भक्ति से साहित्य में भगवान की लीला का सागर उड़ेल दिया। शिष्य कुम्भनदास ने गुरू बल्लभ के प्रताप से प्रमत्त होकर सीकरी में लोकपति अकबर का मान भेदन कर दिया। उन्हीं के शिष्य परमानन्द ने परमानन्द सागर की सृष्टि की। और कृष्णदास ने कहा "कृष्णदास गिरधर के द्वारे श्रीबल्लभ पद रज बल गरजत", कहकर उनकी भक्ति कल्पलता की अभिवृद्धि की।

गोवर्धन में एक मन्दिर बनवाकर उसमें श्रीनाथ की मूर्ति की स्थापना कर प्रतिष्ठा करवाई। श्रीनाथ की कीर्ति पताका फहराकर उसका भार उन्होंने अपने पुत्रों को सौंप दिया और वे अड़ैल आ गये। उनके बड़े पुत्र का नाम गोपीनाथ और छोटे बेटे का नाम श्री बिठ्ठलनाथ था।

जीव के कल्याण के लिए इन्होंने भगवान की भक्ति पर बल दिया और भगवान श्री कृष्णा ही परब्रह्म है, श्री कृष्ण की उनकी सेवा तथा उनके चरणों में पूर्ण समर्पण ही जीव का परम श्रेय है। अपनी दैवी प्रतिभा और ज्ञान के बल पर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जाकर भक्ति का खूब प्रचार किया।

श्री बल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्यदेव के समकालीन थे और दोनों महानुभावों की अड़ैल में भेंट वार्ता हुई थी। दोनों एक दूसरे से बहुत ही प्रभावित हुए थे।

गोकुल में भगवान श्रीकृष्ण ने उनको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया था। उनके जीवन का सार भगवान की विशुद्ध और अनन्य भक्ति थी।

परमधाम पधारने के कुछ पूर्व वे काशी आ गये और हनुमान घाट गङ्गा स्नान करने गये। गङ्गा स्नान समय में वहीं से एक उज्जवल ज्योति शिखा उठी और बल्लभाचार्य सदेह उठने लगे, सबके देखते देखते आकाश में लीन हो गये। तब आपकी आयु 52 वर्ष की थी।

●○●○●

21. गोसाईं विट्ठलनाथ जी

कलियुग में एक ब्राह्मण भक्त ने भगवान श्री कृष्णचन्द की आराधना करके उन्हें सन्तुष्ट किया और प्रभु के कहने पर वरदान माँगा कि "प्रभो! द्वापर में वात्सल्य भाव से पूरित जो आपके प्रति नन्दराय का प्रेम था, और लीला थी वही मुझे सुलभ हो, वही मुझे वरदान दीजिए।" प्रभु ने वही लीला प्रकट करने के लिए, महाप्रभु द्वारा स्थापित श्रीनाथ के मूर्ति में प्रवेश होकर विविध लीला करके गोसाईं विठ्ठलनाथ को अतिशय आनन्द की अनुभूति कराया।

श्री विठ्ठलनाथ महाप्रभु बल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र थे। महाप्रभु पुष्टि सिद्धांतों के भाष्यकार थे। उनके सिद्धान्त सूत्रों को श्री विठ्ठलनाथ गोसाईं और अष्ट छाप के महाकवि भक्तों ने, राजरानी भक्ति और भागवत धर्म की इस रूप में विजयनी पताका फहराई कि वह अनन्त काल तक बृजक्षेत्र में लहराकर पृथ्वीलोक को धन्याति धन्य करती रहेगी। श्री बिठ्ठलनाथ के कारण भक्ति रसमयी हो उठी और महाप्रभु बल्लभाचार्य की प्रेमलक्षणा भक्ति की कई गुणा बढ़ोत्तरी हुई। इनका जन्म सम्वत् १५७२ विक्रमी है। कलियुग के जीवों का उद्धार और सन्तों के प्रतिपालन के लिए ही इनका जन्म हुआ था। इनका जीवन गोवर्धन और गोकुल में व्यतीत हुआ। रुक्मणी और पद्मावती इनकी दो पत्नियाँ थीं।

इनके सात पुत्र और सात पुत्रवधुएँ थीं। एक बार एक कचेरिन बहुओं को चूड़ी पहिनाने का आदेश प्राप्त कर सभी पुत्रवधुओं को चूड़ियाँ पहिना आई जब बिठ्ठलनाथ गोसाईं ने पूछा "कितनी बहुओं ने चूड़ियाँ पहनी है?" तो कचेरिन ने कहा "आठ बहुओं ने।" उनके इस कथन पर कि "बहुएँ तो सात ही हैं" तो कचेरिन ने कहा "मैंने गिन गिन कर आठ को ही पहिनाई है।" गोसाईं जी प्रतिवाद न करते हुए कचेरिन के मनमाफिक द्रव्य देकर विदा किया। परन्तु गोसाईं जी के मन में यह बात बार बार आती रही कि आठवीं पुत्रवधू कौन हो सकती है। अन्त में जब सायंकाल की आरती हो रही थी तब गोसाईं जी स्पष्ट देख रहे थे कि "किशोरी जूँ राधेरानी जी मंद मंद मुस्करा रही है" और अपनी मधुर मुस्कान पर उन्होंने गोसाईं जी से कहा "उनको लड़का बनाने में तो बहुत अच्छा लगा था, अब मुझे चूड़ियाँ पहिनाने में आगा पीछा क्यों होता है ?" यह सुनते ही गोसाईं जी के प्रेमाश्रु झर झर पृथ्वी को प्लावित करने लगे।

कुछ कारणों से इनकी विधवा भाभी ने अपने पुत्र पुरुषोत्तम का पक्ष लेकर श्रीनाथ मन्दिर के उत्तराधिकारी पद से, श्री कृष्णादास मुख्य अधिकारी के समर्थन के कारण इनको वञ्चित करा दिया। तब ये परासोली चले गये और झरोखे से मन्दिर के पताका को नित्य नमस्कार करते थे। श्रीनाथ के वियोग में जो उस समय उन्होंने रचना की वह 'विज्ञपि' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण

की भक्ति प्राप्ति में इन्होंने कलाकारिता, सङ्गीत निपुणता, काव्य मर्मज्ञता, चित्रकारिता का सदुपयोग कर असंख्य जीवों को भव सागर से पार उतार दिया। भगवद्भक्ति तो इनकी सहज सिद्धि थी। महाकवि सूरदास व अन्य सात महान विभूतियों को अष्टछाप की गद्दी पर बैठा कर इन्होंने भक्ति को रसराज सिद्ध किया। अष्ट छाप उनकी भक्ति मर्मज्ञता की अमरलता है। महारानी दुर्गावती और राजा आसकरण ने अपना परलोक बना लिया।

विक्रम सम्वत् १६४२ में गोसाईं बिठ्ठलनाथ ने गोवर्धन की एक कन्दरा में प्रवेश कर गोलोक की यात्रा की।

●○●○●

22. भक्त सूरदास

भक्त सूरदास को उद्धव जी का अवतार मानते हैं। महात्मा भक्त प्रवर, सन्त सूरदास महाप्रभु श्री बल्लाभाचार्य के शिष्य और गोसाईं बिठ्ठलनाथ के अष्टछाप कवियों में थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य के शब्दों में वे ''भक्ति के सागर और बिठ्ठलनाथ की सम्मति में'' वे पुष्टिमार्ग के जहाज थे। सूरसागर काव्यामृत का असीम सागर है। भगवान की लीला ही उनकी अपार अचल और अक्षुण्य सम्पत्ति थी। ये तुलसीदास गोस्वामी के समकालीन है और वृन्दावन में दोनों की भेंटवार्ता प्रसिद्ध हैं।

ऐसी जनश्रुति है कि दिल्ली के समीप एक निर्धन ब्राह्मण के घर विक्रम सम्वत् १५३५ को वैशाख शुक्ल पञ्चमी को एक दिव्य ज्योति धरती पर उतरी, चारों ओर प्रकाश छा गया। ऐसा लगा कि कलिकाल के प्रभाव को कम करने के लिए भगवती भागीरथी ने अपना कायाकल्प किया हो। शिशु के नेत्र बन्द थे। अन्धे होने के कारण पिता उनके प्रति उदासीन थे। धीरे-धीरे उनके अलौलिक और पवित्र संस्कारों की जागृति होने लगी। वैराग्य के कारण वे घर से निकल कर एक पीपल के वृक्ष तले अपना निवास बनाया। सही शकुन बताने और सही भविष्यवाणी के कारण उनका यश बढ़ने लगा और भजन में विघ्न होने के कारण उन्होंने उस स्थान को छोड़कर गऊघाट (मथुरा) में रहने लगे। वही आचार्य बल्लभ से दीक्षाप्राप्त कर अन्त में अपना निवास चन्द सरोवर के सन्निकट परासोली में बनाया और वहाँ से नित्य ही श्रीनाथ जी का दर्शन कर जाते थे।

एक दिन वे नवनीतप्रिय का दर्शन करने गोकुल गये वहाँ पर गोसाईं विठ्ठल के पुत्र गिरधर ने सूरदास की परीक्षा ली और वस्त्र के स्थान पर मोतियों की मालायें पहिनायी। सूर ने अपने दिव्य चक्षु से देखकर वर्णन किया और गाने लगे।

देखे री हरि नङ्गमनङ्ग। जलसुतभूषण अंग विराजत बसनहीन छवि उठत तरङ्ग॥

भगवान ने, अन्धे महाकवि की प्रतिष्ठा अक्षुण्य रखी। सूरदास **महाभागवत** थे उन्होंने उपास्य राधेरानी और श्रीकृष्ण के यश का वर्णन ही श्रेयष्कर समझा। गोपी प्रेम की ध्वजा भारतीय काव्य साहित्य में फहराने में वे अप्रतिम-अग्रगण्य माने जाते हैं।

अन्त समय में समस्त लौकिक चिन्ताओं से मन हटाकर उन्होंने श्रीनाथजी और गोसाईं बिठ्ठल का ध्यान किया। गोसाईं जी वहाँ आ पहुँचे, जब श्री विठ्ठलनाथ ने पूछा चित्तवृत्ति कहाँ है, तब उन्होंने कहा ''मैं राधेरानी की वन्दना करता हूँ, जिनसे नंदनंदन प्रेम करते हैं।'' जब भक्त चतुर्भुज ने अन्त में उनसे कहा कि आपने अपने महाप्रभु के यश का वर्णन कहीं नहीं किया, तो सूरदास की गुरू निष्ठा बोल उठी ''मैं तो उन्हें साक्षात् भगवान का रूप मानता हूँ। गुरू और भगवान में तनिक भी अन्तर नहीं है।''

अंत में राधाकृष्ण की रसमयी छवि का ध्यान किया और सदा के लिए ध्यानस्थ हो गए।

○●○●○

23. भक्त कुम्भनदास

इनके भी गुरू महाप्रभु बल्लाभाचार्य थे। दीक्षाकाल के पन्द्रह वर्ष पूर्व श्रीनाथ की मूर्ति का प्राकट्य हुआ था। पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित होने पर उन्हें कीर्तन की सेवा दी गई। और आचार्य ने इन्हें श्रीनाथ की सेवा करने की आज्ञा प्रदान की। एक बार श्रृंगार संबंधी पदों की रचना में युगल लीला सम्बन्धी पद से प्रसन्न होकर श्री आचार्य ने कहा ''तुम्हें तो निकुञ्ज लीला रस की अनुभूति हो गई। मुझे तो इसी रस की नितान्त आवश्यकता है।'' अपने आचार्य गुरू की लीला प्रवेश के अनन्तर ये गोसाईं बिठ्ठलनाथ के संरक्षण में रहकर भगवान के लीलागान में रहने लगे।

भगवान श्रीनाथ का वियोग ये एक पल के लिए भी नहीं सह सकते थे। एक बार गोसाईं बिठ्ठलनाथ के कहने पर ये द्वारिका की यात्रा में उनके साथ गये तो, परन्तु अप्सरा कुण्ड तक ही पहुँचे और श्रीनाथ के सौन्दर्य स्मरण से उनके अंग अंग सिहर उठे। माधुर्य सम्राट नंदनंदन की विरह वेदना में श्रीनाथ के वियोग में एक पद गाया –

केते दिन जु गये बिन देखै,
तरुनकिशोर रसिक नंदनंदन, कछुक उठति मुख रेखै।
वह शोभा वह कान्ति बदन की कोटिकचन्द विसेखै॥

यह सुनकर श्री बिठ्ठलनाथ ने इन्हें लौटा दिया। श्रीनाथ का दर्शन पाकर कुम्भनदास स्वस्थ हुए।

वृन्दावन के रसिक महात्मा, सन्त और राजा महाराजा उनके सत्सङ्ग की इच्छा से नित्य ही आया करते थे।

एक बार महाराज मानसिंह बृज आये। श्रीनाथ जी के दर्शन किये। उस समय कुम्भनदास मृदंग और वीणा के साथ कीर्तन कर रहे थे। राजा मानसिंह को उनकी पदगान शैली इतनी पसन्द आयी कि कुम्भनदास से मिलने वे जमुनावती गये। वहाँ उनकी दीन-हीन दशा देखकर चकित हो गये। उस समय कुम्भनदास ध्यान में थे। ध्यानोपरान्त उन्होंने अपनी भतीजी से आसन और दर्पण माँगा। भतीजी ने कहा ''आसन तो पड़िया खा गई और दर्पण भी पी गई।'' जब मानसिंह ने इसका आशय पूछा, तो कुम्भनदास जी ने बताया कि ''घास का आसन और पानी का दर्पण ही पड़िया ने उपयोग कर लिया।''

मानसिंह ने जमुनावती गाँव, मोहरों की थैली और सोने का दर्पण देने का आग्रह किया, तब कुम्भनदास ने कहा ''मेरा काम तो करील के और बेर के वृक्षों से ही चल जाता है।'' तब मानसिंह ने गद्‌गद् हृदय से इनके निष्पृहता की प्रशंसा की।

एक दिन श्रीनाथ दर्शन की यात्रा में संकर्षन कुण्ड पर ठहर गये। तव कुम्भनदास ने अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि अपने छोटे पुत्र चतुर्भुज से कहा कि अब घर क्या चलना है, शरीर छूटने वाला है। बिठ्ठलनाथ भी आ गये। उस समय कुम्भनदास ने युगल स्वरूप की छवि के ध्यान में पद गाया -

रसिकनी रस में रहत गढ़ी।
कनक केलि वृषभानुनन्दिनी श्याम तमाल चढ़ी॥

यह पद गाकर शरीर छोड़ दिया। एक सौ तेरह साल तक ये जीवित रहे।

24. भक्त चतुर्भुजदास जी

भक्त श्री चतुर्भुजदास महात्मा कुम्भनदास के सबसे छोटे पुत्र थे। अपने पिता की सुलभ भक्ति की सुलभता के कारण ये बाल्यकाल से ही भगवद्भक्त थे। श्री बिठ्ठलनाथ ने इन्हें मात्र इकतालिस दिनों में ब्रह्म सम्बन्ध देकर दीक्षा गुरू का पद ग्रहण किया था। श्रीनाथ की सेवा इन्हें बहुत ही भाती थी। वृद्ध पिता के साथ इनकी अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान प्राप्त करना इनकी भगवद्भक्ति, कवित्व शक्ति और विरक्ति का परिचायक है।

कभी-कभी नवनीतप्रिय के दर्शनों के लिए गोकुल भी जाते थे। पिता की तरह इन्हें भी श्रीनाथ का वियोग असह्य था। श्रीनाथ में इनका सख्यभाव था। भगवान इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर इनके साथ खेला करते थे। गुरू बिठ्ठलनाथ की कृपा से इनमें भगवान को प्रकट और अप्रकट लीला का दर्शन होने लगा था। इनको भगवान के नित्य सौन्दर्य में क्षण क्षण में नित्य नवीनता के दर्शन हुआ करते थे, लीला दर्शन कराने वाले को भगवान नित नये नये लगते हैं। यहीं तो उन नंदनंदन की विलक्षणता हैं। एक दिन श्री विठ्ठलनाथ गोकुल में थे, तो उनके पुत्रों ने परासोली (निवास स्थल) में महारासलीला की योजना बनाई। श्रीगोकुलनाथ ने रससम्राट श्रीनाथ जी के गायक चतुर्भुज को रासलीला में गाने का अनुरोध किया, जब चतुर्भुज ने पद गायन आरम्भ किया-

अद्भुत नट वेष धरे जमुना तट।
श्याम सुन्दर गुणनिधान। गिरवरधरन रास रंग नाचे।।

वैसे ही श्यामसुन्दर प्रत्यक्ष प्रकट होकर चतुर्भुज के पद गायन को सुनने लगे परन्तु उनके दर्शन मात्र श्रीगोकुलनाथ और चतुर्भुज को ही हो पाये।

एक समय श्री बिठ्ठलनाथ ने विदेश की यात्रा की तब उनके पुत्र गिरधर ने श्रीनाथ को अपने निवास स्थान मथुरा में पधराया। तब चतुर्भज अपनी सुध-बुध भूलकर गोवर्धन पर एकांत स्थान में हिलग हिलग कर विरह के पद गया करते। एक दिन विरह व्यथा से विदग्ध होकर गा रहे थे-

श्रीगोवर्धनवासी साँवरे लाल
तुम बिन रह्यो न जाय हो।।

इस गीत गायन पर भक्त की मनोदशा पर स्वयं भगवान व्याकुल हो गये और उन्होंने गिरधर जी को गोवर्धन पधारने की प्रेरणा दिया।

रूद्रकुण्ड पर एक इमली के वृक्ष के नीचे उनका गोलोक वास हुआ। विक्रम सम्वत १६४२ में परलोक गवन हुआ तब ये 67 वर्ष के थे।

25. भक्त परमानन्द

भक्त परमानन्द भगवान की लीला के मर्मज्ञ अनुभवी कवि और कीर्तनकार थे। वे अष्टछाप के कवियों में प्रधान स्थान रखते थे। श्रीमद्बल्लभाचार्य इनके दीक्षा गुरू थे, उनका पद संग्रह ''परमानन्द सागर'' के नाम से प्रसिद्ध है।

इनका जन्म कन्नौज में हुआ था परन्तु अपनी २६ वर्ष की अवस्था में ये प्रयाग चले आये इनकी कुटिया में अनेकानेक साधुसन्तों का आगमन होता था।

स्वामी परमानन्द एकादशी के जागरण करके भगवान की लीलाओं का कीर्तन किया करते थे। उसी समय अड़ैल में महाप्रभु बल्लभाचार्य का निवास था। महाप्रभु का जलघरिया कपूर परमानन्द स्वामी के जागरण उत्सव में शामिल हुआ करता था। एक दिन एकादशी की रात्रि उसे जमुना जी में नाव नहीं मिली तो वह जमुना जी को तैरकर इस पार आया। तब स्वामी परमानन्द ने देखा कि उसकी गोद में श्याम वर्ण का एक शिशु बैठा है, जिसके सिर में मयूर पच्छ का मुकुट गले में वनमाला है तथा वह पीताम्बर धारण किये हुए है उनको पूर्ण विश्वास हो गया कि भक्त की माधुर्यमयी गोद में भक्त श्यामसुन्दर ही उनका कीर्तन सुनने आये हैं।

एक बार स्वामी परमानन्द दास अपने गुरूदेव को उन्हीं की तीर्थयात्रा के समय में अपने निवास स्थान कन्नौज ले गये। वहाँ उन्हें अपने भजन 'हरिं तेरी लीला की सुधि आवै।' पद सुनकर तीन दिनों तक मूर्च्छित रहे। सुरभिकुण्ड पर श्याम तमाल वृक्ष के नीचे इन्होंने अपना स्थायी निवास बना कर नित्य ही श्रीनाथ का दर्शन करने जाया करते थे। एक बार जन्माष्टमी के समय वे श्री बिठ्ठलनाथ स्वामी के साथ गोकुल आये और नवनीत प्रिय के सामने पद गान किया। पद गाते गाते सुध बुध भूल गये, ताल स्वर का कोई ज्ञान न रहा। अन्त में मूर्च्छित हो गये। उसी स्थिति में गोवर्धन लाये गये। जब गोसाईं बिठ्ठल नाथ ने हाथ फेरा तब चेतना आई और नयनों में प्रेमाश्रु भर कर कहा ''प्रेममात्र तो केवल नंदनंदन है। भक्त तो उन्हीं के सहारे ही जीते हैं।''

विक्रम संवत् १६४१ की भाद्रपद कृष्णा नवमी को वे सुरभिकुण्ड पर गये थे, गोसाईं बिठ्ठलनाथ भी वहीं उपस्थित थे। परमानन्द का मन युगलस्वरूप की माधुरी में संलग्न था। उन्हीं ने पद गाया –

राधे बैठी तिलक सँवारति,
मृगनयनी कुसुमायुध कर धरि, नन्दसुमन को रूप विचारति।
दर्पण हाथ सिंगार बनावति, वासर युग सम ढारति॥

इस प्रकार चिन्तन करते-करते उन्होंने ने गोलोक यात्रा की।

●○●○●

26. भक्त कृष्णदास जी

भक्त कृष्णदास का जन्म विक्रम सम्वत् १५५३ में गुजरात प्रदेश अहमदाबाद के पास चलोतर ग्राम में हुआ था। ये बड़े सत्यनिष्ठ एवं निर्भीक थे। बारह वर्ष की अवस्था में इनके पिता ने एक बंजारा को लुटवा दिया था। इनकी निर्भीकता और सत्यनिष्ठा ने बंजारे का पक्ष लिया और उससे अपने पिता के विपक्ष में न्यायालय में अभियोग चलवा दिया। बंजारा को पैसा पिता से दिलवाया गया। महाप्रभु बल्लभाचार्य की दृष्टि जब मथुरा में इनके ऊपर पड़ी तो इन्हें संस्कारी समझकर दीक्षित कर ब्रह्म सम्बन्ध दिया। मन्त्र प्राप्त करते ही सम्पूर्ण भगवद्लीला का स्मरण हो गया। महाप्रभु ने इन्हें श्रीनाथ मन्दिर का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। इसके बाद श्रीनाथ की सेवा राजसी ठाठ से होने लगी। गोसाईं बिठ्ठलनाथ ने इन्हें अष्टछाप में गौरवपूर्ण स्थान से सम्मानित किया।

एक बार ये आगरा गये, वहाँ इन्होंने एक वेश्या को मधुर और सरस कण्ठ से गाते देखा। भगवान के भक्त के हृदय में उसके उद्धार निमित्त भाव जाग पड़े और इन्होंने वेश्या से वृन्दावन चलने को कहा कि वह उनके लाला (श्रीनाथ) को रिझावै। उनके सामने पद गायन करे तो वह उद्धार हो जायेगी। वाराङ्गना उनके अनुरोध को अस्वीकार नहीं कर सकी। अपने रसिक शेष को रिझाने के लिए उसे गोवर्धन श्रीनाथ मंदिर ले आये। श्रीनाथ की उत्थापन झाँकी का समय था उनके लाला का अद्भुत श्रृंगार था, वे मुस्करा रहे थे। भक्त कृष्णादास का ही रचित पद समर्पण में सातों स्वर एक साथ उसकी पायल ध्वनि पर नाच उठे। मृदङ्ग, झाँझ, वीणा, करताल, के तुक ताल पर लय यति वातावरण में कण कण में रस भर उठा। वाराङ्गना की अधर लहरी भक्त के लाला के चरण पखारने लगी।

मो मन गिरधर छवि पर अट् क्यौं,
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै चिबुक चारु गड़ि ठठ्क्यौं।
सजल श्याम घन वरन लीन ह्वै, फिर चित्त अनत न भट क्यौं,
कृष्णादास किय प्राण निछावीर, यह तन जग सिर पट् क्यों॥

गीत समाप्त होते ही श्रीनाथ जी के अंग से एक ज्योति निकली, वाराङ्गना उसी में लीन हो गई। उसके प्राण भगवान की सेवा में लीन हो गये। भक्त की मनःकामना पूरी कर दी गई।

विक्रम संवत् १६३६ में वे एक कुँआ बनवा रहे थे, उसका निरीक्षण करते समय ने कुआँ में गिर गये। आपकी कुँआ में गिरने से मृत्यु हो गई। जन समुदाय में यह चर्चा हो चली, कि इस प्रकार अकाल मृत्यु हो जाना मृत्यु की शुभस्थिति का सूचक नहीं है, इसलिए सामान्य जन में उनके प्रति जो उच्च भावना थी, उसमें गिरावट आ गई। तब एक दिन एक गौ चरवाहा ने

वन में गाय चराते समय गोप भेष में इनको देखा। तब गोप ने गौ चरवाहा को बुलाकर कहा कि ''श्रीनाथ के मन्दिर में जो कुँआ में गिरकर मरे थे, वही मैं अब कृष्ण की गोपमण्डली का एक गोप हूँ। अमुक स्थान में कुँआ बनवाने के लिए मैंने कुछ रकम धरती में गाड़कर रख दिया था। उसे निकाल कर कुँआ का शेष काम पूरा करवा लेवे, यह वहाँ के अमुक अधिकारी को कह देना।'' गौ चरवाहा के सन्देश के अनुसार बात सत्य निकली। जितनी मुद्रायें बताई गई थीं उतनी ही मिलीं।

●○●○●

27. भक्त श्री गोविन्ददास जी

विक्रम सम्वत् १५६२ में बृज के निकट ही आँतरी ग्राम में आपका जन्म हुआ था। वे ब्राह्मण थे। कुछ दिनों तक गृहाश्रम में रहने के बाद वैराग्य हो गया। तब लेकर महावन में जाकर भजन और कीर्तन करने लगे। महावन के टीले पर बैठकर शास्त्रोक्त विधि से कीर्तन करते थे। उन्हें काव्य और सङ्गीत का विशिष्ट ज्ञान था। गोसाईं विट्ठलनाथ इनके काव्य और सङ्गीत से परिचित थे। वे दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट भी थे। भक्त गोविन्द दास ने एक दिन गोकुल जाकर गोसाईं जी से ब्रह्म सम्बन्ध ले लिया। अब उन्होंने गोवर्धन को ही स्थायी निवास बना लिया। जहाँ वे रहते थे उस स्थान को ''गोविन्ददास का कदमखण्डी'' नाम से आज भी जाना जाता है। बृज से उन्हें इतनी आसक्ति थी, कि वे बैकुण्ठ से भी अधिक श्रेय बृज को देते थे।

गोविन्ददास जी की काव्य रचना में संख्य भावों का प्रकाश है। वे अष्टछाप में गोसाईं जी के द्वारा सम्मिलित किये गये थे। तानसेन तक कभी कभी उनकी सङ्गीत माधुरी का अस्वादन करने के लिए आया करते थे। श्री गोविन्ददास में संख्य भाव की इतनी मधुरिमा थी कि कभी कभी कीर्तन गान के समय स्वयं श्रीनाथ पद गाते थे और राधाजी ताल देती थीं। गोसाईं जी से श्री गोविन्ददास ने स्पष्ट इसका वर्णन किया।

एक बार पुजेरी श्रीनाथ जी के लिए राजभोग की थाली ले जा रहे थे कि गोविन्ददास ने कहा कि पहिले मुझको खिला दो। गोसाईं जी के पूछने पर इन्होंने कह दिया कि आपके लाला खा पी कर मुझसे पहिले गाय चराने पहुँच जाते हैं। तब से राजभोग के साथ ही गोविन्ददास को भी थाली दी जाने लगी।

श्रीनाथ जी प्रकट रूप में उनसे बात करते थे, पर देखने वालों को कुछ समझ में नहीं आता था। एक बार वन में श्याम ढ़ाक पर बैठ कर श्रीनाथ बंशी बजा रहे थे। इतने में उत्थापन के समय गोसाईं जी स्नान करके मन्दिर जा चुके थे इसलिए वृक्ष से कूँदने पर उनका बागा वृक्ष में ही उलझ गया और फट गया। जब पट खुलने पर बागा गोसाईं जी ने फटा देखा तो उसका रहस्योद्घाटन भक्त गोविन्ददास ने करके उसी वृक्ष में भी कुछ फटा हुआ बागा दिखा दिया।

एक बार गुल्ली के खेल में श्रीनाथ बिना दाँव दिये ही मन्दिर में आ गये। तब गोविन्द ने श्रीनाथ को गुल्ली मारी। इस असभ्याचरण के कारण पुजेरी मुखिया ने उन्हें मन्दिर से बाहर निकाल दिया। तब गोविन्ददास ने बदला लेने के लिए कुछ दूर जा कर रास्ते में बैठ गये। श्रीनाथ जी के सामने राजभोग रखा गया। भोग की थाली पड़ी रह गई, भोग अस्वीकार हो गया, मन्दिर में हाहाकार मच गया। मित्र रूठकर विश्वपति के दरवाजे से भूखे ही चले गये और भगवान भोग

स्वीकार कर ले। यह तो असम्भव है। अन्त में गोसाईं जी ने गोविन्द की बड़ी मनौती किया तब अपने गुरूदेव के साथ वे मन्दिर आये। पहिले उस दिन श्रीनाथ ने रूठे मित्र को भोजन करवाया तब कहीं भगवान ने राजभोग स्वीकार किया।

अपने गुरूदेव गोसाईं बिठ्ठलनाथ की तरह ही गोविन्द स्वामी ने गोवर्धन की एक कन्दरा में प्रवेश कर अपने मित्र के नित्यलीला में प्रवेश किया। इन्होंने आजीवन श्रीराधाकृष्ण के श्रृंगारलीला के ही पद गाये।

○●○●○

28. श्री मध्वाचार्य

भगवान नारायण की आज्ञा से स्वयं वायुदेव ने ही भक्ति सिद्धान्त की रक्षा एवं कलयुगी जीवों के निस्तारण हेतु मद्रास प्रान्त के मंगलूर जिले के अंतर्गत बेलनि ग्राम में भार्गवगोत्रीय नारायण भट्ट के पुत्र रूप में वेदमती के गर्भ से विक्रम सम्वत् 1295 में माघ शुक्ला सप्तमी को अवतार धारण किया था। ग्यारह वर्ष की उम्र में ही इन्होंने अपने माता-पिता को यह समझाकर कि उनके एक छोटा भाई होगा, उनसे स्वीकृति लेकर सन्यास ग्रहण कर लिया। अपनी बुद्धि के कारण वे वेदान्त के अध्ययन में अपने गुरू जी को ही समझाने लगते थे। जब अपने गुरूदेव से इन्होंने गङ्गास्नान और दिग्विजय करने के लिए देश भ्रमण करने की आज्ञा माँगी, तब अनन्तेश्वर जी ने स्वयं कहा कि "भक्तों के उद्धार हेतु स्वयं गङ्गा जी परसो सामने वाले सरोवर में प्रकट होगी" निर्धारित दिन को सचमुच हरे पानी के स्थान पर सफेद पानी हो गया और उस तालाब में तरङ्ग उठने लगी।

कुछ कालान्तर में ही इन्होंने देश भ्रमण में विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके भगवद्भक्ति और वेदों की ही प्रमाणिकता सिद्ध कर मायावाद, पाखण्डवाद का खण्डन करते हुए मर्यादा का संरक्षण किया। एक बार तो इन्होंने वेद के तीन, महाभारत के दस और विष्णु सहस्त्रनाम के सौ अर्थ प्रकट करके विद्वत समाज को आश्चर्यचकित कर दिया। पुनः इन्होंने गीता भाष्य लिखकर बद्रीनारायण की यात्रा की और गीताभाष्य को भगवान वेदव्यास को दिखाया। भगवान वेदव्यास ने भी उन्हें जनता के उद्धार हेतु उपदेश और ग्रन्थ निर्माण की आज्ञा दी। बहुत से नृपतिगण इनके शिष्य होकर इनके मतों का विस्तार किया और विद्वानों ने इनके सिद्धान्तों के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार किया।

अनेक मूर्तियों की स्थापना करके इन्होंने विद्वान और सुयोग्य व्यक्तियों को भागवत धर्म के प्रचार में विस्तार किया। भगवान व्यास के द्वारा तीन शालिग्राम की मूर्तियों को इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यत में विराजित कराई।

एक बार एक व्यापारी का एक जहाज तुलुब के पास डूब गया। उसमें गोपी चन्दन से ढकी हुई श्रीकृष्ण की एक मूर्ति थी। भगवान की आज्ञा से उन्होंने उस मूर्ति को जल से निकलवाकर उडूपि में उसकी स्थापना की। तभी से "उडूपिया रजत पीठपुर" मध्वाचार्य के मतानुयायियों का महान तीर्थ हो गया।

इनके रोम रोम में भगवान का अनुराग और संसार के प्रति विरक्ति भरी हुई थी। अनिष्ट करने वालों को भी उनके पकड़े जाने पर ये क्षमा कर देते थे। उडूपि में इन्होंने आठ मन्दिरों की स्थापना की, जिसमें सीताराम, द्विभुजकालियदमन, चतुर्भुजकालियदमन, बिठ्ठल आदि हैं।

इन्होंने अनेकों योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं, जिनके द्वारा वे सांसारिक जीवों के कष्टों का निवारण करके उन्हें परमार्थ में लगाते थे, भक्ति के सामञ्जस्य से उन्हें आनन्द की अनुभूति कराते थे। एक बार एक व्यापारी के एक जहाज को इन्होंने अपने योग सिद्धि से बचा लिया था। तब उस व्यापारी ने इनसे प्रभावित होकर अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा। परन्तु सम्पत्ति तो इन्होंने लिया ही नहीं बल्कि उसकी कृतज्ञता के कारण उसे भक्ति की ओर उन्मुख होने और सम्पत्ति का कुछ अंश गरीबों कंगालों को देने की आज्ञा दी।

देह त्याग के अवसर पर अपने पूर्वाश्रम के सोहन भट्ट अब जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था, को श्रीसीताराम की मूर्ति और वेद्व्यास की दी हुई शालिग्ग्राम की शिला देकर अपने मतों के प्रचार की आज्ञा दी थी। इनके शिष्यों के द्वारा अनेकों मठ स्थापित किये गये और उनके द्वारा मध्वाचार्य के मतों का प्रचार हुआ।

इनके उपदेश में नित्य निरन्तर भगवान का स्मरण है, जिससे अन्त समय में उनकी विस्मृति न हों। मरणकाल में भगवान की स्मृति तभी हो सकती है जब भगवान चिन्तन के इतनी प्रगाढ़ता हो कि उसे कष्ट में भी भगवान का चिन्तन कठिन न हो।

उन्होंने कहा – "सज्जनों! हमारी निर्मलवाणी सुनो, दोनों हाथ उठाकर हम शपथपूर्वक कहते हैं, कि भगवान की बराबरी करने वाला इस चराचर जगत में कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही नहीं सकता है, वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं, समस्त संसार उनके ही आधीन हैं।"

वे अन्तिम समय में सरिदन्तर नामक स्थान में थे, यहीं पर उन्होंने परमधाम की यात्रा की।

●○●○●

29. श्री निम्बार्काचार्य

भगवान सूर्य ने ही संसार की विभ्रान्ति मिटाने और जगत का कल्याण करने के लिए ही ग्यारहवीं शताब्दी में अवतार लिया था। गोदावरी के तट पर वैदूर्यपत्तन के निकट अरुणाश्रम में अरुणमुनि की पत्नी जयन्ती देवी के गर्भ से आचार्य चरण का अवतार हुआ था। कोई कोई इनको सुदर्शन चक्र का अवतार भी मानते हैं। इनके उपनयन संस्कार में स्वयं नारद जी ने उपस्थित होकर इनको गोपाल मन्त्र की दीक्षा दी थी। ''श्रीभू लीला'' सहित कृष्णोपासना का उपदेश दिया था। इनके गुरू नारद और नारद के गुरू सनकादि। इस प्रकार इनका सम्प्रदाय सनकादि सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवों के द्वारा इसे द्वैताद्वैत या निम्बार्काचार्य सम्प्रदाय के रूप में माना जाता है। कहा जाता है कि पहिले इनका नाम नियमानन्द था। देवाचार्य ने इसी नाम से इन्हें नमस्कार किया है।

बृज में गिरिराज गोवर्धन पर्वत के समीप ही इनकी साधना स्थली है। वही एक दिन एक दण्डी स्वामी ने आकर शास्त्रचर्चा चलाई और दोनों उद्भट विद्वानों को इसका पता नहीं चल पाया कि कब सूर्यास्त हो गया। सूर्यास्त के पश्चात् जब यति दण्डी स्वामी को आचार्य ने भोजन प्रसाद के लिए अनुरोध किया तब उन्होंने बताया कि उनका सूर्यास्त के पश्चात् भोजन करने का नियम नहीं है। उस समय अतिथि सत्कार से अत्यन्त प्रेम रखने वाले आचार्य वर को बड़ी चिन्ता हुई। जब इस पुकार अतिथि सत्कार न होने में धर्मसंकट के कारण हृदय में अति वेदना हुई, तो भक्तभय हारी भगवान ने एक विचित्र लीला की। अतिथि साधु के साथ सबों ने देखा कि एक नीम के वृक्ष के ऊपर सूर्य प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान की अपार करुणा का दर्शन कर के आचार्य का हृदय गद्गद् हो गया। उन्होंने निहाल हो कर अतिथि को भोजन कराया। लोगों ने इसे आचार्य वर की योगसिद्धि के रूप में ग्रहण किया तभी से इनका नाम निम्बादित्य या निम्बार्काचार्य हो गया।

इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की। परन्तु अब मात्र वेदांत सूत्रों के भाष्य 'वेदान्त परिजात सौरभ' के अतिरिक्त कोई ग्रंथ नहीं मिलता है। इनके संप्रदाय में राधाकृष्ण की पूजा की जाती है और अनुयायी गोपीचंदन का तिलक करते हैं। श्रीमद्भागवत को इस संप्रदाय में प्रधान ग्रंथ माना जाता है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी थे। इन्होंने आचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य पर ''वेदान्त कौस्तुभ'' नामक ग्रन्थ लिखकर उसकी व्याख्या की है। इनके सिद्धान्त के अनुसार जीव की मुक्तावस्था भगवत् प्रीति से ही सम्पन्न होती है। ब्रह्म का सगुन और निर्गुन दोनों रूपों में विचार किया जा सकता है। पर जीव की मुक्ति का साधन भक्ति है एवं सदाचार के द्वारा शुद्ध चित्त में जब भगवत कथा एवं भगवान के गुणगान श्रवण से भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है, तब मुमुक्ष पुरुष सद्गुरू की शरण ग्रहण कर उपासना द्वारा चित्त शुद्ध कर भक्ति को हृदयङ्गम करता है। गोवर्धन के समीप आचार्य श्री का आश्रम निम्बग्राम है।

●○●○●

30. गोस्वामी तुलसीदास व रामचरित मानस

जिस समय गोस्वामी तुलसीदास का आभिर्भाव हुआ, वह समय हिन्दू जाति के लिए घोर निराशा का था। चारों ओर विधर्मियों का बोलबाला था। हिन्दू अपना धर्म छोड़कर इस्लाम धर्मा धर्मी हो रहे थे। इसके अलावा हिन्दू किंकर्त्तव्यविमूढ़ था, कि अपनी जाति को, अपने धर्म को बचाने के लिए वह किसका सहारा ले ?

ऐसे निराशाजनक काल में गोस्वामी जी का अवतार डूबती नौका का कर्णधार बनकर आया।

ये बाल्मीक के अवतार माने जाते हैं, आपका आभिर्भाव विक्रम सम्वत् १५५४ की श्रावण शुक्ल सप्तमी को बाँदा जिले के राजापुर गाँवों में हुआ था।

बाल्यकाल का जीवन इनका बहुत ही दु:खदायी था। सात दिन में माता का देहावसान और पाँच वर्ष की आयु में इनकी पालिका चुनिया का स्वर्गवास हो कर इनको अनाथ बना दिया। तब स्वयं जगज्जनी पारवती एक ब्राह्मणी के भेष में इन्हें अपने हाथों भोजन करा जाती थी।

अन्त में शंकर जी की प्रेरणा से श्रीरामानन्द के प्रिय शिष्य नरहरियादास ने उनको ढूँढ़ लिया। और उनका नाम रामबोला रखकर यज्ञोपवीत संस्कार कराया। पुन: नरहरि स्वामी ने रामबोला को राम मन्त्र की दीक्षा दी। गुरू मुख से ही सूकर क्षेत्र में रामबोला ने रामचरित सुना। काशी के शेष सनातन से इन्होंने वेद वेदाङ्ग का अध्ययन किया और विवाह करके गृहास्थाश्रम धर्म स्वीकार किया। परन्तु कुछ काल बाद ही इन्होंने गृहस्थ धर्म का त्याग कर साधु वेष में हो गये। मानसरोवर में इन्हें काक भुशुण्डि के दर्शन हुए। एक प्रेत के माध्यम से इन्हे हनुमान जी के दर्शन हुए और पुन: चित्रकूट में प्रभु राम ने तुलसीदास जी से कहा "बाबा हमें चन्दन दे दो।" हनुमान जी ने "एक तोता का रूप धारण कर तुलसीदास को सचेत कराया कि वे ही प्रभु राम हैं, जो चन्दन लगा रहे हैं।"

प्रयागराज के माघ मेला में वट वृक्ष के नीचे इन्हें भरद्वाज और याज्ञवल्क्य के दर्शन हुए। वहाँ भी श्रीरामकथा चल रही थी।

काशी में आकर प्रह्लाद घाट पर एक ब्राह्मण के घर निवास किया, जहाँ उनकी कवित्वशक्ति का स्फुरण हुआ। संस्कृत भाषा में राम का चरित जो लिखते थे, वह मिट जाता था। तब शंकर जी ने प्रकट होकर उनको अयोध्या जाकर हिन्दी में काव्य रचना लिखने का आदेश दिया। सम्वत् १६३१ के रामनवमी के दिन वही योग त्रेतायुग में रामनवमी को भी था। इस परम पावन योग में भी शब्द ब्रह्म के रूप में रामचरितमानस का प्रारम्भ किया गया। दो वर्ष सात माह छब्बीस

दिन तक लेखन कार्य के अनन्तर मार्गशीर्ष (अगहन) की शुक्ला षष्टी या सीताराम विवाह के दिन में काव्य रचना का कार्य सम्पन्न हुआ।

काशी आकर तुलसीदास ने अपनी काव्य रचना भगवान विश्वनाथ और अन्नपूर्णा माता को सुनायी। पुस्तक पर "सत्यं शिवं सुन्दरं" लिखा था और लोगों ने इन शब्दों की ध्वनि भी सुनी। उस समय के मूर्धन्य विद्वान मधुसूदन सरस्वती ने हृदयस्पर्शी रूपक के द्वारा कविता में श्रीरामचरित मानस की प्रशंसा की। पण्डितों ने अनेक विधियों से जब रामचरित मानस की सुरक्षा को बेकाम न कर पाये तब उसके परिक्षण हेतु विश्वनाथ के मन्दिर में वेद शास्त्रों के नीचे रामचरित मानस रखा गया। सुबह पट खोलने पर सभी ने यह देखा कि श्रीराम चरित मानस वेदों के ऊपर रखा हुआ है।

तुलसीदास जब असीघाट में रहते थे, तब वहाँ मूर्तरूप में साक्षात् कलियुग आया और तुलसीदास जी के द्वारा प्रणयित रचनाओं से व्यथित होकर उन्हें त्रसित करने लगा। गोस्वामी जी ने तब श्रीहनुमान जी का ध्यान किया और उनके कहने पर विनय के पद रूप में विनय पत्रिका लिखा। विनय पत्रिका को भगवान श्रीराम के चरणों में समर्पित कर दिया। श्रीराम ने उसमें अपने हस्ताक्षर कर दिये और तुलसीदास को कलयुग से निर्भय कर दिया।

कलियुग के दोष दलन अन्धकार को मिटाने के लिए रामचरितमानस नक्षत्रों में सुशीतल प्रकाश से युक्त चन्द्रमा है।

तुलसी दास के आशीर्वाद से एक विधवा का पति जीवित हो गया था। इस घटना को सुनकर अकबर बादशाह ने इन्हें बुलाकर कुछ करामात दिखाने के लिए कहा। जब तुलसीदास ने अपनी करामात में रामनाम मात्र बताया तब बादशाह ने यह कहते हुए कि "जब तक कोई करामात़ न दिखाओगे तब तक छूटने नहीं पाओगे।" और बन्दी बना लिया। तब उन्होंने हनुमान जी की स्तुति की। हनुमान जी ने बन्दरों की सेना भेजकर कोट को विध्वंश करवाना शुरु किया, तब बादशाह आकर तुलसीदास के पैरों में पड़ा और क्षमा माँगी।

तुलसी दास जी एक बार वृन्दावन गये, साथ में सूरदास जी भी थे। एक मन्दिर में भगवान कृष्ण - विग्रह को सूरदास ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया परन्तु तुलसीदास ने यह दोहा कहा -

का बरनऊँ छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तव नवै, जब धनुष बान लो हाथ॥

तब श्रीकृष्ण विग्रह धनुर्धारी श्रीराम में परिवर्तित हो गया, तब तुलसीदास ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

गोस्वामी तुलसीदास श्रीराम के अनन्य भक्त तो थे ही, वे सन्तों में भी शिरोमणि माने जाते हैं, इन्हीं के समकालीन, भक्तों के चरित्रों के रचनाकार नाभादास ने एक बार सन्तों का सम्मेलन किया। जिसमें तुलसीदास सन्तों के शिखर पद पर मान्यता देने के लिए एक विशिष्ट बैठक की व्यवस्था थी। परन्तु तुलसीदास की तलाश करने पर जब वे नहीं मिल पाये तो वह आसन रिक्त था। सन्तों की पङ्गत समय में जब वे पधारे तो जहाँ सन्तों के पावों की जूतियाँ रखी हुई थी, वहाँ जाके वे चुपचाप बैठे गये। जब खीर परोसने वाले व्यक्ति को खीर परोसने के लिए दोना नहीं मिला और उसने पूछा ''सन्त जी खीर किसमें लेंगे? तो धीरे से उन्होंने सन्तों की एक पनहिया खीर डालने के लिए खिसका दी। खीर परोसने वाले ने इसे व्यङ्ग समझकर भक्त प्रवर व भक्तमाल रचयिता नाभादास से जाकर कहा; तब नाभादास स्वयं आये और बड़ी शालीनता और नम्रता के साथ उन्हें वहाँ से लिवा ले आये और उनके नियत आसन पर उन्हें आसीन कराया। और सबके सामने सन्तों के प्रति तुलसीदास की इस अभेददृष्टि का बखान किया।''

लगभग सवा सौ वर्ष तक इस धरा में भक्ति की अनेक विधियों से उपासना करते हुए सम्वत् 1680 में श्रावण कृष्णपक्ष तृतीया को असीघाट में राम राम कहते हुए अपने शरीर को त्यागकर साकेतलोक की यात्रा की।

श्रीरामचरित मानस :-

कलियुग इस बात को समझता था कि श्रीरामचरित मानस के रूप में, सभी आश्रमों, सम्प्रदायों, जातियों और विद्वानों-अनपढ़ों, क्रूर स्वभाव के नर-नारियों में यह दिव्य काव्य मेरे पैर नहीं जमने देगा, तभी वह साक्षात् प्रकट होकर तुलसीदास को कष्ट देने लगा था, जब श्रीराम ने तुलसीदास को अपना जन मान कर उनकी मान्यता की। तब कलयुग भी डर गया।

यथार्थ में यदि श्रीराम का श्री विग्रह साकार ब्रह्म है तो रामचरित मानस शब्द ब्रह्म है। कलियुग के दूषण से त्राण पाने के लिए इस पवित्र काव्य ने धूम मचा दी है, समूचे विश्व में रामचरित मानस की लोक प्रियता की सानी का कोई अन्य ग्रन्थ है ही नहीं। विद्वानों के समाज में कोई तर्क से या अपने ज्ञान सामर्थ्य से इस काव्य की यदि थाह लेना चाहे, तो यह निःसन्देह असम्भव है।

जिस प्रकार भगवान श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम है, ठीक उसी प्रकार शब्दों की मर्यादा से सम्पूर्ण काव्य ओत प्रोत है।

भगवान श्रीराम का श्री विग्रह तो साकार है पर अन्ततः वे अनन्त अखण्ड अनादि और परमार्थ वादियों के एकमात्र आश्रय है।

उसी प्रकार मानस के अनन्त भावों की कोई सीमा नहीं है, अन्ततः उसी में गोता लगाने और उसी में खो जाने की दिशा में मन की शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

एक गरीब अनपढ़ भी कहीं से कुछ चौपाई दोहा सीख कर रामचरित से उनका गायन करके आनन्दित होता है।

तो अपने बृहद्तम रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय मानस अनुसंधान केन्द्र, चित्रकूट' के रूप में समूचे विश्व को भी यह काव्य समेटे हुए है।

सीताराम की मात्राओं की वर्णक्रमानुसार जब गिनती की जाती है तो सीता में चौवन और राम में चौवन मात्रायें गिनकर योगफल एक सौ आठ ही हैं। जो नौ (ब्रह्म का प्रतीक अंक) से विभाजित होने वाली संख्या है। इसी प्रकार अनुसंधान करने पर कई सौ शब्द केवल नौ बार, अठारह बार, सत्ताइस बार या नौ से विभाज्य संख्या बार प्रयुक्त किये गये हैं।

इस तथ्य को समझने के लिए सीताराम दोनों मिलकर ही ब्रह्म होते हैं। सीता शब्द में स+ई+त+आ है। क्रम संख्या इस प्रकार **स** = व्यञ्जन का बत्तीसवां अक्षर; **ई** = स्वर का चौथा अक्षर; **त** = व्यञ्जन का सोलहवां अक्षर; तथा **आ** = स्वर का दूसरा अक्षर है। इस प्रकार ३२+४+१६+२ = ५४ हुए अब राम शब्द को इसी क्रम में रखने पर र+आ+म हुआ। **र** = व्यञ्जन का सत्ताईसवां अक्षर; **आ** = स्वर का दूसरा अक्षर; तथा **म** = व्यञ्जन का पच्चीसवाँ अक्षर होने के कारण २७+२+२५ = ५४ हो गये। इस प्रकार ५४ + ५४ = १०८ यही ब्रह्म की संख्या है। दूसरे शब्दों में सीताराम दोनों मिलकर ही पूर्णब्रह्म होते हैं, फिर भी राम पूर्ण ब्रह्म हैं। ब्रह्म शब्द को लेने पर इसमें चार अक्षर 'ब + र + ह + म' होते हैं। अब क्रम से **ब** = तेईसवाँ, **र** = सत्ताईसवाँ, **ह** = तैतीसवाँ और **म** = पच्चीसवाँ अक्षर है। इस प्रकार २३ + २७ + ३३ + २५ = 108 हुए। यह 108 ही पूर्ण ब्रह्म का गणितीय प्रतीक है। मुख्य शब्द जो रामचरित मानस में 9 से विभाज्य होने वाली संख्या में आये है। मरम–9 बार, इतिहास 9 बार, पथ 18 बार, श्रद्धासदन 18 बार, सन्त 81 बार और सीता शब्द 108 बार प्रयोग हुए।

इसी भाव की पुष्टि करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने दोहावली में लिखा है –

तुलसी अपने राम को, क्यों नहिं भजत निःशंक।
सदा एक ही रहत है, जैसे नौ को अङ्क॥

इसी तरह तुलसी दास जी ने आठ के अंक को माया का अंक मानते हुए लिखा है –

तुलसी माया को यही, क्यों नहीं तजत ससंक।
घटत घटत घट जात है, जैसे आठ को अंक॥

इस प्रकार राधिका कृष्ण से भी क्रमानुसार जोड़ने पर ५४ + ५४ = १०८ होते हैं। सीताराम के तदानुसार ही राधिकाकृष्ण पूर्णब्रह्म है। रामचरितमानस के अन्य स्थलों के दर्शनों से काव्य के शब्द ब्रह्म स्वरूप की झाँकी ब्रह्म का स्वरूप है 'अगुन अखण्ड आनन्द अनादी' वे ही दशरथ चक्रवर्ती राजा के सुत राम हुए हैं।

जेहि इमि गावहि वेद बुध, जाहि धरहि मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कोशलपति भगवान॥

वे सगुनरूप से दशरथ सुत राम है पर अन्ततः वे अनन्त है। अनन्त को और उसके कार्यों को देखने की सामर्थ्य सामान्य जीवधारियों के चर्मचक्षुओं में नहीं हो सकती। इसलिए शिवधनुष भञ्जन के समय रामचरित की चौपाई ब्रह्म के इसी भाव को प्रतिपादित करती है -

लेत चढ़ावत खैचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा।

वह काल का कौन सा न्यूनतम अवयव हो सकता है जिसके मध्य में श्रीराम ने धनुष को लिया चढ़ाया, खींचा और तोड़ दिया। इन चार क्रियाओं की अभिव्यक्ति तो हुई, पर ''काहु न लखा'' यह है मानस के अन्तर्गत अनन्त स्वरूप का दर्शन। धनुष खण्डन के कुछ ही काल पश्चात् जब श्रीराम की परीक्षा लेने हेतु परशुराम अपने पास रखे धनुष को देते हैं तो ब्रह्म तो पूर्ण है, किसी भी निमित्त से उसे कुछ भी लेने की आवश्यकता नहीं है, तो श्रीराम के पूर्ण ब्रह्म होने सम्बन्धी स्थिति का समाधान परशुराम को किस प्रकार हो। ऐसी स्थिति में ''देतु चाप आपुहि चलि गयऊ।'' दूसरे शब्दों में जड़ धनुष्य चेतन बनकर श्रीराम के कर कमलों में शोभा पाने के लिए स्वयं ही उत्सुक होकर चल पड़ा।

ब्रह्म अचल है, बनवास की अवधि पश्चात् श्रीराम के राज्याभिषेक में अचल ब्रह्म राजसिंहासन के पास तक कैसे चल सकता है, इसलिए -

प्रभु विलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिव्य सिंहासन माँगा॥

अब शब्द ब्रह्म श्रीराम चरित मानस में इन गुणों के स्थितियों की परख करने पर,

यह चरित कलिमलहर जथामति, दास तुलसी गायऊ॥

सुख भवन संसय समन दमन, विषाद रघुपति गुन गना।

सकल सुमंगल दायक, रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहि ते तरहि भव, सिन्धु बिना जल जान॥

इसलिए तुलसीदास जी रामचरित मानस के कुछ भक्तिमय स्थलों के लिए कहते हैं :-

सत पञ्च चौपाई मनोहर, जानि जो नर उर धरै।
दारुन अविद्या पंच जनित, विकार श्री रघुवर हरै॥

अर्थात् यदि कलयुग में कोई व्यक्ति इतना असमर्थ है कि वह अपने जीवन को भजनमय नहीं बना सकता है तो उसके लिए सरल उपाय यह है कि कम से कम सात पाँच चौपाईयाँ जो उसे मनोहर लगे उनको ही हृदय में धारन करें और उस स्थल की भक्तिमय प्रियता का रस लें। इतना करने मात्र से ही, जो इस अधम शरीर की संरचना ''छितिजल पावक गगन समीरा'' से जुड़ी हुई है, के दारून या दुःखदायी अज्ञान से उत्पन्न विकार को श्री रघुनाथ जी हरन कर लेंगे।

इसके अतिरिक्त श्रीमद् तुलसीदास जी की यह भी घोषणा है कि -

रघुवंशभूषण चरित यह, नर कहहि सुनहि जे गावही।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु, श्रम राम धाम सिधावहीं॥

यह कहने में अतिश्योक्ति की तनिक भी गुंजाइश नहीं है कि भगवान श्रीराम ने भक्तों के तरणतारण के लिए कलियुग में अपनी शक्ति ही श्रीरामचरितमानस में संकलित करके वे निश्चिन्त हो गये कि उनके जनों की रखवाली करने वाला अब ब्रह्म राम के रूप में रामचरितमानस इस जगती तल पर मौजूद हैं।

●○●○●

31. श्री गुरूनानक जी

मुगलों के शासन काल में जब प्रजा को नाना प्रकार के कष्ट देकर स्वधर्म त्याग और इस्लाम मजहब में दीक्षित करने की प्रवृत्ति जोरों में थी, ऐसे ही समय में साम्य के प्रतीक भक्त प्रवर गुरू नानकदेव प्रकाश में आकर भारतभूमि को पावन एवं प्रकाशमय किया।

गुरू नानक का जन्म विक्रम सम्वत् १५२६ में पञ्जाब के लाहौर जिला के समीप हुआ था। उनका जन्मदिन कार्तिक पूर्णिमा है। उनका जन्म स्थान नानकाना में एक बड़े तालाब के समीप है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है।

बचपन से ही आपकी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी थी। आप पूरी गृहस्थी छोड़कर विरक्त बनकर साधु सङ्गति में विचरने लगे। अध्यात्मिक अभ्युदय के लिए ज्ञान, भक्ति, नाम-साधन, भजन, सुरत शब्द योग का अभ्यास आपके उपदेशों में रहता था।

गुरू नानक देव यद्यपि जाति के पञ्जाबी थे, पर वे मात्र पञ्जाब के ही नहीं समूचे भारत के लिए आदरणीय थे।

उनके समय में जब बाबर ने सन् 1526 (सम्वत् १५८३) में भारत पर आक्रमण किया, तो उस अत्याचार, लूटमार और हत्याकाण्ड को गुरूनानक ने देखा और प्रजा की दुर्दशा पर कराह उठे। उन्होंने होने वाले अन्याय अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई, जिसके कारण बाबर ने उन्हें कैद कर लिया। जेल से रिहा होने पर उन्होंने सब कुछ छोड़कर देश देशान्तरों का भ्रमण किया। आप भारतीय साम्यवाद के सन्देश के लिए भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण किया। इसके लिए नेपाल, भूटान, सिक्किम, तिब्बत, चीन, ईरान और अरब तक गये। उनके इन प्रयासों के बदौलत लोग उनकी बातों से प्रभावित हुए और बिना भेदभाव के संस्थायें स्थापित हुईं जिसमें प्रभु चिन्तन की प्राधान्यता रखी गई।

गुरू नानक "एक पिता एकस के हम बालक" का आह्वान कर देश के सभी सम्प्रदायों को एक स्तर और एक मञ्च पर लाने की चेष्टा में तन्मय रहते थे। उन्होंने नेक कमाई करने व बाँट कर खाने की शिक्षा का जोरदार प्रकाशन कर उसे प्रभावशील बनाया।

एक समय गुरू नानक किसी स्थल पर शिवलिङ्ग की ओर पाँव करके पड़े हुए थे, कि किसी शिव भक्त ने आकर उनको फटकारा और शिवलिङ्ग की दिशा से पाँव दूसरी दिशा में करने को कहा। अपनी असमर्थता बताते हुए जब गुरू नानक के चरणों को पकड़कर उन्हें, शिवभक्त ने दूसरी दिशा में किया वैसे ही वह देखता है कि उस पाँव की तरफ ही शिवलिङ्ग पुनः स्थापित

हो गया। गुरूनानक की इस उच्च आध्यात्मिक स्थिति को देखकर वह भौंचक्का रह गया और गुरूनाननक से अपनी गल्ती के लिए क्षमा माँगी।

उनका कथन था कि जगदीश्वर ही सब कुछ है, नानक जी हमेशा आत्मोत्सर्ग और आराधना सीखने पर हमेशा बल देते थे।

गुरूनानक भारत के सन्त जीवन में वह स्थान बनाया है, जो देशवासियों को पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा देता रहा रहेगा।

●○●○●

32. सद्गुरु श्रीरामदास जी

समर्थ रामदास सचमुच कलियुग रूपी विधर्मी यवनराज्य के अत्याचारों के अन्धकार को मिटाने के लिए सूर्यवत् प्रकट हुए थे। धर्मप्रधान भारतभूमि में जब आततायियों का बोलबाला चरमसीमा में पहुँच चुका था। तब दिल्ली में कट्टरसुन्नी मुसलमान औरंगजेब शासक बनकर हिन्दुओं के प्रसिद्ध मन्दिरों को तोड़वाने और उनके धर्म कर्म को तबाह करने के लिए कटिबद्ध था। ऐसे समय में सनातन धर्म की रक्षा और भक्ति के वातावरण को निर्मित करने के लिए स्वयं हनुमान जी महाराज ने अवतार धारण किया था।

हैदराबाद राज्य के औरङ्गाबाद जिले के जाम्ब ग्राम में विक्रम सम्वत् १६६५ के ठीक चैत्र शुक्लपक्ष रामनवमी को राम जन्म के समय ही रानूबाई की पवित्र कोख से एक बालक ने जन्म लिया जिसका नाम नारायण रखा गया था। पाँच वर्ष की उम्र में इनका उपनयन संस्कार हो गया था। सूर्यदेव को ये प्रतिदिन दो हजार नमस्कार किया करते थे। आठ वर्ष की छोटी उम्र में इन्होंने श्रीहनुमान जी को प्रसन्न करके श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन प्राप्त किया था। यही नहीं, श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं इनको दीक्षा देकर इनका नाम रामदास रखा था। विवाह के समय विवाह मण्डप में जैसे पण्डितों ने मङ्गलाचरण के पश्चात ''शुभलग्न सावधान'' बोले, वैसे ही, सचमुच ही सावधान होकर वहाँ से ऐसे भागे कि बारह वर्षों तक इनके घर वालों को पता ही नहीं चल पाया। गोदावरी के किनारे किनारे ये नासिक पञ्चवटी पहुँचे, जहाँ इन्हें श्रीरामचन्द्र ने फिर से दर्शन दिया। उस अवसर पर 'करुणादशक' द्वारा इन्होंने करुणापूर्ण वाणी में प्रभु की विनय की। वहाँ से आप टाकली ग्राम (गोदावरी नन्दनी नदी के सङ्गम में) आये और वही त्रयोदशाक्षर मन्त्र ''श्रीराम जय राम जय जय राम'' का पुश्चरण प्रारम्भ किया। इस प्रकार वहाँ रहकर तप प्रधान जीवन बिताते हुए इनको तीन वर्ष हो गये। वहीं पर ब्रह्मयज्ञ करते समय एक स्त्री अपने पति के साथ सती होने के पूर्व इनको अन्तिम प्रणाम करने हेतु आयी। प्रणाम के अनन्तर इनके मुँह से आशीर्वाद स्वरूप ''अष्टपुत्र सौभाग्यवती भव'' शब्द मुँह से निकल गया। जब सब स्थितियाँ मालूम हुई तब इन्होंने स्त्री के पति के शव को अपने पास बुलवाकर उस पर श्रीराम का नाम लेकर तीर्थोदक छिड़का। तुरन्त ही वह शव राम-राम कहता हुआ जीवित हो उठा। पति का नाम गिरधर पन्त और स्त्री का नाम अन्नपूर्णा था। पुनः समर्थ ने दो पुत्रों के होने का और आशीर्वाद दिया। जब प्रथम पुत्र हुआ तो अन्नपूर्णा ने उसे लाकर समर्थ के चरणों में डाल दिया। यही समर्पित पुत्र आगे चलकर स्वामी रामदास के शिष्यों में प्रभावशील शिष्य हुआ।

श्रीरामचन्द्र के आदेशानुसार समर्थ रामदास ने तीर्थयात्रा सम्पन्न कर कृष्णा नदी के तट पर रहने लगे। तीर्थ यात्रा समय में अयोध्या जी में इन्हें पुनः श्रीराम दर्शन प्राप्त हुआ। गोदावरी की

परिक्रमा के समय लोगों ने इन्हें पहिचान कर इनके माता की विरह वेदना और उसके कारण नेत्रज्योति के खो जाने की बात, जब इन्हें बताया, तब माता के दर्शनार्थ ये जाम्ब ग्राम गये और द्वार से ''जय रघवीर जय समर्थ'' की आवाज में भिक्षा माँगी। उनकी आवाज पहिचानकर माता जी बाहर आई और पूछा ''कौन ? मेरा बेटा नारायण ?'' इनके ''हाँ'' कहने और माता के चरणों मे अपना सिर रखने पर माता चौबीस वर्ष बाद परम प्रसन्न हुई। नेत्रों में स्वामी जी के हाथ रखने मात्र से नेत्र ज्योति पुनः आ गई। वे जहाँ जहाँ तीर्थ यात्रा के समय में पहुँचे वहीं वहीं पर मठ स्थापित करके उपयुक्त अधिकारी नियुक्ति करते गये।

श्रीरामचन्द्र की आज्ञानुसार जब ये कृष्णा नदी के किनारे माहुलीग्राम में निवास करते थे तब बड़े बड़े सन्त इनसे मिलने आये। उसी समय वहाँ जयराम स्वामी, रंगनाथ स्वामी, आनन्द मूर्ति स्वामी और केशव स्वामी इनके पास आये। तव इन चारों स्वामियों और स्वयं समर्थ मिलकर ''दास पञ्चायतन'' के रूप में अध्यात्मिक समिति की संरचना की गई, जो अध्यात्मिक पुनरुत्थान में महान सहायिका सिद्धि रूप हो गई। शाहपुर में समर्थ रामदास ने प्रताप मारुति मन्दिर की स्थापना की और अपने अध्यात्मिक प्रभाव से अनेक प्रभाव शाली नर नारियों को दीक्षित करके धार्मिक वातावरण का निर्माण किया। उसी समय सम्वत् १७०२ में महाराज शिवाजी को भी शिष्य रूप में स्वीकार किया। अपने गुरू के कृपा प्रसाद से और उनके निर्देश पर चल कर शिवाजी ने औरंगजेब की बढ़ती इस्लामियत को पीछे धकेल दिया। अपने गुरू को उनकी भिक्षा में अपना बनाया समूचा राज्य एक पत्र में लिखकर उनके चरणों में समर्पित करके अपने अनूठे शिष्यत्व को प्रमाणित किया और स्वयं अपने गुरू के साथ भिक्षा माँगने चल पड़े। गुरू-आदेश पर ही उन्होंने उनकी मन्त्रणानुसार राज्यकाज सम्हाला। एक अन्धे कारीगर को आँखें देकर उससे रामलक्ष्मण जानकी और हनुमान जी की चार मूर्तियों का निर्माण कराया और उन्हें गुरू समर्थ ने सज्जनगढ़ में स्थापित कराकर पूजा अर्चना की विधिवत् व्यवस्था करवाई।

गुरू समर्थ रामदास के ''आत्माराम और दासबोध'' दो प्रसिद्ध ग्रन्थ अध्यात्मिक जगत की धरोहर के रूप में प्रसिद्धि पाई हैं। श्री समर्थ द्वारा स्थापित प्रसिद्ध ग्यारह मारुति मठ हैं और उन्होंने लगभग सात सौ मठों की स्थापना की जो प्रसिद्ध तीर्थ स्थल रूप मे मान्य हैं।

जब अपने अवतार के सभी प्रयोजनीय कार्य सम्पन्न कर चुके तब उन्होंने स्वयं अपने महाप्रयाण की इच्छा जाहिर की। उनके प्रयाण की बात सुनकर उद्धव आदि शिष्यों में घबड़ाहट हो गई, तब उन्होंने 'दासबोध' और 'आत्माराम' दो ग्रन्थों की ओर मार्गदर्शिकाओं के रूप में सेवन करने का आदेश दिया। अन्त में इक्कीस बार हर हर का उच्चारण करके जैसे ही इन्होंने श्रीराम नाम लिया कि उनके मुख से एक ज्योति निकल कर श्रीरामचन्द्र जी की मूर्ति में समा गई।

●○●○●

33. भक्त श्री एकनाथ जी

भक्त एकनाथ उन महान भक्त परोपकारी महापुरुषों में है, जिनके गुण और सत्संग तथा दर्शन से कलिमल ग्रसित नर नारियों ने अपने जीवन को दोषमुक्त करके गुणग्राही बनाया और उन्हें भगवत् सम्मुख होने की पात्रता प्रदान की। इनके कुल की अनेक पीढ़ियों में एक से एक भक्तों ने जन्म लिया। इनके पिता सूर्य नारायण और माता रुक्मणि देवी थी। मूल नक्षत्र में इनके जन्म लेने के कारण इनके पिता और कुछ काल पश्चात् माता का भी असह्य वियोग सहना पड़ा।

बारह वर्ष की अवस्था में इनके हृदय में ऐसी भगवत्प्रीति जागी, कि भगवान से मिलने के लिए ये सद्गुरू मिलन के लिए व्याकुल हो गए। तब आकाशवाणी से इन्हें आदेश सुनाई पड़ा कि ''जाओ देवगढ़ में, वहाँ जनार्दन पंत के दर्शन करो, वे तुम्हे कृतार्थ करेंगे।'' बारह वर्ष की स्वल्प आयु में गुरू शिष्य संयोग हुआ। वहीं गुरूजी के पास रहकर उनके आदेश का पालन करने लगे।

कुछ कालान्तर में एकनाथ स्वामी को भगवान दत्तात्रेय का साक्षात्कार हुआ। एकनाथ जी ने देखा कि गुरू ही दत्तात्रेय और दत्तात्रेय ही गुरू हैं। भगवान दत्तात्रेय ने उन्हें दीक्षा देकर कृष्णोपासना का रहस्य समझा कर शूलभञ्जन पर रह कर तप करने की आज्ञा दी। इसके बाद गुरू ने इन्हें सन्त समागम, तीर्थ यात्रा करने की आज्ञा दी और स्वयं भी नासिक त्रयम्बकेश्वर तक साथ गये। यात्रा में ही इन्होंने चतु:श्लोकी भागवत पर ओवी छन्द में एक ग्रन्थ लिखा। पञ्चवटी पहुँचकर इन्होंने श्रीरामचन्द्र के सामने अपने गुरू को सुनाया। पुनः एकनाथ स्वामी अपने ग्राम पैठण लौट कर शिव जी के मन्दिर में गये। वहाँ से अपने दादा दादी के लिवाने पर घर गये और आपने गुरू आज्ञा से ही पति पारायण, परम सती और आदर्श गृहणी गिरजाबाई को पत्नी रूप में प्राप्तकर आदर्श गृहस्थ जीवन बिताया।

एकनाथ ब्राह्मणों का बहुत आदर करते थे। वहाँ सदावर्त चलता रहता था। इनमें क्षमा, शान्ति, समता भूतदया, निरहङ्कारिता, निस्सङ्गिता और भक्तिपारायणता आदि दैवी गुणों के कारण इनके मात्र दर्शन मात्र से ही असंख्य स्त्री-पुरुषों के पाप-ताप-संताप नित्य निवारित होते थे। इनका जीवन वृद्धों को मुमुक्ष बनाने और मुमुक्षुओं को मुक्त करने और मुक्तों को पराभक्ति का परमानन्द दिलाने के लिए ही था।

पैठण में एक वेश्या नृत्यगान और सौन्दर्य में अद्वितीया थी। वह एकनाथ स्वामी के कीर्तन सुनने के लिए कभी कभी आती थी। महाराज एकनाथ के पिङ्गलाख्यान को सुनने के पश्चात् उसे अपने शरीर से घृणा हो गई और एक दिन उसने जब वे गोदावरी स्नान करके लौट रहे थे, अपने द्वार पर आकर एकनाथ स्वामी जी से कहा - ''क्या इस पापिन के घर को आपके चरण पवित्र करेंगे ?'' उसकी इच्छानुसार एकनाथ स्वामी उसके घर के अन्दर गये और तब वह वेश्या, वेश्या नहीं रही। उसे एकनाथ ने ''रामकृष्णाहरि'' का मन्त्र देकर दीक्षित किया। दस वर्ष बाद जब उस अनुगृहीता का देहावसान का समय आया, तब वह श्रीकृष्णा के स्वरूप में निमग्न थी।

एक बार एकनाथ जी के घर में पिताजी के श्राद्ध में ब्राह्मणों के भोजनार्थ मिठाई पकवान बनने से दूर तक इसकी सुवास जा रही थी। इनके दरवाजे से दूसरे ग्राम के कुछ महार लोग अपने ग्राम तरफ जा रहे थे, उनमें एक ने कहा ''कैसी बढ़िया पकवानों की सुगंध आ रही है'' तब दूसरे ने कहा ''यह हमारे भाग्य में नहीं है। क्योंकि हम ब्राह्मण नहीं हैं।'' इतना सुनते ही एकनाथ स्वामी ने सभी को बड़े प्रेम से बुलाया और बने पकवानों को उन महारों को खिला दिया। पुनः शुद्ध गोबर से लीप पोतकर दूसरी रसोई तैयार की गई और आमन्त्रित ब्राह्मणों को बुलाया गया, परन्तु पहिले महारों को भोजन करा दिया गया था, इसलिए आमन्त्रित ब्राह्मणों में से कोई ब्राह्मण भोजनार्थ नहीं आया। तब एकनाथ ने अपने मन्त्र बल के प्रयोग से पितृलोक से सशरीर पितरों को आह्वान कर बुलाया। आकाश मार्ग से आकर उन्होंने भोजन किया और पुनः अपने लोक को चले गये। जब ब्राह्मणों ने यह दृश्य देखा तब उनको श्रीएकनाथ के योगबल पर आश्चर्य हुआ।

इनक्री कथा में एक दिन चार चोर आ कर बैठ गये, जो कथा समाप्ति पर चोरी करने की नियत से आये थे। दो बजे रात को देवगृह में उन्होंने एकनाथ स्वामी को समाधि स्थिति में देखा, उन्हें देखते ही सभी अन्धे हो गये। अन्धे होने पर जब उनके द्वारा कुछ बर्तनों के टकराने से आहट हुई तब एकनाथ स्वामी की समाधि तन्द्रा भङ्ग हुई और उन्होंने चोरों से पूछा ''कौन हैं ?'' सब हाल उजागर होने पर जब एकनाथ ने उनकी आँखों पर हाथ फेरा तो उनकी दृष्टि पूर्ववत् हो गयी। तब एकनाथ स्वामी ने उनसे कहा ''ये कपड़े और बर्तन तो तुम लोग ले ही जाओ और भी जो चाहो ले सकते हो।'' यह कहकर उन्होंने अपनी अँगूठी उनके सामने रख दी। चोर बड़े लज्जित हुए और चोरी न करने की प्रतिज्ञा कर ली।

इसी प्रकार एक यवन इनके गोदावरी स्नान से लौटने पर इनके ऊपर कुल्लाकर देता था। इससे उस दिन इन्हें पुनः स्नान करने जाना पड़ता था। एक दिन तो उसने सीमा ही पार दी। उस जिन बामन बार एकनाथ स्वामी के ऊपर कुल्ला किया। इसके बाद भी एकनाथ स्वामी की शान्ति भङ्ग नहीं हुई। यह देखकर वह यवन अपने किये पर बहुत लज्जित हुआ और इनके पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी। तब इन्होंने उससे कहा ''तुमने मेरे ऊपर उपकार ही किया, कम से कम आज बामन बार गोदावरी स्नान करने का अवसर दिया।'' तब से उसका जीवन ही बदल गया।

विक्रम सम्वत् १६५६ में चैत्र कृष्ण पक्ष की षष्ठी को अपने आप को गोदावरी तट ले जाकर शरीर छोड़ दिया अपने प्रयाणकाल को उन्होंने पहिले ही बतला दिया था। इससे समूचे पैठण में भगवत्नाम हरिकीर्तन की धूम मची हुई थी। दूर दूर से दर्शनार्थियों की भीड़ मची हुई थी। उस दिन स्वस्थ स्थिति में ही उन्होंने गोदावरी में स्नान किया और बाहर निकल कर सदा के लिए समाधिस्थ हो गये।

●○●○●

३४. परिव्राजकाचार्य श्री श्रीधर स्वामी जी

भगवान दत्तात्रेय ने ही बीसवीं सदी में श्री श्रीधर स्वामी के रूप में अवतार ग्रहण कर जगत के उद्धारार्थ हैदराबाद के भाग्य नगर में पतकि वंश के अगस्त्य गोत्रीय श्रीनारायणराव और कमलाबाई नामक ब्राह्मण दम्पत्ति से मार्गशीर्ष शुक्ल पूर्णिमा को जन्म लिया। यह दिन दत्त जयन्ती का था। एक एक करके पिता, एक भाई, बहिन और अन्त में माँ भी परलोक वासी हुई। पुणे में ये पढ़ते समय शंकराचार्य के ''भिक्षौषधं भुञ्जताम'' इस वचन के अनुसार मधुकरी करते थे। उस समय ये ज्ञानार्जन के काम के अलावा व्यायाम और कुश्ती का भी अभ्यास करते थे।

अन्तिम सत्य जानने के लिए पराविद्या के ज्ञानार्जन हेतु अध्यात्मिक गुरू की तलाश में व्यस्त हो गये। अन्त में पलनीटकर जी के कथनानुसार वे समर्थ स्वामी रामदास जी को ही अपना गुरू मान कर विश्व कल्याण हेतु में श्री समर्थ के सज्जनपुर की ओर चल पड़े।

सज्जनपुर आकर उन्होंने श्रीसमर्थ की मूर्ति के सम्मुख आकर उन्हें प्रणाम किया। वहाँ तीन वर्षों तक काम करने के पश्चात् जब एक दिन वे ध्यान में बैठे थे, उसी समय सभी दिशायें प्रकाश से व्याप्त हो गईं। कुछ समय बाद उसी प्रकाश के तेज की एक मूर्ति बनकर सामने प्रकट हो गई। वे श्री समर्थ थे। उन्होंने इनके मस्तक पर हाथ रखकर ''अहं ब्रह्मास्मि'' आदि महावाक्यों का अर्थ समझाकर, उपदेश देकर अदृश्य हो गये।

इस प्रकार सन् 1929 ई. की दास नवमी को समर्थ से अनुग्रह प्राप्त किया और पुनः प्रत्यक्ष होकर दक्षिण दिशा की ओर जाने की श्रीसमर्थ ने आज्ञा दी। बाद में श्रीधर ने चित्रमूल में कई दिनों तक उग्र तप किया। पाँच वर्ष पश्चात् परमानंद मठ आकर संस्कृत पाठशाला की व्यवस्था करवाई।

अपने तपोबल व अध्यात्मिक पैठ और साधु स्वभाव के कारण वे परम वैराग्यनिधि ''परमहंस परिव्राजक सद्गुरू श्रीधर स्वामी'' बन गये। दुःखियों के दुःख दूर करने में ये कभी थकते नहीं थे। उनके सहवास में सभी को नित्य समाधान, आनन्द, उद्वेग रहित जीवन का अनुभव होता था।

कर्नाटक के शिवभोगम् जिले में बछलि एक छोटे से ग्राम में इन्होंने 1954 में चतुर्मास किया और वही अपना धर्मोद्धार का केन्द्र बनाया। सनातन धर्म के प्रचार प्रसार के लिए वहीं धर्मध्वज की स्थापना की। वही आर्य संस्कृति नामक ग्रन्थ लिखा। उन्होंने सारे भारत में भ्रमण किया। धर्मोद्धार के लिए जो काम करना था वह सब पूरा किया। 11 जनवरी 1967 ई. में पौष सुदी तृतीया को सारे विश्व का मंगल चिन्तन कर सर्वथा एकान्त के लिए उन्होंने बरदपुर के शिकर कुटी में प्रवेश किया और 19 अप्रैल 1973 को परं ब्रह्म स्वरूप में प्रविष्ट हो गये।

●○●○●

35. महर्षि खाकी बाबा

श्री हनुमान जी के अंशावतार महर्षि खाकी बाबा का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के मैरीटाँड ग्राम में सन् 1900 और विक्रम सम्वत् 1957 को कार्तिक सुदी त्रयोदशी को हुआ था। आपके पिता श्रीराम सुभग मिश्र और माता राम नन्दी कुँवरी थी। जन्म से ही इनका दायाँ हाथ बन्दरों जैसा था। अयोध्या जी से आये एक सिद्ध सन्त श्री पयहारी जी ने निराकरण रूप में बताया कि बालक हनुमान जी का अंश है।

छोटी अवस्था में ही आपको हनुमान जी के दर्शनों के लिए इच्छा बलवती हो उठी थी। सबसे यही बोलते कि ''श्री हनुमान जी के दर्शन हमें करा दीजिए।'' एक सिद्ध सन्त हनुमंत सिद्ध महात्मा के आदेश से अपने ही बगीचे में पन्द्रह दिन तक चलने वाले अनुष्ठान को करना प्रारम्भ किया। सोलहवें दिन ब्रह्ममुहुर्त में शिशु खाकी बाबा को एक सिंह के समान आकार का बन्दर दिखाई पड़ा। वे हनुमान जी ही थे। शिशु खाकी बाबा के विधिवत् पूजा को स्वीकार कर श्री हनुमान जी ने उनसे वर माँगने को कहा। इस पर उन्होंने यही माँगा ''कि आप मुझे अपने से विलग कभी न करे।'' अन्य दूसरे वर में ''मुझे रघुनाथ जी से मिला दीजिए।'' दोनों अभीष्ट वर प्रदानकर श्री हनुमान जी अन्तर्ध्यान हो गये।

हनुमत् दर्शन के पश्चात शिशु खाकी बाबा को श्री रघुनाथ जी के दर्शनों की इच्छा बलवती हो गई, तब उन्होंने आचारी वैष्णव श्री राधाकृष्ण से राम मन्त्र की दीक्षा प्राप्त की। श्रीरामजी के दर्शनों के लिए आप इतने व्याकुल हुए कि एक रात जब सभी सोए हुए थे, तो वे सात वर्ष की अवस्था में अवध के लिए निकल पड़े, उनके हृदय में प्रेम की हिलोरें ले रही थीं। तीव्र वैराग्य और श्रीराम दर्शन की तीव्र लालसा में आप अयोध्या के महात्मा गोमती दास (जो हनुमान जी के परम उपासक थे) के पास पहुँचे। अनेकों सन्तों और उपासकों से मिल कर जब ये पुनः गोमतीदास जी से भेंट किया तब उन्होंने इन्हें घर वापस जाने को कहा। घर तो आप आ गये परन्तु वैराग्ययुक्त प्रेम की बाढ़ को रोकना आपके बस में नहीं था। संयोग से आपके ग्राम में एक सिद्ध भावुक और विरागी सन्त श्री श्यामदास पधारे, जिनसे आपने विधिवत् दीक्षा प्राप्त कर उनके कथनानुसार भजन पूजन करने लगे। गुरू श्यामदास के आदेश से आप चित्रकूट आये और वहाँ पर साधुता की शिक्षा ग्रहण कर उसमें प्रावीण्यता प्राप्त किया, और प्रयागराज में कुम्भ के अवसर पर परीक्षा में (योगियों की कठिन परीक्षा) उत्तीर्ण होकर ''खाकी'' की उपाधि प्राप्त किया। पुनः जब आप घर आये तो आप विवाह बन्धन में बँध गये परन्तु आपकी दिनचर्या उपासना और नियम के साथ ज्यों के त्यों चलते रहे। अन्त में जब एक रविवार को आप अपने गाँव मैरीटांड़

से गङ्गास्नान करने जा रहे थे, तो रास्ते में एक सुन्दर तालाब के किनारे आपको बालक रूप में श्रीराम के दर्शन हुए, जैसे ही आप उस ओर बढ़े कि वे अन्तर्ध्यान हो गये।

पुनः जब आपने अयोध्या जी की यात्रा की, तब श्री गोमतीदास जी आपको परम माधुर्य उपासक रूपकला के पास ले गये। श्री रूपकला जी इन्हें देखने से ही ''श्रीरामदर्शी'' नाम से पुकारा और कहा कि ''आपकी भक्ति पर प्रसन्न होकर प्रभु श्रीराम ने आपको दर्शन दिया है, अब आप को भाव जगत में प्रवेश करना है।'' तब रूपकला जी इन्हें श्री लक्ष्मणशरण महात्मा जी के पास लेकर गये। महात्मा लक्ष्मणशरण की तीक्ष्ण दृष्टि को जैसे ही खाकी बाबा ने देखा कि उनको यह महसूस हुआ कि वे एक सुन्दर किशोरी है, जिनकी लम्बी लम्बी केशराशि पुष्पश्रृंगार से युक्त नाकफूल और कर्णफूल से सुशोभित हैं। अपने को इस स्थिति में समझकर आप श्रीरूपकला जी के पास दौड़ते गये, तब रूपकला जी ने ''प्रियाअली'' कहकर आपका स्वागत किया और कहा कि ''यही तो आपका असली स्वरूप है यह अनुभूति आत्मानुभूति है, निज स्वरूप का ज्ञान है, अब आप अपने इसी स्वरूप से अपने प्रियतम की सेवा किया करें।''

घर आकर आप तुलसी से अपना श्रृंगार करने लगे और पुरुष होते हुए भी स्त्री भाव से आप आराधना करने लगे। अब स्थायी रूप से आपको अपने प्रति ''प्रिया अली'' का भाव रहने लगा, यहीं नहीं, आप मानसिक रूप से अष्ट प्रहरीय सेवा करने लगे। इस आत्म ज्ञान को आपने अपने बाह्य जीवन के व्यवहारों द्वारा छिपा लिया। जिससे दुनिया इस भाव को देख न सके। इस भाव से आप अपने को मिथिलावासी मानने लगे और श्री किशोरी जी पर आपका सखी भाव हो गया।

अवध के एक प्रसिद्ध रसिकोपासक सन्त श्री रामाजी, प्रियतम भाव से ही श्रीरामजी की आराधना करते थे। वे भारत के कोने कोने में घूम कर श्रीराम विवाह का आयोजन करते थे। आप श्री रामाजी के इस भाव से अत्यन्त प्रभावित हुए। विवाहोत्सव उन्हें अपनी भाव साधना का मुख्य अंग ही समझ में आया। अपनी इस भाव साधना की सम्पूर्ति हेतु आप अपने ग्राम मैरीटांड में स्वयं विवाह रचाने लगे। इन विवाहों में आप इतने भाव विह्वल हो जाते थे कि अनेक संग्रहित विवाह गीतों के गायन के अतिरिक्त आप नृत्य भी किया करते थे। आप चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन को भी महत्व देकर यथा समय कीर्तन में तन्मय हो जाया करते थे।

भगवत् दर्शन एवं प्रियतम भाव से आराधना में आपको अद्‌भुत शान्ति मिली। अब आपका ध्यान लोक कल्याण की ओर गया। श्री हनुमान जी की आज्ञा से पितृऋण से उऋण होने के नाते अनासक्त भाव से आप गृहस्थ जीवन बिताने लगे। आपके यहाँ तीन पुत्र व दो कन्याओं ने जन्म लिया।

हनुमान जयन्ती के दिन एक विचित्र घटना घटी। उस दिन आपको हनुमान जी का भावावेष हो आया और कई मन चना का हनुमान को भोग लगाया और चना स्वयं खाने लगे। आपके खाने का ढंग भी बंदरों जैसा था, कुछ खाते और कुछ छीटते भी थे, आपके गर्दन में बन्दरों की तरह एक थैली भी निकल आई थी। जिसमें चना इकट्ठा होता जाता था। इस प्रकार आपने कई मन चना खा डाला।

खाकी बाबा का सम्पर्क हमेशा ही श्री हनुमान जी से और कबीरदास से हुआ करता था। बाबा स्वयं कहा करते थे कि ''कबीरदास मुझसे हमेशा मिलते रहते हैं।'' खाकी बाबा भी कबीरदास की तरह ही बाहरी आडम्बरों के पूर्णतः विरोधी थे। यहीं नहीं ,खाकी बाबा का सम्पर्क महारानी जनकनन्दिनी से भी बराबर रहा करता था। उनका आन्तरिक स्वरूप ही ''प्रिया अली'' का था। श्री किशोरी जी के अग्रजा अलियों में आपका स्थान था। एक बार सन् 1964 में एक भक्त उनसे मिलने आये किन्तु वह आपके पास दो सुन्दर स्त्रियों को देखकर संकोच से मुँह फेर कर बैठ गये। थोड़ी देर बाद दोनों स्त्रियाँ अन्तर्ध्यान हो गईं, तुरन्त उस भक्त ने शंका किया और कहा ''बाबा आपने अब परी सिद्ध कर लिया है।'' बाबा उसके भोलेपन पर हँसते हुए बोले स्वयं महारानी जूँ और चन्द्रकला जी थीं। इस तरह हनुमान जी की अकथनीय कृपा की पात्रता धारण कर आप अवध के मधुरोपासना सन्तों की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान भी रखते थे।

बक्सर में महाविद्यालय की स्थापना किया, और ''श्री सीताराम विवाहमहोत्सव'' का हर वर्ष मार्गशीर्ष की शुक्ल पक्ष षष्ठी तिथि को बहुत बड़े पैमाने में बक्सर में आयोजित करवाया। दस दिन तक चलने वाले इस महोत्सव को खाकी बाबा के निर्माण पश्चात् बक्सर निवासी ''श्री मन्नारायण चतुर्वेदी (मामाजी)'' संचालित करने लगे। इस महोत्सव में भाग लेने के लिए देश के विभिन्न भागों के सन्त, प्रवचन कर्त्ता, राष्ट्रीय स्तर की रामलीला कम्पनी तथा रासलीला कम्पनी अपना सहयोग देकर दर्शकों और श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर देती है। सभी आगन्तुक महानुभावों की यथोचित आवास और भोजन व्यवस्था होती है तथा सुबह से दस बजे रात्रि तक कार्यक्रम सन्चालित रहता है। सन् 2008 फरवरी में मामाजी श्रीमन्नानारायण चतुर्वेदी के साकेत वास हो जाने पर अब श्री राजारामशरण जी महाराज के द्वारा अपने विराट स्वरूप में महोत्सव का आयोजन होता है।

श्री खाकी बाबा ने कॉलेज (बक्सर) के बगल में श्रीराम जानकी का एक मन्दिर बनवाया और उसी मन्दिर के बगल में आप रहने लगे। अब हमेशा अपने आँखों के सामने आप इष्टदेव की मूर्तियाँ रखने लगे थे।

सन् 1965 का वर्ष था, आप अपने शिष्यों से कहने लगे, सन्त कबीरदास जी आये थे, कह रहे थे, ''तुम्हारा सभी काम खत्म हो गया, अतः अब साकेत चलो।'' मैं उनकी बुलाहट टाल नहीं सकता हूँ। कुछ दिनों बाद सन्त कबीर की बुलाहट फिर आई, इस बार उन्होंने धमकी दी अगर आप साकेत नहीं चलोगे तो वे आपकी दोनों आँखों को ही ले जायेंगे।

कुछ कालान्तर में खाकी बाबा के दो परम वैष्णव विचारधारा के प्रिय शिष्य और भजनानन्दी श्री रमाकान्त त्रिपाठी और मोहनलाल का साकेत वास हो गया।

तब बाबा ने कहा ''कबीरदास ने अपने वचनानुसार मेरे शिष्यों को ले जाकर मेरी दो आँखें ही फोड़ डाली है।'' तब से बाबा की वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई थी।

सन् 1970 में पहिले आपके पत्नी का देहावसान हुआ। पुनः एक दिन सुबह सूर्योदय पूर्व आपने कहा मैं अब प्रस्थान करूँगा। हनुमान चालीसा का पाठ करो। पाठ खत्म होते होते बाबा भगवन्नाम लेते लेते अपने दिव्य धाम को प्रस्थान कर गये।

●○●○●

36. हरिनाम संकीर्तन महिमा

एक बार वनमाली आचार्य कर्मकाण्डी ब्राह्मण, महाप्रभु चैतन्य देव के समीप आये, और उनके पादपद्मों में प्रणाम करके अपने संसार सागर में निस्तार के विषय में पूछा। प्रभु ने कृपा बस उससे कहा ''कलियुग में कर्मकाण्ड की क्रियायों का सांगोपांग होना दुःसाध्य है। इस युग में द्रव्य शुद्धि, मन शुद्धि और तन शुद्धि बन ही नहीं सकती है, इसलिए इस युग में तो एक मात्र भगवन्नाम ही आधार है। शास्त्र का कथन है -

''हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौनास्त्येय नास्त्येय नास्त्येय गतिरन्यथा॥''

- बृह्दनारदीय पुराण

प्रभु के उपदेशानुसार ब्राह्मण श्रीहरि संकीर्तन करने से परम भागवत वैष्णव बन गया। भगवान के एक नाम का उच्चारण करने मात्र से सब पापों की निवृत्ति हो जाती है। परन्तु पूर्णविश्वास न होने तथा नामोच्चारण के पश्चात् भी पाप करने के कारण ही उसका अनुभव नहीं होता।

पाप की निवृत्ति के लिए तो भगवन्नाम का एक अंश ही पर्याप्त है, जैसे राम का ''रा''।

''हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपिस्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावका॥''

अर्थात् दुष्टमनुष्य के द्वारा स्मरण किये जाने पर भी भगवान श्री हरि पापों को हर लेते हैं। अनजान में या अनिच्छा से स्पर्श करने पर अग्नि जलाती है।

भगवन्नाम मोक्ष का भी साधन है -

सकृदुच्चरितम् येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धा परिकरस्तेन मोक्षाय गमन प्रति॥

अर्थात् जिसने हरि इन दो अक्षरों के नाम के एक बार भी उच्चारण कर लिया, उसने मोक्ष प्राप्ति के लिए फेंटा कस लिया।

उदाहरण - दो भाइयों में बड़ा भाई सन्तों से द्वेष करता था, परन्तु छोटा भाई सन्तों का प्रेमी भी था। एक बार ग्राम में सन्त मंडली आई। जिसकी छोटे भाई ने ऐसे समय में उसके घर भोजन प्रसाद पाने के लिए आने को कहा, जब उसका बड़ा भाई घर पर नहीं रहता था। परन्तु सन्तों के महन्त ने उसी समय ही उसके घर जाने की जिद की। जब सन्त मण्डली बड़े भाई के मौजूदगी में ही उसके घर पहुँची तो बड़ा भाई यह जानकर कमरे में घुस गया। सन्तों के महन्त के कहने

से वह किसी प्रकार निकला। पर द्वार (दरवाजा) पर महन्त ने बड़े भाई का हाथ इतनी जोर से पकड़ लिया, कि उसका हाथ जोरों से दर्द करने लगा। जब उसके सहजोर दर्द के कारण महन्त जी के कहने पर राम शब्द कहा, तभी उन्होंने बड़े भाई का हाथ छोड़ा। जाते-जाते महन्त जी ने कहा कि राम-नाम के बदले मरने के पूर्व या पश्चात् कुछ नहीं लेना। मरने के पश्चात् यमपुरी में उसके पुण्य बल में मात्र एक राम नाम था, जब उसके बदले में कुछ पाप क्षय हेतु उससे कहा गया, तब बड़े भाई को महात्मा जी का स्मरण आया। अऔर उसने राम उच्चारण के बदले में कुछ न चाहा। तब अन्त में उसे साथ लेकर यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा और शंकर जी के पास गये, परन्तु किन्हीं देवताओं ने एक राम नाम की कीमत आँकने का साहस नहीं किया तब अन्त में सभी देवता उसे साथ लेकर विष्णुलोक यही बात पूछने के लिए गये। इसके उत्तर में भगवान विष्णु ने कहा - यह लोक तो अपुनरावर्ती है, यहाँ आकर कोई वापस नहीं जाता। कहना चाहिए कि अनिच्छा से केवल एक बार के नाम की महिमा के बल पर सन्त सेवी भाई के बड़े भाई की मुक्ति हो गई या वह परमधाम का अधिकारी हो गया।

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुस्करम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षर द्वयम्॥

अर्थात् - जिसकी जिह्वा पर 'हरि' ये दो अक्षर बसते हैं, उसे गंगा, गया, सेतुबन्ध, काशी और पुष्कर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, सबका फल उसे भगवन्नाम में ही सहज में सुलभ हो जाता है।

नाम संकीर्तन में वर्णाश्रम का भी नियम नहीं है

ब्राह्मणाः क्षात्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्य जातयः।
यत्र तत्रानु कुर्वन्ति विष्णोर्नामानु कीर्तनम्।
सर्व पापविर्निमुक्तास्ते ऽपि यान्ति सनातनम्॥

चारों वर्ण और अन्त्यज आदि जहां भगवान के किसी भी नाम का संकीर्तन करते हैं, व सभी पापों से मुक्त होकर सनातन परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

चित्तौड़ की महारानी ने शूद्र जाति में जन्मे भक्त रैदास को अपना गुरू बनाकर अपना परम सौभाग्य माना था।

नाम संकीर्तन में देशकाल का भी कोई नियम नहीं है। यथा -

देश काल नियमः शौचाशौच विनिर्णयः।
परम संकीर्तनादेव राम रामेति भुज्यते॥

अर्थात् – देशकाल, शौच अशौच की स्थिति में भी बिना विचार के राम नाम का संकीर्तन करने से जीवमुक्त हो जाता है।

भगवन्नाम संकीर्तन की क्रिया में ही वह फल हो हो सो बात नहीं है, उसके श्रवण और स्मरण में भी वही फल है।

शिवगीता में कहा गया है –

आश्चर्ये वा भये शोकेक्षते वा मम नाम यः।
ब्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् – भगवान कहते हैं कि आश्चर्य, भय, शोक या क्षत (चोट आदि में) आदि के अवसरों पर जो मेरा नाम बोल उठता है और उसी ब्याज से स्मरण करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।

यमदूतों के देखने से भय खाकर ही अजामिल ने 'नारायण' इस शब्द का उच्चारण अपने छोटे पुत्र 'नारायण' के बुलाने मात्र के लिए किया, कि उसी क्षण नारायण के पार्षदों ने आकर यमदूतों को वहाँ से भगा दिया और अजामिल स्वस्थ चित्त हो गया। तत्पश्चात् हरिद्वार में प्राण त्यागते समय उन्हीं पार्षदों ने उसे विमान में बैठा कर बैकुण्ठलोक ले गये।

इतिहासोत्तम में महामुनि ब्राह्मणदेव से पुण्य कथा कहते हुए कहा गया है कि भक्तराज के मुख से नरक के रहने वाले प्राणियों ने जब जब हरि का नाम श्रवण किया कि वे तत्काल नरक के यातना से मुक्त हो गये।

यज्ञ यज्ञादि धर्म अपने अनुष्ठान के लिए जिस पवित्र देश, काल, पात्र, शक्ति, सामग्री, श्रद्धा, मन्त्र, दक्षिणा की अपेक्षा रखता है, उसका इस कलियुग में निर्विघ्न सम्पन्न होना अत्यन्त कठिन है, भगवन्नाम संकीर्तन के द्वारा उसका फल बिना प्रयास ही प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान शंकर पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहते हैं –

ईशोऽमं सर्वजगतां नाम्नां विष्णोर्हिजापकः।
सत्य सत्यं वदाम्येव हरेर्नाम्या गतिर्नृणाम्॥

अर्थात् – "सम्पूर्ण जगत का स्वामी होने पर भी में विष्णु भगवान के नाम का जप करता हूँ, मैं तुम से सत्य सत्य कहता हूँ कि भगवान को छोड़कर जीवों के लिए अब कर्मकाण्ड आदि की भी कोई गति नहीं है।"

भगवान के नाम का उच्चारण करने से भूत-वर्तमान-भविष्य के सब पाप भस्म हो जाते हैं-

वर्तमानम् च यत पापं यद् भूत यद् भविष्यति।
तत्सर्वम् निर्दहत्याशु गोविन्दानल कीर्तनम्॥

तार्किक और अर्थवादियों के लिए, जो भगवन्नाम महिमा को बढ़ा चढ़ा कर बताने का पाप करते हैं, उनके लिए भगवान का स्पष्ट कथन है -

अर्थवादं हरेर्नाम सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्टो मनुष्याणाम् नरके पतति स्फुटम्॥

अर्थात् - जो मनुष्य भगवन्नाम में अर्थवाद की सम्भावना करता है, वह मनुष्यों में अत्यन्त पापी है और उसे नरक में गिरना पड़ता है।

●○●○●

37. अवतारवाद (श्रीकृष्ण व श्रीराम) व मधुर भाव दर्शन

साधनकाल में साधक जिस प्रकार के भाव और श्रद्धा से भावित होकर परमात्मा की उपासना करता है, उसको उसी भाव के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति होती है।

भाववस्य भगवान सुख निधान करुणा भवन। (उ. का. 92)

परमात्मा का तात्विक स्वरूप अलौकिक है, परम रहस्यमय है, गुह्यतम् है, जिन्हें वह प्राप्य है, वे ही उसे जानते है, परन्तु उतना ही जानते हैं जितना वे परमप्रभु जनाते हैं, उनकी जानकारी भी उसका लक्ष्य ज्ञान कराने के लिए है।

परिपूर्णतम् परात्पर परं ब्रह्म का अवतार त्रेता में श्रीराम के रूप में हुआ जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में समाज का आचरण इस रूप में उन्नतोदर हुआ कि जैसे साक्षात् साकेत धाम ही पृथ्वी लोक में प्रतिष्ठित हो गया हो, श्रीराम ने मर्यादा बाँध कर समाज में सत्य परमार्थ धर्म की स्थापना की। उनकी लीला इतनी हृदय ग्राह्य और प्रभावशील है कि **''गाय गाय भवनिधि नर तरिहीं॥''** के रूप में समाज को एक सूत्र में बाँधती है।

दूसरी ओर पूर्णवतार भगवान श्री कृष्णा का भी है और वे भी अलौकिक लीलावतारी के रूप में भक्तों के हृदय में बिहार करते हैं।

जहाँ श्रीराम के लिए यह परम धर्म है कि

जौरन हमहि पचारै कोऊ। लरहि सुखेन काल किन होऊ॥

और

कहऊँ सुभाव न कुलहि प्रसंशी। कालहि डरहि न रन रघुवंशी॥

वहीं भगवान श्रीकृष्ण का गौरव रनछोड़ भगवान के रूप में प्रतिष्ठित है। एक ओर जहाँ भगवान रामपुष्प वाटिका के पुष्प चयन को भी बिना मालियों से पूछे, पुष्प छूँ तक नहीं सकते।

चहुँ दिशि चितै पूँछ मालीगन।

वहीं भगवान श्रीकृष्ण माखन चोर, छार चोर कर्म में अपने भक्तों को आह्लादित करते हैं।

सचमुच में श्रीकृष्ण की लीला अनुपमेय तो है ही, बल्कि उन लीला बिहारी के महार्णव का एक रस बिन्दु ही भक्तों के हृदय कोष को सराबोर कर देता है।

वे ही सच्चिदानन्द घन, सर्वान्तर्यामी, प्रेमरस स्वरूप, लीला रसमय, रसिकशेषर रस परंब्रह्म अखिल रसामृत विग्रह भगवान श्री कृष्ण है, जो आनन्द चिन्मयरस अधिकारी जनों को उनके वैभव विलास के स्वरूपाधीन होकर प्रेमानन्द का वितरण करते हैं।

सर्वधर्म त्याग रूप स्वधर्म का आचरण उच्चस्तर के साधकों में ही सम्भव है। सर्व धर्म त्याग वे ही कर सकते है, जो इसका यथा विधि पूरा पालन कर चुकने के बाद उसके परम फल अनन्य और अचिन्त्य देव दुर्लभ भगवत प्रेम को प्राप्त कर चुके हो। वे भी जान बूझकर त्याग नहीं करते बल्कि स्वत: ही ये समूचे धर्म उससे त्यागित हो जाते हैं, यह त्याग तिरस्कार मूलक नहीं बल्कि तृप्ति मूलक आनन्दतिरेक मूलक है।

वेदानपि संन्यस्यति, केवलम् विच्छिन्नानुरागम् लभते।

(देवर्षि नारद सूत्र)

जो वेद मूलक समस्त धर्ममर्यादाओं को भली भाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड असीम भगवद् प्रेम को प्राप्त होता है।

गोपियों के श्रीकृष्णा प्रेम की अनन्तता अखण्डता और असीमितता अपार है।

प्रेमास्पद भगवान श्रीकृष्ण भी लीलामय स्वरूप धारी है, जहाँ वे अखिल विश्व के विधाता, ब्रह्मा शिव आदि के भी बन्दनीय, निखिल जीवों के प्रत्यात्मा है, वही वे लीला नटवर गोपियों के इशारे पर नाचने वाले भी हैं।

चिदानन्द रसमयी दिव्यातिदिव्य माधुर्य रस की, और उसके समुज्जल भावों की प्रतीति, रासलीला के रूप में प्रकट हुई, जिसमें अह्लादिनी शक्ति स्वरूपा गोपिकाओं के भावानुकूलता में लीलाबिहारी ने अपनी दिव्यलीला प्रकट की।

भगवान के मिलन में मद और मान ये बाधक तत्व है परन्तु भगवान की दिव्य लीला में मद और मान भी अपनी दिव्यता के कारण लीला महारस में बाधक न बनकर साधक हैं और लीला रस की पुष्टि करते हैं क्योंकि वियोग ही संयोग का पोषक है। इसलिए महारास लीला के पूर्व श्रीकृष्णा का अन्तर्ध्यान होना, इसी भावरस की प्रतीति का परिचायक है, जबकि यथार्थ यह है, कि नाम मात्र का मद और मान रहने पर, भगवान की सम्मुखता होने पर भी उनके लिए वे अदर्शनीय है। परन्तु गोपियों के शरीर, मन, प्राण तो वे रासलीला बिहारी गोपीबल्लभ श्रीकृष्ण ही थे। अंतर्ध्यान लीला में, गोपियों के प्रेमोन्माद के वे गीत जो उनके प्राणों का प्रत्यक्ष प्रतीक थे, आज भी हृदय प्रधान भावुक भक्तों को भावमग्न करके भगवान के लीलालोक में पहुँचाकर भावविभोर बना देते हैं।

भगवान श्री कृष्ण भी गोपियों के उस महाभाव के प्रेमोन्माद में अपने को अंतर्ध्यान की स्थिति में न रख सके, उनके सामने ''साक्षान्मन्मथमन्मथ'' रूप से प्रकट हुए। और मुक्तकण्ठ से कहा कि ''गोपियों, मैं तुम्हारे प्रेमभाव का चिरऋणी हूँ। यदि अनन्त काल तक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋणं नहीं हो सकता। प्रेमी और प्रेमास्पद के मध्य इतना दिव्य और मधुर रस कहाँ मिल सकता है! जो भक्ति हृदयशील जनों को आज भी भावविह्वल कर देता है। सृष्टि में भी कितनी पतिपरायणा देवी क्यों न है, स्वकीया में कम से कम रक्षणावेक्ष का सकाम भाव तो छिपा ही रहता है परन्तु परकीया अपने पति से कुछ नहीं चाहती और उससे कुछ भी आशा नहीं रखती, वह तो केवल अपने को सम्पूर्ण समर्पण करके उसे सुखी करना चाहती है और प्रियतम् के एक न्यून और तुच्छ स्वार्थनिहित्ता में सब कुछ अर्पण करने को हमेशा तैयार रहती है और वह अपने जीवन सर्वस्व प्रियतम की मात्र कठपुतली बन कर रहने में अपने जीवन को धन्याति धन्य समझती है।

जिस किसी महान आत्मा स्त्री पुरुष में सत्य, धर्म की स्थिति समाहित है, तो उसके पीछे हल्की सी यह भाव दशा की जागृत्ति भी आ जाती है, कि उसी का जीवन परम पवित्र और दूसरों के लिए आदर्श स्वरूप में दिग्दर्शित है। फिर वे गोपियाँ जिनका जीवन साधना की चरम सीमा तक पहुँच चुका है। उन नित्य सिद्धा अथवा भगवान की स्वरूप भूता गोपियों के विषय में तो उनका भावस्पर्श ही हृदय की ग्रन्थि खोलने के लिए पर्याप्त हैं, जिन्होंने भगवान श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त करने के लिए कल्पों तक साधना किया है।

जावालि नाम के एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे। एक बार उन्होंने एक विशाल वन में विचरते-विचरते एक जगह एक बड़ी बावली देखी, उस बावली के पश्चिम तट पर वटवृक्ष के नीचे एक तेजस्वनी स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह इतनी सौन्दर्यशीला थी कि चन्द्रमा की शुभ किरणों के समान उसकी चाँदनी प्रभा चारों ओर छिटक रही थी, उसका बायां हाथ अपनी कमर पर और दायां हाथ ज्ञान मुद्रा में सुशोभित था। ऋषि जावालि के नम्रतापूर्वक यह पूछने पर कि वह कौन है! और किस अभिप्राय से कठोर तपस्या में रत है, तब तपस्यारत युवती ने बताया कि -

ब्रह्मविद्याहम तुला योगीन्दैर्या च मृग्यते।
साहम् हरिपदाभोज काम्यया सुचिरम् तपः॥
ब्रह्मानन्देनं पूर्णाहम् तेनानन्देन तृप्तधीः।
चराभ्यामस्मिन वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तम्॥
तथापि शून्यमात्मनम् मन्ये कृष्ण रतिं विनां

अर्थ - ''मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ जिसे बड़े बड़े योगी ढूंढ़ा करते हैं, मैं श्रीकृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति के लिए इस घोर वन में उन पुरुषोत्तम का ध्यान करती हुई दीर्घकाल से तपस्या कर

रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्द से परितृप्त है, परन्तु श्री कृष्ण प्रेम अभी मुझे प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए अपने को मैं शून्य देखती हूँ।''

तब ब्रह्मज्ञानी जावलि ने उनके चरणों में गिर कर दीक्षा ली और फिर ब्रज में बिहार करने वाले उन भगवान श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए एक पैर से खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या करते रहे, और नौकल्पों के बाद प्रचण्ड नामक गोप के घर, वे ही चित्रगन्धा के रूप में गोपी बनकर भगवान श्रीकृष्ण का प्रेमानन्द प्राप्त किया।

इसी प्रकार सत्यतपा नामक मुनि सूखे पत्तों पर रहकर, दशाक्षर मन्त्र का जाप और श्री राधाजी के दोनों कर पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णा का ध्यान करते हुए दस कल्प के बाद वे सुभद्र नामक गोप की कन्या सुभद्रा हुए।

हरिधामा नाम के एक ऋषि निराहार रहकर ''क्लीं'' काम बीज से युक्त विंशाक्षरी मन्त्र का जाप करते हुए माधवी मण्डप में कोमल कोमल पत्तों की शय्या पर लेटे हुए युगल सरकार राधामोहन का ध्यान करते थे, तीन कल्पान्त में वे सारङ्ग नामक गोप के घर में रङ्गवेणी नामक गोपी के रूप में अवतीर्ण हुए।

उग्रतपा ऋषि पञ्चदशाक्षर मन्त्र का जाप और रासोन्मत नवलकिशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए सौ कल्पों तक तप किया, जो सुनन्द नामक गोप की कन्या सुनन्दा के नाम से अवतीर्ण हुए।

इसके अतिरिक्त श्रुतियाँ, जो नेति नेति के द्वारा निरन्तर परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर पाती है। भगवान श्री कृष्णा के साथ दिव्य बिहार जानकर गोपियों की उपासना करती है। और अंत में स्वयं गोपी रूप में परिणित होकर श्रीकृष्ण को प्रियतम के रूप में प्राप्त करती है। त्रेता युग में अवतरित भगवान श्रीराम का रूप इतना विलक्षण और मनमोहक तथा आकर्षक था कि नर, नारी, चेतन वर्ग की बात तो अलग रही जलचर जीव भी उनके रूप को देखकर मग्न हो जाते थे। यथा - सेतु बन्धन में समुद्र के अन्दर रहने वाले जलचर प्राणियों की दशा -

प्रभुहि विलोकहि टरहि न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे॥
तिनकी ओट न देखहि बारी। मगन भये हरि रूप निहारी॥

भगवान श्रीराम के ऐसे स्वरूप सौंदर्य पर अपने को न्यौछावर कर देने वाले ऋषिगण, जिनकी प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दिया था। वे भी बृज में गोपी रूप से अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिला अयोध्या और अन्य श्रीराम के स्वरूप,

सौन्दर्य पर अपने को न्यौछावर करने वालों को भी उनकी बड़ी तपस्या के बाद वरदान प्राप्त कर गोपी रूप में अवतीर्ण होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

महापुरुषों द्वारा उपादिष्ट ज्ञान के अनुसार परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के बाद पुनः मैं कौन हूँ? संसार क्या है? माया क्या है? ब्रह्म क्या है? इत्यादि कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है परमात्मा का यह तत्व ज्ञान, अचल और नित्य है। इसका कभी अभाव नहीं होता, और इस कारण मोह की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। ईशावास्योपनिषद् (सात) में लिखा है –

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनु पश्यतः॥

अर्थात् – जिस समय तत्व ज्ञान को प्राप्त हुए पुरुष के लिए समस्त प्राणी आत्म स्वरूप ही हो जाते हैं, उस समय उस एकत्वदर्शी पुरुष को कौन सा शोक और कौंन सा मोह हो सकता है। अर्थात् कुछ भी नहीं हो सकता।

इसके बाद की स्थिति सम्पूर्ण भूतों को सच्चिदानन्द परमात्मा में देखना यह आत्मदर्शन रूप स्थिति का फल है। इसी को परम पद की प्राप्ति, निर्वाण ब्रह्म की प्राप्ति और परमात्मा में प्रविष्ट हो जाना भी कहते हैं, इस स्थिति को प्राप्त हुए पुरुष का अहं भाव सर्वथा नष्ट हो जाता है। उस समय उस योगी की परमात्मा से पृथक सत्ता नहीं रहती। केवल एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही रह जाता है।

योगी की यह निर्विकारता, बहुत ही उच्चस्थिति की है, किसी मधुर में भी मधुर भाव के आनन्दातिरेक और श्रीकृष्ण प्रेम के प्राप्ति की मधुर सुगन्ध नहीं है। और नाही भगवान श्रीकृष्णा का रूप महोदधि ही है जिसको पान करते करते अघाया ही नहीं जा सकता है। क्रमवार साधना व उसका फलरूप –

पहली वह तपस्या की साधना है कि दानवीय प्रवृत्तियाँ तपोबल की शक्ति सञ्चित करके अपने इष्ट से वरदान प्राप्त करती है और फिर वे ही अपनी शक्ति का विध्वंसात्मक प्रयोग करके सृष्टि के लिए कटंक हो जाते हैं, तब सृष्टि में उनके वरदान का ध्यान रखकर ने परम प्रभु उसके समूल विनाश का उपाय सोचते हैं।

दूसरी स्थिति यह है कि योग साधना के द्वारा इष्टदेव का साक्षात्कार हुआ और मनचाहा वर प्राप्त कर मनोवाञ्छित फल पाया फिर इसके बाद उन प्रभु के दर्शनों के उत्कण्ठा की तीव्रता ही नहीं रहती है। तथा भोग रूप में वर प्राप्ति की विशेषताओं का प्रयोग होता है।

तीसरे वे भी भक्त हैं जो अपने यौगिक कर्मों से ज्ञान से, और भक्ति से परम पद के अधिकारी हो जाते हैं।

चौथे वे भी भक्ताग्रगन्य हैं जो भगवान से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर उसके साथ सम्बन्धानुसार अतिशय आनन्द की अनुभूति करते हुए, रहते हैं और उसके पश्चात् भी अपने योग साधना या प्रभु कृपा से उन्हीं के धाम में जाते हैं।

पाँचवें वे भक्त हैं, जो यह चाहते हैं कि भगवान में भेद बना रहे, इससे वे भक्ति के लोभी भाव के होते हैं। परन्तु इन सबसे बहुत आगे गोपियों की साधना का फल है, जिसमें सकामता की तो गन्ध ही नहीं है और निष्कामता की स्थिति को लाँघते हुए मात्र प्रियतम वाञ्छा की कल्पलता हमेशा लहलहाती रहती है।

यह कैसा अनोखा भक्त और भगवान का खेल है कि भगवान श्रीकृष्णा गोपियों के इतने प्रेमाधीन है कि किसी प्रकार का प्रेमार्णव का बदला चुकाने के ब्याज में कहते हैं ''गोपियों! मैं तुम्हारे पीछे पीछे लुक छिप कर इसलिए चलता फिरता रहता हूँ कि कहीं तुम लोगों के चरणों को स्पर्श करती हुई धूल उड़कर मुझे पवित्र बना दे और मैं निहाल हो जाऊँ।''

वाह रे! उन सर्वेश्वर की परवसता कि जिनके चरणों से निकली हुई गङ्गा तीनों लोकों के पाप ताप को धो बहाती है और संसार को पवित्र करने वाले ऋषि मुनि जिन विष्णुपदी का स्पर्श कर स्वयं को धन्य मानते हुए पवित्रता का अनुभव करते हैं, वही भगवान श्रीकृष्णा अपने को पवित्र करने के लिए गोपी चरणरज के प्राप्यर्थम् उनके पीछे पीछे चलते हैं।

यह तो माधुर्य के महाभाव की प्रतिष्ठा है, जिसके मन के स्पर्श मात्र में मन की पवित्रता और शान्ति अपने आप आलोकित होने लगती है और यह भान हो जाता है, कि प्रेम की अत्युत्तम और उच्चतम स्थिति को वे प्रेममय महाप्रभु भगवान श्री कृष्णा कहाँ तक ले जा सकते हैं और जिंनके पास महान से महानतम् साधना का फल देने की अनन्त मधुराति मधुरशैली है।

कलयुग में ही चार पाँच सौ वर्ष पूर्व अकबर के शासनकाल के अन्तर्गत माधुर्य भाव समन्विता परमभक्ता मीराबाई थीं। विवाहकाल में ही श्री कृष्णप्रेम की दीवानी मीरा ने अपने श्याम सुन्दर गिरलाल जी को पहिले से ही विवाह मण्डप में विराजित कर दिया और सांसारिक पति कुमार भोजराज के साथ फेरा लेते समय श्री गिरधरगोपाल के साथ भी फेरे ले लिए। मीरा ने समझा, आज भगवान के साथ मेरा विवाह हो गया। अपनी माता को मीरा ने बताया -

माई म्हाँने सुपनें बरी गोपाल।
राती पीती चुनड़ी ओड्ढी, मेंहदी हाथ रसाल॥

मीरा के भगवत प्रेम के इस अनोखे भाव को देखकर माता बड़ी प्रसन्न हुईं, जब मीरा की सखियों ने इसका कारण पूछा तो मीरा ने कहा -

ऐसे वर को के बरूँ, जो जनमै औ मर जाय।
बर वरिये गोपाल जी म्यारो चुड़ली अमर हो जाये॥

मीरा जब अपने ससुराल पहुँची तो मीरा के इस अनूठे भगवत् प्रेम को देखकर सारा रनिवास नाराज हो गया। सहेलियों ने जब सुहाग की पूजा करवानी चाही तब तपाक से मीरा ने उत्तर दिया ''बहनों! मेरा सुहाग तो सदा ही अचल है, जिसको अपने सुहाग में सन्देह हो वह गिरधरलाल जी को छोड़कर दूसरे को पूजे।''

मीरा की प्रेम भावना को देखकर कुमार भोजराज को बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने श्री रणछोड़ जी का मन्दिर बनवा दिया।

कुछ समय बाद मीरा की अनुमति लेकर कुमार भोज ने दूसरा विवाह कर लिया जिससे मीरा को बड़ी प्रसन्नता हुई।

मीरा अब अपना सारा समय भजन कीर्तन और साधुसन्तों की सेवा में लगाती थी। वह कभी विरह से व्याकुल होकर रोने लगती कभी ध्यान में साक्षात्कार कर हँसती कभी प्रेम के आवेग में नाचने लगती थी। लगातार कई दिनों तक भूखे प्यासे प्रेम समाधि में पड़ी रहती थी श्री कृष्णा प्रेम के अतिरिक्त उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। घरवालों ने उसे बीमार समझा, वैद्य बुलवाये गये। पिताजी ने भी वैद्य बुलवाकर मीरा की बीमारी का पता लगाने को कहा। तब मीरा ने कहा-

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय।

दस वर्ष का समय तो मीराबाई का इसी प्रकार विरह कातर हो कर पद रचना, संत-सेवा करते करते बीता। प्रेम का प्रवाह उत्तरोत्तर वृद्धिगत को प्राप्त होकर बहने लगा। इसी बीच पति की मृत्यु हो गई और राजगद्दी मीरा के देवर विक्रमाजीत को मिली। उन्होंने मीरा के दिनचर्या में पाबन्दी लगानी चाही। मीरा के पाबन्दी को न मानने पर चरणामृत के नाम से तीक्ष्ण हलाहल का प्याला पीने को भेजा जो मीरा के पीते समय सचमुच वह श्री कृष्णा चरणामृत में परिणित हो गया, इसी प्रकार शालिग्राम की मूर्ति के नाम पर विषधर सर्प भी सचमुच शालिग्राम की मूर्ति में परिवर्तित हो गया।

किसी ने राणा के कान भर दिये, उन्हें समझा दिया कि 'मीरा दिन भर तो विरहणी की तरह रोया करती है और रात को उसके महल में किसी पर पुरुष की आवाज सुनाई पड़ती है।'

रात के समय राणा हाथ में नंगी तलवार लेकर मीरा के महल में गये। किवाड़ बन्द थे और अन्दर से किसी पुरुष की आवाज उनको सुनाई पड़ी। राणा ने अकस्मात् किवाड़ खुलवाये तो देखा कि मीरा प्रेम समाधि में बैठी है। जब पूछा कि ''दूसरा कौन था?'' तो मीरा ने झट से कहा मेरे छैल छबीले गिरधर लाल जी के अतिरिक्त और कौन होता, जगत में दूसरा कोई हो। तो आये।

अन्त में मीरा वृन्दावन को गई और विरह के पद गा गाकर, कुञ्ज कुञ्ज में भटकने लगी। एक दिन मीरा ने पद गाया –

बंशी वाले आज्यो म्हारे देश।
थारी सांवरी सूरत वालो भेश॥
आऊँ आऊँ कह गया जी, कर गया कौल अनेक॥

वे प्रभु गीत को सुनकर कर मीरा के सामने प्रकट हो गये। उस मनोहर छवि को निरख कर मीरा मोहित हो गई। मीरा नाच नाच कर गाने लगी।

आज मैं देख्यो गिरधारी
सुन्दर बदन मदन की शोभा चितवन अनियारी
बजावत बंशी कुञ्जन में।

अब मीरा पागल की तरह चारों ओर उसी मधुर छवि का दर्शन करती हुई गाती फिरती थी।

कुछ काल वृन्दावन वास के पश्चात् मीरा द्वारिका चली गई और वहाँ रणछोड़ भगवान के दर्शन और भजन में अपना समय बिताने लगी।

मीरा के चित्तौड़ छोड़ने के बाद वहाँ उपद्रव होने लगे। उपद्रव का कारण भगवत् प्रेमिका का तिरस्कार समझने पर, राणा ने मीरा को लौटा कर चित्तौड़ ले जाने के लिए प्रयत्न किया, परन्तु राणा मीरा को वापस ले आने में सफल न हुए। क्योंकि तब मीरा द्वारिकाधीश के मन्दिर में प्रेम में उन्मत्त होकर गाने लगी।

अब तो निभायाँ सरेगी, बाँह गहे की लाज।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ सरब सुधारण काज।
मीरा शरण गही चरनन् की लाज रखौ महाराज॥

यों कह कर मीरा नाचने लगी व अंत में भगवान की मूर्ति विग्रह में समा गई।

मीरा को निज लीन किय नागर नन्द किशोर॥

इस प्रकार मीरा में माधुर्य भाव में प्रेमप्रकाश अपने प्रियतम श्रीकृष्णा के लिए था, जिनके जीवन में मिलन वियोग का प्रियतम के प्रति खेल चलता रहता था।

माधुर्य भाव में भक्त और भगवान के बीच का सम्बन्ध मधुर रसदायी तो होता है साथ ही उसकी समुज्जलता में इस बात की भी स्पष्ट झलक रहती है, कि भक्त भगवन्त एक दूसरे के भावुक, समीपी और चाह की प्रतीति में है।

यथा – दक्षिण भारत में कावेरी के तट में विष्णुचित्त नाम के ब्राह्मण के घर में एक कन्या अण्ड़ाल ने जन्म लिया। लड़की जब बोलने लगी तो विष्णु के अतिरिक्त कोई शब्द उसके मुख से नहीं निकलता था। कुछ सयानी होने पर भगवान के गीत गाने लगी। उसके पिता जब मन्दिर जाते, तो कन्या पुष्पों के उपवन में जाकर फूल चुनती, फूलों के हार बनाती। उसी अण्ड़ाल की गूँथी माला को विष्णुचित्त श्री रंगनाथ जी भगवान को चढ़ा आते थे। कुछ और बड़ी होने पर वह पति के रूप में श्रीरंगनाथ जी को भजने लगी। वह अपने प्रियतम प्रेम में अपने आप तक को भूल जाती और भगवान के गूँथे हुए हार को स्वयं धारण कर दर्पण के सामने खड़ी हो जाती और अपने सौन्दर्य की स्वयं ही प्रशंसा करती हुई कहती ''क्या मेरा सौन्दर्य मेरे प्रियतम को आकर्षित कर सकेगा!''

एक दिन श्री रंगनाथ मन्दिर के पुजारी ने माला यह कहकर विष्णुचित्त को लौटा दिया कि उसमें किसी मनुष्य के सिर के बाल थे। दूसरे दिन माला के मुरझाये होने के कारण माला पुनः वापस हुई। अन्त में पिता विष्णुचित्त ने देखा कि उनकी पुत्री परदे के पीछे नवीन पुष्पों का हार पहिने मन ही मन अपने प्रियतम से कुछ बातें कर रही है। पिता ने भगवान के लिए बनाये गये उन हारों का अण्ड़ाल द्वारा पहनी देखकर पुनः हार बनाया और प्रभु को चढ़ाया। उसी रात को भगवान ने विष्णुचित्त को आदेश दिया कि ''मुझे अण्ड़ाल की पहनी हुई माला को धारण करने में विशेष सुख मिलता है।'' तब अण्ड़ाल की पहनी हुई मालाओं को ही भगवान को निवेदित किया जाने लगा।

अण्ड़ाल की विरह व्यथा बढ़ती ही गई। अण्ड़ाल सदा अपने शरीर से ऊपर उठी रहती थी। वह अपने बाहर भीतर सर्वत्र अपने प्रभु के अतिरिक्त कुछ देखती ही नहीं थी। अन्त में जब वह अपने प्रियतम भगवान के विरह में अति व्याकुल हो गई, तब भगवान रंगनाथ मन्दिर के अधिकारियों को स्वप्न में दर्शन देकर कहा– ''मेरी प्रियतमा अण्ड़ाल को मेरे पास ले आओ।'' उधर विष्णुचित्त को भी स्वप्नादेश में कहा। ''तुम अण्ड़ाल को लेकर शीघ्र ही मेरे पास चले आओ, मैं उसका पाणिग्रहण करूँगा।'' उन्हीं ने अण्ड़ाल को भी स्वप्न में दर्शन देकर कृतार्थ किया। अण्ड़ाल ने देखा कि श्री रंगनाथ भगवान के साथ उसका बड़ी धूमधाम के साथ विवाह हो रहा है।

अण्ड़ाल प्रेम में मतवाली होकर भगवान की शेषशय्या पर चढ़ गई, इतने में लोगों ने देखा कि सर्वत्र एक दिव्य प्रकाश छा गया और प्रकाश में देवी अण्ड़ाल सब के देखते देखते बिजली की सी चमक कर विलीन हो गई। प्रेमी और प्रेमास्पद एक हो गये।

त्रेता में विभीषण के अटल प्रेम को देखकर श्रीराम ने उन्हें श्री रंगनाथ की प्रतिमा दी थी, विभीषण ने वहीं पर भगवान की प्रतिमा स्थापित की और वे नित्य लंका से रंगनाथ की पूजा हेतु आया करते थे।

●○●○●

प्रेम प्राधान्य भक्ति

विहार के छपरा जिले के खेढ़ाय गांव के कायस्थ कुल में रामाजी का जन्म हुआ। उनका पठन पाठन में मन नहीं लगता था, परन्तु बाल्यकाल से ही ये साधु सेवी थे। इनके गुरू पटना के प्रसिद्ध महात्मा श्री स्वामी भीष्म जी महाराज थे। रामाजी समस्त चराचर की प्रभुरूप से उपासना करते थे। आप न कभी उच्च आसन पर विराजे और न सवारी पर ही चढ़कर कही गये। अपने विवाह पर सबके आग्रह करने पर एक घण्टे के लिए आप पालकी पर बैठे थे।

आपको एक बार भगवान श्रीराम के दूल्हा रूप का ध्यान हुआ और वह आपको हृदय में ऐसा घर कर गया कि आप एक प्रकार से उसी रूप पर बिक गये।

आपके गांव में अड़ोस पड़ोस में ऊँच-नीच के किसी भी जाति के बालक का जब विवाह होता था, तब रामाजी दूल्हे को जोड़ा पहिनाते और उसे राम रूप समझकर पुलकित होते थे।

संसार के सारे झमेलों से अलग रह कर, आप प्रत्येक क्षण भगवत स्मृति में मग्न रहते थे। आप की शरणागति ऐसी थी कि एक क्षण के विस्मरण में आप परम व्याकुल होकर छटपटाने लगते थे। ''दूल्हा रूप राम कर ध्याना।'' में आपकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि आप किसी दूल्हे को देखने जाते तो पालकी साथ होकर चँवर डुलाने लगते, उसका चरण चापते। इससे आपको श्री भगवान के पाद संवाहन का आनन्द मिलता था।

एक बार आपकी इच्छा ''अर्चाबिग्रह'' का विवाहोत्सव मनाने की हुई। किशोरीजी की मूर्ति तो थी, परन्तु उनके लिए आभूषणों का प्रबन्ध नहीं था। मनमारे आप चिन्ताग्रस्त होकर एक वृक्ष के नीचे बैठे थे, इतने में एक सुनार सोने के अनेक आभूषण लाकर आपसे कहता है, ''इन गहनों को रख लो जब दाम हो तो दे देना।'' विवाह करने के पश्चात श्रीरामा जी ने उस सुनार को बहुत खोजा, परन्तु इस खोज में उन्हें ही खो जाना पड़ा। लगभग साठ वर्ष की आयु में श्रीरामचन्द्र के चरणों का चिन्तन करते आप साकेतवासी हो गये।

चित्रकूट के पवित्र स्थल में, श्रीराम अयोध्यावासियों, माताओं और अपने अनुजों सहित गुरू वशिष्ट और अन्य गुरूजन सन्तों के सहित अपने पूज्यवर पिता के मरण से शोक संतप्त शान्त, करुणापूर्ण स्थिति में विराजित हैं। इतने में मिथिलापति जनकराज को आते हुए सुनकर श्रीराम सभा सहित उनकी अगवानी के लिए चल पड़े। जनक जी की बुद्धि प्रेम में मत वाली हो रही थी।

आवत जनक चले एहि भाती। सहित समाज प्रेम मति माती॥

रघुकुल समाज और मैथिल समाज कुसमय स्थिति की तरह मिलजुलकर रघुकुल तिलक श्रीराम, जनकपुर वासियों को अपने आश्रम को लिबा कर चल पड़े।

जहाँ जैसे, भावों की प्रतीति और रसों का प्रगटीकरण हुआ, वहाँ उसी के अनुसार तुलसीदास जी की रूपक शैली की सटीकता कठोर को भी मृदु से मृदुलतर बनाने में सक्षम है। यथा -

आश्रम सागर शान्त रस, पूरण पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुणा सरित लिए जाँहि रघुनाथ॥

श्रीरामचन्द का आश्रम शान्त रसरूपी समुद्र है। तथा समाज व मिथिलापति करुण रस की नदी है। अखण्ड ज्ञान विग्रह श्रीराम अपने आश्रम के समुद्र में मिलाने को करुणा रस की नदी को लिए जा रहे हैं -

इस करुणा रस की नदी के दोनों किनारे ही ज्ञान और वैराग्य रूप में भाषित हैं। करुणा रस की नदी अपनी बाढ़ की स्थिति में है। अतः -

बोरति ज्ञान विराग करारे। वचन सशोक मिलन नद नारे।

तीव्र बाढ़ के कारण करुणा रस की नदी ज्ञान और वैराग्य के दोनों किनारों को डुबाती जा रही है। इस तीव्र करुणा की बाढ़ में ज्ञान, वैराग्य भी उसी में समाहित हो गए।

सोच उसास समीर तरङ्गा। धीरज तट तरुवर कर भङ्गा॥

शोक और उसाँसे ही छोटी नदी और नाले है, और आहें ही बाढ़ की तरङ्गे हैं, जो धैर्य रूपी किनारों के वृक्षों को तोड़ रही है।

दूसरे शब्दों में निराकार निर्गुण ब्रह्म के उपासकों के लिए ज्ञान, वैराग्य और धैर्य ही ब्रह्म साक्षात्कार के लिए परमावश्यक तत्व है, परन्तु प्रेम और करुणा रस की बाढ़ में सबके सब ढह गये।

विषम विषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भवँर अवर्त अपारा॥

भयानक विषाद (शोक) करुणा नदी की तेजधारा और भय तथा भ्रम (मोह) ही उस नदी के भँवर है।

तात्पर्य यह है कि उस अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म उपासकों के लिए भय और मोह बहुत ही बाधक और कण्टक पूर्ण तत्व है, जो करुणा नदी की बाढ़ के स्वारूपान्तर्गत है, और

केवट बुध विद्या बढ़ि नावा। सकहि न खेइ ऐक नहि आवा॥

उस प्रेम करुण रस की बाढ़, पूरित नदी को पार करने के लिए तत्वज्ञानी मल्लाह और विद्या ही नाव है। परन्तु उस नाव को वे तत्वज्ञानी मल्लाह खेने में समर्थ नहीं है या विद्वता और विद्या तथा विद्वान वहाँ निरुपयोगी है।

जब रघुकुल समाज और मिथिला का समाज श्रीराम के आश्रम में एकत्र हुआ। उस समय की दशा का वर्णन तुलसीदास जिन्होंने अपने ज्ञान चक्षु से उसका दर्शन कर कवित्व शक्ति का आश्रय लेकर लिपिबद्ध किया :-

शोक विकल दोउ राज समाजा।
रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥
भूप रूप गुन शील सराही।
रोवहि शोक सिन्धु अवगाही॥

या सभी उपस्थित नर नारी शोक समुद्र में डुबकी लगाने लगे।

अवगाहि शोक समुद्र सोचहिं, नारिं नर व्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहि, बाम विधि कीन्हों कहा॥

सुर सिद्ध तापस जोगि जन, मुनि देखि दशा विदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो, तरि सकै सरित सनेह की॥

राजा जनक के मन की विशेषता है -

सहज विराग रूप मन मोरा
ब्रह्म सुखहि अनुभवहि न दूजा।

परन्तु वे प्रेम की सरिता में इस प्रकार डूब उतरा रहे हैं कि उनके पार करने की समूची सामर्थ्य असहाय स्थिति में परिणित हो गई है।

शास्त्रों में मोह को सब व्याधियों का मूल कहा गया है। यथा -

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तिन ते बहु उपजहि सब सूला।

और 'महामोह महिषेक विशाला' और महामोह महिषासुर के समान है और ममता घनघोर अँधेरी रात के समान है। जिसमे मनुष्य का मन व्याप्त होकर कहीं भी गिरकर पतनोन्मुख हो सकता है। और परंब्रह्म परमेश्वर की सम्मुखता के लिए जो वैराग्य अनिवार्य तत्व है, उसी वैराग्य के मोह और ममतापूर्ण विरोधी भाव है। परन्तु राजा जनक इन्हीं से ही सम्मानित हो रहे हैं। और सम्मानित मात्र ही नहीं इनके वशीभूत होकर गौरवान्वित और पवित्र हो रहे हैं।

जासु ग्यानु रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल विकासा।
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥

यथार्थ तो यही है कि श्री सीताराम के प्रेमार्णव में मोह और ममता की शोभा है और महान ज्ञानियों को भी उस स्नेह की थाह न पाने पर या डूब जाने पर सीताराम प्रेम की अनन्तता का आभाष तो होता ही है।

चित्रकूट के करुण रस की सजीव विग्रह में नर नारी, मुनि जन, सभी श्रीराम की मातायें, सास, रघुकुल गुरू और विदेहराज विराजमान है। श्रीराम के अयोध्या वापस लौटने या न लौटने के सन्दर्भ में ज्योंही जनक और मुनि वशिष्ट ने भरत सम्वाद सुनाते हुए श्रीराम के मन्तव्य को जानने की वचनावली प्रयोग किया, त्योंहि उसके प्रत्युत्तरमें श्रीराम ने उन दोनों की शपथ लेते हुए उन दोनों के आदेश को ही अनुगमित करने की अपनी मानसिक अभिव्यक्ति प्रकट कर दी।

राउर राय रजायस होई। राउर शपथ सही सिर सोई॥

धन्य है श्रीराम के हृदय में श्री भरत के प्रति प्रेम परबसता। और अन्त में अपने समूचे हृदयगत भावों को ही प्रगट करते हुए कह रहे हैं -

राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू॥

परन्तु प्रेमी और प्रेमाष्पद के बीच का सम्बन्ध प्रेमी के लिए तो है -

जो सेवक साहवहि संकोचू। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

और अन्त में वाक् की अधिष्ठात्री देवी भगवती शारदा की सद्प्रेरणा हुई और भरत के श्रीमुख से निष्कर्ष स्वरूप यह वाणी बहिर्गत हुई -

अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा॥

इसके अनन्तर भरत अकुलाते हुए प्रभु श्रीराम के श्री चरणों में लिपट गये। प्रभु राम ने उनका हाथ पकड़ कर अपने समीप बैठाया। इन परम प्रेमी भरत की तमाम संक्रियाओं को देखा। जिसमें -

भरत विनय सुनि देख सुभाऊ। शिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥

तथा उस सभा को श्री भरत के विनय, स्वभाव और स्नेह के कारण शिथिलता ने बेहाल कर दिया और, श्रीराम भी अपने परम भक्त भरत के स्नेह के वशीभूत होकर शिथिल हो गये।

श्री भरत है परम ज्ञानी जनक के ज्ञानबल के आधार पर -

भरत अवधि सनेह ममता की।

और राम :- **जद्यपि राम सीम समता की॥**

श्री भरत -

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

सभी भरत के भाईपन और भक्ति के अतिशय महिमा को सराहने लगे। धन्य है प्रेमा भक्ति की उस महा महिमा को जो निर्विकार अचल, जितात्मा परमेश्वर को भी प्रभावित करके अपने अन्तर्भावों में सँजोकर शिथिलीकरण की स्थिति में ले आवे।

चित्रकूट में ही इसके पूर्व की भरत राम के प्रथम मिलन की झाँकी का दर्शन -

अपने आश्रम में श्रीराम अपने कर कमलों से धनुषवान घुमाते हुए सुशोभित है। वेदी के समीप मुनियों का समाज जुड़ा है, समीप में ही सीता जी हैं।

इसी दशा में 'पाहि माम' कहकर श्री भरत दण्डवत् प्रणाम की दशा में हो गये। कुछ दूर होने और उस ओर ध्यान न होने से श्रीराम भरत की उस दशा का अवलोकन न कर पाये। श्री लखनलाल ने ही बताया :-

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रणाम करत रघुनाथ॥

'भरत प्रणाम' सुनते ही श्रीराम की दशा :-

उठे राम सुनि प्रेम आधीरा। कहु पट कहु निषङ्ग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

मिलने मात्र की प्रीति ही इतनी गम्भीर और अथाह थी, कि वर्णनातीत तो है ही साथ ही उस प्रीति की भाव दशा में ब्रह्म राम और जीव की भाव दशा ही मिट गई क्योंकि प्रेम के सम्पूर्णता की स्थिति तो मात्र ब्रह्म में है परन्तु इस मिलन में -

परम प्रेम पूरन दोउ भाई।

दोनों भाइयों के उर स्थली में जब प्रेम की सम्पूर्णता है तब अन्तःकरण चतुष्टय के भाव तत्व (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) का ही प्रेमराज्य में लय हो गया।

तुलसीदासजी उस प्रेम का वर्णन इस भाव से परिलक्षित करते हैं -

अगम सनेह भरत रघुवर को।
जहँ न जाइ मन विधि हर हर को॥

या ब्रह्मा, विष्णु महेश के मन की गति भी उसे छूने में असमर्थ है -

तो तुलसीदास ने कह दिया कि ऐसी दशा में कवि को प्रेम की उस छाया तक की प्रतीति का भान नहीं हो रहा।

जनक जी को मिथिलापुर की अमराई में श्रीराम और लक्ष्मण के प्रथम दर्शन पर यह भान हुआ था कि -

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय वेष धरि की सोइ आवा॥

परन्तु चित्रकूट के स्थल में तो ऐसा भान हो रहा है मानो ब्रह्म ही दो भेष (राम भरत) में आकर सम्पूर्ण प्रेम को धारन करते हुए जगतीतल पर उतर आये हों। इसलिए कवि ने भरत की महिमा का बखान इस प्रकार करना युक्ति युक्त समझा।

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति विरति गुन विमल विभूती॥
बरनत सकल सुकवि सकुचाही। शेष गणेश गिरा गमु नाही॥

अर्थात भरत की रहनी, समझदारी और करतूत, उनकी भक्ति, विरक्ति गुण, विमलता और महिमा के वर्णन करने की सामर्थ्य तो हजार मुख वाले न तो शेष नारायण में है और ना ही गणेश जी व सरस्वती जी में ही।

ऐसे कितने ही महान से महान पाप कर्म में प्रवीन नर नारी हुए, जिन्होंने यदि अन्त में भी उन कृपा सिन्धु की ओर अपनी सन्मुखता का भाव दिखाया तो क्षण मात्र में ही उनकी कृपालुता का सागर लहराने लगता है। और उस पापी के समस्त दोषों को नष्ट, भ्रष्ट करके वे कृपासिन्धु दीन वत्सल अपनी दया के अमृत बिन्दुओं से उस जन का सिञ्चन करते हुए स्पष्टतः अपनी दीन बन्धुता में उसको समाहित कर लेते हैं।

एक नगर में एक प्रसिद्ध वेश्या के महल के सन्मुख सुन्दर स्वच्छ और आकर्षक बगीचे को देखकर कुछ साधु सन्त रास्ते से गुजरते हुए वेश्या के उसी बगीचे में आ कर कुछ विश्राम करने की इच्छा से बैठ गये। साधु-सन्तों को बैठे देख सुन्दरी वेश्या ने साधु-सन्तों के हित में सेवायें समर्पित करने की महती इच्छा में उन साधुओं से आज्ञा लेने के लिए अपनी नौकरानी को उनके

पास भेजा। परन्तु ज्योंही नौकरानी ने बताया कि ''वह वेश्या का सुन्दर उपवन है'', तो यह जानकर साधुजन एक दूसरे का मुँह ताकने लगे और सशीघ्र वहाँ से पलायन करने की ताक में हो गये। इसके पहले कि वे वहाँ से चल दें, वह वेश्या ही वहाँ आकर महान पापकर्मी होने पर भी अपने निस्तार और उन परम प्रभु से वंचित होने की दशा में भी, उनकी सम्मुखता प्राप्त करने का उपाय पूछा। साथ ही यह कह दिया कि ''भगवान के भक्त प्रेमी सन्त भी यदि पापियों को उन प्रभु से मिलाने के लिए अपना हाथ सिकोड़ लेंगे तो पापी जन किसका सहारा लेंगे।'' इस कड़वी परन्तु परम सत्य वचनावली को सुनकर उन सन्तों ने अन्त में यह निर्णय दिया कि यदि उस वेश्या के धन से निर्मित मुकुट को द्वारिकाधीश अपने सिर में धारण करते देखेंगे, तो वे सब सन्त जन भी उस वेश्या को पवित्र समझकर उसके द्वारा सभी समर्पित सेवाओं को स्वीकार कर लेंगे।''

इतना सुनते ही वेश्या ने गुणी सुनारों को बुलवाकर अपने सामर्थ्य से अधिक से अधिक खूबसूरत और कीमती मुकुट का निर्माण करा दिया। अपने कथनानुसार सन्त जन उस वेश्या को लेकर भगवान द्वारिकाधीश के दरबार की ओर प्रस्थित हुए। इस स्थिति के दर्शन हेतु महान जन समुदाय भगवान के मंदिर में एकत्र था। वेश्या भगवान द्वारिकाधीश के श्री विग्रह के सामने अपने नये बने मुकुट को हाथों में सम्हाले उपस्थित की गई। वेश्या मन में भगवान द्वारिकाधीश को अपने समस्त दोषों के साथ अपने को पूर्ण समर्पित कर उनको मुकुट धारण कराने हेतु खड़ी थी।

सभी जन समुदाय ने देखा, कि भगवान द्वारिकाधीश का सिर उसके दोनों हाथों से सम्हाले मुकुट के लिए कुछ ऊँचा था। अतः उस प्रेमिका पर कृपालु प्रभु द्वारिकाधीश ने अपने साकार मूर्त्ति विग्रह में ही मूर्ति में ही चेतनत्व का आभाष कराते हुए अपने सिर को झुकाया, ताकि सिर उस प्रेमी वेश्या की पहुँच में आ जाये। अब क्या था! वेश्या ने द्वारकाधीश के सिर में मुकुट धारण कराया। सभी और जयकार की ध्वनि हुई और वह वेश्या भगवान द्वारकाधीश के श्री चरणों में ही गिर पड़ी। सबों ने उसे गिरते तो देखा पर यह भी देखा कि ''उसको हिलाने पर उसमें चेतनता का अभाव हैं'', उसकी चेतनता तो उसके पूर्ण प्रेम समर्पण भाव के समय ही प्रभु द्वारिकाधीश के निराकार, निर्गुन स्वरूप में समाहित हो गया था। उसको पंचभौतिक शरीर दिव्य न होने से उसमें समाहित न हो पाया जो द्वारिकाकधीश के श्री चरणों पर पड़ा हुआ था।

अब उसी वेश्या के नाम का जयघोष होने लगा। बड़े धूमधाम से उसकी सन्तों ने ही शवयात्रा को पवित्र रूप देते हुए विमान में शव को सजाकर रखा और एक प्रेमी भक्त की तरह, उसका अन्तिम संस्कार करवाया गया। उसके ही धन से उसके नाम पर विशाल भण्डारा हुआ और साधु सन्तों ने प्रसाद रूप में उसको पाया। इसलिए रामचरितमानस की चौपाई का यह भाव उद्धृत है कि –

जन अवगुन प्रभु मान का काऊ।
दीन बन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥

उद्धव जी भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय सखा और ज्ञानी तथा बृहस्पति के प्रिय ज्ञानवान शिष्य और निराकार निर्गुण ब्रह्म के प्रति निष्ठावान थे। वे एक साथ ज्ञानी विज्ञानी और भगवान के भक्त थे।

जब भगवान श्री कृष्ण गोकुल वृन्दावन से मथुरा पधार गये। कंस के वधोपरान्त भगवान श्री कृष्ण ने अपने ही विग्रह पर अति व्यथित गोपिकाओं की व्यथा को समझते हुए जब उद्धव जी को अपने ज्ञान प्रकाश से उन्हें समझाने के लिए गोकुल भेजा, तब उद्धव ने श्री कृष्ण के इस कार्य को बड़े ही आदर भाव से लेते हुए गोकुल की यात्रा की। गोपियों की अति दयनीय प्रेममय बिरहाग्नि से झुलसी हुई मानसिक वेदना को उद्धव जी ने समझा। और समझते हुए इस आशय पर वे पहुँचे कि जो श्री कृष्ण उनके परम प्रेमी है, जिनके अंग संग से प्रेमालिङ्गन से गोपियाँ उनके वशीभूत होकर उनकी संयोग लीला का रस लेकर आनन्द मग्न हुआ करती थीं। वे ही श्री कृष्ण के अभाव में कृश शरीर में अपने दिन, उन्हीं श्रीकृष्ण की, और उनकी लीलाओं की याद कर करके, किसी प्रकार दिन काट रही हैं। तो उद्धव जी को उनकी इस प्रकार जीवन की दशाओं में बड़ी दया आई और उन्होंने श्री कृष्ण के निर्गुन निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कि वे श्री कृष्ण अपने शारीरिक विग्रह से गोकुल में न रहते हुए भी अपने निराकार विग्रह से तो गोकुल में, प्रत्येक गोपी के हृदय मंदिर में रहकर उनकी भावना की सापेक्षता को देख सुन रहे है। उद्धव ने गोपियों के चित्त में शान्ति स्थापन के लिए अनेकों दृष्टांतों से गोपियों के विरह व्यथा में कमी ले आने के लिए प्रयत्न किया। परन्तु भरपूर प्रयत्न के अनन्तर भी गोपियों को उनके हृदय मंदिर में विराजित भगवान श्री कृष्ण के साकार स्वरूप को तनिक भी टस से मस और अलग नहीं कर पाये। यह उनकी बिबसता भले रही हों कि मधुर रस के प्रदाता भगवान श्रीकृष्ण उनके हृदय में इस गहराई से गड़कर विराजित हो गये थे कि उद्धव जी के समस्त निर्गुण निराकार के ज्ञान कोष के उद्धरण करने पर भी गोपियों के हृदय को स्पर्श करने तक की सामर्थ्य उस ज्ञान कोष में नहीं थी। यह पूरा आभाष ही उद्धव जी ने किया।

श्री कृष्ण प्रेम-विरहाग्नि भाव में उन श्री कृष्ण के प्रति अनुराग में रंगी गोपियों के महाभाव की प्रतिष्ठा में उद्धव की मति इस प्रकार प्रभाव हीन लग रही थी जैसे कोई छोटे बालक की तोतली बानी बुद्धिमानों के मध्यसार हीन और निरर्थक होती है। तब गोपियों ने निराकार निरगुन के विषय में उद्धव जी से ही पूछना प्रारम्भ किया। यथा -

निरगुन कौन देश को बासी।
को है जनक जननि को कहियत ....
और ऊधव जो अनेक मन होते।
तो एक देते श्याम सुन्दर को, एकहि भोग संजोते॥

अन्त में उद्धव का ज्ञान कोष दिवालिया हो गया। असल में भगवान श्री कृष्ण ने अपने प्यारे उद्धव को गोकुल, गोपियों को सिखाने और उनका वियोग जन्य दुःख दूर करने का निमित्त बनाकर भेजा था, पर हुआ इसके विपरीत। अब उद्धव की बानी में यथार्थ तत्व का दर्शन हो गया और उन्होंने गोपियों के भाग्य की सराहना करते हुए कहा :-

अहो यूयंस्म पूर्णार्था भवत्यो लोक पूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यार्णितं मनः॥

अर्थात् - अहो गोपियों, तुम कृत कृत्य हो, तुम्हारा जीवन सफल है। देवियों! तुम सारे संसार के लिए पूजनीय हो क्योंकि तुम लोगों ने इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण को अपना हृदय अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है।

भगवत्युत्तमश्लोके भवती निरनुक्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्टया मुनीनामपि दुर्लभ॥

अर्थात् ''यह बड़े सौभाग्य की बात है, कि तुम लोगों ने पवित्र कीर्ति भगवान श्री कृष्णा के प्रति वही सर्वोत्तम प्रेमाभक्ति प्राप्त की है, और उसी का आदर्श स्थापित किया है, जो बड़े बड़े ऋषियों मुनियों को भी अत्यंत दुर्लभ है। इसके आगे उद्धव जी पुनः कहने लग -

''महा भाग्यवती गोपियों! भगवान श्री कृष्ण के वियोग से तुमने उन इन्द्रियातीत परमात्मा के प्रति वह भाव प्राप्त किया है। जो सभी वस्तुओं के रूप में उनका दर्शन कराता है। तुम लोगों का यह भाव मेरे सामने भी प्रगट हुआ। यह मेरे ऊपर तुम लोगों की बड़ी दया है।''

अब उद्धव गोपियों को नमस्कार करके इस प्रकार गान करने लगे। इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि ये सर्वात्मा श्री कृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में प्रतिष्ठित हैं। मुमुक्ष जनों के लिए ही नहीं अपितु बड़े बड़े मुनियों, मुक्त पुरुषों तथा हम ज्ञानी प्रेमी भक्त जनों के लिए भी वह अभी वांछनीय है।

और अन्त में गोपियों के संग से उनमें जिस प्रेमाभक्ति की जागृति हुई। उससे अपने भाग्य को सराहते हुए उन्होंने कहा, ''मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन धाम में कोई झाड़ी अथवा जड़ी-बूटी ही बन जाऊं। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा तो मुझे

इन बृजाङ्गनाओं की चरण धूलि निरन्तर सेवन करने के लिए मिलती रहेगी। इनके चरणरज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा।''

एक ज्ञानी विज्ञानी और भक्त के द्वारा आत्मोद्देलित भावना की यह उत्कृष्टोत्तम स्थिति है जो लोक मर्यादा की सीमा का उलंङ्घन करने वाली गोपियों के प्रेमाभक्ति में डुबकी लगाकर उनकी चरणरज के सेवन की महती आकांक्षा का भाव प्रदर्शित करती है।

गोपियों के प्रेमभाव की श्री कृष्ण द्वारा उद्धव को निमित्त बनाकर प्रभावशील करने की लीला एक विधायनी शक्ति प्रयोग के रूप में थी। इसके अतिरिक्त, कार्यशैली में भी भगवान की कृपानुग्रह का भी दर्शन दर्शनीय है।



॥ ॐ हं हनुमतये नमः ॥

परमार्थ तत्व विवेचन एवं भक्ति भाव सद्दर्शन





संक्षिप्त जीवन परिचय

मयंङ्कभूषण पाण्डेय

आपका जन्म सम्वत 1998 की नाग पञ्चमी तिथि (29 जुलाई सन् 1941) को मध्य प्रदेश के सतना मण्डलांतर्गत, मैहर तहसील के बरहिया ग्राम (एन.एच.7 के किनारे) में ब्राह्मण कुल में हुआ था। आपके पिता श्री रामजीवन पाण्डेय ब्राह्मणोचित धर्माश्रयी सरल और परोपकारी स्वभाव के थे।

घर की आर्थिक स्थिति सहजोर न होने के कारण आपका 20 वर्ष की अवस्था में ही शासकीय शिक्षक पद में नौकरी करने के लिए बाध्य होना पड़ा तभी से आप दोनों संध्यायों में गायत्री जाप, शाम को श्रीमद् भागवत का अर्थ सहित वाचन, रामचरित मानस और गीता का पाठ करना प्रारम्भ कर दिया था, जो वृद्धावस्था के समयान्तर में समर्थता की स्थिति में ही बन्द हो पाया था। आप सन् 1965 में चित्रकूट और सन् 1966 में ऋषिकेश ग्रीष्मावकाश के समयान्तर में संतों, साधकों, विद्वानों से सत्संङ्ग करने हेतु गये थे। इसके पश्चात भी जब अध्यात्मिक जिज्ञासा की परितृप्ति नहीं हुई तो आप किसी अचिन्त्य शक्ति की सदप्रेरणा से सन् 1978 में एक हनुमान जी के मंदिर में बाल्मीकि रामायण सुनाने हेतु आप भेजे गये। मंदिर बड़ा अखाड़ा मैहर के समीप दक्षिण मुखी हनुमान मंदिर (लाल कोठी) था, जो तब खण्डहर रूप में हो चुका था परन्तु स्थल और श्री मूर्ति सिद्ध स्थिति में आलोकित हो रहे थे।

इसके पूर्व सन् 1973 से आप श्रीमती तारा पाण्डेय पत्नी, पुत्र, पुत्रियों के साथ मैहर में ही स्थायी आवास बना कर रहने लगे थे। पत्नी शासकीय शिक्षिका पद में कार्य करते हुए स्वाभिमानी और परोपकारी स्वभाव की थी, जो सन् 1997 में स्वर्ग वासिनी हो गई। आप चार पुत्रियों और दो पुत्रों के पिता थे फिर भी आपने अपनी सक्षमता के साथ सभी को सुयोग्य बनाकर यथोचित वैवाहिक सम्बंध स्थापित कराया।

इन सभी सामाजिक कर्तव्यनिष्ठा के साथ आपका वर्णित हनुमान मंदिर में सुबह शाम पूजा पाठ, संध्या आरती भोग प्रसाद का कार्य अनवरत चलता रहा। धीरे धीरे यह आभाषित होने लगा कि वे भक्त प्रवर हनुमान जी महाराज ही प्रेरणा स्रोत के स्वरुप गत कार्य करवा रहे हैं। इसी तारतम्य में वर्तमान समय में मंदिर एक दर्शनिक सिद्ध स्थल के रूपों में बहुत ही आकर्षक स्वरुप में मान्य है।

पुस्तक परमार्थ तत्व विवेचन एवं भक्ति भाव सद्दर्शन का पुस्तकोकार में हो पाना उन्हीं रामभक्त हनुमान का कृपा प्रसाद है।

प्रस्तुतकर्ता : एक अंतरंग निकटतम सहयोगी